जीवराज जैन ग्रंथमाला हिन्दी विभाग पुष्प-३६

आचार्यश्री शिवार्य विरचित

भगवती आराधना

आचार्यश्री अपराजित सूरि रचित विजयोदया टीका
तथा तदनुसारी हिन्दी टीका सहित

भाग २

पूर्व ग्रंथमाला सम्पादक
स्व० डॉ० हीरालाल जैन
स्व० डॉ० ए० एन० उपाध्ये

विद्यमान ग्रंथमाला सम्पादक
श्री पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री
सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी

सम्पादक एवं अनुवादक
सिद्धान्ताचार्य श्री पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

प्रकाशक
सेठ लालचन्द हीराचन्द,
जैन-संस्कृति-संरक्षक-संघ, शोलापुर

वीर संवत् २५०४]   मूल्य २०.००   [ई० सन् १९७८

JIVARAJA JAINA, GRANTHAMALA, No. 36

ACHARYA SHRI SHIVARAY'S

BHAGVATI-ARADHANA

With

The Samskrit tika Vijayo-daya of Aparajit suri

Ex General Editors.

Late Dr H L jain

Late Dr A N Upadhye

General Editor

Pt. Kailaschandra Shastri

Edited along with the Hindi Translation etc.

By

Pandit Kailaschandra Shastri

published by

Lalchand Hirachand.

Jain Samskriti Samrakshaka Sangha

Sholapur

1978

Price Rs: 20-00

First Edition . 1100 copies

Copies of this book can be had direct from Jain Samskriti Samraksak Sangha, Santosha Bhavana, Phaltan Galli, Sholapur (India)

Price Rs. 20-00 per copy, exclusive of postage.

श्री जीवराज जैन ग्रन्थमाला का परिचय

सोलापूर निवासी श्रीमान् स्व० ब्र० जीवराज गौतम चन्द दोशी कई वर्षोंसे उदासीन होकर धर्म कार्यमें अपनी वृत्ति लगा रहे थे। सन् १९४० में उनकी प्रबल इच्छा हुई कि अपनी न्यायोपार्जित सम्पत्तिका उपयोग विशेष रूपसे धर्म तथा समाजकी उन्नतिके कार्यमे लगे।

तदनुसार उन्होंने अनेक जैन विद्वानोंसे साक्षात् और लिखित रूपसे सम्मतियाँ इस बातकी संगृहीत की, कि कौनसे कार्यमें सम्पत्तिका विनियोग किया जाय।

अन्तमे स्फुट मत संचय कर लेने के पश्चात् सन् १९४१ में ग्रीष्म कालमें सिद्ध क्षेत्र श्री गजपथजीके शीतल वातावरणमें अनेक विद्वानोंको आमंत्रित कर उनके सामने ऊहापोह पूर्वक निर्णय करनेके लिए उक्त विषय प्रस्तुत किया गया।

विद्वत् सन्मेलनके फलस्वरूप श्रीमान् ब्रह्मचारी जीने जैन संस्कृति तथा प्राचीन जैन साहित्यका संरक्षण-उद्धार-प्रचारके हेतु 'जैन संस्कृति संरक्षक संघ' इस नामकी संस्था स्थापना की। तथा उनके लिए उक्त रु० ३०००० का बृहत् दान घोषित किया गया।

आगे उनकी परिग्रह निवृत्ति बढ़ती गई। सन् १९४४ मे उन्होंने लगभग दो लाखकी अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति संघको ट्रस्ट रूपसे अर्पण की।

इसी संस्थाके अन्तर्गत 'जीवराज जैन ग्रन्थमाला' द्वारा प्राचीन संस्कृत-प्राकृत-हिन्दी तथा मराठी ग्रन्थोंका प्रकाशन कार्य आज तक अखण्ड प्रवाहसे चल रहा है।

आज तक इस ग्रन्थमाला द्वारा हिन्दी विभागमें ३४ ग्रन्थ तथा मराठी विभागमें ४४ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ इस ग्रन्थमालाका ३६ वां पुष्प प्रकाशित हो रहा है।

स्व ब्र. जीवराज गौतमचंद दोशी
स्व. रो ता. १६-१-५७ (पौष शु १५)

प्रवचनमातृकाव्याख्यानायोत्तरप्रबन्धस्तत्र मनोगुप्तिं वाग्गुप्तिं व्याख्यातुमायातोत्तरगाथा—

जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुत्तिं।
अलियादिणियत्ती वा मोणं वा होइ वचिगुत्ती ॥११८१॥

'**जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुत्ति**' या रागद्वेषाभ्यां निवृत्तिर्मनसस्तां जानीहि मनोगुप्तिं। अत्रेदं परीक्ष्यते। मनसो गुप्तिरिति यदुच्यते किं प्रवृत्तस्य मनसो गुप्तिरथाप्रवृत्तस्य ? प्रवृत्तं चेदं शुभं मनः तस्य का रक्षा। अप्रवृत्तं यदि तथापि असतः का रक्षा ? ततोऽप्यपायपरिहारोपयुक्ततेत्युच्यते ? किं च मनःशब्देन किमुच्यते द्रव्यमन उत भावमनः ? मनोद्रव्यवर्गणा मनश्चेत् तस्य कोऽपायो नाम यस्य परिहारो रक्षा स्यात् ? किं च द्रव्यान्तरेण तेन रक्षितेनास्य जीवस्य फलं य आत्मनः परिणामोऽशुभमावहति। ततोऽयुक्ता रक्षात्मनः। अथ नो इन्द्रियमतिज्ञानावरणक्षयोपशमसंजातं ज्ञानं मन इति गृह्यते तस्य अपायः कः ? यदि विनाशः स न परिहर्तुं शक्यते यतोऽनुभवसिद्धो विनाशः। अन्यथा एकस्मिन्नेव ज्ञाने प्रवृत्तिरात्मनः स्यात्। ज्ञानानीह वीचय इवानारतमुत्पद्यन्ते न चास्ति तदविनाशोपायः। अपि च इन्द्रियमतिरपि रागादिव्यावृत्तिरिष्टैव किमुच्यते रागादिणियत्ती मणस्स इति।

अत्र प्रतिविधीयते—नो इन्द्रियमतिरिह मनःशब्देनोच्यते। सा रागादिपरिणामैः सह एककालं आत्मनि प्रवर्तते। न हि विषयावग्रहादिज्ञानमन्तरेणास्ति रागद्वेषयोः प्रवृत्तिः, अनुभवसिद्धैवास्ति नापरा युक्तिः अनुगम्यते। वस्तुतत्वानुयायिना मानसेन ज्ञानेन समं रागद्वेषौ न वर्तेते इत्येतदप्यात्मसाक्षिकमेव। तेन मनसस्त-

---

आगे प्रवचन माताओंका व्याख्यान करते हैं। उनमें से प्रथम मनोगुप्ति और वचनगुप्तिका व्याख्यान करते हैं—

गा०-टी०—मनकी जो रागादिसे निवृत्ति है उसे मनोगुप्ति जानो।

शंका—यहाँ यह विचार करते है कि यह जो आप मनकी गुप्ति कहते है सो यह गुप्ति प्रवृत्त मनकी है या अप्रवृत्त मनकी है ? प्रवृत्त मन तो शुभ रूप होता है उसकी रक्षा कैसी ? यदि मन अप्रवृत्त है तो वह असत् हुआ, उसकी रक्षा कैसी। प्रवृत्त मनकी अपायसे बचाव करनेमे उपयोगिता होती है। तथा मन शब्दसे द्रव्यमन लेते हैं या भावमन ? यदि द्रव्यवर्गणा रूप मन लेते हैं तो उसका अपाय क्या, जिससे बचनेसे उसकी रक्षा हो। तथा द्रव्यवर्गणा रूप मन तो भिन्न द्रव्य है। उसकी रक्षा करनेसे इस जीवको क्या लाभ जो आत्माके अशुभ परिणाम करता है। अतः आत्माकी रक्षाकी बात युक्त नही है। यदि नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए ज्ञानको मन शब्दसे ग्रहण करते हैं तो उसका अपाय क्या है ? यदि अपायसे मतलब विनाश है तो उसका परिहार शक्य नहीं है क्योंकि विनाश तो अनुभवसे सिद्ध है। यदि ज्ञानका विनाश न हो तो आत्माकी प्रवृत्ति सदा एक ही ज्ञानमें रहे। किन्तु ज्ञान तो तरंगोकी तरह निरन्तर उत्पन्न होते रहते है। उनके विनाश न होनेका कोई उपाय नही है। तथा इन्द्रियजन्य मतिकी भी रागादिसे व्यावृत्ति मान्य है तब 'मनकी रागादिसे निवृत्ति' क्यों कहते हैं ?

समाधान—यहाँ मन शब्दसे नोइन्द्रिय जन्य मति कही है। वह आत्मामे रागादि परिणामोंके साथ एक ही कालमें प्रवृत्तिशील है। विषयोंका अवग्रहादिज्ञान हुए बिना रागद्वेषमें प्रवृत्ति नही होती, यह बात अनुभव सिद्ध है। इसमें अन्य कोई युक्ति नही है। जो मानस ज्ञान वस्तुतत्त्वके अनुसार होता है उस ज्ञानके साथ रागद्वेष नही होते यह बात आत्मसाक्षिक है। अतः तत्त्व-

त्वावग्राहिणो रागादिभिरसहचारिता या सा मनोगुप्तिः। मनोग्रहण ज्ञानोपलक्षणं तेन सर्वो बोधो निरस्तराग-द्वेषकलङ्को मनोगुप्तिरन्यथा इन्द्रियमतौ श्रुते, अवधौ, मन पर्यये वा परिणममानस्य न मनोगुप्ति स्यात्। इष्यते च। अथवा मन.शब्देन मनुते य आत्मा स एव भण्यते तस्य रागादिभ्यो या निवृत्ति. रागद्वेषरूपेण या अपरि-णति. सा मनोगुप्तिरित्युच्यते। अयैव ब्रूषे सम्यग्योगनिग्रहो गुप्ति. दृष्टफलमनपेक्ष्य योगस्य वीर्यपरिणामस्य निग्रहो रागादिकार्यकरणनिरोधो मनोगुप्ति। 'अलिणादिनियत्ती वा मोणं वा होइ वचिगुत्ती' विपरीतार्थप्रति-पत्तिहेतुत्वात्परदु खोत्पत्तिनिमित्तत्वाच्चाधर्माद्या व्यावृत्ति सा वाग्गुप्ति'। ननु च वाच पुद्गलत्वात् विपरी-तार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वादिभ्यो व्यावृत्तिहेतुर्वाचो धर्मो न चासौ सवरणे हेतुरनात्मपरिणामत्वात्। शब्दादिवत्। एवं तर्हि व्यलीकात्परुषादात्मप्रशसापरात् परनिन्दाप्रवृत्तात्परोपद्रवनिमित्ताच्च वचसो व्यावृत्तिरात्मनस्तथा-भूतस्य वचसोऽप्रवर्तिका वाग्गुप्ति। या [1]वाचं प्रवर्तयन् अशुभ कर्म स्वीकरोत्यात्मा तस्या वाच इह ग्रहणं वाग्गुप्तिरित्यत्र तेन वाग्विशेषस्यानुत्पादकता वाच. परिहारो वाग्गुप्ति। मौनं वा सकलाया वाचो या परि-हृति' सा वाग्गुप्ति। अयोग्यवचनेऽप्रवृत्ति' प्रेक्षापूर्वकारितया योग्यं तु वक्ति वा न वा। भाषासमितिस्तु

का ग्रहण करने वाले मनका रागादि भावके साथ साहचर्य न होना मनोगुप्ति है। 'मन' शब्द ज्ञान-का उपलक्षण है। अत' रागद्वेषकी कालिमासे रहित ज्ञानमात्र मनोगुप्ति है। यदि ऐसा न माना जाय तो जब आत्मा इन्द्रिय ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान अथवा मन पर्ययज्ञान रूपसे परिणत हो उस समय मनोगुप्ति नही हो सकेगी। किन्तु उस समय भी मनोगुप्ति मानी जाती है। अथवा जो आत्मा 'मनुते' अर्थात् पदार्थोंको जानता है वही मन शब्दसे कहा जाता है। उसकी जो रागादिसे निवृत्ति है अथवा रागद्वेषसे परिणमन करना वह मनोगुप्ति कही जाती है। ऐसा होने पर 'सम्यक् रूपसे योगका निग्रह गुप्ति है' ऐसा कहनेमे भी कोई विरोध नही है। सम्यक् अर्थात् किसी लौकिक फलकी अपेक्षा न करके वीर्य परिणाम रूप योगका निग्रह अर्थात् रागादि कार्य करनेसे रोकना मनोगुप्ति है।

तथा विपरीत अर्थकी प्रतिपत्तिमे कारण होनेसे और दूसरोंको दुःखकी उत्पत्तिमे निमित्त होनेसे जो अधर्म मूलक वचनसे निवृत्ति है वह वचन गुप्ति है।

शङ्का—वचन तो पौद्गलिक है अत: विपरीत अर्थकी प्रतिपत्तिमे हेतु आदि होनेसे व्यावृत्ति वचनका धर्म है और वह सवरमे कारण नही है क्योकि वह तो पुद्गलका परिणाम है, आत्माका परिणाम नही है जैसे शब्द वगैरह पुद्गलके परिणाम है।

समाधान—मिथ्या, कठोर, अपनी प्रशंसा और परकी निन्दा करने वाले तथा दूसरोमे उपद्रव कराने वाले वचनसे आत्माकी निवृत्ति, जो इस प्रकारके वचनोकी प्रवृत्तिको रोकती है वह वचन गुप्ति है। वचन गुप्तिमे वचन शब्दसे जिस वचनको सुनकर प्रवृत्ति करता हुआ आत्मा अशुभ कर्म करता है उस वचनका ग्रहण है। अतः वचन विशेषको उत्पन्न न करना वचनका परिहार है और वही वचन गुप्ति है। अथवा समस्त प्रकारके वचनोका परिहार रूप मौन वचन-गुप्ति है। अयोग्य वचनमे अप्रवृत्ति वचनगुप्ति है। प्रेक्षापूर्वकारी होनेसे वह योग्य वचन बोले या न बोले। किन्तु योग्य वचन बोलना—उनका कर्ता होना भाषासमिति है। अतः गुप्ति और

१ वाचा—अ० आ० ज०।

योग्यवचसः कर्तृता ततो महान्भेदो गुप्तिसमित्योः । मौनं वाग्गुप्तिरत्र स्फुटतरो भेदो भेदः । योग्यस्य वचसः प्रवर्तकता । वाचः कस्याश्चिदसदनुत्पादकतेति ॥११८१॥

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती ।
हिंसादिणियत्ती वा सरीरगुत्ती हवदि दिट्ठा ॥११८२॥

'**कायकिरियाणियत्ती**' कायस्यौदारिकादेः शरीरस्य या क्रिया तस्या निवृत्तिः. '**सरीरगे गुत्ती**' शरीरविषया गुप्तिः कायगुप्तिरिति यावत् । आसनस्थानशयनादीनां क्रियात्वात् तासां चात्मना [1]प्रवर्तितत्वात् कथमात्मनः कायक्रियाभ्यो व्यावृत्तिः । अथ मतं, कायस्य पर्यायः क्रिया, कायाच्चार्थान्तरमात्मा ततो द्रव्यान्तरपर्यायात् द्रव्यान्तरं तत्परिणामशून्यं तथाऽपरिणतं व्यावृत्तं भवतीति कायक्रियानिवृत्तिरात्मनो भण्यते । सर्वेषामेवात्मनामित्थं कायगुप्तिः स्यात् न चेष्टेति ।

अत्रोच्यते—कायस्य सम्बन्धिनी क्रिया कायशब्देनोच्यते । तस्याः कारणभूतात्मनः क्रिया कायक्रिया तस्य निवृत्तिः । '**काउस्सग्गो**' कायोत्सर्गः शरीरस्याशुचितामसारतामापन्निमित्ततां चावेत्य तद्गतममतापरिहारः कायगुप्तिः । अन्यथा शरीरमायुः शृङ्खलावबद्धं त्यक्तुं न शक्यते इत्यसम्भवः कायोत्सर्गस्य । धातूनामनेकार्थत्वात् गुप्तिर्निवृत्तिवचन इहेति सूत्रकाराभिप्रायोऽन्यथा '**कायकिरियाणियत्ती सरीरगे गुत्ती**' इति कथं ब्रूयात् । कायोत्सर्गग्रहणेन निश्चलता भण्यते । यद्येवं कायकिरियाणियत्ती इति न वक्तव्यं, कायोत्सर्गः काय-

---

समितिमें महान् अन्तर है । मौन वचन गुप्ति है ऐसा कहने पर गुप्ति और समितिका भेद स्पष्ट हो जाता है । समिति योग्य वचनमें प्रवृत्ति कराती है । और गुप्ति किसी वचनकी उत्पादक नहीं है ॥११८१॥

गा०-टी०—काय अर्थात् औदारिक आदि शरीरकी जो क्रिया है उसकी निवृत्ति कायगुप्ति है ।

शङ्का—बैठना, ठहरना, सोना आदि क्रियाएँ हैं । और वे क्रियाएँ आत्माके द्वारा प्रवर्तित है । तब आत्मा कायकी क्रियाओंसे कैसे निवृत्त हो सकता है । यदि कहोगे कि क्रिया कायकी पर्याय है और कायसे आत्मा भिन्न है । अतः द्रव्यान्तर कायकी पर्यायसे द्रव्यान्तर आत्मा उस पर्यायसे रहित होनेसे कायकी पर्यायरूप परिणत नहीं होता अतः उससे वह निवृत्त है और इसीको आत्माकी कायकी क्रियाओंसे निवृत्ति कही है । तो इस प्रकारसे सभी आत्माओंके कायगुप्तिका प्रसंग आता है ।

समाधान—कायशब्दसे कायसम्बन्धी क्रिया कही है । उसकी कारणभूत आत्माकी क्रिया कायक्रिया है और उसकी निवृत्ति कायगुप्ति है । अथवा कायोत्सर्ग अर्थात् शरीरकी अपवित्रता, असारता और आपत्तिमें निमित्तपना जानकर उससे ममत्व न करना कायगुप्ति है । अन्यथा शरीर तो आयुकी सांकलसे बँधा है । जब तक आयु है शरीरका त्याग नहीं किया जा सकता । यदि शरीर त्यागको कायोत्सर्ग कहेंगे तो कायोत्सर्ग असम्भव हो जायगा । धातुओंके अनेक अर्थ होते हैं अतः यहाँ गुप्तिका अर्थ निवृत्ति है ऐसा गाथासूत्रकार आचार्यका अभिप्राय है । यदि ऐसा न होता तो 'कायक्रिया निवृत्ति शरीर गुप्ति है' ऐसा कैसे कहते ।

---

१ प्रवर्तकत्वात् कथमात्मनः कार्या क्रियाभ्यो–आ० मु० ।

गुप्तिरित्येतदेव वाच्य इति चेत् न कायविषयं ममेदभावरहितत्वमात्रमपेक्ष्य कायोत्सर्गस्य प्रवृत्तेः धावनगमनलङ्घनादिक्रियासु प्रवृत्तस्यापि कायगुप्तिः स्यात्र चेष्यते। अथ कायक्रियानिवृत्तिरित्येतावदुच्यते मूर्च्छापरिगतस्यापि अपरिस्पन्दता विद्यते इति कायगुप्तिः स्यात्। तत उभयोपादानं व्यभिचारनिवृत्तये। कर्मादाननिमित्तसकलकायक्रियानिवृत्तिः कायगोचरममतात्यागपरा वा कायगुप्तिरिति सूत्रार्थः। '**हिंसाविणियत्ती वा सरीरगुत्ती हवदि दिट्ठा**' हिंसादिनिवृत्तीर्वा शरीरगुप्तिरिति दृष्टा जिनागमे, प्राणिप्राणवियोजनं, अदत्तादानं, मिथुनकर्म शरीरेण, परिग्रहादानमित्यादिका या विशिष्टा क्रिया सेह कायशब्देनोच्यते। कायिकोपकृतेर्गुप्तिर्व्यावृत्तिः कायगुप्तिरिति व्याख्यात सूरिणा ॥११८२।

छेत्तस्स वदी णयरस्स खाइया अहव होइ पायारो।
तह पावस्स णिरोहे ताओ गुत्तीओ साहुस्स ॥११८३॥

'**छेत्तस्स वदी**' क्षेत्रस्य वृतिः '**नगरस्य खातिका अथवा पागारो**' अथवा प्राकारो भवति नगरस्य। '**तथा पावस्स णिरोधो**' पापस्य निरोधः उपायः। '**ताओ गुत्तीओ**' ता गुप्तयः साधोः ॥११८३॥

तम्हा तिविहेवि तुमं मणवचिकायप्पओगजोगम्मि।
होहि सुसमाहिदमदी णिरंतरं ज्झाणसज्झाए ॥११८४॥

'**तम्हा तिविधेण मणवचिकायपओगजोगम्मि**' मनोवाक्कायविषये प्रकृष्टे योगे। '**तुमं**' त्वं। '**सुसमा-**

शङ्का–यदि कायोत्सर्गसे निश्चलता कही जाती है तो 'कायक्रियानिवृत्ति कायगुप्ति है' ऐसा नही कहना चाहिए। किन्तु कायोत्सर्ग कायगुप्ति है ऐसा ही कहना चाहिए।

समाधान—ऐसा कहना ठीक नही है क्योकि कायमे 'यह मेरा है' इस भावके न होने मात्रकी अपेक्षासे कायोत्सर्ग शब्दकी प्रवृत्ति होती है। किन्तु यदि कायगुप्ति यही है तो दौडना, जाना, लाघना आदि क्रियाओको करते हुए भी कायगुप्ति हो सकेगी। किन्तु ऐसा नही माना जाता। और 'कार्यक्रियाकी निवृत्ति कायगुप्ति है' इतना ही कहा जाता है तो मूर्छित अवस्थामे भी कार्यक्रियाकी निवृत्ति होनेसे कायगुप्तिका प्रसग आता है। इसलिए व्यभिचार दोषकी निवृत्तिके लिए दोनोका ग्रहण गाथामे किया है।

अतः कर्मके ग्रहणमे निमित्त समस्त कायकी क्रियाओसे निवृत्ति और कार्यविषयक ममत्वका त्याग कायगुप्ति है, यह गाथासूत्रका अर्थ है।

अथवा आगममे हिंसा आदिसे निवृत्तिको कायगुप्ति कहा है। यहाँ काय शब्दसे प्राणियोके प्राणोका घात, विना दी हुई वस्तुका ग्रहण, शरीरसे मैथुन कर्म और परिग्रहका ग्रहण इत्यादि विशिष्ट क्रिया कही गई है। कायिक क्रियाओमे गुप्ति अर्थात् व्यावृत्ति कायगुप्ति है ऐसा आचार्यने व्याख्यान किया है ॥११८२॥

गा०—जैसे खेतकी बाड और नगरकी खाई अथवा चारदिवारी होती है वैसे ही पापको रोकनेमे साधुकी गुप्तियाँ होती हैं ॥११८३॥

गा०—इसलिए हे क्षपक! तुम निरन्तर ध्यान और स्वाध्यायमे लगे रहकर मन वचन काय विषयक तीन प्रकारके प्रकृष्ट योगमें सावधान रहो। क्योंकि ध्यान और स्वाध्यायके विना गुप्तियाँ नही ठहरती ॥११८४॥

हिदमदी होहि' सुष्टु समाहितमतिर्भव । कथं ? **'णिरंतरं झाणसज्झाए'** निरन्तरप्रवृत्तध्यानस्वाध्याये । न हि ध्यानस्वाध्यायावन्तरेण गुप्तयोऽवतिष्ठन्त इति भावः ॥११८४॥

समितिव्याख्यानायोत्तरप्रबन्धस्तत्रेर्यासमितिनिरूपणायोत्तरा गाथा—

मग्गुज्जोवुपओगालंबणसुद्धीहिं इरियदो मुणिणो ।
सुत्ताणुवीचि भणिदा इरियासमिदी पवयणम्मि ॥११८५॥

'मग्गुज्जोवुपओगालंबणसुद्धीहिं' मार्गशुद्धि, उद्योतशुद्धिरुपयोगशुद्धिश्चालम्बनशुद्धिरिति चतस्र. शुद्धयस्ताभि. करणभूताभि । **'इरियदो'** गच्छतः । **'मुणिणो'** मुनेः । **'सुत्ताणुवीचि'** सूत्रानुसारेण । **'भणिदा'** कथिता । **'इरियासमिदी'** ईर्यासमितिः । **'पवयणम्मि'** प्रवचने । तत्र मार्गस्य शुद्धिर्नाम अप्रचुरपिपीलिकादित्रसता, बीजाङ्कुरतृणहरितपलाशकर्दमादिरहितता । स्फुटतरता व्यापिता च उद्योतशुद्धि । निशाकरनक्षत्रादीनामस्फुट प्रकाश, अव्यापी प्रदीपादिप्रकाश । [1]पादोद्धारनिक्षेपदेशजीवपरिहरणावहितचेतस्ता उपयोगशुद्धि । गुरुतीर्थचैत्ययतिवन्दनादिकमपूर्वशास्त्रार्थग्रहण, सयतप्रायोग्यक्षेत्रमार्गण, वैयावृत्यकरण, अनियतावासस्वास्थ्यासम्पादने श्रमपराजय, नानादेशभाषाशिक्षण, विनेयजनप्रतिबोधनं चेति प्रयोजनापेक्षया आलम्बनाशुद्धि । किं तत् सूत्रानुसारिगमन, अद्रुत, नातिविलम्बित, पुरो युगमात्रदर्शनप्रवृत्तिः, अविकृष्टचरणन्यास, भयविस्मयावन्तरेणासलील मनत्युत्क्षेप, परिहृतलङ्घनधावन प्रविलम्बितभुज, निर्विकार, अचपलमसभ्रान्तमनूर्द्ध्वतिर्यक्प्रेक्षण, हस्तमात्रपरिहृततरुणतृणपल्लव, अकृतपशुपक्षिमृगोद्वेजनं, विरुद्धयोनिसंक्रमणजातबाधाव्युदासाय

आगे समितिका व्याख्यान करते हैं । प्रथम ईर्यासमितिका कथन करते हैं—

गा०-टी०—मार्गशुद्धि, उद्योतशुद्धि, उपयोगशुद्धि और आलम्बन शुद्धि, इन चार शुद्धियोके द्वारा सूत्रके अनुसार गमन करते हुए मुनिके प्रवचनमें ईर्यासमिति कही है ।

मार्गमे चीटी आदि त्रस जीवोंकी अधिकताका न होना तथा बीज, अकुर, तृण, हरे पत्ते और कीचड आदिका न होना मार्गशुद्धि है । सूर्यके प्रकाशका स्पष्ट फैलाव और उसकी व्यापकता उद्योतशुद्धि है । चन्द्रमा नक्षत्र आदिका प्रकाश अस्पष्ट होता है और दीपक आदिका प्रकाश व्यापक नही होता । पैर उठाने और रखनेके देशमें जीवोंकी रक्षामें चित्तकी सावधानता उपयोग शुद्धि है । गुरु, तीर्थ, चैत्य और यतिकी वन्दनाके लिए गमन करना आदि किसीके पास शास्त्रका अपूर्व अर्थ या अपूर्व शास्त्रके अर्थका ग्रहण करनेके लिए गमन करना, मुनियोंके योग्य क्षेत्रकी खोजके लिए गमन करना, वैयावृत्य करनेके उद्देशसे गमन करना, अनियत आवासके उद्देशसे गमन करना, स्वास्थ्य लाभके लिए गमन करना, श्रमपर विजय पानेके लिए गमन करना, नाना देशोंकी भाषा सीखनेके लिए गमन करना, शिष्य समुदायका प्रतिबोधन करनेके लिए गमन करना, इत्यादि प्रयोजनोंकी अपेक्षा गमन करना आलम्बन शुद्धि है ।

सूत्रानुसार गमन इस प्रकार है—न बहुत जल्दी और न बहुत विलम्बसे सामने युगमात्र भूमि देखकर चलना, पादनिक्षेप अधिक दूर न करना, भय और आश्चर्यके बिना गमन करना, लीलापूर्वक गमन न करना, पैर अधिक ऊँचा न उठाते हुए गमन करना, लांघना दौड़ना आदि नही, दोनों भुजा लटकाकर गमन करना, विकार रहित, चपलता रहित, ऊपर तिर्यक् अवलोकन

---

१ पादोपरिवि—अ०आ० । २ मनक्षेपं—अ० । मनन्यक्षेप आ० । मनत्युत्क्षेप—मूलारा० ।

कृतासकृत्प्रतिलेखन, अप्रतिसारितप्रतिमार्गायायिसघट्टन दुष्टधेनुबलीवर्द सारमेयादिपरिहृतिचतुरं, परिहृतबुस-तुषमषोभस्मार्द्रगोमयतृणनिचयज[1]लोपलफलक, दूरीकृतचोरीकलहं, [2]अनारूढसक्रम निरूपयतो यतेरीर्या-समिति ॥११८५॥

भाषासमितिनिरूपणार्थोत्तरगाथा—

सच्चं असच्चमोसं अलियादीदोसवज्जमणवज्जं ।
वदमाणस्सणुवीची भासासमिदी हवदि सुद्धा ॥११८६॥

चतुर्विधा वाक्—सत्या, मृषा, सत्यसहिता मृषा, असत्यमृषा चेति । सता हिता सत्या । न सत्या न च मृषा या सा असच्चमोसा । द्विप्रकारा वाचमित्थभूता । '**अलियादिदोसवज्जं**' व्यलीकता अर्थाभाव, पारुष्य, पैशुन्यमित्यादिदोषरहित । '**अणवज्जं**' पापास्रवो न भवति इत्यनवद्य । '**वदमाणस्स**' व्याहरत । '**अणुवीचि**' सूत्रानुसारेण '**भासासमिदी सुद्धा हवदि**' भाषासमिति शुद्धा भवति ॥११८६॥

सत्यवचनभेद निरूपयति—

जणवदसंमदिठवणा णामे रूवे पडुच्चववहारे ।
संभावणववहारे भावेणोपम्मसच्चेण ॥११८७॥

'**जणवदसमदि**' नानाजनपदप्रसिद्धा सुसकेतानुविधायिनी वाणी जनपदसत्य । गच्छति इति गौ, गर्ज-

---

रहित गमन करना, तरुण तृण पत्रोसे एक हाथ दूर रहते हुए गमन करना, पशु पक्षी और मृगोको भयभीत न करते हुए गमन करना, विरुद्ध योनिवाले जीवोके मध्यसे जानेपर उनको होनेवाली बाधाको दूर करनेके लिए पीछीसे अपने शरीरकी बारबार प्रतिलेखना करते हुए गमन करना, सामनेसे आते हुए मनुष्योसे न टकराते हुए गमन करना, दुष्ट गाय, दुष्ट बैल, कुत्ता आदिसे चतुरतापूर्वक बचते हुए गमन करना, भुस, तुष, मसी, गीला गोबर, तृणसमूह, जल, पाषाण और लकडीके तख्तसे बचकर गमन करना, चोरी और कलहसे दूर रहना और पुलपर न चढ़ना । ये सब करते हुए गमन करना ईर्यासमिति है ॥११८५॥

आगे भाषासमितिका कथन करते है—

गा०—वचनके चार प्रकार है—सत्य, असत्य, सत्यसहित असत्य और असत्यमृषा । सज्जनोके हितकारी वचनको सत्य कहते हैं । जा वचन न सत्य होता है और न असत्य उसे असत्यमृषा कहते है । इस प्रकार सत्य और असत्यमृषा वचनको बोलना तथा असत्य, कठोरता, चुगली आदि दोषोंसे रहित और अनवद्य अर्थात् जिससे पापका आस्रव न हो ऐसा वचन सूत्रा-नुसार बोलनेवालेके शुद्ध भाषासमिति होती है ॥११८६॥

सत्यवचनके भेद कहते है—

गा०—जनपद सत्य, सम्मति सत्य, स्थापना सत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीत्यसत्य, सम्भावना सत्य, व्यवहार सत्य, भाव सत्य और उपमा सत्य इस प्रकार सत्यवचनके दस भेद हैं ।

टी०—विभिन्न जनपदोमे जो उस उस जनपदके संकेतके अनुसार प्रचलित वाणी है वह

१ यदलो–अ० । २ अनूढ–अ० ।

तीति गज इत्येवमादिका अवयवार्थानुगमाभावेऽपि विवक्षितार्थप्रवृत्तिनिमित्तभूता । सम्मतिशब्देन संस्थानाभ्युपगम उच्यते । गजेन्द्रो नरेन्द्र इत्यादिका. शब्दाः शुभलक्षणयोगात् केषाञ्चित् स्वतो लक्षणत्वा[1]नामीश्वरत्वेनाभ्युपगममाश्रित्य क्वचिद्गजे मानवे वा प्रयुज्यमाना सम्मतिसत्यशब्देनोच्यन्ते । अर्हन्निन्द्र. स्कन्द इत्येवमादय. सद्भावासद्भावस्थापनाविषया स्थापनासत्य । अरिहननं, रजोहनन, इन्दन इत्येवमादीना क्रियाणा तत्राभावाद्व्यलीकता नाशङ्कनीया आकारमात्रे परमार्थत्वात्सर्वभावाना । तस्य च स्थापनाया वस्त्वास्तित्वाद् बुद्धिपरिग्रहेण वा सद्भावात । इन्द्रादिसंज्ञा स्वप्रवृत्तिनिमित्तजातिगुणक्रियाद्रव्यनिरपेक्षा तच्छब्दाभिधेयसम्बन्धपरिणतिमात्रेण वस्तुन प्रवृत्ता नामसत्यं । रूपग्रहण उपलक्षण प्रवृत्तिनिमित्ताना नीलमुत्पल, धवलो हि मृगलाञ्छन इत्येवमादिक रूपसत्य । सम्बन्ध्यन्तरापेक्षाभिव्यग्य च वस्तुस्वरूपालम्बनं दीर्घो ह्रस्व इत्येवमादिक प्रतीत्यसत्यं । वस्तुनि तथाऽप्रवृत्तेऽपि तथाभूतकार्ययोग्यतादर्शनात् सम्भावनया वृत्त सम्भावनासत्य । अपि दोर्भ्यां समुद्रं तरेत्, शिरसा पर्वतं भिन्द्यात् इत्यादि । वर्तमानकाले स परिणामो यद्यपि नास्ति तथाप्यतीतानागत-

---

जनपद सत्य है । जैसे गमन करे वह गाय है गर्जन करे वह गज—हाथी है । यद्यपि गमनरूप और गर्जनरूप अर्थ नहीं होनेपर भी इन अर्थोंकी प्रवृत्तिमे निमित्तभूत वाणी जनपद सत्य है । अर्थात् जैसे गाय और गजशब्द गमन और गर्जन अर्थको लेकर निष्पन्न हुए है और उनका संकेत गाय और गजमे किया गया है । गाय बैठी हो तब भी उसे गाय कहते हैं । इस प्रकार प्रत्येक देशकी भाषामे शब्द जनपद सत्य हैं ।

सम्मति शब्दसे आकार विशेषकी स्वीकृति कही जाती है । जैसे गजेन्द्र नरेन्द्र इत्यादि शब्द शुभलक्षणके योगसे व्यवहृत होते है । किन्हीमे स्वयं शुभलक्षण पाये जानेसे उन्हे इन्द्र या ईश्वरके रूपमे स्वीकार करके किसी गजको गजेन्द्र या मनुष्यको सुरेन्द्र कहना सम्मति सत्य है । किसी तदाकार या अतदाकार वस्तुमें अर्हन्त, इन्द्र या स्कन्दकी स्थापना करके उसे अर्हन्त आदि कहना स्थापना सत्य है । मूर्तिमे स्थापित अर्हन्त या इन्द्रमें अर्हन्तशब्दका अर्थ अरि—कर्मशत्रुका हनन करना या कर्मरजका हनन करना और इन्द्र शब्दका अर्थ इन्दन क्रिया नही पाई जाती, इसलिए उसमे असत्यपनेकी आशका नहीं करनी चाहिए । क्योंकि सभी पदार्थ आकारमात्रमे परमार्थ माने जाते है । और वह आकार तदाकार स्थापनामें वस्तुरूपसे रहता है अथवा अतदाकार स्थापनामे उसमे उस प्रकारकी बुद्धि कर ली जाती है ।

इन्द्रादि नामोंकी प्रवृत्तिमें निमित्त जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यकी अपेक्षा न करके जो उस शब्दका अपने वाच्यार्थके साथ सम्बन्ध है केवल उसी दृष्टिसे रखा वस्तुका इन्द्रादि नाम नामसत्य है । रूपका ग्रहण शब्दकी प्रवृत्तिके निमित्तोंका उपलक्षण है । जैसे कमलका नीला रूप देखकर नीलकमल कहना या चन्द्रमा सफेद कहना रूप सत्य है । अन्य वस्तुके सम्बन्धसे व्यक्त होनेवाला वस्तुका स्वरूप प्रतीत्य सत्य है जैसे किसीको लम्बा या ठिगना कहना ।

वस्तुमें वैसा नही होने पर भी उस प्रकारके कार्यकी योग्यता देखकर जो संभावना मूलक वचन है वह संभावना सत्य है । जैसे कहना अमुक व्यक्ति हाथोंसे समुद्र पार कर सकता है या सिरसे पर्वत तोड़ सकता है । इत्यादि । यद्यपि वर्तमान कालमे वस्तुमे वह परिणाम नहीं है तथापि

---

१. णत्वमा—आ० । णत्वादी—मु० । णावामी—मूलारा० ।

परिणामा[1] इदमेव द्रव्यमिति कृत्वा प्रवृत्तानि वचांसि ओदन पच, कटं कुविरित्येवमादीनि व्यवहारसत्य । अहिंसालक्षणो भाव पाल्यते येन वचसा तद्भावसत्य निरीक्ष्य स्वप्रयताचारो भवेत्येवमादिक । पल्योपमसागरोपमादिकमुपमा सत्यम् ॥११८७॥

मृषादिवचनत्रयलक्षणं कथयन्ति—

तव्विवरीदं मोसं तं उभयं जत्थ सच्चमोसं तं ।
तव्विवरीया भासा असच्चमोसा हवे दिट्ठा ॥११८८॥

'**तव्विवरीदं**' सत्यविपरीत । '**मोसं**' मृषा । '**असदभिधानमनृतं**' [त० सू० ७।] इति वचनात् । मिथ्याज्ञानमिथ्यादर्शनयोरसयमस्य वा निमित्त वचनमसदभिधान अप्रशस्त तत्सत्यविपरीतं । '**तं उभयं**' तत्सत्यमनृतं च उभयं । '**जत्थ**' यस्मिन् वाक्ये । '**तं**' तद्वाक्य । '**सच्चमोसं**' सत्यमृषेत्युच्यते । '**तव्विवरीया भासा**' सत्यादनृताभ्मिश्राच्च पृथग्भूता । '**भासा**' भाषा वचन '**असच्चमोसा**' असत्यमृषेति । '**हवे**' भवेत् । '**दिट्ठा**' दृष्टा पूर्वागमेषु । एकान्तेन न सत्या नापि मृषा नोभयमिश्रा किंतु जात्यन्तर यथा वस्तु नैकान्तेन नित्य नापि अनित्य नापि सर्वथा एकान्तयो समुच्चय किंतु कथचिद्रूपान्नित्यानित्यात्मकं । एवमियं भारती ॥११८८॥

सा नवप्रकारा तस्याश्च भेदा[2] इयन्त इति गाथाद्वयेनाचष्टे—

आमंतणि आणवणी जायणि संपुच्छणी य पण्णवणी ।
पच्चक्खाणी भासा भासा इच्छाणुलोमा य ॥११८९॥

अतीत और अनागत परिणाम रूप यही द्रव्य है ऐसा मानकर किया गया वचन व्यवहार सत्य है जैसे भात पकाओ या चटाई बुनो । ये दोनो परिणाम वर्तमानमे नही हैं क्योकि चावल पकने पर भात बनेगा और बुनने पर चटाई होगी । फिर भी अनागत परिणामकी अपेक्षा इनका व्यवहार होता है । जिस वचनके द्वारा अहिंसा रूप भाव पाला जाता है वह वचन भाव सत्य है । जैसे देखकर सावधानतापूर्वक प्रवृत्ति करो आदि । पल्योपम, सागरोपम आदिका जो कथन आगममे कहा है वह उपमा सत्य है ॥११८७॥

असत्य आदि तीन वचनोंका लक्षण कहते है—

गा०–टी०—सत्यसे विपरीत वचन असत्य है । तत्त्वार्थ सूत्रमे कहा है 'असत् कहना झूठ है ।' जो वचन मिथ्याज्ञानमे, मिथ्याश्रद्धानमें और असयममें निमित्त होता है वह वचन असत् कथन रूप होनेसे अप्रशस्त है । अत. सत्यसे विपरीत है । जो वचन सत्य और असत्य दोनो रूप होता है वह वचन सत्यमृषा है । जो वचन सत्य, असत्य और सत्य असत्यसे विपरीत होता है उसे पूर्व आगमोंमे असत्यमृषा कहा है । वह वचन न तो एकान्तसे सत्य होता है न एकान्तसे असत्य होता है और न सत्यासत्य होता है किन्तु जात्यन्तर होता है । जैसे वस्तु न तो एकान्तसे नित्य है, न अनित्य है और न सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य है, किन्तु कथंचित् नित्यानित्य है । उसी प्रकार यह असत्यमृषा वचन भी होता है ॥११८८॥

उस असत्यमृषा वचनके नौ भेद दो गाथाओसे कहते हैं—

१ साम्प्रति इद–मु० । मिथेयांगं–आ० मु० । २. दा यत इति–अ० । दा य इति–आ० ।

'आमंतणी' यया वाचा परोऽभिमुखीक्रियते सा आमन्त्रणी। हे देवदत्त इत्यादि। अगृहीतसंकेतं नाभिमुखी करोति इति न सत्यैकान्तेन गृहीतमभिमुखी करोति तेन न मृषा गृहीतागृहीतसकेतयोः प्रतीतिनिमित्तमनिमित्तं चेति द्वयात्मकता। स्वाध्यायं कुरुत, विरमतासंयमात् इत्यादिका अनुशासनवाणी आणवणी। चोदितायाः क्रियायाः करणमकरणं वापेक्ष्य नैकान्तेन सत्या न मृषैव वा। **'आयणी'** ज्ञानोपकरण पिच्छादिकं वा भवद्भिर्दातव्यं इत्यादिका याचनी। दातुरपेक्षया पूर्ववदुभयरूपा। निरोध[1] वेदनास्ति भवता न वेति प्रश्नवाक् **'संपुच्छणी'**। यद्यस्ति सत्या न चेदितरा इति। वेदनाभावाभावमपेक्ष्य प्रवृत्तेरुभयरूपता। **'पण्णवणी'** नाम धर्म्मकथा। सा बहून्निर्दिश्य प्रवृत्ता कैश्चिन्मनसि करणमितरैरकरणं चापेक्ष्य द्विरूपा। **'पच्चक्खाणी'** नाम केनचिद्गुरुमननुज्ञाप्य इद क्षीरादिकं इयन्त काल मया प्रत्याख्यातं इत्युक्त कार्यान्तरमुद्दिश्य[2] तत्कुर्वित्युदित गुरुणा प्रत्याख्यानावधिकालो[3] न पूर्ण इति नैकान्तत सत्यता गुरुवचनात्प्रवृत्तो न दोषायेति न मृषैकान्त.। **'इच्छानुलोमा य'** ज्वरितेन पृष्टं घृतशर्करामिश्रं क्षीर न शोभनमिति। यदि परो ब्रूयात् शोभनमिति माधुर्यादि-

---

गा०—आमन्त्रणी, आणवणी, याचनी, संपुच्छणी, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यानी और इच्छानुलोमा।

टी०—जिस वचनसे दूसरेको बुलाया जाता है वह आमंत्रणी भाषा है। जैसे हे देवदत्त! यह वचन जिसने संकेत ग्रहण नही किया उसे बुलाने वालेके अभिमुख नहीं करता अर्थात् वह बुलाने पर नही आता। इसलिए यह वचन सत्य भी नही है और जिसने सर्वथा सकेत ग्रहण किया है उसे अभिमुख करता है इसलिए असत्य भी नही है। इस तरह यह वचन गृहीत संकेत वालेको तो प्रतीति करानेमे निमित्त होता है किन्तु जिसने संकेत ग्रहण नही किया उसको प्रतीति करानेमे निमित्त नही होनेमे दो रूप है। 'स्वाध्याय करो, असंयमसे विरत होओ,' इत्यादि अनुशासन वचन आणवणी है। जो काम करनेकी प्रेरणा की गई है वह करने या करनेकी अपेक्षा यह वचन न तो एकान्तमे सत्य है और न एकान्तसे असत्य है। आप मुझे ज्ञानके उपकरण अथवा पीछी आदि प्रदान करे, इत्यादि वचन याचनी भाषा है। यह भी दाताकी अपेक्षा पहलेकी तरह न तो सर्वथा सत्य है और न सर्वथा असत्य है क्योंकि माँगने पर दाता दे भी सकता है और नही भी दे सकता।

आपकी वेदना—कष्ट रुका या नही ? या निरोध—जेलमे आपको कष्ट है या नहीं ? इस प्रकार पूछना संपृच्छनी भाषा है। यदि वेदना है तो सत्य है, नही है तो मिथ्या है। इस प्रकार वेदनाके भाव और अभावकी अपेक्षासे प्रवृत्त होनेसे यह वचन उभयरूप है।

धर्मकथाको पण्णवणी या प्रज्ञापनी कहते हैं। यह बहुतसे श्रोताओंको लक्ष करके होती है अतः कुछ तो अपने मनमें उसका पालन करनेका विचार करते हैं और कुछ नहीं करते। इस अपेक्षा यह भी उभयरूप है। प्रत्याख्यानी भाषा इस प्रकार हैं—किसीने गुरुसे निवेदन किये विना यह दूध आदि मैने इतने कालतक त्यागा' ऐसा नियम किया। किसी अन्य कार्यको लक्ष करके गुरुने कहा ऐसा करो। उसके त्याग करनेको मर्यादाका काल पूरा नही हुआ, इसलिए उसका प्रत्याख्यान सर्वथा सत्य नही है और गुरुकी आज्ञासे उसने त्यागी हुई वस्तुमे प्रवृत्ति की इसलिए दोष भी न होनेसे सर्वथा असत्य भी नही है।

इच्छानुलोमा भाषा इस प्रकार है—किसी ज्वरके रोगीने पूछा—घी और शक्कर मिला

---

१. धो वेदनाया अस्ति–आ०। निरोधो वेदनास्ति–अ० २ श्य तद्गुरुहितं–ज० श्य तरुहिवगु–अ०। श्य तद्गर्हित ग–आ०। ३. कालेन पूर्व इति–अ०। कालो न पूर्व इति–ज०।

प्रशस्यगुणसद्भावं ज्वरवृद्धिनिमित्ततां चापेक्ष्य न शोभनमिति वचो मृषैकान्ततो नापि सत्यमेवेति द्वयात्मकता ॥११८९॥

संसयवयणी य तहा असच्चमोसा य अट्ठमी भासा ।
णवमी अणक्खरगदा असच्चमोसा हवदि णेया ॥११९०॥

'**संसयवयणी**' किमयं स्थाणुरुत पुरुष इत्यादिका द्वयोरेकस्य सद्भावमितरस्याभावं चापेक्ष्य द्विरूपता । '**अणक्खरगदा**' अङ्गुलिस्फोटादिध्वनि कृताकृतसंकेतपुरुषापेक्षया प्रतीतिनिमित्ततामनिमित्ततां च प्रतिपद्यते इत्युभयरूपा ॥११९०॥

उग्गमउप्पायणएसणाहिं पिंडमुवधिं सेज्जं च ।
सोधितस्स य मुणिणो विसुज्झए एसणासमिदी ॥११९१॥

'**उग्गमउप्पायणएसणाहिं**' उद्गमोत्पादनैषणादोषरहितं भक्तमुपकरणं वसतिं च गृह्णत एषणासमितिर्भवतीति सूत्रार्थः । दशवैकालिकटीकायां श्रीविजयोदयायां प्रपञ्चिता उद्गमादिदोषा इति नेह प्रतन्यन्ते ॥११९१॥

आदाननिक्षेपणसमितिनिरूपणा गाथा--

सहसाणाभोगिददुप्पमज्जिय अपच्चवेसणा दोसो ।
परिहरमाणस्स हवे समिदी आदाणणिक्खेवो ॥११९२॥

'**सहसाणाभोगिद**' आलोकनप्रमार्जने कृत्वा आदान निक्षेप इत्येको भङ्गः । अनालोक्य प्रमार्जनं कृत्वा

दूध उत्तम नहीं है ? यदि दूसरा कहे कि माधुर्य आदि प्रशस्त गुणोंकी अपेक्षा तो उत्तम है किन्तु ज्वरको बढानेवाला होनेसे उत्तम नहीं है तो इस प्रकारके वचन न सर्वथा असत्य हैं और न सर्वथा सत्य हैं किन्तु दोनो रूप होनेसे उभयात्मक हैं। यहाँ उभयात्मकसे इन वचनोको सत्य और असत्यरूप नही समझना चाहिए। किन्तु सत्य भी नही और असत्य भी नही अर्थात् अनुभयरूप समझना चाहिए ॥११८९॥

गा०—आठवी असत्यमृषा भाषा संशय वचनो है। जैसे यह स्थाणु है या पुरुष। दोनोमेंसे एकके सद्भाव और दूसरेके अभावकी अपेक्षा यह वचन उभयरूप है। और नौवी असत्यमृषा भाषा अनक्षरात्मक भाषा है। जैसे अंगुलि चटकाने आदिका शब्द। जिस पुरुषने संकेत ग्रहण किया है उसे तो ध्वनिसे प्रतीति होती है दूसरेको नही होती। इस तरह यह वचन उभयरूप है ॥११९०॥

अब एषणा समितिका कथन करते हैं—

गा०—उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषोंसे रहित भोजन, उपकरण और वसतिको ग्रहण करनेवाले मुनिकी एषणा समिति निर्मल होती है ॥११९१॥

आदाननिक्षेपण समितिका कथन करते हैं—

गा०-टी०—विना देखे और विना प्रमार्जन किये पुस्तक आदिका ग्रहण करना या रखना

आदानं निक्षेपो वेति द्वितीयो भङ्गः। आलोक्य दुःप्रमृष्टं इति तृतीयः। आलोकितं प्रमृष्टं च न पुनरालोकितं शुद्धं न शुद्धं वेति चतुर्थो भङ्गः। एतद्दोषचतुष्टयं परिहरतो भवति आदाननिक्षेपणसमितिः ॥११९२॥

एदेण चेव पदिट्ठावणसमिदीवि वण्णिया होदि।
वोसरणिज्जं दव्वं थंडिल्ले वोसरिंतस्स ॥११९३॥

'**एदेण चेव**' आदाननिक्षेपविषययत्नकथनेन। '**पदिट्ठावणसमिदीवि वण्णिया होदि**' प्रतिष्ठापनसमितिर्वर्णिता भवति। '**वोसरणिज्जं**' परित्यक्तव्यं मूत्रपुरीषादिकं मलं। '**थंडिल्ले वोसरिंतस्स**' स्थंडिले निर्जन्तुके, निश्छिद्रे, समे व्युत्सृजतः ॥११९३॥

एदाहिं सदा जुत्तो समिदीहिं जगम्मि विहरमाणो हु।
हिंसादीहिं ण लिप्पइ जीवणिकायाउले साहू ॥११९४॥

'**एदाहिं समिदीहिं**' एताभिः। '**सदा जुत्तो**' सदा युक्तः। '**जगम्मि विहरमाणो हु**' जगति विचरन्नपि। कीदृशी ? '**जीवणिकायाउले**' षड्जीवनिकायाकीर्णे। '**हिंसादीहिं**' हिंसादिभिः। '**ण लिप्पदि**' न लिप्यते साधुः। आदिग्रहणेन परितापन, संघट्टनं, अङ्गन्यूनताकरणादिपरिग्रहः। समितिषु प्रवर्तमानः प्रमादरहितः। '**प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसेत्युच्यते**'। हिंसादिसहितानि कर्माणि हिंसादिशब्देनोच्यन्ते। कार्ये कारणशब्दप्रवृत्तिः [1]प्रतीततरत्वात् ॥११९४॥

यद्यपि विवर्जननिमित्तगुणान्वितः तत्र प्रवर्तमानमपि तेन न लिप्यते यथा स्नेहगुणान्वितं तामरसपत्रं

सहसा नामक प्रथम दोष है। बिना देखे प्रमार्जन करके पुस्तक आदिको ग्रहण करना या रखना अनाभोगित नामक दूसरा दोष है। देखकर भी सम्य प्रतिलेखना न करके पुस्तक आदिको ग्रहण करना या रखना दुष्प्रमृष्ट नामक तीसरा दोष है। देखा भी और प्रमार्जन भी किया किन्तु यह शुद्ध है या अशुद्ध, यह नहीं देखा यह चतुर्थ अप्रत्यवेक्षण नामक दोष है। इन चारों दोषोंको जो दूर करता है उसके आदान निक्षेपण समिति होती है ॥११९२॥

प्रतिष्ठापन समिति कहते हैं—

गा०—आदान और निक्षेप विषयक सावधानताका कथन करनेसे प्रतिष्ठापन समितिका कथन हो जाता है। त्यागने योग्य मूत्र विष्टा आदिको जन्तुरहित और छिद्ररहित समभूमिमें त्यागना प्रतिष्ठापन समिति है ॥११९३॥

गा०-टी०—इन पाँच समितियोंका सदा पालन करनेवाला मुनि छ प्रकारके जीवनिकायोसे भरे हुए लोकमें गमनागमन आदि करता हुआ भी हिंसा आदिसे लिप्त नहीं होता। 'आदि' शब्दसे छहकायके जीवोंको कष्ट देना, उनका परस्परमे संघट्टन करना, उनके अंग उपांगोंको छिन्न-भिन्न करना आदि पापोंसे लिप्त नहीं होता। समितियोंमे प्रवृत्ति करते हुए मुनि प्रमादसे रहित होता है। और प्रमत्तयोगसे प्राणोंके घातको हिंसा कहा है। हिंसा आदिसे सहित कर्म हिंसा आदि शब्दसे कहे जाते है। क्योंकि कार्यमें कारणशब्दकी प्रवृत्ति अति प्रसिद्ध है। आदान निक्षेपमें निमित्त गुणोंसे युक्त मुनि प्रवृत्ति करते हुए भी हिंसा आदि पापसे लिप्त नहीं होता ॥११९४॥

जैसे चिक्कणगुणसे युक्त कमल नीलमणिके समान निर्मल जलमें सदा रहते हुए भी

---

१. प्रतीतिमागच्छत्। यदपि—आ०।

काचनीलनीरनिरन्तरवर्षेऽपि नाम्बुना लिप्यते । निरन्तरनिचितजीवनिकायाकुलेऽपि जगति सञ्चरन्नपि मुनिर्न लिप्यते[1] अप्रमत्ततया प्रवृत्त. पञ्चसु समितिष्विति कथयति—

पउमणिपत्तं व जहा उदयेण ण लिप्पदि सिणेहगुणजुत्तं ।
तह समिदीहिं ण लिप्पइ साधू काएसु इरियंतो ॥११९५॥

'**पउमणिपत्तं**' इत्यनया गाथया-पद्मपत्र यथा नोदकेन विलिप्यते स्नेहगुणसमन्वित । तथा कायेसु शरीरेषु प्राणभृता प्रवर्तमानोऽपि न लिप्यते साधु समितिभिर्हेतुभूताभि ॥११९५॥

सरवासे वि पडते जह दढकवचो ण विज्झदि सरेहिं ।
तह समिदीहिं ण लिप्पइ साधू काएसु इरियंतो ॥११९६॥

'**सरवासे वि पडते**' शरवर्षेऽपि पतति सति च रणाङ्कणे यथा दृढकवचो न शरैर्भिद्यते, यथा समिति-भिर्हेतुभूताभिन लिप्यते कायेषु वर्तमानो मुनि ॥११९६॥

जत्थेव चरइ बालो परिहारण्हू वि चरइ तत्थेव ।
बज्झदि पुण सो बालो परिहारण्हू वि मुच्चइ सो ॥११९७॥

'**जत्थेव चरइ बालो**' यत्रैव क्षेत्र चरति जीवपरिहारक्रमानभिज्ञ । **परिहारण्हू वि**' जीवबाधापरिहार-क्रमज्ञोऽपि तत्रैव चरति । तथापि '**बज्झवि सो पुण बालो**' बध्यते पुनरसौ ज्ञानबालश्चारित्रबालश्चासौ । '**परि-हारण्हू**' परिहारज्ञ । '**मुच्चइ**' मुच्यत कर्मलेपात् ॥११९७॥

उक्तमर्थमुपसहरत्युत्तरगाथया—

तम्हा चेट्ठिदुकामो जइया तइया भवाहि त समिदो ।
समिदो हु अण्णमण्णं णादियदि खवेदि पोराणं ॥११९८॥

जलसे लिप्त नही होता । पाँचो समितियामे अप्रमादीरूपसे प्रवृत्ति करनवाला मुनि भी निरन्तर जीव निकायोसे भरे हुए जगत्मे गमनागमन करते हुए पापसे लिप्त नही होता । यह कहते हैं—

गा०—जैसे स्नेह गुणसे युक्त कमलपत्र जलसे लिप्त नही होता । उसी प्रकार प्राणियोके शरीरोके मध्यमेसे गमनागमन करते हुए भी साधु समितिका पालन करनेसे पापसे लिप्त नही होता ॥११९५॥

गा०—जैसे दृढ कवचसे युक्त योद्धा युद्धभूमिमे बाणोकी वर्षा होते हुए भी बाणोसे नही छिदता । उसी प्रकार षट्कायके जीवोके मध्यमे विचरण करता हुआ भी समितियोके कारण हिसा आदिसे लिप्त नही होता ॥११९६॥

गा०—जीवोकी हिंसासे बचनेके उपायोंको न जाननेवाला जिस क्षेत्रमे विचरण करता है, जीवोकी हिंसामे बचनेके उपायोको जाननेवाला भी उसी क्षेत्रमे विचरण करता है । तथापि वह ज्ञान और चारित्रमे बालकके समान अज्ञ तो पापमे बद्ध होता है किन्तु उपायोको जाननेवाला पापसे लिप्त नही होता बल्कि उससे मुक्त होता है ॥११९७॥

आगे उक्त कथनका उपसहार करते है—

---

१ ते अथ प्रमत्ततया प्रमत्त प—आ० ज० ।

यस्मात्समितिषु प्रवर्तमानो न बध्यते, पापेन मुच्यते। असमितस्तु महता बध्यते कर्मसमूहेन 'तम्हा' तस्मात्। 'चेट्ठिदुकामो' गमनभाषणाद्यभिलाषी। 'जइया तइया' यदा तदा। 'तं' भवान् 'समिदो भवाहि' समितिपरो भवेति निर्यापकसूरिराह क्षपकं। 'समिदो खु' समितः सम्यक्प्रवृत्तः ईर्यादिषु। 'अण्णमण्णं कम्मं' अन्यत् अन्यत्। प्रत्यग्र। 'णादियदि' नैवादत्ते। 'खवेदि पोराणं' प्राक्तन च कर्म क्षपयति निर्जरति ॥११९८॥

एदाओ अट्ठपवयणमादाओ णाणदंसणचरित्तं।
रक्खंति सदा मुणिणो मादा पुत्तं व पयदाओ ॥११९९॥

'एदाओ अट्ठपवयणमादाओ' एता अष्टप्रवचनमातृकाः 'पयदाओ' प्रयता। 'णाणदंसणचरित्तं रक्खंति' समीचीनज्ञानदर्शनचारित्राणि पालयन्ति सदा मुनेः। 'मादा पुत्तं व जधा' जननी पुत्र यथा। प्रयता माता पुत्र पालयत्यपायस्थानेभ्यः ॥११९९॥

व्रतभावनानिरूपणायोत्तरप्रबन्ध। त्रयोदशा वध चारित्रं अखण्डमाराधयतश्चारित्राराधना। तत्र व्रताना स्थैर्यं सम्पादयितु भावना एकैकस्य पञ्च पञ्चाभिहितास्तत्रेमा अहिंसाव्रतभावना इति बोधयति।

एषणासमितिर्निरूप्यते—

एसणणिक्खेवादाणिरियासमिदी तहा मणोगुत्ती।
आलोयभोयणं वि य अहिंसाए भावणा होंति ॥१२००॥

'एसणणिक्खेवादाणिरियासमिदी' एसणसमिदी एषणासमितिरादाननिक्षेपणासमिति, ईर्यासमितिस्तथा मनोगुप्ति। 'आलोयभोजणं च' आलोकभोजन च। 'अहिंसाए' अहिंसाव्रतस्य। 'भावणा' भावना। 'होंति' भवन्ति।

भिक्षाकाल, बुभुक्षाकालोऽवग्रहकालश्चेति कालत्रय ज्ञातव्य। ग्रामनगरादिषु इयता कालेन आहार-

---

गा०—टी०—यतः समितियोका पालक पापसे लिप्त नही होता किन्तु उससे छूटता है और समितिका पालन न करनेवाला महान् कर्मसमूहसे बँधता है अतः जब तुम गमन करना या बोलना चाहो तो समितिमे तत्पर रहो। ऐसा निर्यापकाचार्य क्षपकसे कहते है। क्योंकि ईर्या आदिमे सम्यक् प्रवृत्ति करनेवाला नवीन-नवीन कर्मों का बन्ध नहीं करता ओर पूर्वमे बाँधे कर्मो की निर्जरा करता है ॥११९८॥

गा०—जैसे सावधान माता पुत्रकी अनिष्टोंसे रक्षा करके उसका पालन करती है। वैसे ही सम्यक्रूपसे पालित ये आठ प्रवचन मातायें मुनिके सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की रक्षा करती हैं ॥११९९॥

आगे व्रतोकी भावनाओंका कथन करते हैं। जो तेरह प्रकारके चारित्रकी निर्दोष आराधना करता है उसके चारित्राराधना होती है। उनमेंसे व्रतोंको स्थिर करनेके लिए एक-एक व्रतकी पाँच-पाँच भावना कही है। उनमेंसे अहिंसाव्रतकी भावना कहते हैं—

गा०—टी—एषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति, ईर्यासमिति, मनोगुप्ति और आलोक भोजन ये पाँच अहिंसाव्रतकी भावना हैं। उनमेसे एषणा समिति कहते है—भिक्षाकाल, बुभुक्षा-काल और अवग्रहकाल ये तीन काल जानना चाहिए। अमुक मासोंमें ग्राम नगर आदिमें अमुक

निष्पत्तिर्भवति, अमीषु मासेषु, अस्य वा कुलस्य वाय भोजनकाल इच्छायाः प्रमाणादिना भिक्षाकालोऽवगन्तव्य । क्षुदद्य मम तीव्रा मन्दा वेति स्वशरीरव्यवस्था च परीक्षणीया । अयमवग्रह. पूर्वं गृहीत. एवंभूत आहारो मया न भोक्तव्य इति । अद्यायमवग्रहो ममेति मीमासा कार्या । तदनन्तर पुरतो युगान्तरमात्रभूभागावलोकनरत अद्रुतं, अविलम्बित, असभ्रान्त व्रजेत् प्रलम्बबाहुरविकृष्टचरणन्यासो निर्विकार ईषदवनतोत्तमाङ्ग अकर्दमेनानुदकेन अत्रसहरितबहुलेन वर्त्मना । दृष्ट्वा तु खरान्, करभान्, बलीबर्द्दान्, गजान्स्तुरगान्महिषान्सारमेयान्कलहकारिणो वा मनुष्यान्दूरत परिहरेत् । पक्षिणो मृगाश्चाहारकालोद्यता वा यथा न बिभ्यति, यथा वा स्वमाहारं मुक्त्वा न व्रजन्ति तथा यायात् । मृदुना प्रतिलेखनेन कृतप्रमार्जनो गच्छेद्यदि निरन्तरासुसमाहितफलादिक वाग्रतो भवेत् मार्गान्तरमस्ति भिन्नवर्णां वा भूमिं प्रविशस्तद्वर्णभूभाग एव अङ्गप्रमार्जन कुर्यात् । तुषगोमयभस्मबुसपलालनिचय, दलोपलफलादिकं च परिहरेत् । निन्द्यमानो न क्रुध्येत्, पूज्यमानोऽपि न तुष्येत् । न गीतनृत्यबहुल, उच्छ्रितपताक वा गृह प्रविशेत् । तथा मत्ताना गृह न प्रविशेत् । सुरापण्याङ्गनालोकगर्हितकुल वा, यज्ञशाला, दानशाला, विवाहगृह, वार्यमाणानि, रक्ष्यमाणानि; अमुक्तानि च गृहाणि परिहरेत् । दरिद्रकुलानि उत्क्रमाढ्यकुलानि न प्रविशेत् । ज्येष्ठाल्पमध्यानि सममेवाटेत् । द्वारमर्गल कवाट वा नोद्घाटयेत् । बालवत्स एलक, शुनो वा नोल्लङ्घयेत् । पुष्पै फलैर्बीजैर्वाविकीर्णां भूमिं वर्जयेत् तदानीमेव अवलिप्ता । भिक्षाचरेषु परेषु लाभार्थिषु स्थितेषु तद्गेह न प्रविशेत् । तथा कुटुम्बिषु व्यग्रविषण्णदीनमुखेषु च

समय भोजन बनता है, अथवा अमुक कुलका या अमुक मुहालका अमुक समय भोजनका है। इस प्रकार इच्छाके प्रमाण आदिसे भिक्षाका काल जानना चाहिए। तथा मेरी भूख आज मन्द है या तीव्र है इस प्रकार अपने शरीरकी स्थितिकी परीक्षा करनी चाहिये। मैंने पहले यह नियम लिया था कि इस प्रकारका आहार मै नही लूँगा और आज मेरा यह नियम है इस प्रकार विचार करना चाहिए। उसके पश्चात् आगे केवल चार हाथ प्रमाण जमीन देखते हुए न अधिक शीघ्रतासे, न रुक-रुककर किसी प्रकारके वेगके विना गमन करना चाहिए। गमन करते समय हाथ लटकते हुए हो, चरण निक्षेप अधिक अन्तरालसे न हो, शरीर विकाररहित हो, सिर थोड़ा झुका हुआ हो, मार्गमे कीचड़ और जल न हो तथा त्रसजीवो और हरितकायकी बहुलता न हो। यदि मार्गमे गधे, ऊँट, बैल, हाथी, घोडे, भैंसे, कुत्ते अथवा कलह करनेवाले मनुष्य हो तो उस मार्गसे दूर हो जाये। पक्षी और खाते पीते हुए मृग भयभीत न हो और अपना आहार छोड़कर न भागें, इस प्रकारसे गमन करे। आवश्यक होनेपर पीछीसे अपने शरीरकी प्रतिलेखना करे। यदि मार्गमे आगे निरन्तर इधर उधर फलादि पडे हों, या मार्ग बदलता हो या भिन्न वर्णवाली भूमिमें प्रवेश करना हो तो उस वर्णवाले भूमिभागमें ही पीछीसे अपने शरीरको साफ कर लेना चाहिये। तुष, गोबर, राख, भुस, और घासके ढेरमे तथा पत्ते, फल, पत्थर आदिसे बचते हुए चलना चाहिये, इनपर पैर नही पडना चाहिये। कोई निन्दा करे तो क्रोध न करे और पूजा करे तो प्रसन्न न हो। जिस घरमे गाना नाचना होता हो, झण्डियाँ लगी हो उस घरमें न जावे। तथा मतवालोके घरमे न जावे। शराबी, वेश्या, लोकमे निन्दित कुल, यज्ञशाला, दानशाला, विवाहवाला घर तथा जिन घरोमे जानेकी मनाई हो, आगे रक्षक खड़ा हो, सब कोई न जा सकता हो ऐसे घरोंमें नही जाये। दरिद्रकुलोमे और आचारहीन सम्पन्नकुलोंमें भी प्रवेश न करे। बड़े छोटे और मध्यम गृहोमे एक साथ ही भ्रमण करे। द्वारपर यदि साकल लगी हो या कपाट बन्द हों तो उन्हें खोलें नही। बालक, बछड़ा, मेढ़ा और कुत्तेको लाँघकर न जावे। जिस भूमिमें पुष्प, फल और बीज फैले हो उसपरसे न जावे। तत्कालकी लिपी भूमिपर न जावे। जिस घरपर अन्य भिक्षार्थी

सत्सु नो तिष्ठेत् । भिक्षाचर भिक्षामार्गणभूमिमतिक्रम्य न गच्छेत् । याच्ञामव्यक्तस्वनं वा स्वागमननिवेदनार्थं न कुर्यात् । विद्युदिव स्वां तनुं[1] च दर्शयेत् कोऽमलभिक्षां दास्यतीति अभिसंधि न कुर्यात् । रहस्यगृहं, वनगृहं, कदलीलतागुल्मगृहं, नाट्यगान्धर्वशालाश्च अभिनन्द्यमानोऽपि न प्रविशेत् । बहुजनप्रचारे प्राणिरहिते अशुच्यपरोपरोधवर्जिते, अनिर्गमनप्रवेशमार्गे गृहिभिरनुज्ञातस्तिष्ठेत् । समे विच्छिद्रे, भूभागे चतुरङ्गुलपादान्तरो निश्चल. कुडयस्तम्भादिकमनवलम्ब्य तिष्ठेत् । छिद्रद्वारं कवाटं, प्राकारं वा न पश्येत् चोर इव । दातुरागमनमार्गं अवस्थानदेशं, कडुच्छकभाजनादिकं च शोधयेत् । स्तनं प्रयच्छन्त्या, गर्भिण्या वा दीयमानं न गृह्णीयात् । रोगिणा, अतिवृद्धेन, बालेनोन्मत्तेन, पिशाचेन, मुग्धेनान्धेन, मूकेन, दुर्बलेन, भीतेन, शङ्कितेन, अत्यासन्नेन[2], दूरेण, लज्जाव्यावृतमुख्या, आवृतमुख्या, उपानदुपरिन्यस्तपादेन वा जनेनोन्नतदेशावस्थितेन वा दीयमानं न गृह्णीयात् । न खण्डेन भिन्नेन वा कडकच्छुकेन दीयमानं कपालोच्छिष्टभाजने पद्मकदलीपत्रादिभाजने निक्षिप्य दीयमानं वा मांसं, मधु, नवनीतं, फलं [3]अदारितं, मूलं, पत्रं, साङ्कुरं, कन्दं च वर्जयेत् । तत्संस्पृष्टानि सिद्धान्यपि विपन्नरूपरसगन्धानि, कुथितानि, पुष्पितानि, पुराणानि, जन्तुसंस्पृष्टानि च[4] न दद्यान्न खादेत्, न स्पृशेच्च । उद्गमोत्पादनैषणादोषदुष्टं नाभ्यवहरेत् । नवकोटिपरिशुद्धाहारग्रहणमेषणासमिति ।

भिक्षाके लिए खड़े हों उस घरमें प्रवेश न करे। जिस घरके कुटुम्बी घबराये हों, उनके मुखपर विषाद और दीनता हो वहाँ न ठहरे। भिक्षार्थियोंके लिए भिक्षा माँगनेकी जो भूमि हो, उस भूमिसे आगे न जावे। अपना आगमन बतलानेके लिए याचना या अव्यक्त शब्द न करे। बिजलीकी तरह अपना शरीरमात्र दिखला दे। कौन मुझे निर्दोष भिक्षा देगा ऐसा भाव न करे। एकान्त घरमें, उद्यान घरमे, केले लता और झाड़ियोंसे बने घरमें, नाटचशाला और गायनशालामे आदरपूर्वक आतिथ्य पानेपर भी प्रवेश न करे। जहाँ बहुतसे मनुष्योंका आना जाना हो, जीव जन्तुसे रहित, अपवित्रता रहित, दूसरेके द्वारा रोक-टोकसे रहित तथा जाने आनेके मार्गसे रहित स्थानमे गृहस्थोंकी प्रार्थनासे ठहरे। सम और छिद्ररहित जमीनपर दोनो पैरोके मध्यमें चार अंगुलका अन्तर रखकर निश्चल खड़ा हो और दीवार स्तम्भ आदिका सहारा न ले। चोरकी तरह द्वारमें लगे कपाटोंके छिद्र अथवा चार दीवारीके छिद्रमेंसे न देखे। दाताके आनेके मार्ग, उसके खडे होनेके स्थान और करछुल आदि भाजनोकी शुद्धताकी ओर ध्यान रखे। जो स्त्री बालकको दूध पिलाती हो या गर्भिणी हो, उसके द्वारा दिये गये आहारको ग्रहण न करे। रोगी, अतिवृद्ध, बालक, पागल, पिशाच, मूढ, अन्धा, गूँगा, दुर्बल, डरपोक, शंकालु, अति निकटवर्ती, दूरवर्ती मनुष्यके द्वारा, जिसने लज्जासे अपना मुख फेर लिया या मुखपर घूँघट डाला है ऐसी स्त्रीके द्वारा, जिसका पैर जूतेपर रखा है या जो ऊँचे स्थानपर खड़ा है ऐसे व्यक्तियोंके द्वारा दिये गये आहारको ग्रहण नहीं करे। टूटे हुए या फूटे हुए करछुल आदिसे दिया हुआ आहार ग्रहण न करे। तथा कपालमें, जूठे पात्रमें, कमल केले आदिके पत्ते आदिमें रखकर दिया हुआ आहार ग्रहण न करे। मांस, मधु, मक्खन, विना कटा फल, मूल, पत्र, अंकुरित तथा कन्द ग्रहण न करे। इनसे जो भोजन छू गया हो उसे भी ग्रहण न करे। जिस भोजनका रूप रस गन्ध बिगड़ गया हो, दुर्गन्ध आती हो, फफून्द आ गई हो, पुराना हो गया हो और जीव-जन्तु जिसमें पड़े हों उसे न तो किसीको देना चाहिये, न स्वयं खाना चाहिये और उसे छूनातक

---

१. तनुं न च—अ० आ० । २. न्नेन अदूरे—अ० आ० मु० । ३. फलाई हरितं—अ० ।
४. चराव—अ० । च दीनाव—आ० ।

यन्निक्षिप्यते यत्र यदादीयते यतस्तदुभयं प्रतिलेखनायोग्यं न वेति विलोक्य पश्चात्कृतमार्जनं पुनरवलोक्य निक्षिपेद् गृह्णीयाद्वा । एषा आदाननिक्षेपणसमिति । ईर्यासमितिर्निरूपितैव तथा मनोगुप्तिश्च । स्फुटतरप्रकाशावलोकितस्य अन्नस्य भोजनमित्यहिंसाव्रतभावना पञ्च ॥१२००॥

द्वितीयव्रतभावना उच्यन्ते—

कोधभयलोभहस्सपदिण्णा अणुवीचिभासणं चेव ।
विदियस्स भावणाओ वदस्स पंचेव ता होंति ॥१२०१॥

क्रोधभयलोभहास्याना प्रत्याख्यानानि चतस्र । **'अणुवीचिभासणं चेव'** सूत्रानुसारेण च भाषण । सत्या, मृषा, सत्यमृषा, असत्यमृषा चेति चतस्रो वाच । तत्र सत्या असत्यमृषा वा व्यवहरणीया नेतरद्द्वय । क्रोधादीनामसत्यवचनकारणाना प्रत्याख्याने असत्यावाक्परिहृता भवति नान्यथा ॥१२०१॥

तृतीयव्रतभावना उच्यन्ते—

अणणुण्णादग्गहणं असंगबुद्धी अणुण्णवित्ता वि ।
एदावंतियउग्गहजायणमध उग्गहाणुस्स ॥१२०२॥

'अणणुण्णावग्गहण' तस्य स्वामिभिरननुज्ञातस्य अग्रहण ज्ञानोपकरणादे । **'असगबुद्धी अणुण्ण वित्ता वि'** परानुज्ञा सम्पाद्य गृहीतेऽपि असक्तबुद्धिता । **'एवावंतिय 'उग्गहजायण'** एतत्परिमाणमिद भवता दातव्यमिति प्रयोजनमात्रपरिग्रह यावद्याचितो यावद्गृह्णामि इति न बुद्धि कार्या । **'उग्गहाणुस्स'** ग्राह्यवस्तुज्ञस्य इद

नही चाहिये। जो भोजन उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषसे दुष्ट है उसे नही खाना चाहिये। इस तरह नौ कोटियोंसे शुद्ध आहार ग्रहण करना एषणा समिति है। जो वस्तु जिस स्थानपर रखी जाय और जो वस्तु जिस स्थानसे उठाई जाये वे दोनो प्रतिलेखनाके योग्य है या नहीं, यह देखनेके पश्चात् पीछीसे उनको झाडकर पुन देखे और तब रखे या ग्रहण करे। यह आदान निक्षेपण समिति है। ईर्यासमिति पहले कही है और मनोगुप्ति भी कही है। अति स्पष्ट प्रकाशमे देखे गये अन्नका भोजन आलोकभोजन है। ये पाँच अहिंसाव्रतकी भावना है ॥१२००॥

दूसरे सत्यव्रतकी भावना कहते हैं—

गा०—क्रोधका त्याग, भयका त्याग, लोभका त्याग, हास्यका त्याग और सूत्रके अनुसार बोलना ये पाँच सत्यव्रतकी भावना है। वचनके चार भेद हैं—सत्य, असत्य, सत्य असत्य तथा न सत्य न असत्य। इनमेसे सत्य और अनुभय वचन बोलने योग्य है। शेष दो नही बोलने चाहिये। क्रोध आदि झूठ बोलनेमे कारण होते हैं। उनको त्याग देने पर असत्य वचनका त्याग हो जाता है अन्यथा नही होता ॥१२०१॥

तीसरे व्रतकी भावना कहते है—

गा०-टी०—ज्ञानोपकरण आदिके स्वामीकी स्वीकृतिके बिना ज्ञानोपकरण आदिको स्वीकार न करना, स्वामीकी स्वीकृति मिलने पर स्वीकार की गई वस्तुमें भी आसक्ति न होना, 'आपको इतना देना चाहिये' इस प्रकार जितनेसे प्रयोजन हो उतना ही ग्रहण करना, जितना माँगा है उतना ही ग्रहण करूँगा ऐसी बुद्धि नही रखनी चाहिये। जो ग्रहण करने योग्य वस्तुको

ज्ञानसंयमयोरन्यतरस्य साधनमन्तरेण ज्ञानं चारित्रं वा मम न सिध्यतीति तस्य ग्रहणं नानुपयोगि नो [1]याच्यते ॥१२०२॥

वज्जणमणणुणादगिहप्पवेसस्स गोयरादीसु ।
उग्गहजायणमणुवीचिए तहा भावणा तइए ॥१२०३॥

'वज्जणमणणुण्णादगिहप्पवेसस्स' गृहस्वामिभिरननुज्ञातगृहप्रवेशवर्जनं भावना । 'गोयरादीसु' गोचरादिषु इदं वेश्म प्रविश, अत्र वा तिष्ठेति योऽननुज्ञातो देशस्तस्य अप्रवेशनं । 'उग्गहजायणअणुवीचिए' अवग्रहयाचना सूत्रानुसारेण तृतीये भावनाः ॥१२०३॥

महिलालोयणपुव्वरदिसरणसंसत्तवसहिविकहाहिं ।
पणिदरसेहिं य विरदी भावणा पंच बंभस्स ॥१२०४॥

'महिलालोअणपुव्वरदिसरणसंसत्तवसधिविकहाहिं' स्त्रीणामालोकनं, पूर्वरतस्मरणं, स्त्रीभिराकुला या वसतिः शृङ्गारकथा इत्येतद्विरतयः । 'पणिदरसेहिं य विरदी' बलदर्पकरेभ्यो विरतिश्चेति पञ्च व्रतभावना ॥१२०४॥

अपडिग्गहस्स मुणिणो सद्दफरिसरसरूवगंधेसु ।
रागद्दोसादीणं परिहारो भावणा हुंति ॥१२०५॥

'अपरिग्गहस्स' परिग्रहरहितस्य । 'मुणिणो' मुनेः । सद्दफरिसरसरूवगंधेसु' शब्दस्पर्शरसरूपगन्धेषु । मनोज्ञामनोज्ञेषु । 'रागद्दोसादीणं' रागद्वेषयोः परिहारो विषयभेदात्पञ्चप्रकारभावनाः पञ्चमस्य ॥१०२५॥

जानता है कि यह वस्तु ज्ञान और संयममेंसे एककी साधन है इसके बिना मुझे ज्ञान अथवा चारित्रकी सिद्धि नहीं होगी और उसीको ग्रहण करता है, अनुपयोगी वस्तुको ग्रहण नहीं करता। उसीके ये भावना होती है ॥१२०२॥

गा०—गोचरी आदिमें गृहस्वामीके द्वारा अनुज्ञा नहीं दिये घरमें प्रवेश न करना अर्थात् इस घरमें प्रवेश करें, अथवा यहाँ ठहरें इस प्रकारसे जहाँ गृहस्वामीकी अनुज्ञा प्राप्त न हो उस देशमें प्रवेश न करे और शास्त्रके अनुसार ग्रहण करने योग्य वस्तुकी याचना करना, ये पाँच अदत्तादानविरमणव्रत की भावना हैं ॥१२०३॥

गा०—स्त्रियोंकी ओर देखना, पूर्वमें भोगे हुए भोगोंका स्मरण, स्त्रियोंसे युक्त वसतिका, शृङ्गारकथा और इन्द्रियोंमें मद और बल पैदा करनेवाले रस, इन सबसे विरत होना ब्रह्मचर्यव्रत की पाँच भावनाएँ हैं ॥१२०४॥

गा०—परिग्रह रहित मुनिका मनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्धमें राग और द्वेषका त्याग अर्थात् मनोज्ञसे राग और अमनोज्ञसे द्वेष न करना विषयोंके भेदसे पाँच प्रकारकी भावना पाँचवें अपरिग्रह व्रत की हैं ॥१२०५॥

---

1. नो याच्यन स्यन्ते–अ० । नो योग्य लभ्यते–ज० । ग्रहणं, इत्यस्य अग्रे पाठो नास्ति आ० ।

भाव माहात्म्यं कथयति—

ण करेदि भावणाभाविदो खु पीडं वदाण सव्वेसिं।
साधू पासुत्तो समुहदो व किमिदाणि वेदंतो ॥१२०६॥

'**ण करेदि खु**' न करोत्येव। क.? '**भावणाभाविदो**' भावनाभिर्भावितः। '**पीडं**' पीडा। '**वदाण**' व्रताना। '**सव्वेसिं**' सर्वेषा। '**साधू**' साधु.। '**पासुत्तो**' प्रकर्षेण निद्रामुपगत। '**समुहदो व**' समुद्घातं गतो वा। '**किमिदाणि**' किमिदानी। '**वेदंतो**' चेतयमान. ॥१२०६॥

एदाहिं भावणाहिं हु तम्हा भावेहिं अप्पमत्तो तं।
अच्छिद्दाणि अखंडाणि ते भविस्संति हु वदाणि ॥१२०७॥

'**एदाहिं**' एताभिः। '**भावणाहिं**' भावनाभि। '**तम्हा**' तस्मात्। '**भावेहिं**' भावय। '**अप्पमत्तो तं**' अप्रमत्तस्त्वं। '**अच्छिद्दाणि**' अच्छिद्राणि। नैरन्तर्येण प्रवृत्तानि। '**अखंडाणि**' सम्पूर्णानि तव भविष्यन्ति व्रतानि ॥१२०७॥

व्रतपरिणामोपघातनिमित्तानि शल्यानि ततस्तद्वर्जनं कार्यमित्याचष्टे—

णिस्सल्लस्सेव पुणो महव्वदाइं हवंति सव्वाइं।
वदमुवहम्मदि तीहिं दु णिदाणमिच्छत्तमायाहिं ॥१२०८॥

'**णिस्सल्लस्सेव**' शल्यरहितस्यैव। शृणाति हिनस्तीति शल्य शरकण्टकादि शरीरादिप्रवेशि तेन तुल्य यत्प्राणिनो बाधानिमित्तं, अन्तर्निविष्टं परिणामजातं तच्छल्यमिह गृहीतं। '**महव्वदाइ**' महाव्रतानि भवन्ति। शल्य कस्यचिदेव व्रतस्योपघातक, यथा एषणासमित्यभावो अहिंसाव्रतस्येत्याशङ्का निरस्यति सर्वशब्दो। ननु च महत्त्वेन व्रतमवशेष्यं। मिथ्यात्वादिशल्य अणुव्रतान्यपि हन्त्येव। सत्य प्रस्तुतत्वान्महाव्रतानामित्यमुक्तं।

भावनाका माहात्म्य कहते हैं—

गा०—भावनाओसे भावित साधु गहरी नीदमे सोता हुआ भी अथवा मूर्छित हुआ भी सब व्रतोंमे दोष नही लगाता। तब जागते हुए की तो बात ही क्या है ॥१२०६॥

गा०—इसलिये हे क्षपक! तुम प्रमाद त्यागकर इन भावनाओसे अपनेको भावित करो। इससे तुम्हारे व्रत निरन्तर बने रहेंगे और सम्पूर्ण होंगे ॥१२०७॥

शल्य व्रतरूप परिणामोंके घातमे निमित्त होते है। अतः उनको त्यागना चाहिये, यह कहते हैं—

गा०-टी०—शल्यरहितके ही सब महाव्रत होते हैं। 'शृणाति' अर्थात् जो कष्ट देता है वह शल्य है। जैसे शरीर आदिमें घुसनेवाला बाण, काँटा आदि। उनके समान जो अन्तरंगमे घुसा परिणाम प्राणीको कष्ट पहुँचानेमे निमित्त है उसे यहाँ शल्य शब्दसे कहा है। जैसे एषणासमिति-का अभाव अहिंसा व्रतका घातक है वैसे ही शल्य किसी एक व्रतका घातक है क्या? इस आशका को दूर करनेके लिये सर्व शब्दका प्रयोग किया है।

शंका—मिथ्यात्व आदि शल्य अणुव्रतोंका भी घात करते हैं। यहाँ उन्हे महाव्रतोंका घातक क्यो कहा?

अथ चोद्यं—हिंसादिभ्यो विरतिपरिणाममात्राणि व्रतानि । शल्ये मिथ्यात्वादिके सति किं न भवन्ति । येनैव-मुच्यते निःशल्यस्यैव महाव्रतानि भवन्ति इति ? एतत्प्रतिविधानायाह—'वदमुवहन्ति' व्रतमुपहन्यते । 'तीहिं दु' तिसृभि । 'णिदाणमिच्छत्तमायाहिं' निदानमिथ्यात्वमायाभि. । अल्पाच्तरत्वान्मायाशब्दस्य पूर्वनिपात इति चेन्न—मिथ्यात्वं व्रतविघातं प्रकर्षेण करोतीति प्रधान सतो मिथ्यात्वं माया चेति द्विपदे द्वन्द्वे मिथ्यात्वशब्दस्य पूर्वनिपात पश्चान्निदानशब्देन द्वन्द्व तस्याल्पाच्तरत्वात्पूर्वनिपात । सम्यक्चारित्रमिह मोक्षमार्गत्वेन प्रस्तुतं, तच्च नासतो सम्यग्दर्शनज्ञानयोर्भवति । सति मिथ्यात्वे विरोधिनि न ते स्तः समीचीनज्ञानदर्शने[1] । रत्नत्रय-त्वान्मुक्ते. अनन्तज्ञानादिकाच्चान्यत्र चित्तप्रणिधानं इदमेतत्फलं स्यादिति निदानं । तच्च सम्यग्दर्शना[2]दि-परम्परया व्रतोपघातकारि । मनसा स्वातिचारनिगूहनलक्षणा माया च व्रतमुपहन्तीति मन्यते ॥१२०८॥

तत्थं णिदाणं तिविहं होइ पसत्थापसत्थभोगकदं ।
तिविधं पि तं णिदाणं परिपंथो सिद्धिमग्गस्स ॥१२०९॥

'तत्थ' तेषु शल्येषु । 'णिदाणं' निदानाख्यं शल्यं । 'तिविधं' त्रिविधं । 'होदि' भवति । 'पसत्थमप्प-सत्थभोगकदं' प्रशस्तनिदानमप्रशस्तनिदानं, भोगनिदानं चेति । 'तिविधं पि तण्णिदाणं' त्रिप्रकारमपि निदानं । 'परिपंथो' विघ्न । 'सिद्धिमग्गस्स' रत्नत्रयस्य ॥१२०९॥

समाधान—आपका कहना सत्य है किन्तु यहाँ महाव्रतका प्रकरण होनेसे महाव्रतोंका घातक कहा है।

शंका—व्रत तो हिंसा आदिसे विरतिरूप परिणाम मात्र है। वे मिथ्यात्व आदि शल्यके होने पर क्यो नही होते, जिससे यह कहा गया है कि निःशल्यके ही महाव्रत होते हैं ?

समाधान—इस शङ्काका निराकरण करनेके लिये कहते हैं—निदान, मिथ्यात्व और माया इन तीनोके द्वारा व्रतका घात होता है।

शंका—माया शब्द अल्प अच्‌वाला है अतः उसे पहले रखना चाहिये ?

समाधान—नही, क्योकि मिथ्यात्व व्रतका घात प्रकर्ष रूपसे करता है अतः प्रधान है। तब 'मिथ्यात्व और माया' ऐसा द्वन्द्व समास करने पर मिथ्यात्व शब्दका पूर्व निपात होता है। फिर निदान शब्दके साथ द्वन्द्व करने पर निदान शब्दका पूर्व निपात होता है क्योंकि वह अल्प अच्‌वाला है। यहाँ मोक्षके मार्ग रूपसे सम्यक्चारित्रका कथन है। वह सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके अभावमे नही होता। क्योंकि विरोधी मिथ्यात्वके रहते हुए सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन नही होते। रत्नत्रयरूप अथवा अनन्त ज्ञानादिरूप मुक्तिसे अन्यत्र चित्तका उपयोग लगाना कि इसका यह फल मुझे मिले, निदान है। वह सम्यग्दर्शन आदिकी परम्परासे व्रतका घातक है। तथा मनसे अपने दोषोको छिपाने रूप माया भी व्रतका घात करती है।

विशेषार्थ—निदानसे सम्यग्दर्शनमें अतिचार लगता है और व्रतका मूल सम्यग्दर्शन है। तथा निदानसे व्रतोंका घात होता है ॥१२०८॥

गा०—उन शल्योंमें निदान नामक शल्यके तीन भेद है—प्रशस्त निदान, अप्रशस्त निदान और भोग निदान। तीनों ही प्रकारका निदान मोक्षके मार्ग रत्नत्रयका विरोधी है ॥१२०९॥

---

१ र्शनचारित्ररत्न—आ० मु०। २. नानि प—आ०।

प्रशस्तनिदाननिरूपणार्थोत्तरगाथा—

संजमहेदुं पुरिसत्तसबलविरियसंघदणबुद्धी ।
सावअबंधुकुलादीणि णिदाणं होदि हु पसत्थं ॥१२१०॥

'**संजमहेदु**' संयमनिमित्तं । '**पुरिसत्तसबलविरियसंघडणबुद्धी**' पुरुषत्वमुत्साह , बलं शरीरगतं दार्ढ्यं, वीर्यं वीर्यान्तरायक्षयोपशमज परिणाम. । अस्थिबन्धविषया वज्रऋषभनाराचसंहननादिः । एतानि पुरुषत्वादीनि संयमसाधनानि मम स्युरिति चित्तप्रणिधान प्रशस्तनिदानं । '**सावयबंधुकुलादिनिदानं**' श्रावकबन्धुनिदानं । [1]अदरिद्रकुले, अबन्धुकुले वा उत्पत्ति प्रार्थना प्रशस्तनिदानं ॥१२१०॥

अप्रशस्तनिदानमाचष्टे—

माणेण जाइकुलरूवमादि आइरियगणधरजिणत्तं ।
सोभग्गाणादेयं पत्थंतो अप्पसत्थं तु ॥१२११॥

'**माणेण**' मानेन हेतुना । '**जातिकुलरूवमादि**' जातिर्मातृवंश', कुल पितृवश , जातिकुलरूपमात्रस्य सुलभत्वात्प्रशस्तजात्यादिपरिग्रहः । इह '**आइरियगणधरजिणत्तं**' आचार्यत्व, गणधरत्व, जिनत्वं । '**सोभग्गाणादेज्ज**' सौभाग्य, आज्ञा, आदेयत्वं च । '**पच्छंतो**' प्रार्थयत । '**अप्पसत्थं तु**' अप्रशस्तमेव निदानं मानकषायदूषितत्वात् ॥१२११॥

प्रशस्त निदानका कथन करते हैं—

गा०—संयममें निमित्त होनेसे पुरुषत्व, उत्साह, शरीरगत दृढ़ता, वीर्यान्तरायके क्षयोपशम से उत्पन्न वीर्यरूप परिणाम, अस्थियोंके बन्धन विशेष रूप वज्रऋषभनाराच संहनन आदि, ये सयम साधन मुझे प्राप्त हों, इस प्रकार चित्तमे विचार होना प्रशस्त निदान है। तथा मेरा जन्म श्रावक कुलमे हो, ऐसे कुलमें हो जो दरिद्र न हो, बन्धु बान्धव परिवार न हो, ऐसी प्रार्थना प्रशस्त निदान है ॥१२१०॥

विशेषार्थ—एक प्रतिमें दरिद्रकुल तथा एकमे बन्धुकुल पाठ भी मिलता है। दीक्षा लेनेके लिये दरिद्रकुल भी उपयोगी हो सकता है और सम्पन्न घर भी उपयोगी हो सकता है। इसी तरह बन्धु बान्धव परिवारवाला कुल भी उपयोगी हो सकता है और एकाकीपना भी। मनुष्यके मनमें विरक्ति उत्पन्न होने की बात है ॥१२१०॥

अप्रशस्त निदान कहते है—

गा०—मानकषायके वश जाति, कुल, रूप आदि तथा आचार्यपद, गणधरपद, जिनपद, सौभाग्य, आज्ञा और आदेय आदिकी प्राप्तिकी प्रार्थना करना अप्रशस्त निदान है ॥१२११॥

टी०—माताके वंशको जाति और पिताके वंशको कुल कहते है। जाति कुल और रूप मात्र तो सुलभ है क्योकि मनुष्य पर्यायमे जन्म लेनेपर ये तीनों अवश्य मिलते हैं। इसलिये यहाँ जाति कुल और रूपसे प्रशंसनीय जाति आदि लेना चाहिये। मान कषायसे दूषित होनेसे यह अप्रशस्त निदान है ॥१२११॥

---

१. दरिद्रकुले—अ० ।

कुद्धो वि अप्पसत्थं मरणे पत्थेइ परवधादीयं ।
जह उग्गसेणघादे कदं णिदाणं वसिट्ठेण ॥१२१२॥

'कुद्धो वि' क्रुद्धोऽपि । 'अप्पसत्थं' परवधादिकं । 'मरणे' मरणकाले । 'पत्थेदि' प्रार्थयते । 'जधा' यथा 'उग्गसेणघादे' उग्रसेनमरणे । 'कदं णिदाणं' कृतं निदानं 'वसिट्ठेण' वसिष्ठेन यतिना ॥१२१२॥

भोगनिदाननिरूपणा—

देविगमाणुसभोगे णारिस्सरसिट्ठिसत्थवाहत्तं ।
केसवचक्कधरत्तं पत्थंते होदि भोगकदं ॥१२१३॥

'देविगमाणुसभोगे' देवेषु मनुजेषु च भवान्भोगान् । 'पत्थेंते' अभिलषति । 'भोगकदं' भोगकृतं निदानं । 'णारिस्सरसिट्ठिसत्थवाहत्तं' नारीत्वं, ईश्वरत्वं, श्रेष्ठित्वं, सार्थवाहत्वं च । 'केसवचक्कधरत्तं' वासुदेवत्वं सकलचक्रवर्तित्वं च वाञ्छति भोगार्थं । भोगनिदानं भवति ॥१२१३॥

संजम सिहरारूढो घोरतवपरक्कमो तिगुत्तो वि ।
पगरिज्ज जइ णिदाणं सोवि य वड्ढेइ दीहसंसारं ॥१२१४॥

'संजमसिहरारूढो' संयम शिखरमिव दुरारोहत्वादचलत्वाद्वा । एतदुक्तं भवति । प्रकृष्टसंयमोऽपि । 'घोरतवपरक्कमो' घोरे तपसि पराक्रम उत्साहो यस्य सोऽपि दुर्धरतपोऽनुष्ठाय्यपि । 'तिगुत्तो वि' गुप्तित्रयसमन्वितोऽपि । 'पगरिज्ज जइ णिदाणं' निदानं यदि कुर्यात् । "सो विय" व्यावर्णितगुणोऽपि 'वड्ढेइ' वर्धयति संसारमात्मन । किमपरस्मिन्निदानकारिणि वाच्यम् ॥१२१४॥

जो अप्पसुक्खहेदुं कुणइ णिदाणमविगणियपरमसुहं ।
सो कागणीए विक्केइ मणिं बहुकोडिसयमोल्लं ॥॥१२१५॥

गा०—क्रोध कषायके वश होकर भी कोई मरते समय दूसरेका वध करनेकी प्रार्थना करता है। जैसे वशिष्ठ ऋषिने उग्रसेनका घात करनेका निदान किया था ॥१२१२॥

विशेषार्थ—वशिष्ठतापसने उग्रसेनको मारनेका निदान किया था। इस निदानके फलसे वह मरकर उग्रसेनका पुत्र कंस हुआ। और उसने पिताको जेलमें डालकर राज्यपद प्राप्त किया। पीछे कृष्णके द्वारा स्वयं भी मारा गया ॥१२१२॥

भोगनिदानका कथन करते हैं—

गा०—देवों और मनुष्योंमें होनेवाले भोगोंकी अभिलाषा करना तथा भोगोंके लिए नारीपना, ईश्वरपना, श्रेष्ठिपना, सार्थवाहपना, नारायण और सकल चक्रवर्तीपना प्राप्त होनेकी वांछा करना भोगनिदान है ॥१२१३॥

गा०-टी०—संयम पर्वतके शिखरके समान है क्योंकि जैसे पर्वतका शिखर अचल और दुःखसे चढ़ने योग्य है वैसा संयम भी है। उस संयमपर जो आरूढ़ है अर्थात् उत्कृष्ट संयमका धारी है, घोर तप करनेमें उत्साही है अर्थात् दुर्धर तप करता है और तीन गुप्तियोंका धारी है, वह भी यदि निदान करता है तो अपना संसार बढ़ाता है, फिर दूसरे निदान करनेवालेका तो कहना ही क्या है ॥१२१४॥

'सो अप्पसुक्खहेदु' योऽल्पसुखनिमित्तं निदानं करोति, परमे मुक्तिसुखे अनादरं कृत्वा। स काकण्या विक्रीणीते मणिं बहुकोटिधनमूल्यम् ॥१२१५॥

सो भिंदइ लोहत्थं णावं भिंदइ मणिं च सुत्तत्थं।
छारकदे गोसीरं डहदि णिदाणं खु जो कुणदि ॥१२१६॥

'सो भिंदइ' स भिनत्ति कीललोहार्थं नाव अनेकवस्तुभृता। भिनत्ति रत्नं च सूत्रार्थं। गोशीर्षं चन्दनं दहति भस्मार्थं यो निदानं करोति स्वल्पार्थं। सारविनाशसाधर्म्यादभेदमाचष्टे—[1]सूपकारोपरि कथा यो निदानकारी, तेन नौप्रभृतिकं विनाशितं। अर्थाख्यानकानि वाच्यानि ॥१२१६॥

कोढी संतो लद्धूण डहइ उच्छुं रसायणं एसो।
सो सामण्णं णासेइ भोगहेदुं णिदाणेण ॥१२१७॥

'कोढी संतो' कुष्ठी सन् रसायनभूतमिक्षुं लब्ध्वा दहति य समानता नाशयति सर्वदुखव्याधिविनाशनोद्यता भोगार्थनिदानेन ॥१२१७॥

पुरिसत्तादिणिदाणं पि मोक्खकामा मुणी ण इच्छंति।
जं पुरिसत्ताइमओ भवो भवमओ य संसारो ॥१२१८॥

'पुरिसत्तादिणिदाणंपि' पुरुषत्वादिनिदानमपि मोक्षाभिलाषिणो मुनयो न वाञ्छन्ति। यस्मात्पुरुषत्वादिरूपो भवपर्याय। भवात्मकश्च संसारः भवपर्यायपरिवर्तस्वरूपत्वात् ॥१२१८॥

दुक्खक्खयकम्मक्खयसमाधिमरणं च बोधिलाभो य।
एयं पत्थेयव्वं ण पत्थणीयं तओ अण्णं ॥१२१९॥

गा०—जो मुक्तिके उत्कृष्ट सुखका अनादर करके अल्पसुखके लिए निदान करता है वह करोड़ो रुपयोंके मूल्यवाली मणिको एक कौडीके बदले बेचता है ॥१२१५॥

गा०—जो निदान करता है वह लोहेकी कीलके लिए अनेक वस्तुओंसे भरी नाव को—जो समुद्रमे जा रही है तोडता है, भस्मके लिए गोशीर्षचन्दनको जलाता है और धागा प्राप्त करनेके लिए मणिनिर्मित हारको तोड़ता है। इस तरह जो निदान करता है वह थोड़ेसे लाभके लिए बहुत हानि करता है। एक सूपकारने अपनी मूर्खतासे अपनी नाव नष्ट कर डाली थी। इनकी कथाएँ (कथाकोशोसे) जानना ॥१२१६॥

गा०—जैसे कोई कोढ़ी मनुष्य अपने रोगके लिए रसायनके समान ईखको पाकर उसे जलाकर नष्ट करता है वैसे ही भोगके लिए निदान करके मूर्ख मुनि सर्व दु.ख और व्याधियोका विनाश करनेमे तत्पर मुनि पदको नष्ट करता है ॥१२१७॥

गा०—मोक्षके अभिलाषी मुनिगण 'मै मरकर पुरुष होऊँ' या मेरे वज्रऋषभनाराच संहनन आदि हो, इस प्रकारका भी निदान नही करते। क्योकि पुरुष आदि पर्याय भवरूप है और भवपर्यायका परिवर्तन स्वरूप होनेसे संसार भवमय है। अर्थात् नाना भवधारण करने रूप ही तो संसार है ॥१२१८॥

---

१. सूत्रकारोन्परिया-अ० ज०।

'दुक्खक्खय' दुःखानां शारीराणा, आगन्तुकाना स्वाभाविकानां च क्षयो भवतु। तथा कर्मणां तत्कारणभूतानां रत्नत्रयसम्पादनपुरःसरं मरणं, दीक्षाभिमुखो बोधिलाभश्च एतत्प्रार्थनीयं नान्यत् ॥१२१९॥

पुरिसत्तादीणि पुणो संजमलाभो य होइ परलोए ।
आराधयस्स णियमा तदत्थमकदे णिदाणे वि ॥१२२०॥

'पुरिसत्तादीणि' पुरुषत्वादिकं, संयमलाभश्च भविष्यति परजन्मनि। कस्य ? कृतरत्नत्रयाराधनस्य निश्चयेन। तदर्थमकृतेऽपि निदाने ॥१२२०॥

माणस्स भंजणत्थं चिंतेदव्वो सरीरणिव्वेदो ।
दोसा माणस्स तहा तहेव संसारणिव्वेदो ॥१२२१॥

'माणस्स भंजणत्थं' मानभञ्जनार्थं ध्यातव्य शरीरनिर्वेद। तथा दोषाश्च मानस्य। तथैव ससार-निर्वेदश्च ध्यातव्य इति क्षपकं निर्यापकसूरि. शिक्षयति। शरीरस्य अशुचित्वादिस्वभावचिन्तनत.। किमेतेन शरीरेणेति शरीरे अनादर' शरीरनिर्वेद'। स कथ मानस्य भञ्जने निमित्तं। स हि शरीरानुरागमेव[1]विहन्ति तत्प्रतिपक्षत्वात्। अत्रोच्यते–मानशब्द सामान्यवचनोऽपि रूपाभिमानविषयो गृहीत'। स च शरीरनिर्वेदेन भज्यते। मानस्य दोषा नीचकुलेषूत्पत्तिर्मान्यगुणालाभ', सर्वविद्वेष्यता, रत्नत्रयाद्यलाभ इत्यादिका। ससारस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावभवपरिवर्तनरूपस्य पराङ्मुखता संसारनिर्वेद। तत्रोपयुक्तस्य अहङ्कारनिमित्तानां विनाशात्,

गा०—हमारे शारीरिक, आगन्तुक और स्वाभाविक दुःखोंका नाश हो। तथा उनके कारणभूत कर्मोंका क्षय हो। रत्नत्रयका पालन करते हुए मरण हो और जिनदीक्षाकी ओर अभिमुख करनेवाले ज्ञानका लाभ हो, इतनी ही प्रार्थना करने योग्य है। इनके सिवाय अन्य प्रार्थना करना योग्य नही है ॥१२१९॥

गा०—जो रत्नत्रयकी आराधना करता है उसे निदान न करने पर भी आगामी जन्ममे पुरुषत्व आदि का तथा सयमका लाभ निश्चय ही होता है ॥१२२०॥

गा०–टी०—निर्यापकाचार्य क्षपकको शिक्षा देता है कि तुम्हे मानकषायका विनाश करने-के लिए शरीरसे निर्वेदका, मानके दोषों का और संसारसे निर्वेदका चिन्तन करना चाहिये। शरीरके अशुचित्व आदि स्वभावका चिन्तन करनेसे 'इस शरीरसे क्या लाभ' इस प्रकार शरीरमे अनादर होता है उसे ही शरीर निर्वेद कहते हैं।

शङ्का—शरीरका चिन्तन मानकषायको दूर करनेमें निमित्त कैसे हो सकता है उससे तो शरीरमे अनुराग का ही घात होता है क्योंकि शरीर निर्वेद उसका प्रतिपक्षी है ?

समाधान—यद्यपि मान शब्द मानसामान्यका वाचक है तथापि यहाँ रूपविषयक अभि-मान लिया है। वह शरीरके निर्वेदसे नष्ट होता है। नीच कुलोंमें जन्म, आदरणीय गुणोंका प्राप्त न होना, सबका अपनेसे द्वेष करना, रत्नत्रय आदिका लाभ न होना, ये सब मानकषायसे होनेवाले दोष है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भवपरिवर्तन रूप ससारसे विमुख होना ससार-निर्वेद है। ससारनिर्वेदमें उपयोग लगानेसे अहंकारके निमित्तोंका विनाश होता है। क्योंकि

१. मेवावहन्ति–आ० मु०।

निन्द्यानां च गुणानां बहूनां असकृत्प्रवृत्तिः अनेकप्राणिलभ्यत्वात् । [1]स्वप्राप्तेभ्यो गुणेभ्योऽतिशयितानां गुणानामन्यैरुपलम्भनात् ॥१२२१॥

कुलाभिमाननिरासोपायमाचष्टे—

णीचो वि होइ उच्चो उच्चो णीचत्तणं पुण उवेइ ।
जीवाणं खु कुलाइं पथियस्स व विस्समंताणं ॥१२२२॥

'णीचो वि होदि' स्थानमानैश्वर्यादिभिस्तिरोभूतो नीच इत्युच्यते । सोपि **'होदि'** भवति । **'उच्चो'** तैरेवोन्नतः । स उच्चो अतिशयितस्थानमानादिकोऽपि **'णीचत्तणं'** तैर्न्यूनता । **'पुण उवेदि'** पुन. उपैति । **'जीवाणं खु'** जीवाना खलु । **'कुलाइं'** कुलानि । कीदृग्भूताना ? **'विस्समत्ताणं'** विश्रमता बहूनि कुलानि कुलबहुत्वप्रकटनेन कुलानित्यता दर्शिता । अनियतकुलस्य क कुलगर्वः । **'पथिकस्सव'** पथिकस्य यथा विश्रामस्थान न नियतमस्ति तद्वदेवास्येति भाव ॥१२२२॥

किं च गर्वो ह्यात्मनो वृद्धि परस्य वा हानि बुद्ध्या सक्षेपते तस्य युक्तोऽहंकारः न चास्य वृद्धिहानी स्त इति कथयति—

उच्चासु व णीचासु व जोणीसु ण तस्स अत्थि जीवस्स ।
वड्ढी वा हाणी वा सव्वत्थ वि तित्तिओ चेव ॥१२२३॥

'उच्चासु व णीचासु व' यत्र स्थित आत्मा शरीरं निष्पादयति तद्योनिशब्देनोच्यते । न तस्य उच्चता नीचता वा तत. किमुच्यते उच्चासु व णीचासु व इति । अत्रोच्यते—योनिशब्देन कुलमेवात्रोच्यते । तेनायमर्थः । मान्ये कुले गर्हिते वा उत्पन्नस्य न तस्य जीवस्य वृद्धिर्हानिर्वा सर्वत्र तत्परिमाण एव ज्ञानादि-

---

अनेक निन्दनीय गुण, जो अहकारमे निमित्त होते है, अनेक प्राणियोमे पाये जाते हैं । तथा अपनेको जो गुण प्राप्त हैं उनसे भी अतिशयशाली गुण दूसरोको प्राप्त है । अत उनका अभिमान कैसा ? ॥१२२१॥

कुलका अभिमान दूर करनेका उपाय कहते हैं—

गा०टी०—स्थान, मान, ऐश्वर्य आदिसे हीन व्यक्तिको नीच कहते हैं । जो स्थान, मान, ऐश्वर्य आदिसे हीन होता है वही नीच हो जाता है । जीवोंके कुल पथिकके विश्राम स्थानकी तरह हैं । जैसे पथिकके विश्राम लेनेका स्थान नियत नही है वैसे ही कुल भी नियत नहीं है । तब अनियत कुलका गर्व कैसा ? 'कुलानि' पद बहुवचनान्त होनेसे कुलोंकी बहुतायत प्रकट करता है । और कुलोकी बहुतायतसे कुलोंकी अनित्यता दिखलाई है ॥१२२२॥

आगे कहते हैं कि अपनी वृद्धि और दूसरेकी हानिकी भावनासे गर्व होता है उसका अहंकार करना युक्त है किन्तु उच्च या नीच कुलमें जन्म लेनेसे आत्माकी हानि वृद्धि नहीं होती—

गा०-टी०-शंका—जिसमें रहकर जीव अपने शरीरको रचता है उसे योनि कहते हैं । योनि तो उच्च या नीच होती नही । तब 'उच्चासु व नीचासु' क्यों कहा ?

समाधान—यहाँ योनि शब्दसे कुलको ही कहा है । अत. ऐसा अर्थ होता है—मान्य कुलमे अथवा निन्दनीय कुलमें उत्पन्न हुए जीवकी वृद्धि या हानि नहीं होती । सर्वत्र जीवका परिमाण

---

१. सुप्राप्येभ्यो–आ० मु० ।

गुणातिशयादेव उत्कृष्टता । निन्दितगुणः कुलीनोऽपि न पूज्यतेतरामन्यैः । अमान्येऽपि कुले सम्भूतो यदि गुणी स्यात् । उक्तं च—

> संसारवासे भ्रमतो हि जंतोर्न चात्र किंचित्कुलमस्ति नित्यं ।
> स एव नीचोत्तममध्यजातीः स्वकर्मवश्यः समुपैति तास्ता ॥
>
> नृपश्च दासः श्वपचश्च विप्रो दरिद्रवंशश्च समृद्धवंशः ।
> चोराग्निदावाहितयाचिता (?) च संजायते कर्मवशात्स एव ॥
>
> को वाधिकार सुकुलेषु नृणां का वा विहिंसान्यकुलप्रसूतौ ।
> कार्योऽधिकारो ननु धर्म एव कार्या विहिंसापि च दुष्कृतेषु ॥ [ ] ॥१२२३॥

कालमणंतं णीचागोदो होदूण लहइ सगिमुच्चं ।
जोणीमिदरसलागं ताओ वि गदा अणंताओ ॥१२२४॥

'**कालमणतं णीचागोदो होदूण**' अनन्तकाल नीचैर्गोत्रो भूत्वा । '**लभदि सगिमुच्चं जोणि**' लभते सकृदुच्चैर्गोत्रं । कीदृशी '**इदरसलागं**' इतरशलाका । इतरा नीचैर्योनिय शलाका यस्या उच्चैर्योनेस्तां इतरशलाका । '**ताओ वि**' ता अपि [1]अन्तराले लब्धा अपि उच्चैर्योनय । '**गदा अणंताओ**' अनन्ता प्राप्ता एकेन जीवेन ॥१२२४॥

उतना ही रहता है । ज्ञानादि गुणोंमे अतिशय होनेसे ही उत्कृष्टता होती है । कुलीन भी यदि निन्दित गुण वाला होता है तो दूसरे उसका आदर सम्मान नहीं करते । और अनादरणीय कुलमें उत्पन्न होकर भी यदि गुणी होता है तो दूसरे उसका सन्मान करते हैं । कहा है—संसारमें भ्रमण करते हुए प्राणीका कोई कुल स्थायी नहीं है । वही जीव अपने कर्मके अधीन होकर नीच, उत्तम अथवा मध्यम कुलोमें जन्म लेता है । वही जीव अपने कर्मके वश होकर राजा और दास, चाण्डाल या ब्राह्मण, दरिद्र वंश वाला या सम्पन्न वंश वाला होता है तथा चोर, आग और दावानलसे पीडित तथा माँगने वाला होता है । उच्च कुलोंमें मनुष्योंको जन्म लेनेका गर्व कैसा ? और नीच कुलोमे जन्म लेने पर घृणा कैसी ? गर्व करना हो तो धर्ममे ही करना चाहिए और घृणा भी पापसे करनी चाहिए ॥१२२३॥

गा०-टी०—यह जीव अनन्तकाल तक नीच गोत्रमे जन्म लेकर एक बार उच्च गोत्रमें जन्म लेता है । इस प्रकार उच्च गोत्रकी शलाका नीच गोत्र है । शलाकासे मतलब है अनन्तकाल नीच गोत्रमे जन्म लेकर एक बार उच्च गोत्रमे जन्म । नीच गोत्रोंके अन्तरालमे प्राप्त उच्च गोत्र भी एक जीवने अनन्त बार प्राप्त किये हैं ॥१२२४॥

विशेषार्थ—यद्यपि यह जीव संसारमे भ्रमण करते हुए अनन्तबार नीच गोत्रमें जन्म लेता है तब कहीं एक बार उच्च गोत्रमें जन्म लेता है । तथापि अनन्त बार नीच गोत्रमें जन्म लेनेके पश्चात् एक बार उच्च गोत्रमें जन्म लेनेकी परम्पराको भी इसने अनन्त बार प्राप्त किया है अर्थात् इस क्रमसे इसने उच्च गोत्रमें भी अनन्त बार जन्म लिया है ॥१२२४॥

---

१. अन्तराले अन्तराले लब्ध्वा अपि—अ० मूलारा० ।

बहुसो वि लद्धविजडे को उच्चत्तम्मि विम्भओ णाम।
बहुसो वि लद्धविजडे णीचत्ते चावि किं दुक्खं ॥१२२५॥

'**एवं बहुसो वि**' बहुशोऽपि, '**लद्धविजडे**' लब्धपरित्यक्ते च। '**उच्चत्तम्मि**' मान्यकुलप्रसूतत्वे। '**को णाम विम्भओ**' को नाम विस्मय। कदाचिदलब्धपूर्वमिदानीमेव लब्धमिति भवेद्गर्व। '**बहुसो वि**' बहुशोऽपि। '**लद्धविजडे**' लब्धपरित्यक्ते। '**णीचत्ते चावि**' नीचैर्गोत्रप्रसूतत्वे अपि। '**किं दुक्खं**' किमिद दु ख ॥१२२५॥

उच्चत्तणम्मि पीदी संकप्पवसेण होइ जीवस्स।
णीचत्तणे ण दुक्खं तह होइ कसायबहुलस्स ॥१२२६॥

'**उच्चत्तणम्मि**' मान्यकुलत्वे। '**पीदी**' प्रीति। '**संकप्पवसेण**' संकल्पवशेन '**होदि जीवस्स**' भवति जीवस्य प्रशस्ते कुले जातोऽहमिति मनोनिधानात् प्रीतो भवत्यस्यर्थं जन. नेत्थभूत सकल्पमन्तरेण सामान्यकुलत्वे सत्यपि प्रीतिर्भवति। नीचकुलत्वमेव च न दु:खस्य निमित्त। अपि च '**णीचत्तणे य**' नीचैर्गोत्रत्वे च दु ख '**तधा होदि**' तथा भवति। प्रीतिरिव परनिमित्तक भवति। कस्य ? '**कसायबहुलस्स**' कसायशब्द सामान्य-वचनोऽपि मानकषाये वर्तते। तेनायमर्थ प्रचुरमानकषायो जनयति दु खमस्य न नीचैर्गोत्रत्वमेव ॥१२२६॥

प्रीतिपरितापौ संकल्पायत्ताविस्येतत्स्पष्टयत्युत्तरगाथया—

उच्चत्तणं व जो णीचत्तं पिच्छेज्ज भावदो तस्स।
उच्चत्तणे व णीचत्तणे वि पीदी ण किं होज्ज ॥१२२७॥

'**उच्चत्तणं व**' उच्चैर्गोत्रत्वमिव '**जो णीचत्तं पेच्छदि**' यो नीचैर्गोत्र प्रेक्षते इद चण्डालत्व वरमिति। भावशब्दोऽनेकार्थवाच्यपि इह चित्तवाची। यत् येन लब्ध तत्तस्य शोभन। अलब्धेन शोभनेनापि कि तेनेति मनसि करोति यदा तदा तत्रैव प्रीतिरस्य जायते इति वदति '**उच्चत्तणे वि**' मान्यकुलत्व इव '**णीचत्तणेऽवि**' नीचैर्गोत्रत्वेऽपि। '**पीदी किं ण होज्ज**' प्रीतिः किं न भवेत् भवत्येवेति यावत् ॥१२२७॥

गा०—इस प्रकार अनन्त बार प्राप्त करके छोड़े हुए उच्च कुलमे जन्म लेनेका गर्व कैसा ? गर्व तो तब होता जब अभी तक न पानेके बाद प्रथम बार ही इसे प्राप्त किया होता। तथा अनन्त बार प्राप्त करके छोडे हुए नीच गोत्रमे जन्म लेनेका दु ख कैसा ॥१२२५॥

गा०-टी०—'मै उच्च कुलमे जन्मा हू' ऐसा मनमे संकल्प होनेसे जीवका उच्चकुलमें अत्यन्त अनुराग होता है। इस प्रकारके सकल्पके बिना सामान्य कुलमे जन्म होने पर भी अनुराग नही होता। तथा नीच कुलमें जन्म लेना ही दु खका कारण नही है। दु.खका कारण है मान-कषायकी बहुतायत। गाथामे कषाय शब्द सामान्यवाची है तथापि यहाँ उसका अर्थ मानकषाय लेना चाहिए। मानकषायकी बहुतायत जीवको दु ख देती है, केवल नीच गोत्रमे जन्म ही दु.खका कारण नही होता ॥१२२६॥

अनुराग और दु ख सकल्पके अधीन हैं, यह कहते है—

गा०-टी०—गाथामें आये भाव शब्दके यद्यपि अनेक अर्थ है तथापि यहाँ उसका अर्थ चित्त लिया है। जो मनसे उच्च गोत्रके समान नीच गोत्रको देखता है अर्थात् यह चाण्डाल कुलमे जन्म श्रेष्ठ है ऐसा मानता है। मनमे विचारता है कि जो जिसको प्राप्त है वही उसके लिए उत्तम है। जो प्राप्त नही है वह श्रेष्ठ भी हो तो उससे क्या ? ऐसा विचार करते ही उच्च कुलके समान नीच

णीचत्तणं व जो उच्चत्तं पेच्छेज्ज भावदो तस्स ।
णीचत्तणेव उच्चत्तणे वि दुक्खं ण किं होज्ज ॥१२२८॥

एतद्विपरीतार्थोत्तरगाथा । स्पष्टतया[1] वस्तुस्थितिं नापेक्षते । सङ्कल्पायत्ता प्रीतिरप्रीतिर्वेत्यनुभवसिद्धमेतदखिलस्य जगत इति वदति । यस्मादुच्चैर्गोत्रत्वेऽपि न सुखदुःखयोर्भावाभावौ च भवत संकल्पात् ॥१२२८॥

तम्हा ण उच्चणीचत्तणाइं पीदिं करेंति दुःक्खं वा ।
संकप्पो से पीदीं करेदि दुक्खं च जीवस्स ॥१२२९॥

'तम्हा' तस्मात् । **'उच्चणीचत्तणाणि'** मान्यामान्यकुलत्वानि । **'ण करेंति पीदिं दुक्खं वा'** न कुरुतः प्रीतिं दुःखं वा । **'संकप्पो पीदिं करेदि'** सकल्पो **'से'** अस्य जीवस्य तस्मात् प्रीतिं करोति दुःखं वा । सति संकल्पे भावादसति अभावाच्च ॥१२२९॥

मानकषायमाध्योऽयं दोष इति कथयति—

कुणदि य माणो णीयागोदं पुरिसं भवेसु बहुएसु ।
पत्ता हु णीचजोणी बहुसो माणेण लच्छिमदी ॥१२३०॥

'कुणदि य' करोति । **'माणो'** अहंकार । **'णीयागोदं पुरिसं'** नीचैर्गोत्रमस्येति नीचैर्गोत्र **'पुरिसं'** आत्मान । **'भवेसु'** जन्मसु । **'बहुगेसु'** बहुषु । **'पत्ता'** प्राप्ता । **'णीचजोणी हु'** नीचैर्गोत्रमेव । का ? **'लच्छिमदी'** लक्ष्मीमती । केन निमित्तेन ? **'माणेण'** सुरूपा यौवनानुकूला कुलीना चेति गर्वेण ॥१२३०॥

कुलमें भी अनुराग क्यो नही होगा ? अवश्य ही होगा ॥१२२७॥

आगेकी गाथामे इससे विपरीत कथन करते हैं—

गा०—जो जीव भावसे उच्चपनेको नीचपनेकी तरह देखता है उसको नीचपनेकी तरह उच्चपनामे क्या दुःख नही होता ? होता ही है । किसीसे प्रीति या अप्रीति तो संकल्पके अधीन है यह बात समस्त जगत्के अनुभवसे सिद्ध है । क्योंकि संकल्पसे उच्च गोत्र होते हुए भी सुखका भाव और दुःखका अभाव नही होता ॥१२२८॥

गा०—अत: उच्च कुल या नीच कुल सुख या दुःख नहीं देता । किन्तु जीवका संकल्प सुख या दुःख करता है । संकल्पके होने पर सुख दुःख होता है और संकल्पके अभावमे नहीं होता ॥१२२९॥

आगे कहते हैं कि मानकषायके कारण यह दोष होता है—

गा०—मानकषाय अर्थात् अहंकार पुरुषको अनेक जन्मोंमें नीच गोत्री बनाता है । देखो, लक्ष्मीमती, मैं सुन्दर हूँ, कुलीन हूँ यौवनवती हूँ इस गर्वके कारण अनेक बार नीच गोत्रमें उत्पन्न हुई ॥१२३०॥

विशेषार्थ—बृहत्कथा कोशमें १०८ नम्बरमें इसकी कथा दी है ॥१२३०॥

१, स्पष्टाया—अ० ।

पूयावमाणरूवविरूवं सुभगत्तदुब्भगत्तं च ।
आणाणाणा य तहा विधिणा तेणेव पडिसेज्ज ॥१२३१॥

'पूयावमाणरूवविरूवं' पूजा, अवमानं परिभवः । रूपशब्दः सामान्यवचनोऽपि शोभनाशोभनरूपविषयतया इह विरूपशब्दसन्निधाने प्रयुज्यमानोऽतिशयिते रूपे प्रवर्तते । तेन सौरूप्य चेत्यर्थ. । **'सुभगत्तदुब्भगत्तं च'** सौभाग्यं दौर्भाग्यं च सर्वेषां प्रियत्व द्वेष्यत्वं चेति यावत् । **'आणाणाणा य तहा'** आज्ञा आदेशाप्रतिघात. अनाज्ञा च तथा । **'विधिना'** माननिषेधप्रकारेणैव । **'पडिसेज्ज'** प्रतिषेध्या । अभिधेयवशाल्लिंगवचनप्रवृत्तिरिति लिंग्यन्तरेण पूजादिशब्दोपनीतेन प्रतिषेध्यशब्दस्याभिसम्बन्ध· । परिभवं प्राप्तोऽपि बहुश. कदाचित्पूज्यते । एवमपि प्राप्ता ह्यनन्तेषु पूजास्तत्र कोऽनुरोगोऽस्य । दु.खं वा परिभवप्राप्तौ । [1]पूज्यमानोऽपि बहुषु पुन. परिभवानवाप्स्यति । न चात्मन· पूजायां काचिद् वृद्धिः परिभवे वा हानि· । सङ्कल्पवशादेवात्मनो जायेते प्रीतिपरितापौ न केवलं पूजापरिभवाभ्यामेवेति । उक्तं च—

> **यः स्तूयते शुचिगुणैर्मधुरैर्वचोभिः स निद्यते च परुषैर्वचनै[2]र्विचित्रै ।**
> **हा चित्रतां कथमयं भवसंकटस्थः प्राप्नोत्यनेकविधिकर्मफलोपभोगं ॥**
> **भूत्वा मनुष्यपतयः पुनरेव दासा हीना भवन्ति शुचयोऽशुचयश्च भूयः ।**
> **कान्त्या[3] च ये युवतिभिर्विषमानुरूपा द्वेष्या भवन्त्यसुभगत्वमुपेत्य भूयः ॥**
> **दृष्टः क्वचित्प्रवररत्नविभूषणो यः संदृश्यते विकलपुण्यतया दरिद्रः ।**
> **भूयश्च मित्रबहुबंधुजनोपगूढः संलक्ष्यते व्यसनभारभृदेक[4] एव ॥** [ ] ॥१२३१॥

गा०-टी०—मानकषायका जैसे निषेध किया है वैसे ही पूजा, अपमान, सौरूप्य, वैरूप्य, सौभाग्य, दुर्भाग्य, आज्ञा अनाज्ञाका भी निषेध जानना । गाथामें आगत रूपशब्द यद्यपि सामान्यवाची होनेसे सुन्दर और असुन्दर दोनो ही प्रकारके रूपका वाचक है तथापि विरूप शब्दके साथमें प्रयुक्त होनेसे अतिशयरूपको कहता है। अतः उसका अर्थ सौरूप्य और वैरूप्य लिया गया है। सौभाग्यका अर्थ है सबको प्रिय होना और दुर्भाग्यका अर्थ है सबके द्वारा तिरस्कृत होना। जिसने अनेक जन्मोंमें तिरस्कार पाया है वह भी कभी पूजा जाता है। इसी प्रकार अनन्त जन्मोंमें पूजा प्राप्त करनेवाला भी तिरस्कृत होता है। अतः उनमें अनुराग कैसा और तिरस्कार पानेपर दु:ख कैसा ? जो बहुत जन्मोमे पूजा जाता है वह पुन· तिरस्कारको प्राप्त करेगा। पूजा होनेपर आत्मामें वृद्धि नही होती और तिरस्कार होनेपर आत्मामे कोई हानि नही होती। सकल्पके कारण ही प्रीति और सन्ताप होते हैं केवल पूजा और तिरस्कारसे नहीं होते। कहा भी है—

जो मधुर वचनोंके द्वारा अपने निर्मल गुणोके लिये संस्तुत होता है वही नाना प्रकारके कठोर वचनोंसे निन्दाका पात्र होता है। कैसा आश्चर्य है कि ससाररूपी संकटमे पड़ा हुआ यह प्राणी अनेक प्रकारके कर्मोंके फलको भोगता है। मनुष्योंका स्वामी होकर उनका नीच दास हो जाता है। पवित्र होकर पुनः अपवित्र हो जाता है। जो युवतियोके प्रिय होते हैं वे ही दुर्भाग्य आनेपर द्वेषके पात्र बनते हैं। जो मनुष्य कभी उत्कृष्ट रत्नभूषणोंसे भूषित देखा गया है वही मनुष्य पुण्यहीन होनेपर दरिद्र देखा जाता है। जो बहुतसे मित्रो और बन्धु-बान्धवोसे घिरा हुआ

---

१. पूजातोऽपि–अ० । २. नैर्बधित्वा–अ० ज० । ३. कान्ता च येषु युवति:–ज० विषमाणरूपा द्वेष्या भवत्यशुभबन्धमुपेत्य भूय:–आ० ज० । ४ कांये च–अ० ।

इच्चेवमादि अविचिंतयदो माणो हवेज्ज पुरिसस्स ।
एदे सम्मं अत्थे पस्सदो णो होइ माणो हु ॥१२३२॥

जइदा उच्चत्तादिणिदाणं संसारवड्ढणं होदि ।
कह दीहं ण करिस्सदि संसारं परवघणिदाणं ॥१२३३॥

'जइदा' यदि तावत् । **'उच्चत्तादिणिदाणं'** उच्चैर्गोत्रता, पुरुषत्व, स्थिरशरीरता, अदरिद्रकुलप्रसूतिर्बन्धुतेत्येवमादिकं मुक्तेः परम्परया कारणमपि चित्ते क्रियमाणमपि । **'संसारवड्ढणं होदि'** संसारवृद्धिं करोति । **'किध ण करिस्सदि'** कथं न करिष्यति । **'दीहसंसारं'** दीर्घसंसारं । **'परवधणिदाणं'** परवधे चित्तप्रणिधानं ॥१२३३॥

आचार्यगणधरत्वादिप्रार्थना कथमशोभना रत्नत्रयातिशयलाभप्रार्थिता हि [1]सेत्याशङ्कायामुच्यते—

आयरियत्तादिणिदाणे वि कदे णत्थि तस्स तम्मि भवे ।
धणिदं पि संजमंतस्स सिज्झणं माणदोसेण ॥१२३४॥

'आयरियत्तादिणिदाणे वि कदे' आचार्यत्वादिनिदानेऽपि कृते । **'णत्थि तस्स'** नास्ति तस्य । **'तम्मि भवे'** तस्मिन्भवे निदानकरणभवे । **'धणिदं पि संजमंतस्स'** नितरामपि संयमं कुर्वतः । किं नास्ति **'सिज्झणं'** सेधनं मुक्तिः । केन ? **'माणदोसेण'** मानकषायदोषेण । स ह्याचार्यत्वादिप्रार्थनां करोति । पूज्यो भविष्यामीति सकल्पेन, ततोऽस्यहंयुता ॥१२३४॥

भोगदोषचिन्तायां सत्यां निदानं तथा न भवति इति कथयति—

होता है, विपत्तिमे पड़नेपर वही एकाकी देखा जाता है ॥१२३१॥

गा०—इत्यादि बातोंका विचार न करनेवाले पुरुषको मान होता है। और जो इन बातोंको सम्यक् रूपसे देखता है उसको मान नहीं होता ॥१२३२॥

गा०—उच्चगोत्र, पुरुषत्व, शरीरकी स्थिरता, अदरिद्रकुलमें जन्म, बन्धु-बान्धव आदि परम्परासे मुक्तिके कारण हैं ऐसा चित्तमें विचारकर इनका निदान करना कि ये मुझे प्राप्त हों, यदि ससारको बढ़ानेवाला है तो दूसरेके बधका चित्तमें निदान करना दीर्घ संसारका कारण क्यों नहीं है ? अवश्य है ॥१२३३॥

यहाँ कोई शका करता है कि रत्नत्रयमें अतिशय लाभकी भावनासे मैं आचार्य गणधर आदि बनूँ ऐसी प्रार्थना क्यों बुरी है ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—आचार्य पद आदिका निदान करनेपर भी जिस भवमें निदान किया है उस भवमे अत्यन्त संयमका पालन करनेपर भी मानकषायके दोषके कारण उसकी मुक्ति नहीं होती, क्योंकि वह 'मैं पूज्य होऊँ' इस संकल्पसे आचार्य आदि होनेकी प्रार्थना करता है। इससे उसका अहंकार प्रकट होता है ॥१२३४॥

आगे कहते हैं कि भोगोंके दोषोंका चिन्तवन करनेसे भोगोंका निदान नहीं होता—

---

१ एता टीकाकारो नेच्छति । २. हि सतीत्या—आ० ।

भोगा चिंतेदव्वा किंपागफलोवमा कडुविवागा ।
महुरा व भुंजमाणा पच्छा बहुदुक्खभयपउरा ॥१२३५॥

'**भोगा चिंतेदव्वा**' भोगाश्चिन्त्याः । '**किंपागफलोवमा**' किम्पाकफलसदृशाः । '**कडुविपागा**' कटु अनिष्टं विपाकः फलं एषामिति कटुविपाकाः । '**मधुरा व**' मधुरा इव । '**भुंजमाणा**' भुज्यमानाः । '**मज्झे**' मध्ये । '**बहुदुक्खभयपउरा**' विचित्रदुःखभयाः ॥१२३५॥

भोगनिदानदोषं कथयति—

भोगणिदाणेण य सामण्णं भोगत्थमेव होइ कदं ।
[1]साहालंगा जह अत्थिदो वणे को वि भोगत्थं ॥१२३६॥

'**भोगणिदाणेण य**' भोगनिदानेन वा । '**सामण्णं**' श्रामण्यं । '**भोगत्थमेव होइ कदं**' भोगार्थमेव कृतं न कर्मक्षयार्थं भवति । भोगनिदाने सति रागव्याकुलितचित्तस्य प्रत्यग्रकर्मप्रवाहस्वीकृतौ उद्यतस्य का संयतता ॥१२३६॥

आवडणत्थं जह ओसरणं मेसस्स होइ मेसादो ।
सणिदाणबंभचेरं अब्बंभत्थं तहा होइ ॥१२३७॥

'**आवडणत्थं**' अभिघातार्थं । '**जह**' यथा । '**ओसरणं**' अपगमः । '**मेसस्स होदि**' मेषस्य भवति । '**मेसादो**' मेषात् । '**सणिदाणबंभचेरं**' सनिदानस्य यतेर्ब्रह्मचर्यं । '**अब्बभत्थं**' मैथुनार्थं । '**तहा होदि**' तथा भवति ॥१२३७॥

जह वाणिया य पणियं लाभत्थं विक्किणंति लोभेण ।
भोगाण पणिदभूदो सणिदाणो होइ तह धम्मो ॥१२३८॥

गा०—ये भोग किंपाकफलके समान हैं। जैसे किंपाकफल खाते समय मीठा लगता है किन्तु उसका परिणाम अतिकटुक होता है। उसको खानेवाला मर जाता है। उसी प्रकार इन्द्रियोंके भोग भोगनेमें मधुर लगते हैं किन्तु उनका फल अतिकटु होता है पीछेसे जीवको बहुत दुःख और भय भोगना पड़ता है ॥१२३५॥

भोगनिदानके दोष कहते हैं—

गा०-टी०—मुनिपद धारण करके भोगका निदान करनेसे तो मुनिपद भोगोंके लिए ही धारण किया कहलायेगा। कर्मक्षयके लिये नहीं कहलायेगा। क्योंकि भोगका निदान करनेपर चित्त रागसे व्याकुल रहता है और ऐसा होनेसे नवीन कर्मोंका बन्ध होता है तब उसके मुनिपद कैसा ? जैसे कोई वनमें वृक्षकी शाखामें लगे फलोंको खानेमें लग जाये तो उसके अपने इच्छित स्थानपर पहुँचनेमें विघ्न आ जाता है वैसे ही भोगका निदान करनेवाले श्रमणकी भी दशा होती है ॥१२३६॥

गा०—जैसे एक मेढ़ा दूसरे मेढेपर अभिघात करनेके लिये पीछे हटता है वैसे ही भोगोंका निदान करनेवाले यतिका ब्रह्मचर्य भी अब्रह्म अर्थात् मैथुनके लिए ही होता है ॥१२३७॥

---

१. साहोलंबो–मु०, मूलारा० । साहासंगा–आ० ।

'जह वाणिया' यथा वणिजः। **'पणियं'** पण्यं। **'लाभत्थं'** लाभार्थं। **'विक्किणंति'** विक्रीणन्ति। **'लोभेण'** लोभेन। **'भोगाणं'** भोगाना। **'पणिदो भूदो'** पण्यभूतः। **'सणिदाणो'** सनिदानः। **'तहा धम्मो होदि'** तथा धर्मो भवति ॥१२३८॥

भोगनिदानवतः[1] श्रामण्यं प्रणिन्दति—

सपरिग्गहस्स अब्बंभचारिणो अविरदस्स से मणसा।
काएण सीलवहणं होदि हु णडसमणरूवं व ॥१२३९॥

'सपरिग्गहस्स' सपरिग्रहस्य भोगनिदानवतो वेदजनितो रागोऽभ्यन्तरः परिग्रह इति सपरिग्रहः। तस्य। **'अब्बंभचारिणो'** मनसा मैथुनकर्मणि प्रवृत्तस्य। **'अविरदस्स'** अव्यावृत्तस्य मैथुनात्। **'मणसा'** चित्तेन। **'से'** तस्य कायेन खु शरीरेणैव। **'सीलवहणं'** ब्रह्मव्रतवहनं। **'होदि'** भवति। **'णडसमणरूवं व'** नटानां श्रमण-रूपमिव। कायेन भावश्रामण्यरहितं यथा अफलमेवमिदमपि इति भाव ॥१२३९॥

रोगं इच्छेज्ज जहा पडियारसुहस्स कारणे कोई।
तह अण्णेसदि दुक्खं सणिदाणो भोगतण्हाए ॥१२४०॥

'रोगं कंखेज्ज' व्याधिमभिलषति। **'जहा कोइ'** यथा कश्चित्। किमर्थं? **'पडियारसुहस्स कारणे'** औषधसेवासुखाधिगमनार्थं। **'तह'** तथा **'अविरदस्स'** अव्यावृत्तस्य। **'अण्णेसदि'** अन्वेषते। **'दुक्खं'** दुःखं। कः? **'सणिदाणो'** सनिदानः। **'भोगतण्हाए'** भोगतृष्णया ॥१२४०॥

खंधेण आसणत्थं वहेज्ज गरुगं सिलं जहा कोइ।
तह भोगत्थं होदि हु संजमवहणं णिदाणेण ॥१२४१॥

'खधेण' स्कन्धेन। **'जहा कोइ'** यथा कश्चित्। **'गरुगं सिलं'** गुर्वीं शिला। **'वहेज्ज'** वहति। किमर्थं?

गा०—जैसे व्यापारी लोभवश लाभके लिये अपना माल बेचता है। वैसे ही निदान करनेवाला मुनि भोगोंके लिए धर्मको बेचता है ॥१२३८॥

भोगोंका निदान करनेवालेके मुनिपदकी निन्दा करते है—

गा०-टी०—भोगोका निदान करनेवालोंके अभ्यन्तरमे वेदजनित राग रहता है अतः वह परिग्रही है। तथा वह मनसे मैथुन कर्ममें प्रवृत्त होनेसे अब्रह्मचारी है और मनसे मैथुनसे निवृत्त न होनेसे अविरत है। वह केवल शरीरसे ब्रह्मचर्यव्रत धारण करता है अतः वह नटश्रमण है। जैसे नट श्रमणका वेश धारण करता है वैसे ही उसने भी श्रमणका वेश धारण किया है। भावश्रामण्यके विना केवल शरीरसे मुनि बनना जैसे व्यर्थ है उसी तरह उस मुनिका मुनिपद भी व्यर्थ है ॥१२३९॥

गा०—जैसे कोई औषधि सेवनके सुखकी अभिलाषासे रोगी होना चाहता है वैसे ही निदान करनेवाला भोगोंकी तृष्णासे दुःख चाहता है ॥१२४०॥

गा०—मैं इसके ऊपर सुखपूर्वक बैठूँगा, ऐसा मानकर जैसे कोई भारी शिलाको कन्धेपर उठाता है और उसके उठानेके कष्टकी परवाह नहीं करता। वैसे ही इस दुर्धर संयमको धारण

---

१. -वतः अमान्यं प्रणिगदति—आ०।

'**आसनत्थं**' आसनार्थं । अस्या उपरि सुखेनासे इति मत्वा स यथा गुरुशिलोद्वहनखेदं नापेक्षते, स्वल्पं तस्या उपर्यासनसुखमपेक्षते स्वबुद्धया । '**तह भोगत्थं खु**' तथा भोगार्थमेव । '**होदि**' भवति । '**संजमवहणं**' दुर्वहं संयमधारणं । '**णिदाणेण**' निदानेन सह ॥१२४१॥

बाह्यवस्तुजनितादिन्द्रियसुखात्तन्निमित्तवस्तुविनाशे यज्जायते दुःखं तदधिकतमं अतः स्वल्पसुखनिमित्तं को नाम सचेतनो दुःखभीरुर्दुःखाब्धौ पतेदिति दर्शयति—

भोगोवभोगसोक्खं जं जं दुक्खं च भोगणासम्मि ।
एदेसु भोगणासे जातं दुक्खं पडिविसिट्ठं ॥१२४२॥

'**भोगोवभोगसोक्खं**' मृष्टाशनताम्बूलादिकैः स्त्रीवस्त्रालङ्कारादिभिश्च जनितं यत्सुखं । '**भोगणासम्मि**' सुखसाधनस्य वस्तुनो विनाशे च । '**जं जं दुक्खं च**' यद्यद्दुःखं जायते । '**एदेसु**' एतयोः सुखदुःखयोः '**भोगणासे**' सुखसाधनानां विनाशे च । '**जातं दुक्खं पडिविसिट्ठं**' अधिकतममिति यावत् ॥१२४२॥

देहे छुहादिमहिदे चले य सत्तस्स होज्ज कह सोक्खं ।
दुक्खस्स य पडियारो रहस्सणं चेव सोक्खं खु ॥१२४३॥

'**देहे**' शरीरे मनुजानां । '**छुहादिमहिदे**' क्षुधा, पिपासया, शीतोष्णेन, व्याधिभिश्च मथिते । '**चले**' अनित्ये च । '**सत्तस्स**' आसक्तस्य । '**किं च सुखं होज्ज**' किमत्र सुखं भवेत् । '**दुक्खस्स य पडिगारो**' दुःखस्य प्रतीकारः । '**रहस्सणं चेव**' ह्रस्वकरण एव '**सोक्खं**' सौख्यं । खु शब्दः पादपूरणे दुःखप्रतीका[1]रोऽल्पता वा दुःखस्य सुखमित्यनेनाख्यातम् ॥१२४३॥

सुखमन्तरेणापि अस्ति दुःखं, सुखं पुनरैन्द्रियकं न आयते दुःखं विना ततः सुखार्थी दुःखमेव प्रागात्म-

---

करनेसे मुझे भोगोकी प्राप्ति हो इस निदानके साथ जो सयम धारण करता है उसका सयम धारण भोगोंके लिये है अर्थात् स्वल्पसुखके लिए बहुत दुःख उठाता है ॥१२४१॥

आगे कहते है कि बाह्य वस्तुसे उत्पन्न होनेवाले इन्द्रिय सुखसे उस सुखमे निमित्त वस्तुका विनाश होनेपर जो दुःख होता है वह अधिक है, अतः थोडेसे सुखके लिये कौन दुःखभीरु ज्ञानी दुःखके समुद्रमे गिरना पसन्द करेगा—

गा०—भोग अर्थात् सुस्वादु भोजन पान आदि और उपभोग अर्थात् स्त्री वस्त्र अलकार आदिसे होनेवाला सुख तथा सुखके साधनमे निमित्त वस्तुका विनाश होनेपर होनेवाला दुःख, इन दोनों सुख और दुःखमेसे भोगके साधनोंका विनाश होनेपर होनेवाला दुःख बहुत अधिक होता है ॥१२४२॥

गा०—यह शरीर भूख, प्यास, शीत, उष्ण तथा रोगोसे पीडित और विनाशशील है। इसमें जो आसक्त है उसे क्या सुख होता है ? वास्तवमे दुःखका प्रतीकार अथवा दुःखको कम करना ही सुख है। अर्थात् दुःखके प्रतीकारको या दुःखकी कमीको ही सुख मान लिया गया है। वास्तवमें सुख नहीं है ॥१२४३॥

सुखके विना भी दुःख होता है किन्तु इन्द्रियजन्य सुख दुःखके विना नहीं होता। अतः

---

१ कारोत्पत्ती वा–आ० मु० ।

नोऽभिलषति न च दुःखाभिलाषः प्राज्ञस्य युक्त इति कथयति—

सोक्खं अणवेक्खित्ता बाधदि दुक्खमणुगंपि जह पुरिसं ।
तह अणवेक्खिय दुक्खं णत्थि सुहं णाम लोगम्मि ॥१२४४॥

'**सोक्खं**' सौख्यं । '**अणवेक्खित्ता**' अनपेक्ष्य । '**बाधति दुक्खमणुगं पि**' बाधते दुःखमण्वपि । '**जह पुरिसं**' यथा पुरुषं । '**तह**' तथा । '**अणवेक्खिय**' अनपेक्ष्य । '**दुक्खं**' दुःखं । '**लोगम्मि णत्थि सुहं**' लोके नास्ति सुखं नामैन्द्रियकं । क्षुत्पिपासाभ्यां पीडित एवाशनं पानं वान्वेषते । कठोरातपसप्त एव शीतं, शीतसंकुचिततनुरेव प्रावरणादिकं, वातातपाम्बुभिरेवोपद्रुतो भवनमभिलषति । स्थानासनोपजातश्रम एव शय्यां कामयते । पादगमनजातखेदव्यपोहनार्थेव शिबिकादिकं, वैरूप्यनिराकृतये एव वस्त्राणि भूषणानि च दौर्गन्ध्यनाशनार्थेव तुरुष्ककालागुर्वादिकं, खेदगमनार्थेव रमण्य इति सर्वं दुःखप्रतीकारमेव । त्रिविधवेदोदयजनितः प्राणिनां लिङ्गत्रयवर्तिना परस्पराभिलाषः । स तेषां परस्परशरीरसंसर्गे सत्यपि न विनश्यति । अभिलाषनिमित्तानां कर्मणां सद्भावात् । न हि कार्यमविकलकारणसन्निधौ न भवति । कामो हि सेव्यमानो वेदत्रयं प्रत्यग्रमाकर्षति । सतोऽप्यनुभवमुपबृंहयते । कारणसम्पर्कात्कार्यसम्पादो नित्यमिति निरन्तराभिलाषदहनदह्यमानचेतसो न कदाचिन्निर्वृतिरस्ति । अपनीते तु वेदत्रये कारणाभावात् कार्याभाव इति निरवशेषवेदापगमे स्वास्थ्यं यदस्य तदेव सुखमिति मन्यमानो दृष्टान्तं दर्शयति ॥१२४४॥

जो इन्द्रिय सुखका अभिलाषी है वह पहले दुःख चाहता है किन्तु विद्वान्के लिए दुःखकी चाह युक्त नहीं है यह कहते है—

गा०—जैसे सुखकी अपेक्षाके विना थोडा-सा भी दुःख पुरुषको कष्टदायक होता है वैसे ही लोकमे इन्द्रियजन्य सुख दुःखकी अपेक्षाके विना नहीं है ॥१२४४॥

टी०—भूख और प्याससे पीडित पुरुष ही भोजन और पेयको खोजता है । कठोर घामसे पीडित शीतल प्रदेश खोजता है । शीतसे जिसका शरीर ठिठुर गया है वही ओढना आदि खोजता है । वायु घाम वर्षा आदिसे पीडित ही मकान खोजता है । उठने बैठनेमे थका हुआ ही शय्या चाहता है । पैदल चलनेसे हुए कष्टको दूर करनेके लिए ही सवारी आदि चाहता है । विरूपता दूर करनेके लिए ही वस्त्र आभूषण चाहता है । दुर्गन्ध दूर करनेके लिए ही सुगन्धित द्रव्य लोबान आदि होते है । खेद दूर करनेके लिए ही सुन्दर स्त्रियाँ होती है । इस तरह सब दुःखके प्रतीकारके लिए हैं । स्त्री लिङ्गी, पुरुष लिङ्गी और नपुंसक लिङ्गी प्राणियोंको स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपुंसकवेदके उदयसे परस्परमें रमण करनेकी अभिलाषा होती है । किन्तु वह अभिलाषा परस्परमें शारीरिक संसर्ग होनेपर भी नष्ट नही होती; क्योंकि उस अभिलाषामे निमित्त वेदकर्मका सद्भाव है । कारणोंके अविकल होते हुए कार्य अवश्य होता है । कामका सेवन करनेसे नवीन स्त्रीवेद पुरुषवेद या नपुसकवेदका बन्ध होता है । तथा सत्तामें स्थित इन कर्मोंके अनुभागमें वृद्धि होती है क्योंकि कारणके होनेपर कार्य नित्य ही हुआ करता है । जिनके चित्त निरन्तर अभिलाषारूप आगसे जलते हैं उन्हे कभी भी शान्ति नहीं मिलती । तीनो वेदोंके चले जानेपर कारणका अभाव होनेसे कार्यका भी अभाव होता है । अतः वेदोंका पूर्णरूपसे अभाव होनेपर जो स्वास्थ्य होता है वही सुख है ॥१२४४॥

जह कोडिल्लो अग्गिं तप्पंतो णेव उवसमं लभदि ।
तह भोगे भुंजंतो खणं पि णो उवसमं लभदि ॥१२४५॥

'**जह कोडिल्लो**' यथा कुष्ठेनोपहुत । '**अग्गिं तप्पंतो**' अग्निना दह्यमानमूर्तिरपि । '**णेव उवसमं लभदि**' नैव व्याधेरुपशमं लभते । न ह्यग्निरुपशामक कुष्ठस्यापि तु वर्द्धक । यद्यस्य वृद्धिनिमित्तं न तत्तदुपशमयति । यथा कुष्ठं नोपशमयति वह्नि । वर्धयति चाभिलाष अबलादिसगम '**तह**' तथा । '**भोगे भुंजंतो**' भोगानुभवनोद्यत. । '**खणंपि णो उवसमं लभदि**' क्षणमात्रमपि नोपशम लभते भोगाभिलाषरोगस्य ॥१२४५॥

कच्छुं कंडुयमाणो सुहाभिमाणं करेदि जह दुक्खे ।
दुक्खे सुहाभिमाणं मेहुण आदीहिं कुणदि तहा ॥१२४६॥

'**कच्छुं**' कच्छुं । '**कंडुयमाणो**' नखैर्मर्दयन् । '**सुहाभिमाणं करेइ**' सुखाभिमान करोति । '**जह दुक्खं**' यथा दु.खे । '**तह मेहुण आदीहिं**' तथा मैथुनादिदु.खे रभसालिङ्गने, अधरदशने, उरस्ताडने नखैर्निशितैरङ्गच्छेदने कचाकर्षणे । उक्तं च—

> **नग्नः प्रेत इवाविष्टः स्वनन्निव शवन्निव ।**
> **श्वासायासपरिश्रान्तः स कामी रमते किल ॥१॥ इति ॥ [ ]** ॥१२४६॥

घोसादकीं य जह किमि खंतो मधुरित्ति मण्णदि वराओ ।
तह दुक्खं वेदंतो मण्णइ सुक्खं जणो कामी ॥१२४७॥

'**घोसादकीं**' घोषातकी । '**किमि**' कृमि । '**खंतो**' भक्षयन् । '**जहा मधुरित्ति**' यथा मधुरमिति मन्यते वराकः । '**तह**' तथैव । '**दुक्खं वेदंतो**' दु खमनुभवन् । '**मण्णदि सोक्खं जणो कामी**' मन्यते कामिजन सुखं ॥१२४७॥

इसे दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं—

गा०—जैसे कुष्ठ रोगसे पीड़ित व्यक्तिका शरीर आगमें जलने पर भी कुष्ठ रोग शान्त नहीं होता; क्योंकि आग कुष्ठ रोगको शान्त नहीं करती, बल्कि बढ़ाती है। और जो जिसको बढाता है वह उसको शान्त नहीं कर सकता। जैसे आग कुष्ठ रोगको शान्त नहीं करती। उसी प्रकार स्त्रीका संगम स्त्री विषयक अभिलाषाको बढाता है। अत. जो भोगोके भोगनेमें तत्पर है उसका भोगकी अभिलाषा रूप रोग एक क्षणके लिए भी शान्त नहीं होता ॥१२४५॥

गा०-टी०—जैसे खाजको नखोसे खुजाने वाला दुःखको सुख मानता है। उसी प्रकार मैथुनके समय वेगपूर्वक आलिंगन, ओष्ठ काटना, छाती मसलना, तीक्ष्ण नखोसे शरीर नोचना, केश खींचना आदिसे होने वाले दुःखको कामी सुख मानता है। कहा भी है—कामी पुरुष पिशाचसे ग्रहीत पुरुषकी तरह नग्न होकर स्त्रीके साथ रमण करता है और श्वास तथा थकानसे पीड़ित होकर शब्द करते हुए श्वास लेता है ॥१२४६॥

गा०—जैसे बेचारा कीट घोषा नामक लताको खाते हुए उसे मीठी मानता है उसी प्रकार कामी जन दुःखका अनुभव करते हुए उसे सुख मानता है ॥१२४७॥

सुट्ठु वि मग्गिज्जंतो कत्थ वि कयलीए णत्थि जह सारो।
तह णत्थि सुहं मग्गिज्जंते भोगेसु अप्पं पि ॥१२४८॥

'सुट्ठु वि' सुष्टु अपि। 'मग्गिज्जंतो' मृग्यमाणोऽपि। सारः कदल्यां क्वचिदपि मूले मध्येऽन्ते वा यथा नास्ति तथा भोगेष्वन्विष्यमाणं सुखं न विद्यते ॥१२४८॥

ण लहदि जह लेहंतो सुक्खल्लयमट्ठियं रसं सुणहो।
से सगतालुगरुहिरं लेहंतो मण्णए सुखं ॥१२४९॥

'जध सुणगो सुक्खल्लगमट्ठियं लेहंतो रसं जहा ण लभदि' श्वा शुष्कमस्थि लिहन् सन् यथा रस न लभते। 'सगतालुगरुहिरं लेहंतो सो सोक्खं मण्णदे' तीक्ष्णास्थिछिन्नस्वन्तालुगलितरुधिरमास्वादयन्सुखाभिमानं करोति। 'जह तह' यथा तथा। 'पुरिसो ण किंचि सुखं लभइ' पुरुषो न किंचित्सुखं लभते ॥१२४९॥

महिलादिभोगसेवी ण लहदि किंचिवि सुहं तथा पुरिसो।
सो मण्णदे वराओ सगकायपरिस्समं सुक्खं ॥१२५०॥

'महिलादिभोगसेवी' स्त्र्यादिभोगसेवनोद्यत। तथा 'पुरिसो ण किंचि वि सुहं लहदि' तथा पुरुषो न किंचिदपि सुख लभते एव। 'सो वराओ सगकायपरिस्समं सोक्खं मण्णदे' स वराक स्वकायश्रमं सौख्य मन्यते ॥१२५०॥

अनुभवसिद्धं सुख कथं नास्तीति शक्यते वक्तुं इत्याशङ्क्य असत्यपि सुखे सुखज्ञान जगतो भवति विपर्यस्तं सुखकारणस्येति दृष्टान्तोपन्यासेन वदति—

दीसइ जलं व मयतण्हिया हु जह वणमयस्स तिसिदस्स।
भोगा सुहं व दीसंति तह य रागेण तिसियस्स ॥१२५१॥

'दीसइ वणमयस्स तिसिदस्स जहा जलं मयतण्हिया' वने मृगेण हरिणादिना तृषाभिभूतेन जलकाङ्क्षा-

---

गा०—जैसे अच्छी तरह खोजने पर भी केलेके वृक्षमें मूल मध्य या अन्तमे कही भी कुछ सार नही है वैसे ही खोजने पर भी भोगोमे कुछ भी सार नहीं है ॥१२४८॥

गा०—जैसे कुत्ता सूखी हड्डीको चबाते हुए रस प्राप्त नही करता। किन्तु तीक्ष्ण हड्डीके द्वारा कटे अपने तालुसे झरते हुए रक्तका स्वाद लेते हुए सुख मानता है ॥१२४९॥

गा०—उसी तरह पुरुष स्त्री आदि विषयभोगमें किञ्चित् भी सुख प्राप्त नहीं करता वह बेचारा अपने शरीरके श्रमको ही सुख मानता है ॥१२५०॥

विषयभोगमें सुख अनुभवसे सिद्ध है आप कैसे कहते हैं कि उसमें सुख नहीं है ऐसी आशंका करने पर दृष्टान्त द्वारा कहते हैं कि सुखके नही होने पर भी सुखके कारणमें विपरीत बुद्धि होनेसे जगत्को सुखका बोध होता है—

गा०—जैसे बनमें हरिण आदि जब प्याससे व्याकुल होकर जलकी इच्छा करते हैं तो उन्हें मरीचिका जलके समान प्रतीत होती है किन्तु हरिणके उसे जल मानने पर भी वह जल रूप नहीं होती। उसी प्रकार रागके प्यासेको भोग सुखकी तरह प्रतीत होते है ॥१२५१॥

वत्ता जलमिव दृश्यते मृगतृष्णिका । न सा मृगेण जलतयोपलब्धेऽपि जल भवति । तथा '**रागेण तिसिदस्स भोगा सुहं व दीसंति**' रागतृषितेन भोगा. सुखमिव दृश्यन्ते ॥१२५१॥

वग्घो सुखेज्ज मदयं अवगासेऊण जह मसाणम्मि ।
तह कुणिमदेहसंफंसणेण अबुहा सुहायंति ॥१२५२॥

'**वग्घो सुखेज्ज**' 'श्मशाने व्याघ्रो मृतकमवग्रास्य तृप्यति यथा तथा कुथितदेहसंस्पर्शनेनाबुधा सुखाधिगमहर्षनिर्भरा भवन्ति ॥१२५२॥

भवतु नाम सुख भोगस्तथापि तदत्यल्पमिति निवेदयति—

तह अप्पं भोगसुहं जह धावंतस्स अठितवेगस्स ।
गिम्हे उण्हातत्तस्स होज्ज छायासुहं अप्पं ॥१२५३॥

'**तथा अप्पं भोगसुह धावंतस्स अठितवेगस्स गिम्हे उण्हातत्तस्स जहा छायासुहं अप्पं तह अप्पं भोगसुह**' धावतोऽस्थितवेगस्य ग्रीष्मे उष्माभितप्तस्य यथा मार्गस्थैकतरुच्छायासुखमल्पं भोगसुख तथा ॥१२५३॥

अहवा अप्पं आसाससुहं सरिदाए उप्पियंतस्स ।
भूमिच्छिक्कंगुट्ठस्स उब्भमाणस्स होदि सोत्तेण ॥१२५४॥

'**अहवा**' अथवा । '**अप्प**' अल्प । '**आसाससुहं**' आश्वास एव सुख । '**सरिदाए**' नद्या । '**उप्पियंतस्स**' निमज्जत । '**भूमिच्छिक्कंगुट्ठस्स**' भूमिस्पृष्टाङ्गुष्ठस्य । '**सोत्तेण उब्भमाणस्स**' स्रोतसा प्रवाहेनोह्यमानस्य । अल्पं आश्वाससुख तद्वदिन्द्रियसुखमत्यल्पमित्यतिक्रान्तेन सबन्ध ॥१२५४॥

इन्द्रियसुखानि यद्यलब्धपूर्वाणि युक्तो विस्मयस्तव तानि सर्वाणि अनन्तवारपरिभुक्तानि तेषु भुक्तेषु परित्यक्तेषु न युक्तो विस्मय इति अनादरं जनयति तेषु सूरि —

जावंति केइ भोगा पत्ता सव्वे अणंतखुत्ता ते ।
को णाम तत्थ भोगेसु विंभओ लद्धविजडेसु ॥१२५५॥

गा०—जैसे स्मशानमें व्याघ्र मुर्देको खाकर सुखी होता है वैसे ही दुर्गन्धित शरीरके आलिंगनमें अज्ञानी सुख मानकर हर्षसे भर जाते हैं ॥१२५२॥

आगे कहते हैं कि भोगमें भले ही सुख हो किन्तु वह सुख अति अल्प है—

गा०—जैसे ग्रीष्म ऋतुमे अत्यन्त वेगसे दौडते हुए और मध्यकालके सूर्यकी किरणोसे सतप्त पुरुषको मार्गमे स्थित एक वृक्षकी छायामें जानेसे थोडा-सा सुख होता है वैसे ही भोगमें अति अल्प सुख है ॥१२५३॥

गा०—अथवा नदीमे डूबते हुए और प्रवाहके द्वारा बहाकर ले जाते हुए मनुष्यको भूमिसे अगूठेके छू जाने पर जैसा अल्प आश्वास सुख होता है कि मै तट पर लग जाऊँगा, उसी प्रकार इन्द्रियजन्य सुख अति अल्प होता है ॥१२५४॥

गा०—यदि इन्द्रिय सुख पूर्वमें कभी प्राप्त न हुए होते तो उनकी प्राप्तिमे हर्ष होना

---

१ स्मशाने मृतक शव भुक्त्वा व्याघ्रस्तृप्यति—आ० ।

'जावंति केइ भोगा' यावन्तः केचन भोगाः । 'ते सव्वे पत्ता अणंतखुत्तो ते' सर्वे प्राप्ता अनन्तवारं तव । 'को णाम तत्थ भोगेसु' को नाम तेषु भोगेषु विस्मय. लब्धेषूज्झितेषु ॥१२५५॥

भोगतृष्णा निरन्तर दहति भवन्त, सेव्यमानाः पुनर्भोगास्तामेव तृष्णा वर्द्धयन्ति ततो भोगेच्छां शिथिलतां नयेति वदति—

जह जह भुंजइ भोगे तह तह भोगेसु वड्ढदे तण्हा ।
अग्गीव इंधणाइं तण्हं दीविंति से भोगा ॥१२५६॥

'जह जह भुंजदि भोगे' यथा यथा भोगान्भुङ्क्ते । 'तह तह' तथा तथा । 'भोगेसु वड्ढदे तण्हा' भोगेषु वर्धते तृष्णा । 'अग्गि व' अग्नि वा । यथा 'इंधणाइं' इन्धनानि । 'दीविंति' दीपयन्ति । 'तहा' तथा । 'तण्हं' तृष्णा दीपयन्ति । 'से' तस्य भोक्तुर्भोगा. । तथा चोक्त—

तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासां । इष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव ॥ [बृहत्स्वयंभू०] ॥१२५६॥

जीवस्स णत्थि तित्ती चिरं पि भोएहिं भुंजमाणेहिं ।
तित्तीए विणा चित्तं उव्वूरं उव्वुदं होइ ॥१२५७॥

'जीवस्स' जीवस्य । नास्ति तृप्तिश्चिरकालमपि भोगाननुभवत पल्योपमत्रय कालं भोगभूमीषु त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमकाल अमरेषु । तृप्त्या च विना चित्त । 'उव्वूरं उव्वुद' उत्पूर उच्छृत भवतीति सूत्रार्थ ॥१२५७॥

जह इंधणेहि अग्गी जह व समुद्दो णदीसहस्सेहिं ।
तह जीवा ण हु सक्का तिप्पेदुं कामभोगेहिं ॥१२५८॥

'जह इंधणेहिं' यथेन्धनैरग्निर्न तृप्यति । यथा वा समुद्रो नदीसहस्रै । तथा जीवो न शक्यो भोगैस्तर्पयितु ॥१२५८॥

उचित था, किन्तु उन सबको तुमने अनन्त बार भोगा है। उन भोगकर छोड़े गये विषयोमे हर्ष मानना उचित नही है। इस प्रकार आचार्य विषयोके प्रति अनादर भाव उत्पन्न करते है—जितने संसारके भोग है वे सब तुमने अनन्त बार प्राप्त किये है उन प्राप्त करके छोड़े गये विषयोमे आश्चर्य कैसा ? ॥१२५५॥

आगे कहते हैं कि तुम्हें भोगोकी तृष्णा निरन्तर जलाती है। भोगोका सेवन उसी तृष्णाको बढ़ाता है अत भोगोंकी इच्छाको कम करो—

गा०—जैसे जैसे भोगोको भोगते हो वैसे वैसे भोगोंकी तृष्णा बढ़ती है। जैसे इंधनसे आग प्रज्वलित होती है वैसे ही भोगोसे तृष्णा बढ़ती है। कहा भी है—यह तृष्णारूपी ज्वाला सदा जलाती है, इष्ट इन्द्रियोंके विषयोंसे इनकी तृप्ति नही होती, बल्कि बढ़ती है ॥१२५६॥

गा०—तीन पल्य तक भोगभूमिमें, तेतीस सागर तक देवोंमें इस तरह चिरकाल तक भोगों को भोगते हुए भी तृप्ति नही होती और तृप्तिके विना चित्त अत्यन्त उत्कण्ठित रहता है ॥१२५७॥

गा०—जैसे ईंधनसे आगकी तृप्ति नहीं होती। अथवा जैसे हजारों नदियोंसे समुद्रकी

देविंदचक्कवट्टी य वासुदेवा य भोगभूमीया।
भोगेहिं ण तिप्पंति हु तिप्पदि भोगेसु किह अण्णो ॥१२५९॥

'**देविंद**' देवानामधिपतयः, चक्रलाञ्छना वासुदेवा अर्धचक्रवर्तिनः, भोगभूमिजाश्च भोगैर्न तृप्यन्ति। कथमन्यो जनस्तृप्तिमुपेयाद्भोगी। सुलभामितभोगसाधनाश्चिरजीविनः स्वतन्त्राश्चामी। अन्ये तु भवादृशा जठरभरणमात्रमपि कर्तुं अशक्ता स्वल्पायुष, पराधीनवृत्तयश्च तृप्यन्तीति का कथा ॥१२५९॥

संपत्तिविवत्तीसु य अज्जणरक्खणपरिग्गहादीसु।
भोगत्थं होदि णरो उव्वुधुयचित्तो य घण्णो य ॥१२६०॥

संपत्तिविवत्तीसु य' सम्पत्सु विपत्सु च। '**अज्जणरक्खणपरिग्गहादीसु**' द्रव्यस्यालब्धस्यार्जने[1], पुञ्जीकरणे, राशीकृतस्य रक्षणे। पर हस्ते विप्रकीर्णस्य ग्रहणे। आदिशब्देन तद्व्ययकरणे वा। भोगत्थं अनुभवार्थं। अर्जनादिषु प्रवृत्तः। '**उव्वुधचित्तो य णरो होदि**' चलचित्त उत्कण्ठावाश्च भवति नरः। द्रव्यसम्पदि जातायां रागाच्चलचित्तं भवति। द्रविणादिविनाशे कथं जीवामि पुनर्द्रव्यार्जनं करोमीति ॥१२६०॥

उव्वुधुयमणस्स ण सुहं सुहेण य विणा कुदो हवदि पीदी।
पीदीए विणा ण रदी उव्वुधुयचित्तस्य घण्णस्स ॥१२६१॥

'**उव्वुधमणस्स**' व्याकुलचित्तस्य '**ण सुहं**' न सुखं भवति। '**सुहेण य विणा कुदो हवदि पीदी**' सुखेन विना कुतो भवति प्रीतिस्तृप्तिः। '**पीदीए विणा**' प्रीत्या विना। '**ण रदी**' न रति। '**उव्वुधचित्तस्स**' व्याकुलचेतसः। '**घण्णस्स**' उत्कण्ठाडाकिन्या गृहीतस्य ॥१२६१॥

तृप्ति नहीं होती, वैसे ही भोगोंसे जीवकी तृप्ति नही होती ॥१२५८॥

गा०-टी०—देवोके अधिपति इन्द्र, चक्रवर्ती, वासुदेव अर्थात् अर्धचक्री और भोगभूमियाँ जीव भी भोगोंसे तृप्त नही होते। तब साधारण मनुष्य कैसे भोगोसे तृप्त हो सकता है? अर्थात् इनके लिए भोगोंके अपरिमित साधन सुलभ है, तथा इनकी आयु भी बहुत होनेसे चिरकालतक ये जीवित रहते हैं और किसीके अधीन न होनेसे स्वतन्त्र होते है। आप सरीखे साधारण मनुष्य तो पेट भरनेमे भी असमर्थ और थोड़ी आयुवाले तथा पराधीन होते हैं। अत: उनकी भोगोसे तृप्ति होनेकी तो बात ही क्या है? ॥१२५९॥

गा०—सम्पत्ति होनेपर मनुष्य अप्राप्त द्रव्यके कमानेमें, एकत्र हुए द्रव्यके रक्षणमे, दूसरेके हाथमें गई सम्पत्तिको उससे लेनेमें और आदि शब्दसे उसे खर्च करनेमें, तथा भोगनेमे व्याकुल रहता है और विपत्तिमें अर्थात् धन आदिका विनाश होनेपर कैसे मैं जीवित रहूँगा? कैसे पुन. द्रव्य कमाऊँगा इस उत्कण्ठासे व्याकुल रहता है ॥१२६०॥

गा०—जिसका चित्त व्याकुल रहता है उसे सुख नही होता। सुखके विना प्रीति नहीं होती। प्रीतिके विना रति नहीं होती। इस तरह जिसका चित्त व्याकुल रहता है और जो उत्कण्ठारूपी डाकिनीसे ग्रस्त है उसे सुख कैसे हो सकता है और सुखके विना प्रीति और प्रीतिके विना रति सम्भव नहीं है ॥१२६१॥

---

१. स्यावर्जनं पु०-आ०।

जो पुण इच्छदि रमिदुं अज्झप्पसुहम्मि णिव्वुदिकरम्मि ।
कुणदि रदिं उवसंतो अज्झप्पसमा हु णत्थि रदी ॥१२६२॥

'**जो पुण इच्छदि रमिदु**'' य पुना रमितुं इच्छति । '**सो कुणदि रदिं**' स करोतु रतिं । क्व ? '**अज्झप्पसुहम्मि**' अध्यात्मसुखे । '**णिव्वुदिकरम्मि**' निर्वृतिकरे । '**उवसंतो**' उपशान्तरागकोप । एतदुक्तं भवति—मनोज्ञामनोज्ञविषयसन्निधाने स्वसंकल्पहेतुकौ यौ रागद्वेषौ तौ परित्यज्य निवृत्तितृप्तिकरे अध्यात्मसुखे रतिं करोतु । '**अज्झप्पसमा**' आत्मस्वरूपविषया रतिरध्यात्मशब्देनोच्यते । तया सदृशी रति । ''**णत्थि हु**' न विद्यते एव । यस्मात् भोगरतिरध्यात्मनो रत्या न सदृशी ॥१२६२॥

कथम् ?

अप्पायत्ता अज्झप्परदी भोगरमणं परायत्तं ।
भोगरदीए चइदो होदि ण अज्झप्परमणेण ॥१२६३॥

'**अप्पायत्ता**' स्वायत्ता । '**अज्झप्परदी**' आत्मस्वरूपविषया रति परद्रव्यानपेक्षणात् । '**भोगरमणं**' भोगरति '**परायत्तं**' परायत्ता परद्रव्यालम्बनत्वात् । तेषां च कथंचिदेव सान्निध्यं क्वचिदेव कस्यचिदेवेति । एतेन स्वायत्ततया परायत्ततया चासाम्यमाख्यातं । प्रकारान्तरेणापि वैषम्यं दर्शयति । '**भोगरदीए चइदो होदि**' भोगरत्या च्युतो भवति । न प्रच्युतो भवति '**अज्झप्परमणेण**' अध्यात्मरत्या ॥१२६३॥

अनेकविघ्नसहिता विनाशिनी च भोगरतिः, अध्यात्मरतेस्तु भावितायां न नाशो नापि विघ्न इति कथयत्युत्तरगाथा—

भोगरदीए णासो णियदो विग्घा य होंति अदिबहुगा ।
अज्झप्परदीए सुभाविदाए णासो ण विग्घो वा ॥१२६४॥

गा०–टी०—हे क्षपक ! जो तू रमण करना चाहता है तो रागद्वेषका शमन करके परम तृप्तिकारक अध्यात्म सुखमें रति कर । कहनेका अभिप्राय यह है कि इष्ट और अनिष्ट विषयोंके प्राप्त होनेपर 'यह अच्छा है और यह बुरा है' इस प्रकारके संकल्पके कारण जो रागद्वेष होते हैं उन्हे त्यागकर तृप्तिकारक अध्यात्म सुखमें रमण कर । यहाँ अध्यात्म शब्दसे आत्मस्वरूप विषयक रति कही है । उसके समान कोई रति नहीं हैं । क्योंकि भोगसम्बन्धी रति अध्यात्म विषयक रतिके समान नहीं है ॥१२६२॥

गा०–टी०—क्योंकि आत्मस्वरूप विषयक रति अपने अधीन है उसमे परद्रव्यकी अपेक्षा नहीं है । किन्तु भोग रति पराधीन है क्योंकि उसमे परद्रव्यका अवलम्बन लेना होता है । और परद्रव्य कभी-कभी ही किसी किसीको ही थोड़े बहुत प्राप्त होते हैं । इससे स्वाधीन और पराधीन होनेसे दोनोंमें असमानता कही । अन्य प्रकारसे भी दोनोंमें विषमता बतलाते हैं—

भोग रतिसे तो मनुष्य वंचित हो जाता है किन्तु अध्यात्म रतिसे नहीं होता क्योंकि आत्म द्रव्य सर्वत्र सर्वदा और सर्वथा उसके पास रहता है ॥१२६३॥

भोग रतिमें अनेक विघ्न रहते हैं और वह नष्ट होने वाली है किन्तु भावित अध्यात्म रतिका कभी नाश नही होता और न उसमें विघ्न आता है, यह आगे कहते है—

'भोगरदीए' भोगरत्याः । **'णियदो णासो'** नियतो विनाशः । **'विग्घा य हुंति'** विघ्नाश्च भवन्ति । **'अदिबहुगा'** अतीव बहवः । **'अज्झप्परदीए'** अध्यात्मरते. । **'सुभाविदाए'** सुष्ठु भाविताया. । **'णासो'** नाशो, न विद्यते । **'विग्घा वा'** विघ्ना वा न सन्ति । नियतं नश्वरतयाऽनश्वरतया वा बहुविघ्नतया, निर्विघ्नतया च तयो रत्योर्वैषम्यमिति भाव ॥१२६४॥

इन्द्रियसुखं शत्रुतया सङ्कल्पनीयं तथा च तत्रादरो जन्तोर्निवृत्ते' अतो अतीन्द्रियसुखत्वमेव वीतरागत्व-हेतुके संवरे इति मत्वा सूरिचूलामणिराह—

दुक्खं उप्पादिंता पुरिसा पुरिसस्स होंति जदि सत्तू ।
अदिदुक्खं कदमाणा भोगा सत्तू किहुं ण हुंती ॥१२६५॥

'दुक्खं उप्पादिता' दुःखमुत्पाद्य । **'जदि सत्तू होंति'** यदि शत्रवो भवन्ति । **'पुरिसा पुरिसस्स'** पुरुषा. पुरुषस्य । **'अदिदुक्ख कुणमाणा भोगा'** अतीव दुःखं कुर्वन्तो भोगा इन्द्रियसुखानि । **'किध सत्तू ण हुंति'** कथ शत्रवो न भवन्ति भवन्त्येवेति । कथं भोगाना दुःखहेतुता एव मन्यते ? इन्द्रियसुखं नाम स्त्रीवस्त्रगन्धमालादि-परद्रव्यसन्निधानजन्य । तच्च स्त्र्यादिकं दुर्लभतमं निद्रविणस्य, तेन तदर्थं कृष्यादिकर्मणि प्रयतितव्यं । ततो महानायास' । इहैव भवानुगामी दुःखनिमित्तं च कर्म हिंसादिषु प्रवर्तमानोऽर्जयति । तदिमं दुरन्ते संसाराम्भोधौ निमज्जयति । तत्र च निमग्नेन कलम दुःखमनेन नावाप्यते ॥१२६५॥

शत्रुतमा भोगा इति कथयति—

इहइं परलोगे वा सत्तू मित्तत्तणं पुणमुवेंति ।
इहइं परलोगे वा सदावि दुःखावहा भोगा ॥१२६६॥

'इहइं' अस्मिन्नेव जन्मनि । **'परलोगे वा'** परजन्मनि वा । **'सत्तू'** शत्रव । **'मित्तत्तणं'** मित्रता ।

गा०—भोग रतिका नियमसे विनाश होता है तथा उसमे विघ्न भी बहुत है । किन्तु अच्छी रीतिसे भावित अध्यात्म रतिका न विनाश होता है और न उसमें कोई विघ्न आते है । इस तरह भोगरति नियमसे नश्वर और बहुत विघ्न वाली है तथा अध्यात्मरति निर्विघ्न और अविनाशी है इसलिए दोनोमे कोई समानता नही है ॥१२६४॥

आचार्य कहते हैं कि इन्द्रिय सुखको शत्रुके समान मानो । ऐसा करनेसे उनमे जो आदर-भाव है वह दूर होगा । तथा अतीन्द्रिय सुख ही वीतरागताका कारण होनेसे संवर रूप है—

गा०-टी०—यदि दुःख देने वाले पुरुष पुरुषके शत्रु होते है तो अति दुःख देने वाले भोग अर्थात् इन्द्रिय सुख शत्रु क्यो नही है ? अवश्य है । भोग दुःखके कारण क्यो है यह विचार करें । स्त्री, वस्त्र, गन्धमाला आदि परद्रव्यके मिलनेसे जो होता है उसे इन्द्रिय सुख कहते है । वह स्त्री आदि धनहीनके लिए अत्यन्त दुर्लभ हैं । अत धनकी प्राप्तिके लिए कृषि आदि कर्म करना चाहिए । उससे महान् आरम्भ होता है । हिंसा आदिमे प्रवृत्ति करनेमें इसी भव तथा परभवमे दुःख देने वाले कर्मका उपार्जन करता है । और वह कर्म उसे ऐसे ससार समुद्रमे डुबाता है जिसका पार पाना अत्यन्त कठिन है । उस संसार समुद्रमें डूबकर यह जीव कौन दुःख नही भोगता ॥१२६५॥

आगे कहते है कि भोग सबसे बड़े शत्रु हैं—

गा०—इस जन्ममे अथवा परजन्ममे शत्रु शत्रुताको छोडकर मित्र बन जाते है । अर्थात्

'**पुणमुवेंति**' पुनढौंकन्ते । शत्रवः शत्रुतामपि जह्युः । कार्यवशात्, उपकारातिशयसम्पादनान्मित्रतां वा यान्ति च । वाचा न स्फुटतरा । इहैव तथा परलोके वा '**सव्वदा दुक्खावहा भोगा**' सर्वदा दुःखावहा भोगाः । ततः शत्रुतमा इति भावनीयं ॥१२६६॥

एगम्मि चेव देहे करेज्ज दुक्खं ण वा करेज्ज अरी ।
भोगा से पुण दुक्खं करंति भवकोडिकोडीसु ॥१२६७॥

'**एगम्मि चेव देहे**' एकस्मिन्नेव देहे । '**करेज्ज दुक्खं ण वा करेज्ज अरी**' कुर्याद्दुःखं न वा शत्रुः । '**भोगा पुण**' भोगा पुनः । '**से**' तस्य । '**दुक्खं करंति**' दुःखं कुर्वन्ति । '**भवकोडिकोडीसु**' अनन्तेषु भवेषु । एवं भोगदोषानवेत्यात्र निदानं त्वया न कार्यं इत्युपदिष्टं सूरिणा ॥१२६७॥

मधुमेव पिच्छदि जहा तडिओलंबो ण पिच्छदि पपादं ।
तह सणिदाणो भोगे पिच्छदि ण हु दीहसंसारं ॥१२६८॥

'**मधुमेव पिच्छदि**' मध्वेव पश्यति यथा तटेऽवलम्बमानः । '**ण पिच्छदि**' न प्रेक्षते । '**पपादं**' प्रपातमात्मनः । '**तह**' तथा '**सणिदाणो**' निदानसहितः । '**भोगे पिच्छदि**' भोगान्प्रेक्षते । '**ण हु पेच्छदि**' नैव प्रेक्षते । '**दीहसंसारं**' दीर्घसंसारं ॥१२६८॥

जालस्स जहा अंते रमंति मच्छा भयं अयाणंता ।
तह संगादिसु जीवा रमंति संसारमगणंता ॥१२६९॥

'**जालस्स**' जालस्य । '**अंते**' मध्ये । '**जहा मच्छा रमंति**' यथा मत्स्या रमन्ते । '**भयमयाणंता**' भयमनवबुध्यमाना । '**तह संगादिसु**' तथा परिग्रहादिषु । '**जीवा रमंति**' जीवा रमन्ते । '**संसारमगणंता**' संसारमगणयन्त ॥१२६९॥

दुक्खेण देवमाणुसभोगे लद्धूण चावि परिवडिदो ।
णियदमदीदि कुजोणीं जीवो सधरं पउत्थो वा ॥१२७०॥

उपकार आदि करनेसे प्रभावित होकर शत्रु मित्र बन जाते हैं वह भी केवल कहनेके लिए नहीं किन्तु खुले दिलसे मित्र बन जाते हैं। किन्तु भोग इस जन्ममें और परजन्ममें सदा ही दुःखदायी होते हैं। इसलिए वे शत्रुसे भी बडे शत्रु हैं ॥१२६६॥

गा०—शत्रु एक ही भवमें दुःख दे या न भी दे। किन्तु भोग तो अनन्त भवोंमें दुःख देते हैं ॥१२६७॥

इस प्रकार भोगोंके दोष जानकर हे क्षपक तुम्हे निदान नहीं करना चाहिए, ऐसा आचार्य उपदेश देते हैं—

गा०—इस प्रकार जैसे कुएँकी दीवारके एक ओर लटका हुआ मनुष्य टपकने वाले मधुकी बूँदोंको ही देखता है किन्तु अपने गिरनेको नहीं देखता। वैसे ही निदान करने वाला भोगोंको तो देखता है किन्तु अपने दीर्घ संसारको नहीं देखता ॥१२६८॥

गा०—जैसे मत्स्य भयको न जानते हुए जालके मध्यमें उछलते-कूदते है, वैसे ही जीव संसारकी चिन्ता न करके परिग्रह आदिमें आनन्द मानते हैं ॥१२६९॥

'दुक्खेण लद्ध ण' क्लेशेन लब्ध्वा । 'देवमाणुसभोगे' दैवान्मानुषाश्च भोगान् । 'परिवडिदो' परिपतितः प्रच्युतस्ततो भोगाज्जीवः । 'कुजोणीं णियदमवीदि' कुत्सितां योनिं नियतमुपैति । किमिव ? 'सघरं' स्वगृहं, 'पउत्थो वा' प्रवासीव ॥११७०॥

जीवस्स कुजोणिगदस्स तस्स दुक्खाणि वेदयंतस्स ।
किं ते करंति भोगा मदोव वेज्जो मरंतस्स ॥१२७१॥

'जीवस्स कुजोणिगदस्स' कुयोनिगतस्य जीवस्य । 'दुक्खाणि वेदयंतस्स' दुःखानि वेदयमानस्य । 'किं ते करेंति भोगा' किं ते कुर्वन्ति भोगाः स्त्रीवस्त्रादयः । नैव किञ्चिदपि दुःखलवमपनेतुं क्षमा । 'मदोव वेज्जो' वैद्यो मृतो यथा । 'मरंतस्स' म्रियमाणस्य न किञ्चित्कर्तुं क्षमः ॥१२७१॥

जह सुत्तबद्धसउणो दूरंपि गदो पुणो व एदि तहिं ।
तह संसारमदीहि हु दूरंपि गदो णिदाणगदो ॥१२७२॥

'जह सुत्तबद्धसउणो' यथा सूत्रेण दीर्घेण बद्धः पक्षी । 'दूरंपि गदो' दूरमपि गतः । 'पुणो एदि तहिं' पुनरप्येति तमेव देशं । 'तह संसारमदीदि खु' संसारशब्दात्परः खु शब्दो द्रष्टव्यः, ततोऽयमर्थः—संसारमेवाधिगच्छतीति । 'दूरं पि गदो' महर्द्धिकं स्वर्गादिस्थानमुपगतः । 'णिदाणगदो' निदानं परभवसुखातिशये मनःप्रणिधानं गतः ॥१२७२॥

कश्चिद्दुष्ट कारागृहे इयता कालेन तव द्रविणं दास्यामि भवदीयमेव तावत्प्रयच्छेति गृहीत्वा द्रव्यं रोधकेभ्यः प्रदाय स्वगृहे सुखं वसन्नपि पुनर्यथा तैरुत्तमर्णैर्धार्यते तथैव निदानकारी स्वकृतेन पुण्येन परिप्राप्तस्वर्गोऽपि पुनरधः पततीति निगदति—

इन्द्रिय सुख नियमसे कुयोनियोंमे भ्रमण करनेका मूल कारण है क्योंकि अत्यधिक राग-द्वेषकी उत्पत्तिमें निमित्त है। उन कुयोनियोमें उत्पन्न होकर नाना प्रकारके दुःखोका अनुभव करने वाले जीवके दुःखोंको, देवगति आदिके भोग वस्त्र अलंकार भोजन आदि दूर करनेमे समर्थ नही हैं, ऐसा आगे कहते हैं—

गा०—जैसे देशान्तरमे गया व्यक्ति सर्वत्र घूमकर अपने घरको ही जाता है वैसे ही बडे कष्टसे प्राप्त देव और मनुष्य सम्बन्धी भोगोंको भोगकर उन भोगोके नष्ट हो जाने पर नियमसे कुयोनिमे जाता है ॥१२७०॥

गा०—जैसे मरा हुआ वैद्य मरते हुएकी रक्षा नही कर सकता। वैसे ही कुयोनिमें जाकर उस दुःख भोगते हुए जीवका स्त्री वस्त्र आदि भोग क्या कर सकते है ? वे उसका किञ्चित् भी दुःख दूर नहीं कर सकते ॥१२७१॥

गा०—जैसे लम्बे धागेसे बंधा पक्षी सुदूर जाकर भी पुनः वही लौट आता है। वैसे ही परभव सम्बन्धी विषय सुखमें मन लगाने वाला निदानी महान् वृद्धिसे सम्पन्न स्वर्गादि स्थानोंमे जाकर भी संसारमें ही लौट आता है ॥१२७२॥

जैसे कोई जेलखानेमें पड़ा व्यक्ति, मै इतना समय बीतने पर तुम्हारा धन तुम्हें लौटा दूंगा तुम मुझे धन दो, ऐसा वादा करके धन लेता है और वह धन जेलके रक्षकोको देकर अपने घरमें सुखपूर्वक निवास करता है किन्तु उसे पुनः कर्ज देने वाले पकड़ लेते हैं उसी प्रकार निदान करने

दाऊण जहा अत्थं रोधणमुक्को सुहं घरे वसइ ।
पत्ते समए य पुणो रुंभइ तह चेव धारणिओ ॥१२७३॥

'**दाऊण**' दत्वा । '**अत्थं**' अर्थं । '**जह**' यथा । '**रोधणमुक्को**' रोधेन मुक्तः । '**सुहं घरे वसदि खु**' सुखेन गृहे वसति । '**पत्ते समये य**' प्राप्ते चावधिकाले । '**पुणो रुंभइ**' पश्चाच्च रुंध्यते । '**तधा चेव**' पूर्ववदेव । '**धारणीओ**' अधमर्णः ॥१२७३॥

दार्ष्टान्तिके योजयति—

तह सामण्णं किच्चा किलेसमुक्कं सुहं वसइ सग्गे ।
संसारमेव गच्छइ तत्तो य चुदो णिदाणकदो ॥१२७४॥

संभूदो वि णिदाणेण देवसुक्खं च चक्कहरसुक्खं ।
पत्तो तत्तो य चुदो उववण्णो [1]तिरियवासम्मि ॥१२७५॥

'**संभूदो वि णिदाणेण**' निदानेन संभूत कश्चित् । '**देवसुक्ख**'' देवसुख । '**चक्कधरसोक्ख**'' चक्रधर-सौख्य । '**पत्तो**' प्राप्त । '**तत्तो य चुदो**' तस्मात्सुखात्प्रच्युतः उत्पन्न । '**उववण्णो**' उपपन्न । '[2]**तिरियवासम्मि**' [3]तिर्यगावास ॥१२७४॥

णच्चा दुरंतमद्धुयमत्ताणमतप्पयं अविस्सायं ।
भोगसुहं तो तम्हा विरदो मोक्खे मदिं कुज्जा ॥१२७६॥

'**णच्चा**' ज्ञात्वा । '**दुरंतं**' दुरवसानदुःखफलमिति यावत् । '**अद्धुवं**' अनित्य । '**अत्ताणं**' अत्राणं । '**अतप्पगं**' अतर्पकं । '**अविस्सायं**' असकृद्वृत्तं । '**भोगसुखं**' भोज्यन्ते, सेव्यन्ते इति भोगाः स्त्र्यादय, तैर्जनितं सुख । '**तो**' पश्चात् । '**तम्हा**' तस्मात् । भोगसुखात्, दुरन्तादिदुष्टदोषात् । '**विरदो**' व्यावृत्त । '**मोक्खे**' मोक्षे

वाला अपने द्वारा किये गये पुण्यसे स्वर्ग प्राप्त करके भी पुनः गिरता है, यह कहते हैं—

गा०—जैसे धन देकर कारागारसे मुक्त हुआ कर्जदार सुखपूर्वक घरमे रहता है। किन्तु कर्ज चुकानेका समय आने पर पुन पकड़कर बन्द कर दिया जाता है ॥१२७३॥

गा०—वैसे ही मुनिपद धारण करके निदान करने वाला स्वर्गमे क्लेश रहित सुखपूर्वक रहता है और वहाँसे च्युत होकर संसारमें ही भ्रमण करता है ॥१२७४॥

गा०—संभूत नामक व्यक्ति निदानके द्वारा देवगतिके सुख और चक्रवर्तीके सुखको प्राप्त हुआ अर्थात् मरकर सौधर्म स्वर्गमे उत्पन्न हुआ और वहाँसे मरकर ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती हुआ। उसके पश्चात् मरकर तिर्यञ्चगति (नरक गति) में उत्पन्न हुआ ॥१२७५॥

गा०—जो भोगे जाते हैं उन स्त्री आदिको भोग कहते हैं। उनसे होने वाला सुख ऐसा दुःख देता है जिसका अन्त होना दुष्कर है, तथा वह भोग जन्य सुख अनित्य है, अरक्षक है, उससे तृप्ति नही होती, अनादि संसारमे उसे जीवने अनेक बार भोगा है। अतः उससे मनको हटाकर समस्त कर्मोंके अपायरूप मोक्षमें मन लगाना चाहिए। अर्थात् चारित्र और तपका पालन करनेसे

१-२-३. णिरय-मु० ।

निरवशेषकर्मापाये । '**मति कुज्जा**' मति कुर्यात्, अनुष्ठीयमानेन चारित्रेण तपसा वा कर्मक्षयोऽस्तीति मति कुर्यात्, न निदान कुर्यादित्यर्थः ।।१२७६।।

निदानदोषं विस्तरत उपदर्श्य अनिदानत्वे गुण व्याचष्टे—

अणिदाणो य मुणिवरो दंसणणाणचरणं विसोधेदि ।
तो सुद्धणाणचरणो तवसा कम्मक्खयं कुणइ ।।१२७७।।

'**अणिदाणो य मुणिवरो**' अनिदानो यतिवृषभः, '**दंसणणाणचरणं**' रत्नत्रय, **विसोधेदि**' विशोधयति, निदानाभावादनतिचार सम्यग्दर्शन शुद्धं भवति, तस्मिन्निर्मले निर्मल ज्ञान, निर्मल विशुद्धज्ञानपुरोगं चारित्र विशुद्ध भवति, '**तवसा कम्मक्खयं कुणदि**' तपसा कर्माणि निरवशेषाणि वियोजयत्यात्मन ।।१२७७।।

इच्चेवमेदमविचिंतयदो होज्ज हु णिदाणकरणमदी ।
इच्चेवं पस्संतो ण हु होदि णिदाणकरणमदी ।।१२७८।।

'**इच्चेवमेदमविचिंतयदो**' इत्येवमेतद्वस्तुजातं अविचिन्तयत । '**होज्ज हु**' भवेदेव, **णिदाणकरणमदी**' निदानकरणे बुद्धि', '**इच्चेवं पस्संतो**' इत्येवमेतत्पश्यन्, '**न खु होदि**' नैव भवति '**णिदाणकरणमदी**' निदानकरणमतिः । **णिदाण** ।।१२७८।।

मायासल्लस्सालोयणाधियारम्मि वण्णिदा दोसा ।
मिच्छत्तसल्लदोसा य पुव्वमुववण्णिया सव्वे ।।१२७९।।

'**मायासल्लस्स**' मायाशल्यस्य, '**आलोयणाधिकारम्मि**' आलोचनाधिकारे '**वण्णिदा दोसा**' वर्णिता दोषा , '**मिच्छत्तसल्लदोसा**' मिथ्यात्वशल्यदोषाश्च । '**सव्वे**' सर्वे, '**पुव्वमुववण्णिया**' पूर्वमेव व्यावर्णिता , शल्यत्रयगतदोषा भवतो व्यावर्णिता इत्यनेन सूरिरेतत्कथयति आबुद्धदोषेण शल्यत्रय त्वया त्याज्यमिति ।।१२७९।।

मायाशल्यापरित्यागात्प्राप्तदोषमर्थाख्यानेन दर्शयति—

कर्मक्षय होता है ऐसी मति करना चाहिए । निदान नही करना चाहिए ।।१२७६।।

विस्तारसे निदानके दोष बतलाकर निदान न करनेमें गुण कहते है—

गा०—निदान न करने वाले मुनिवर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रयको विशुद्ध करते है । अर्थात् निदान न करनेसे निरतिचार सम्यग्दर्शन शुद्ध होता है। सम्यग्दर्शनके निर्मल होने पर ज्ञान निर्मल होता है । और निर्मल विशुद्ध ज्ञान पूर्वक चारित्र विशुद्ध होता है। तब विशुद्ध ज्ञान चारित्रसे सम्पन्न मुनि तपके द्वारा सब कर्मोका क्षय करता है ।।१२७७।।

गा०—उक्त प्रकारसे जो वस्तुस्वरूपका विचार नही करता उसकी मति निदान करनेमे लगती है । और जो उसका विचार करता है उसकी मति निदान करनेमे नहीं लगती ।।१२७८।।

गा०—आलोचना अधिकारमें मायाशल्यके दोष कह आये हैं । और मिथ्यात्व शल्यके दोष पूर्वमे ही कहे हैं । इस प्रकार हे क्षपक ! तीनो शल्योंके दोष आपसे हमने कहे हैं । अब इन दोषोंको जानकर तुम्हे तीनो शल्योका त्याग करना चाहिए । इससे आचार्य क्षपकके प्रति ऐसा कहते हैं ।।१२७९।।

मायाशल्यका त्याग न करनेसे प्राप्त हुए दोषको दृष्टान्त द्वारा कहते है—

पब्भट्ठबोधिलाभा मायासल्लेण आसि पूदिमुही ।
दासी सागरदत्तस्स पुप्फदंता हु विरदा वि ॥१२८०॥

'**पब्भट्ठबोधिलाभा**' प्रभ्रष्टो विनष्टो दीक्षाभिमुखबुद्धिलाभो यस्याः सा प्रभ्रष्टबोधिलाभा । '**आसी**' आसीत् । का ? '**पूदीमुही**' पूतिमुखीसंज्ञिता । '**सागरदत्तस्स दासी**' सागरदत्तवैश्यस्य दासी । केन ? '**माया-सल्लेण**' मायाशल्येन । '**पुप्फदंता हु विरदा वि मायासल्लेण पब्भट्ठबोधिलाभा आसी**' इति पदसम्बन्धः पुष्प-दन्ताख्या संयता च मायया प्रभ्रष्टबोधिलाभा आसीत् । मायाशल्यं ॥१२८०॥

मिच्छत्तसल्लदोसा पियधम्मो साधुवच्छलो संतो ।
बहुदुक्खे संसारे सुचिरं पडिहिंडिओ मरीची ॥१२८१॥

'**मिच्छत्तसल्लदोसा**' मिथ्यात्वशल्यदोषात् । '**पियधम्मो**' प्रियधर्म. । '**साधुवच्छलो संतो**' साधूनां वत्सलोऽपि सन् मरीचि । '**संसारे सुचिरं पडिहिंडिओ**' ससारे सुचिरं भ्रान्त , कीदृशे ? '**बहुदुक्खे**' बहुदु:खे । मिथ्याशल्य ॥१२८१॥

एवं निर्यापकेण सूरिणा सस्तूयमान साधुवर्गो निर्वाणपुर प्रविशतीति दर्शयति उत्तरप्रबन्धेन—

इय पव्वज्जाभंडिं समिदिबइल्लं तिगुत्तिदिढचक्कं ।
रादियभोयणउद्धं सम्मत्तक्खं सणाणधुरं ॥१२८२॥

[1]'**इय सारमिच्छंतो साधुवग्गसत्थो साधुवणियगो संसारमहाडविं तरदित्ति**' पदघटना । व्यावर्णितक्रमेण सस्क्रियमाण साधुवृन्दसार्थ ससारमहाटवी तरति । '**पव्वज्जाभंडिमारुहिय पच्छिदो**' प्रव्रज्याभण्डिमारुह्य प्रस्थित', '**समिदिबइल्लं**' समितिबलीवर्दां, '**तिगुत्तिदिढचक्कं**' त्रिगुप्तिदृढचक्रा, '**सम्मत्तक्खं**' सम्यक्त्वाक्षां, '**सणाणधुरं**' समीचीनज्ञानधूर्वती ॥१२८२॥

गा०—पुष्पदन्ता नामकी आर्यिका आर्यिका होनेपर भी मायाशल्यके कारण दीक्षाके अभिमुख होनेकी बुद्धिके लाभसे भ्रष्ट होकर सागरदत्त वैश्यके घरमें पूतिमुखी नामकी दासी हुई ॥१२८०॥

विशेषार्थ—इसकी कथा बृहत्कथाकोशमे ११० नम्बरपर कही है ॥१२८०॥

मायाशल्यका वर्णन हुआ ।

गा०—धर्मप्रेमी और साधुओके प्रति वात्सल्यभाव रखनेवाला मरीचिकुमार मिथ्यात्व-शल्य दोषके कारण बहु दु.खपूर्ण ससारमे भ्रमता हुआ ॥१२८१॥

विशेषार्थ—यह मरीचिकुमार भरतका पुत्र था जो महावीर तीर्थंकर हुआ । भगवान् आदिनाथके मुखसे अपना तीर्थंकर होना सुनकर यह भ्रष्ट हो गया था ॥१२८१॥

आगे कहते है कि इस प्रकार निर्यापकाचार्यके द्वारा संस्तुत साधुवर्गके साथ क्षपक मोक्ष-नगरमे प्रवेश करते हैं—

गा०—इस प्रकार क्षपकसाधुरूपी व्यापारी दीक्षारूपी गाडीपर साधुओंके संघके साथ चढ़कर निर्वाणरूपी भाँडके लिए सिद्धिपुरीकी ओर प्रस्थान करता है । उस दीक्षारूपी गाडीमें

---

१. 'इयसारमिच्छंतो साधुवृन्दसार्थः संसारमहाटवीं तरति'—आ० ।

वदभंडभरिदमारूहिदसाधुसत्थेण पत्थिदो समयं ।
णिव्वाणभंडहेदुं सिद्धपुरीं साधुवाणियओ ॥१२८३॥

'**वदभंडभरिदं**' व्रतभाण्डपूर्णं । '**साधुसत्थेण पत्थिदो समगं**' साधुसार्थेन सह प्रस्थित. । किं प्रति ? सिद्धिपुरं । '**णिव्वाणभंडहेदु**' निर्वाणद्रव्यनिमित्तं । '**साधुवाणियगो**' क्षपकसाधुवणिक् ॥१२८३॥

आयरियसत्थवाहेण णिच्चजुत्तेण सारविज्जंतो ।
सो साहुवग्गसत्थो संसारमहाडविं तरइ ॥१२८४॥

'**आयरियसत्थवाहेण**' आचार्यसार्थवाहेन । '**णिच्चजुत्तेण**' सर्वदानपायिना । '**सारविज्जंतो**' [१]सस्तूयमाण: ॥१२८४॥

तो भावणादियंतं रक्खदि तं साधुसत्थमाउत्तं ।
इंदियचोरेहिंतो कसायबहुसावदेहिं च ॥१२८५॥

'**तो**' तत । '**भावणादियंतं रक्खदि**' भावनादिभि प्रयत्नं रक्षति । '**तं साधुसत्थं**' त साधुसार्थं । '**आउत्त**' आयुक्तं आत्मना । कुतो रक्षति इत्याशङ्कायां उत्तर—'**इंदियचोरेहितो**' इन्द्रियचौरेभ्य । '**कसायबहुसावदेहि वा**' कषायबहुश्वापदेभ्यश्च ॥१२८५॥

विसयाडवीए मज्झे ओहीणो जो पमाददोसेण ।
इंदियचोरा तो से चरित्तभंडं विलुंपंति ॥१२८६॥

'**विसयाडवीए मज्झे**' स्पर्शरसरूपगन्धशब्दादिविषया अटवीव ते दुरतिक्रामणीया । तस्या विषयाटव्या मध्ये । '**जो ओहीणो**' य साधुरपसृत. । '**पमाददोसेण**' प्रमादाख्येन दोषेण । '**इंदियचोरा**' इन्द्रियाख्याश्चोरा । '**से**' तस्यापसृतस्य साधुवणिज । '**चरित्तभंडं**' चरित्रभाण्ड । '**विलुंपंति**' अपहरन्ति । सन्निहितमनोज्ञामनोज्ञविषयजा इन्द्रियमत्यनुयायिनो रागद्वेषाश्चारित्रं विनाशयन्ति प्रमादिन । आचार्यस्तु ध्याने स्वाध्याये प्रवर्तयन् प्रमादमपसारयतीति नेन्द्रियचौरैर्बध्यते इति भाव ॥१२८६॥

समितिरूपी बैल जुडे है, तीन गुप्तिरूपी उसके मजबूत चक्के हैं। रात्रि भोजनसे निवृत्तिरूप दो दीर्घ दण्डे है। सम्यक्त्वरूपी अक्ष है समीचीनज्ञानरूपी धुरा है ॥१२८२-८३॥

गा०—आचार्य उस सघके नायक है जो निरन्तर सावधान है। उनके द्वारा बार-बार सन्मार्गमें लगाया गया वह आराधक साधु समुदाय ससाररूपी महावनको पार करता है ॥१२८४॥

गा०—वह सघपति आचार्य अपने द्वारा भावना आदिमे नियुक्त उस साधु समुदायकी इन्द्रियरूपी चोरोसे और कषायरूपी अनेक जगली हिंसक जानवरोंसे रक्षा करता है ॥१२८५॥

गा०-टी०—स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, शब्द आदि विषय अटवीके समान बड़े कष्टसे लांघे जाते हैं इसलिए उन्हे अटवी (घोर वन) की उपमा दी है। उस विषयरूपी अटवीके मध्यमे जो साधु प्रमाद दोषसे जाता है उसके चारित्ररूपी धनको इन्द्रियरूपी चोर चुरा लेते हैं। अर्थात् प्राप्त इष्ट अनिष्ट विषयोको लेकर इन्द्रिय बुद्धिके अनुसार उत्पन्न हुए रागद्वेष उस प्रमादी मुनिके चारित्रको नष्ट कर देते है। किन्तु आचार्य ध्यान और स्वाध्यायमे लगाकर प्रमादोंको दूर करता

---

१. संस्क्रियमाण—मु०, मूलारा० ।

अहवा तम्लिच्छाइं कूराइं कसायसावदाइं तं ।
खज्जंति असंजमदाढाहिं संकिलेसादिदंसेहिं ॥१२८७॥

'अहवा' अथवा । 'तल्लिच्छाइं' अपसृतजनलिप्सावन्त. । 'कूराइं' क्रूरा: । 'कसायसावदाइं' कषाय-व्यालमृगा. । त अपसृतं । 'खज्जंति' भक्षयेयु. । 'असंजमदाढाहिं' असंयमदंष्ट्राभि. । 'संकिलेसादिदंसेहिं' सक्लेशादिदंशैश्च । इन्द्रियाणा कषायाणां वा वशे निपतत्यसति निर्यापके सूराविति भाव ॥१२८७॥

तयोरिन्द्रियकषाययो प्रवृत्तिरनेकदोषमूलेति कथयति—

ओसण्णसेवणाओ पडिसेवंतो असंजदो होइ ।
सिद्धिपहपच्छिदाओ ओहीणो साधुसत्थादो ॥१२८८॥

इंदियकसायगुरुगत्तणेण सुहसीलभाविदो समणो ।
करणालसो भवित्ता सेवदि ओसण्णसेवाओ ॥१२८९॥

'इंदियकसायगुरुगत्तणेण' तीव्रेन्द्रियकषायपरिणामतया । 'सुहसीलभाविदो समणो' सुखसमाधिभावित: श्रमण । 'करणालसो' त्रयोदशविधासु क्रियासु अलस । 'भवित्ता' भूत्वा । 'सेवदि' सेवते । 'ओसण्णसेवाओ' अवसन्नसेवा भ्रष्टचारित्राणां क्रियासु प्रवर्तते इति यावत् । ओसण्णो ॥१२८९॥

केई गहिदा इंदियचोरेहिं कसायसावदेहिं वा ।
पंथं छंडिय णिज्जंति साधुसत्थस्स पासम्मि ॥१२९०॥

'केई गहिदा इंदियचोरेहिं' केचिद्गृहीता इन्द्रियचौरै: । 'कसायसावदेहिं तहा' तथा कषायश्वापदैश्च गृहीता. । 'साधुसत्थस्स पंथं छंडिय' साधुसार्थस्य पन्थानं त्यक्त्वा । 'पासम्मि णिज्जंति' पार्श्वे यान्ति ॥१२९०॥

है इसलिए इन्द्रिय चोर नही सताते, यह उक्त कथनका भाव है ॥१२८६॥

गा०—अथवा उस विषयरूपी अटवीमे फँसे हुए लोगोको खानेके इच्छुक क्रूर कषायरूपी सिंहादि उस आगत साधुको असयमरूपी दाढोंसे और रागद्वेष मोहरूपी दाँतोंसे खा जाते हैं। कहनेका भाव यह है कि निर्यापकाचार्यके अभावमें क्षपक इन्द्रियो और कषायोके फन्देमे फँस जाता है ॥१२८७॥

आगे कहते हैं कि इन्द्रिय और कषायकी प्रवृत्ति अनेक दोषोका मूल है—

गा०—जो साधु चारित्र भ्रष्ट साधुओंकी क्रिया करता है वह असयमी होकर साधुओंके संघसे बाहर हो जाता है और मोक्षमार्गसे दूर हो जाता है ॥१२८८॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूप तीव्र परिणाम होनेसे सुखपूर्वक समाधिमें लगा साधु तेरह प्रकारकी क्रियाओंमें आलसी होकर चारित्र भ्रष्ट साधुओंकी क्रिया करने लगता है ऐसा साधु अवसन्न कहलाता है ॥१२८९॥

गा०—कोई साधु इन्द्रियरूपी चोरों और कषायरूपी हिंसक जीवोंके द्वारा पकड़े जाकर साधु संघके मार्गको छोडकर साधुओंके पार्श्ववर्ती हो जाते है। साधु संघके पार्श्ववर्ती होनेसे इन्हे पासत्थ या पार्श्वस्थ कहते हैं ॥१२९०॥

तो साधुसत्थपंथं छंडिय पासम्मि णिज्जमाणा ते ।
गारवगहिणकुडिल्ले पडिदा पावेंति दुक्खाणि ॥१२९१॥

'**तो साधुसत्थपंथं**' साधुसार्थस्य पन्थानं । '**छंडिय**' त्यक्त्वा । '**पासम्मि**' पार्श्वे । '**णिज्जमाणा ते**' नीयमानास्ते । '**गारव गहिण कुडिल्ले**' चिरऋद्धिरससातगौरवसञ्छन्ने गहने । '**पडिदा**' पतिता । '**पावेंति**' प्राप्नुवन्ति । '**दुक्खाणि**' दु खानि ॥१२९१॥

सल्लविसकंटएहिं विद्धा पडिदा पडंति दुक्खेसु ।
विसकंटयविद्धा वा पडिदा अडवीए एगागी ॥१२९२॥

'**सल्लविसकंटएहिं विद्धा**' मिथ्यात्वमायानिदानशल्यकण्टकैर्वा विद्धा. '**पडिदा**' पतिता । '**दुक्खेसु पडंति**' दु:खेषु पतन्ति । '**विसकंटयविद्धा अडवीए एगागी पडिदा इव**' विषकण्टकेन विद्धा अटव्यामेकाकिन पतिता यथा दु.खेषु पतन्ति तथैवेति दार्ष्टान्तिके योजना ॥१२९२॥

पंथं छंडिय सो जादि साधुसत्थस्स चेव [1]पासाओ ।
जो पडिसेवदि पासत्थसेवणाओ हु णिद्धम्मो ॥१२९३॥

साधुसार्थस्य पन्थानं त्यक्त्वा कस्य पार्श्वे याति यस्यामी दोषा व्यावर्णिता'—गौरवगहने पात शल्य-विषकण्टकवेधादयस्येत्याशङ्कायां वदति । '**पंथं छंडिय साधुसत्थस्स सो जादि**' परित्यज्य साधुसार्थस्य पन्थान-मसौ याति । '**पासम्मि**' पार्श्वे । '**जो पडिसेवदि**' य. प्रतिसेवते, '**पासत्थसेवणाओ हु**' पार्श्वस्थसेवना., '**णिद्धम्मो**' धर्मश्चारित्रं तस्मादपगत:, धर्मादपगतः सन्पार्श्वस्थाचरणीयासु क्रियासु प्रवर्तते ॥१२९३॥

सैवं कथं निर्धर्मता तस्येत्याशङ्क्य वदन्ति—

इंदियकसायगरुयत्तणेण चरणं तणं व पस्संतो ।
णिद्धम्मो हु सवित्ता सेवदि पासत्थसेवाओ ॥१२९४॥

'**इंदियकसायगुरुगत्तणेण**' इन्द्रियकषायविषयैर्गौरवाच्च रागद्वेषपरिणामयो क्रोधादिपरिणामाना च

गा०—साधु समूहके मार्गको छोडकर पार्श्वस्थ मुनिपनेको प्राप्त हुए वे ऋद्धिगौरव, रस-गौरव और सातगौरवसे भरे गहन वनमें पड़कर तीव्र दु:ख पाते है ॥१२९१॥

गा०—अथवा जैसे विषैले काँटोंसे बिंधे हुए मनुष्य अटवीमें अकेले पड़े हुए दु ख पाते है, वैसे ही मिथ्यात्व माया और निदानशल्यरूपी काँटोसे बीधे हुए वे पार्श्वस्थ मुनि दु:ख पाते हैं ॥१२९२॥

गा०—वह पार्श्वस्थ मुनि साधु संघका मार्ग त्यागकर ऐसे मुनिके पास जाता है जो चारित्रसे भ्रष्ट होकर पार्श्वस्थ मुनियोंका आचरण करता है ॥१२९३॥

वह मुनि चारित्र भ्रष्ट क्यों है ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०-टी०—इन्द्रिय, कषाय और विषयोके कारण रागद्वेषरूप परिणामों और क्रोधादि

---

१. पासम्मि–ज० ।

तीव्रत्वात् । 'चरणं' चारित्रं, 'तणं व' तृणमिव, 'पस्संतो' पश्यन् रागादयोऽप्यशुभपरिणामास्तत्त्वज्ञानस्य प्रतिबन्धकास्तेन सकलुषं ज्ञानचारित्रं निस्सारमिव पश्यति, तत एव तत्राकृतादरः चारित्रादपैतीति निर्द्धर्मतास्य । ततः पार्श्वस्थसेवासु प्रयतते । 'पासत्थो' ॥१२९४॥

इंदियचोरपरद्धा कसायसावदभएण वा केई ।
उम्मग्गेण पलायंति साधुसत्थस्स दूरेण ॥१२९५॥

'इंदियचोरपरद्धा' इन्द्रियचोरकृतोपद्रवा । 'कसायसावदभएण वा केई' कषायव्यालमृगभयेन वा केचित् । 'उम्मग्गेण' उन्मार्गेण 'पलायंति' पलायनं कुर्वन्ति । 'साधुसत्थस्स दूरेण' साधुसार्थस्य दूरात् ॥१२९५॥

तो ते कुसीलपडिसेवणावणे उप्पधेण धावंता ।
सण्णाणदीसु पडिदा किलेससोदेण वुढ्ढंति ॥१२९६॥

'तो' ततः साधुसार्थाद्दूरादपसृताः, 'कुसीलपडिसेवणावणे' कुशीलप्रतिसेवनावने, 'उप्पधेण' उन्मार्गेण । 'धावंता' धावन्तः । 'सण्णाणदीसु' संज्ञानदीषु । 'पडिदा' पतिताः । 'किलेससोदेण' क्लेशस्रोतसा । 'वुढ्ढंति' ते बुडन्ति ॥१२९६॥

सण्णाणदीसु ऊढा वुढ्ढा थाहं कहंपि अलहंता ।
तो ते संसारोदधिमदंति बहुदुक्खभीसम्मि ॥१२९७॥

'सण्णाणदीसु ऊढा' संज्ञानदीभिराकृष्टा संतो निर्मग्नाः 'थाहं' अवस्थानं 'कहिंपि' क्वचिदपि 'अलहंता' अलभमाना । 'तो' पश्चात् । 'संसारोदधिमदंति' संसारसागरं प्रविशन्ति । 'बहुदुक्खभीसम्मि' बहुदुःखभीष्मं ॥१२९७॥

आसागिरिदुग्गाणि य अदिगम्म तिदंडकक्खडसिलासु ।
ऊलोडिदपब्भट्ठा खुप्पंति अणंतयं कालं ॥१२९८॥

परिणामोंके तीव्र होनेसे वह चारित्रको तृणके समान मानता है। क्योंकि रागादिरूप अशुभ परिणाम तत्त्वज्ञानके प्रतिबन्धक होते हैं। अतः उसका ज्ञान दूषित होनेसे वह चारित्रको सारहीन मानता है। इसीसे वह उसमें आदरभाव न रखनेके कारण चारित्रसे च्युत होता है। इसीसे उसे चारित्र भ्रष्ट कहा है। चारित्र भ्रष्ट होकर वह पार्श्वस्थ मुनियोंकी सेवामें लग जाता है। यह पार्श्वस्थ मुनिका कथन है ॥१२९४॥

गा०—अथवा कोई मुनि इन्द्रियरूपी चोरोंसे पीड़ित होकर कषायरूप हिंसक प्राणियोंके भयसे साधु संघसे दूर होकर उन्मार्गमें चले जाते हैं ॥१२९५॥

गा०—साधु संघसे दूर होकर वे मुनि कुशील प्रतिसेवनारूप वनमें उन्मार्गसे दौड़ते हुए आहार भय मैथुन परिग्रहरूप संज्ञानदीमें गिरकर कष्टरूपी प्रवाहमें पड़कर डूब जाते हैं ॥१२९६॥

गा०—संज्ञारूप नदीमें डूबनेपर उन्हें कहीं भी ठहरनेका स्थान नहीं मिलता अतः वे बहुत दुःखोंसे भयानक संसार समुद्रमें प्रवेश करते हैं ॥१२९७॥

गा०—संसार समुद्रमें प्रवेश करनेपर आशारूपी पहाड़ोंको लांघते हुए मन-वचन-कायकी

'आसागिरिदुग्गाणि य' आशागिरिदुर्गाश्च । 'अविगम्म' अतिक्रम्य । 'तिव्वंडकक्कडसिलासु' त्रिदण्डक-कर्कशशिलासु । 'उल्लोडिय' 'पब्भट्ठा' अवलुण्ठिताः सन्तः प्रभ्रष्टाः 'भवेंति' भ्रमयन्ति । 'अणंतयं कालं' अनंतं कालं ॥१२९८॥

बहुपावकम्मकरणाडवीसु महदीसु विप्पणट्ठा वा ।
अदिट्ठणिव्वुदिपधा भमंति सुचिरंपि तत्थेव ॥१२९९॥

'बहुपावकम्मकरणाडवीसु' बहुविधान्यशुभकर्माण्येवाटव्यः तासु 'महवीसु' दीर्घासु । 'विप्पणट्ठा' विप्रनष्टा. । 'अदिट्ठणिव्वुदिपधा' अदृष्टनिर्वृत्तिमार्गाः । 'भमंति' भ्रमन्ति । 'सुचिरंपि' सुचिरमपि । 'तत्थेव' तत्रैव ॥१२९९॥

दूरेण साधुसत्थं छंडिय सो उप्पधेण खु पलादि ।
सेवदि कुसीलपडिसेवणाओ जो सुत्तदिट्ठाओ ॥१३००॥

'दूरेण साधुसत्थं' दूरात्साधुसार्थं । 'छंडिय' त्यक्त्वा । 'सो' सः । 'उप्पधेण खु' उन्मार्गेण । 'पलादि' पलायते । 'सेवदि कुसीलपडिसेवणाओ' सेवते कुशीलप्रतिसेवना । 'जो' य । 'सुत्तणिदिट्ठाओ' सूत्र-निर्दिष्टा ॥१३००॥

इंदियकसायगुरुगत्तणेण चरणं तणं व पस्संतो ।
णिद्दंधसो भवित्ता सेवदि हु कुसीलसेवाओ ॥१३०१॥

'इंदियकसायगुरुगत्तणेण' इन्द्रियकषायपरिणामाना गुरुत्वेन । 'चरणं तणं व पस्संतो' चरणं तृणमिव पश्यन् । 'णिद्दंधसो भवित्ता' अह्रीको भूत्वा । 'सेवदि' सेवते कुशीलसेवा. ॥ कुसीला ॥१३०१॥

सिद्धिपुरमुवल्लीणा वि केइ इंदियकसायचोरेहिं ।
पविलुत्तचरणभंडा उवहदमाणा णिवट्टंति ॥१३०२॥

दुष्प्रवृत्तिरूप शिलाओंपर लुढकते हुए गिरकर अनन्तकाल बिताते है ॥१२९८॥

विशेषार्थ—पहले वे उत्तरगुण छोड़ते है फिर मूलगुण और सम्यक्त्वसे भी भ्रष्ट होकर संसारमें भ्रमण करते हैं ॥१२९८॥

गा०—अनेक प्रकारके अशुभकर्मरूप सुदीर्घ अटवीमें भटकते हुए वे निर्वाणका मार्ग कभी देखा न होनेसे चिरकालतक वही भ्रमण करते रहते है ॥१२९९॥

गा०—वे दूरसे ही साधुसंघको त्यागकर कुमार्गमें दौडते है। और आगममें कहे कुशील मुनिके दोषोंको करते हैं ॥१३००॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूप परिणामोंकी तीव्रताके कारण चारित्रको तृणके समान मानते हैं और निर्लज्ज होकर कुशीलका सेवन करते हैं ॥१३०१॥

इस प्रकार कुशील मुनिका कथन हुआ।

गा०—कोई-कोई मुक्तिपुरीके निकट तक जाकर भी इन्द्रिय और कषायरूपी चोरोंके द्वारा चारित्ररूपी धन चुराये जानेपर संयमका अभिमान त्यागकर उससे लौट आते हैं ॥१३०२॥

'सिद्धिपुरमुवल्लीणा वि' सिद्धिपुरमुपलीना अपि। 'केई' केचित्। 'इंदियकसायचोरेहिं' इन्द्रियकषाय-चोरैः। 'पविलुत्तचरणभंडा' अपहृतचारित्रभाण्डाः। 'उवहदमाणा' उपहृताभिमाना। 'णिवट्टंति' निर्वर्तन्ते ॥१३०२॥

तो ते सीलदरिद्दा दुक्खमणंतं सदा वि पावंति।
बहुपरियणो दरिद्दो पावदि तिव्वं जधा दुक्खं ॥१३०३॥

'तो' पश्चात्। 'ते सीलदरिद्दा' ते शीलदरिद्राः। 'दुक्खं' दुःखं। 'अणंतं' अन्तातीतं। 'सदा वि पावंति' सदा प्राप्नुवन्ति। 'बहुपरियणो' बहुपरिजनो। 'दरिद्दो' दरिद्रः। 'पावदि दुक्खं तिव्वं' प्राप्नोति दुःखं तीव्रं यथा ॥१३०३॥

सो होदि साधुसत्थादु णिग्गदो जो भवे जधाछंदो।
उस्सुत्तमणुवदिट्ठं च जधिच्छाए विकप्पंतो ॥१३०४॥

'सो होदि' स भवति। 'साधुसत्थादु णिग्गदो' साधुसार्थान्निवृत्तः। 'जो हुवे जधाछंदो' यो भवति स्वेच्छावृत्तिः। 'उस्सुत्तं' उत्सूत्रं। 'अणुवदिट्ठं' अनुपदिष्टं च स्थविरैः। 'जधिच्छाए विकप्पंतो' यथेच्छया विकल्पयन् ॥१३०४॥

जो होदि जधाछंदो तस्स घणिदंपि संजमिंतस्स।
णत्थि दु चरणं चरणं खु होदि सम्मत्तसहचारी ॥१३०५॥

'जो होदि जधाछंदो' यो भवति स्वेच्छावृत्तिः। 'तस्स घणिदंपि संजमिंतस्स' तस्य नितरामपि संयमे प्रवर्तमानस्य। 'णत्थि दु' नास्त्येव। 'चरणं' चारित्रं। 'चरणं खु होदि सम्मत्तसहचारी' सम्यक्त्वसहचार्येव यतेश्चारित्रं। स्वच्छन्दवृत्तेस्तु यत्किंचित्परिकल्पयतः सूत्रमननुसरतः नैव सम्यग्दर्शनमस्ति। तदन्तरेण सम्यक्चारित्रं नैव भवति ॥१३०५॥

इंदियकसायगुरुगत्तणेण सुत्तं पमाणमकरंतो।
परिमाणेदि जिणुत्ते अत्थे सच्छंददो चेव ॥१३०६॥

गा०—पश्चात् वे शीलसे दरिद्र मुनि सदा अनन्त दुःख पाते हैं। जैसे बहुत परिवारवाला दरिद्र मनुष्य तीव्र दुःख पाता है ॥१३०३॥

अब यथाच्छन्द मुनिका स्वरूप कहते हैं—

गा०—साधुसंघसे निकलकर जो पूर्वाचार्योंके द्वारा नहीं कहे आगम विरुद्ध मार्गकी अपनी इच्छानुसार कल्पना करता है वह यथाच्छन्द मुनि होता है ॥१३०४॥

गा०-टी०—जो स्वच्छन्दचारी मुनि होता है वह संयममें अत्यन्त प्रवृत्ति भी करे तो भी उसका चारित्र चारित्र नहीं है क्योंकि सम्यक्त्वके साथ जो चारित्र होता है वही चारित्र होता है। जो स्वच्छन्दचारी होता है वह तो जो उसकी इच्छा होती है तदनुसार आचरण करता है। आगमका अनुसरण नहीं करता, अतः उसके सम्यग्दर्शन नहीं है। और सम्यग्दर्शनके विना सम्यक्चारित्र नहीं होता ॥१३०५॥

'इंदियकसायगुरुगत्तणेण' कषायाक्षगुरुकृतत्वेन सूत्रमप्रमाणयन् । **'परिभाणेदि'** अन्यथा गृह्णाति । **'विपुलं अत्थं'** जिनोक्तानर्थान् । **'सच्छंददो चेव'** स्वेच्छाभिप्रायेणैव ॥ यथाछंद ॥१३०६॥

इंदियकसायदोसेहिं अधवा सामण्णजोगपरितंतो ।
जो उव्वायदि सो होदि णियत्तो साधुसत्थादो ॥१३०७॥

'इंदियकसायदोसेहिं' इंद्रियकषायदोषैः । **'अधवा सामण्णजोगपरितंतो'** अथवा सामान्ययोगेन दान्तः । **'जो उव्वायदि'** यश्चारित्राच्च्यवते । **'सो होदि'** स भवति । **'णियत्तो साधुसत्थादो'** निवृत्तः साधुसार्थात् ॥१३०७॥

इंदियकसायवसिया केई ठाणाणि ताणि सव्वाणि ।
पाविज्जंते दोसेहिं तेहिं सव्वेहिं संसत्ता ॥१३०८॥

'इंदियकसायवसिगा' इन्द्रियकषायवशगा । **'केई'** केचित् । **'ठाणाणि ताणि सव्वाणि'** तान्यशुभस्थानपरिणामानि । **'पाविज्जंति'** प्राप्यन्ते । **'दोसेहिं तेहिं सव्वेहिं संसत्ता'** दोषैस्तैः सर्वैः ससक्ता । **संसत्ता** ॥१३०८॥

इय एदे पंचविधा जिणेहिं सवणा दुगुंच्छिदा सुत्ते ।
इंदियकसायगुरुयत्तणेण णिच्चंपि पडिकुद्धा ॥१३०९॥

पासत्थत्तिगद ॥१३०९॥

दुट्ठा चवला अदिदुज्जया य णिच्चं पि समणुबद्धा य ।
दुक्खावहा य भीमा जीवाणं इंदियकसाया ॥१३१०॥

'दुट्ठा' दुष्टा आत्मोपद्रवकारित्वात् । **'चपला'** अनवस्थितत्वात् । **'अदिदुज्जया य'** अतीव दुर्जयाः अनुपलब्धचारित्रमोहक्षयोपशमप्रकर्षेण जीवेन दुःखेन अभिभूयन्ते इति । **'णिच्चंपि'** नित्यमपि । **'समणुबद्धा य'**

गा०—इन्द्रिय और कषायोकी प्रबलताके कारण वह आगमको प्रमाण नही मानता। और अपनी इच्छाके अनुसार जिनभगवान्‌के द्वारा कहे गये अर्थको विपरीतरूपसे ग्रहण करता है ॥१३०६॥

गा०—इन्द्रिय और कषायोके दोषसे अथवा सामान्य योगसे विरक्त होकर जो चारित्रसे गिर जाता है वह साधु संगसे अलग हो जाता है ॥१३०७॥

अब ससक्त मुनिका स्वरूप कहते है—

गा०—इन्द्रिय और कषाओंके वशमे हुए कोई मुनि उन सब दोषोमे संसक्त होकर उन सब अशुभ स्थान रूप परिणामोंको प्राप्त होते है ॥१३०८॥

गा०—इस प्रकार ये पाँच प्रकारके मुनि जिन भगवान्‌के द्वारा आगममें निन्दनीय कहे हैं। ये इन्द्रिय और कषायोकी प्रबलता होनेसे नित्य ही जिनागमसे विमुख रहते हैं ॥१३०९॥

गा०-टी०—इन्द्रिय और कषायरूप परिणाम बडे दुष्ट हैं क्योंकि ये आत्मामे उपद्रव पैदा करते है। अनवस्थित होनेसे चपल है। इनको जीतना अति कठिन है क्योंकि जिस जीवके चारित्र-

सम्यग्गनुबद्धाद्यचारित्रमोहोदयस्य स्वकारणस्य सदा सद्भावात्[1] । नित्याश्चेत्कथं चपलाः । 'नित्यशब्दो ध्रौव्ये न प्रयुक्तः किन्त्वभीक्ष्णे मुहुर्मुहुरनुबद्धा इत्यर्थः' । चपलता तु परिणामानां अनवस्थितत्वं अतो न विरोधः । 'दुःखावहा य' दुःखावहाश्च । 'जीवाण' जीवाना । अभिमतभोगालाभे प्राप्तस्य वाऽपाये महत् दुःखमित्यनुभवसिद्धमेव सर्वप्राणभृतां । कषायास्तु क्रोधादयः कषायन्ति[2] हृदयं । अथवा दुःखकारणासद्वेद्यार्जननिमित्तत्वात् दुःखावहाः । इन्द्रियकषायवशगो जीवान् हिनस्ति । दुःखकरणेन चासवस्यसद्वेद्यं इति । यत एव दुःखावहा अतएव भीमाः । 'इंदियकसाया' इन्द्रियकषायपरिणामाः ॥१३१०॥

अरुतेल्लंपि पियंतो वत्थो जह वादि पूदियं गंधं ।
तध दिक्खिदो वि इंदियकसायगंधं वहदि कोई ॥१३११॥

'सुगन्धतैलमपि' 'पियंतो' पिबन्, 'वत्थो' बस्तः अजपोतः । 'जह वादि पूदियं गंधं' पूतिगन्धं यथा वाति । प्राकृतगन्धं यथा न जहाति सम्भ्रियमाणोऽपि सुरभिणा द्रव्येण, 'तध दिक्खिदो वि' तथा दीक्षितोऽपि परित्यक्तासंयमोऽपि । 'इंदियकसायगंधं वहदि' इन्द्रियकषायदुर्गन्धमुद्वहति इति यावत् ॥१३११॥

भुंजंतो वि सुभोयणमिच्छदि जध सूयरो समलमेव ।
तध दिक्खिदो वि इंदियकसायमलिणो हवदि कोइ ॥१३१२॥

'भुंजतो वि सुभोयणं' भुञ्जानोऽपि शोभनमाहारं । 'सूयरो जध समलमेव इच्छदि' सूकरो यथा समलमेवाभिलषति चिरन्तनाभ्यासात् । 'तह' तथा । 'दिक्खिदो वि' दीक्षितोऽपि कृतव्रतपरिग्रहसंस्कारोऽपि । 'कोइ' कश्चित् । 'इंदियकसायमलिणो हवदि' इन्द्रियकषायाख्याशुभपरिणामोपनतो भवति । भव्योऽपि जन.

मोहके क्षयोपशमका प्रकर्ष नहीं है वह जीव बड़े कष्टसे इन्हे वशमें कर पाता है । तथा इनका कारण चारित्रमोहका उदय सदा रहता है अतः ये नित्य बने रहते हैं ।

शङ्का—यदि ये नित्य है तो चपल कैसे हैं ?

समाधान—नित्य शब्दका प्रयोग ध्रौव्यके अर्थमें नही है किन्तु बार-बारके अर्थमे है । और परिणामोंके स्थिर न होनेको चपलता कहते हैं अतः कोई विरोध नहीं है ।

तथा ये जीवोंको दुःखदायी हैं । इष्ट भोगकी प्राप्ति न होने पर अथवा प्राप्त भोगका विनाश होने पर महान् दुःख होता है यह सभी प्राणियोंको अनुभवसिद्ध है । क्रोधादि कषाय हृदयको संताप पहुचाती है । अथवा दुःखका कारण जो असातावेदनीय कर्म है उसके बन्धमें निमित्त है इसलिए दुःखदायी हैं । जो इन्द्रिय और कषायके वशमें होता है वह जीवोंका घात करता है । जीवोंके दुःख देनेसे असातावेदनीय कर्मका आस्रव होता है । और यतः ये इन्द्रिय तथा कषाय दुःखदायी हैं, अतएव भयंकर हैं ॥१३१०॥

गा०—जैसे बकरीका बच्चा सुगन्धित तेल भी पिये फिर भी अपनी पूर्व दुर्गन्धको नहीं छोड़ता । उसी प्रकार दीक्षा लेकर भी अर्थात् असंयमको त्यागने पर भी कोई कोई इन्द्रिय और कषाय रूप दुर्गन्धको नहीं छोड़ पाते ॥१३११॥

जैसे सुअर सुन्दर स्वादिष्ट आहार खाते हुए भी चिरंतन अभ्यास वश विष्टा ही खाना पसन्द करता है । उसी प्रकार व्रतोंको ग्रहण करके भी कोई कोई इन्द्रिय और कषायरूप अशुभ

१. तपस्ति अ० । २. खानां नि—आ० मु० ।

गुरूपदेशादधिगतदुःखनिवृत्त्युपायतया परित्यक्तेन्द्रियकषायोऽपि गार्हस्थ्यपरित्यागकाले पुनरपि तत्रापततीति ॥१३१२॥

एतद् अनेकदृष्टान्तोपन्यासेन दर्शयति सूरिरुत्तरप्रबन्धेन—

वाहभएण पलादो जूहं दट्ठूण वागुरापडिदं ।
सयमेव मओ वागुरमदीदि जह जूहतण्हाए ॥१३१३॥

'वाहभएण' व्याधभयेन । 'पलादो मगो' कृतपलायनो मृग । , 'वागुरापडिदं जूहं दट्ठूण' वागुरापतितं स्वयूथं दृष्ट्वा । 'सयमेव वागुरमदीदि मगो' स्वयमेव वागुरा प्रविशति मृग । 'जह' यथा, कुत । 'जूहतण्हाए' यूथतृष्णया । 'एवं के वि गिहवासं मुच्चा' इत्यनया गाथया संबन्ध. कार्य ॥१३१३॥

पंजरमुक्को सउणो सुइरं आरामएसु विहरंतो ।
सयमेव पुणो पंजरमदीदि जध णीडतण्हाए ॥१३१४॥

'पंजरमुक्को सउणो' पञ्जरान्मुक्त पक्षी । 'सुइरं आरामएसु विहरंतो' आरामेषु स्वेच्छया विहरन् । 'सयमेव' स्वयमेव । 'पुणो' पुन । 'पंजरमदीदि' पञ्जरमुपैति । 'जह णीडतण्हाए' यथा नीडतृष्णया ॥१३१४॥

कलभो गएण पंकादुद्धरिदो दुत्तरादु बलिएण ।
सयमेव पुणो पंके जलतण्हाए जह अदीदि ॥१३१५॥

'कलभो' गजपोत. महति कर्दमे पतित । 'गएण पंकादुद्धरिदो' गजेन परेण पङ्कादुद्धृतो । 'दुत्तरादु' दुस्तरात् पङ्कात् बलिष्ठ्वतिशयवता गजेन । 'सयमेव पुणो पंकं जह अदीदि' स्वयमेव कलभो यथा पङ्कमुपैति । 'जलतण्हाए' जलतृष्णया ॥१३१५॥

अग्गिपरिक्खित्तादो सउणो रुक्खादु उप्पडित्ताणं ।
सयमेव तं दुमं सो णीडणिमित्तं जध अदीदि ॥१३१६॥

परिणाम वाले होते हैं। भव्य जीव भी गुरुके उपदेशसे गृहस्थाश्रमका परित्याग करते समय दुःखकी निवृत्तिका उपाय जानकर इन्द्रिय और कषाय रूप परिणामोका त्याग करता है किन्तु फिर भी वह उन्हीके चक्रमे पड जाता है ॥१३१२॥

आगे आचार्य अनेक दृष्टान्तोंके द्वारा इसीको दर्शाते है—

गा०—जैसे व्याधके भयसे भागा हुआ हिरन अपने झुण्डको जालमे फँसा देखकर झुण्डके मोहसे स्वयं भी जालमें फँस जाता है वैसे ही कोई मुनि गृह त्यागनेके बाद स्वयं ही उसमें फँस जाता है ॥१३१३॥

गा०—जैसे पीजरेसे मुक्त हुआ पक्षी उद्यानोमे स्वेच्छापूर्वक विहार करते हुए स्वयं ही अपने आवासके प्रेमवश पीजरेमें चला जाता है ॥१३१४॥

गा०—जैसे महती कीचड़में फँसा हाथीका बच्चा बलवान् हाथीके द्वारा निकाला गया। किन्तु पानीकी प्यासवश वह स्वयं ही कीचड़में फँस जाता है ॥१३१५॥

गा०—जैसे पक्षी आगसे घिरे वृक्षसे उड़कर स्वयं ही अपने घोंसलेके कारण उस वृक्षपर जा पहुँचता है ॥१३१६॥

'वच्छादो सउणो उप्पडिदूण' वृक्षादुत्पत्य शकुनः । कीदृग्भूतात् ? **'अग्गिपरिक्खित्तादो'** अग्निना समन्ताद्वेष्टितात् । **'सयमेव त दुमं जह अवीदि'** स्वयमेवासौ पक्षी अग्निपरिक्षिप्तद्रुममभिगच्छति । **'णीडणि-मित्तं'** स्वावासनिमित्तं ॥१३१६॥

लंघिज्जंतो अहिणा पासुत्तो कोइ जग्गमाणेण ।
उट्ठविदो तं घेत्तुं इच्छदि जध कोदुगहलेण ॥१३१७॥

'लंघिज्जंतो अहिणा' लङ्घ्यमानोऽहिना, **'कोइ पासुत्तो'** कश्चित्प्रसुप्तः, **'जग्गमाणेण उट्ठविदो'** जाग्रता उत्थापित. । **'जह तं घेत्तुमिच्छदि'** यथा सर्पं ग्रहीतुमिच्छति, **'कोदुगहलेण'** कौतूहलेन ॥१३१७॥

सयमेव वंतमसणं णिल्लज्जो णिग्घिणो सयं चेव ।
लोलो किविणो भुंजदि सुणहो जध असणतण्हाए ॥१३१८॥

'सयमेव वंतमसणं' स्वयमेव वान्तमशनं । **'सुणहो णिल्लज्जो णिग्घिणो'** श्वा निर्लज्ज. निर्घृणः । **'जहा'** यथा । **'सयमेव भुंजदि'** स्वयमेव भुङ्क्ते । **'लोलो'** आसक्त । **'किविणो'** कृपण. । **'असणतण्हाए'** अशनतृष्णया ॥१३१८॥

एवं केई गिहवासदोसमुक्का वि दिक्खिदा संता ।
इंदियकसायदोसेहि पुणो ते चेव गिण्हंति ॥१३१९॥

'एवं केइ' एव केचित् । **'गिहिवासदोसमुक्का वि'** गृहवासेभ्यो ये दोषास्तेभ्यो मुक्ता । **'दिक्खिदा वि संता'** दीक्षिता अपि सन्त । **'इंदियकसायदोसे'** इन्द्रियकषायदोषान् । **'ते चेव'** तांश्चैव गृहवासगतान् । **'गिण्हंति'** गृह्णन्ति । कीदृग्गृहवासो येन दुष्ट इति भण्यते । ममेदं भावाधिष्ठान' अनुपरतमायालोभोत्पादन-प्रवीणजीवनोपायप्रवृत्त. कषायाणामाकर परेषा पीडानुग्रहयोराबद्धपरिकर. पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिष्वनारत[1]-वृत्तव्यापारो, मनोवाक्काये. सचित्ताचित्तानेकाणुस्थूलद्रविणग्रहणवर्द्धनोपजातायासः, यत्र स्थितो जनोऽसारे सारता, अनित्ये नित्यता, अशरणे शरणता, अशुचौ शुचिता, दुःखे सुखिता, अहिते हितता, असंश्रये संश्रयणीयता,

गा०—जैसे किसी सोते हुए मनुष्यपरसे सर्प जा रहा है। उसे कोई जागता हुआ मनुष्य उठाता है और वह उठकर कौतूहलवश उस सर्पको पकड़ना चाहता है ॥१३१७॥

गा०—जैसे कोई निर्लज्ज घिनावना कुत्ता अपने ही वमन किये भोजनको भोजनकी तृष्णावश लोलुपतासे खाता है ॥१३१८॥

गा०-टी०—वैसे ही गृहवासके दोषोंसे मुक्त कोई दीक्षा स्वीकार करके भी गृहवासके उन्हीं इन्द्रिय और कषायरूप दोषोंको स्वीकार करता है। गृहवासको बुरा क्यों कहा यह बतलाते हैं—

गृहस्थाश्रम 'यह मेरा है' इस भावका अधिष्ठान है, निरन्तर माया और लोभको उत्पन्न करनेमें दक्ष जीवनके उपायोंमें लगानेवाला है, कषायोंकी खान है, दूसरोंको पीड़ा देने और अनुग्रह करनेमे तत्पर रहता है, पृथिवी जल आग वायु और वनस्पतिमें उसका व्यापार सदा चला करता है, मन वचन कायसे सचित्त अचित्त अनेक सूक्ष्म और स्थूल द्रव्योंके ग्रहण और बढ़ानेके लिए उसमें प्रयास करना होता है। उसमें रहकर मनुष्य असारमें सारता, अनित्यमें नित्यता, अशरणमें शरणता, अशुचिमें शुचिता, दुःखमें सुखपना, अहितमें हितपना,

१. रजवृत्तव्यावृत्तव्या—आ० मु० ।

शत्रुभूते मित्रता च मन्यमानः परितः परिधावति। सभयसशङ्कोऽपि पदमधिगच्छति। दुरुत्तरकाललोहपञ्जरोदरगतो हरिरिव, वागुरापतितमृगकुलमिव, अन्यायकर्दमोन्मग्नो जरत्कुञ्जर इव हताशः, पाशबद्धो विहग इव, चारकावबद्धस्तस्कर इव, व्याघ्रमध्यमध्यासीनोऽल्पबलो मृग इव, तदन्तिकोपयानजातसङ्कटः कूटपाशावकृष्टो जलचर इव, यत्रावस्थितो जनः कामबहलतम पटलेनाव्रियते। रागमहानागैरुपद्रुत चिन्ताडाकिनीभि कवलीक्रियते, शोकवृकैरनुगम्यते, कोपपावकेन भस्मसात् क्रियते, दुराशालतिकाभिर्निश्चल बध्यते, प्रियविप्रयोगाशनिभिरनिशं शकलीक्रियते, प्रार्थितालाभशरशतैस्तूणीरता नीयते, मायास्थविरिकया गाढमालिग्यते, परिभवकठिनकुठारैर्विदार्यते, अयशोमलेन लिप्यते, मोहमहावनवारणेन हन्यते, पापघातकैरबबोधः पात्यते, भयाय-शलाकाभिस्तुद्यते, आयासवायसै प्रतिवासर [1]भक्ष्यते, ईर्ष्यामष्या विरूपता परिप्राप्यते, परिग्रहग्रहैर्गृह्यते। यत्रावस्थितोऽसंयमाभिमुखो भवति। असूयाजायायाः प्रियता याति, मानदानवाधिपतितां अनुभवति, विशालधवलचारित्रातपत्रत्रयछायासुखं न लभते, संसारचारकादात्मान नापनयति, कर्मनिर्मूलनाय न प्रभवति, मरणविषपादप न दहति, मोहघनशृङ्खला न त्रोटयति, विचित्रयोनिमुखसचरण न निषेधति। तत इत्थभूताद्गृहवास[2]दोषात्त्यक्ता सन्तोऽपि दीक्षिता '**इ दियकसायदोसे हिं**' इन्द्रियकषायदोषान्। हि शब्द समुच्चयार्थ। तेनैवमभिसबध्यते '**पुणो हि**' पुनरपि '**ते चेव**' तानेव। '**गिण्हंति**' गृह्णन्ति ॥१३१९॥

अनाश्रयमें आश्रयपना, शत्रुमे मित्रता मानता हुआ सब ओर दौड़ता है। भय और शकासे युक्त होते हुए भी आश्रय प्राप्त करता है। जिससे निकलना कठिन है ऐसे कालरूपी लोहेके पींजरेके पेटमे गये सिहकी तरह, जालमें फसे हिरणोंकी तरह, अन्यायरूपी कीचड़मे फँसे बूढे हाथीकी तरह, पाशसे बद्ध पक्षीकी तरह, जेलमें वन्द चोरकी तरह, व्याघ्रोंके मध्यमे बैठे हुए दुर्बल हिरणकी तरह, जिसके पासमें जानेसे सकट आया है ऐसे जालमें फँसे मगरमच्छकी तरह, जिस गृहस्थाश्रममें रहनेवाला मनुष्य कालरूपी अत्यन्त गाढे अन्धकारके पटलसे आच्छादित हो जाता है। रागरूपी महानाग उसे सताते हैं। चिन्तारूपी डाकिनी उसे खा जाती है। शोकरूपी भेड़िये उसके पीछे लगे रहते हैं। कोपरूप आग उसे जलाकर राख कर देती है। दुराशारूपी लताओसे वह ऐसा बँध जाता है कि हाथ पैर भी नहीं हिला पाता। प्रियका वियोगरूपी वज्रपात उसके टुकडे कर डालता है। प्रार्थना करनेपर न मिलनेरूपी सैकड़ों बाणोंका वह तरकस बन जाता है अर्थात् जैसे तरकसमें बाण रहते है वैसे ही गृहस्थाश्रममें वांछित बस्तुका लाभ न होनेरूपी बाण भरे है। मायारूपी बुढ़िया उसे जोरसे चिपकाये रहती है। तिरस्काररूपी कठोर कुठार उसे काटते रहते है। अपयशरूपी मलसे वह लिप्त होता है। महामोहरूपी जगली हाथीके द्वारा वह मारा जाता है। पापरूपी घातकोंके द्वारा वह ज्ञानशून्य कर दिया जाता है। भयरूपी लोहेकी सुइयोंसे कोचा जाता है। प्रतिदिन श्रमरूपी कौओंके द्वारा खाया जाता है। ईर्षारूपी काजलसे विरूप किया जाता है। परिग्रहरूपी मगरमच्छोंके द्वारा पकड़ा जाता है। जिस गृहस्थाश्रममें रहकर असंयमकी ओर जाता है। असूयारूपी पत्नीका प्यारा होता है। अर्थात् दूसरोके गुणोमें भी दोष देखता है, अपनेको मानरूपी दानवका स्वामी मानने लगता है। विशाल धवल चारित्ररूपी तीन छत्रोकी छायाका सुख उसे नही मिलता। वह अपनेको संसाररूपी जेलसे नही छुड़ा पाता। कर्मोका जड़मूलसे विनाश नहीं कर पाता। मृत्युरूपी विषवृक्षको नही जला पाता। मोहरूपी मजबूत साँकलको नहीं तोड़ता। विचित्र योनियोंमें जानेको नहीं रोक पाता। दीक्षा

---

१ भीष्यते आ० मु०। २ दोषान्मुक्ताः आ०।

बंधणमुक्को पुनरेव बंधणं सो अणेयणोदीदि ।
इंदियकसायबंधणमुवेदि जो दिक्खिदो संतो ॥१३२०॥

'बंधणमुक्को' बन्धनमुक्तः । 'पुनरेव बंधणं' पुनर्बन्धनं । 'अदीदि' प्रतिपद्यते । 'सो अणेयणो' सोऽज्ञः । कः ? 'जो दिक्खिदो संतो इंदियकसायबंधणमुवेदि' यो दीक्षितः सन्निन्द्रियकषायबन्धमुपैति । इन्द्रियकषायपरिणामाः कर्मबन्धनक्रियायां साधकतमतया इह बन्धनशब्देनोच्यन्ते ॥१३२०॥

मुक्को वि णरो कलिणा पुणो वि तं चेव मग्गदि कलिं सो ।
जो दिक्खिदो वि इंदियकसायमइयं कलिमुवेदि ॥१३२१॥

प्रसिद्धार्था ॥१३२१॥

उत्तरगाथा—

सो णिच्छदि मोत्तुं जे हत्थगयं उम्मुयं सुपज्जलियं ।
सो अक्कमदि कण्हसप्पं छादं वग्घं च परिमसदि ॥१३२२॥

'सो णिच्छदि' स नेच्छति । 'मोत्तुं' मोक्तुं । किं ? 'हत्थगयं' हस्तस्थितं हस्तगतं वा । 'उम्मुयं सुपज्जलियं' उल्मुकं सुष्ठु प्रज्वलितं । 'सो कण्हसप्पमक्कमदि' स कृष्णसर्पमाक्रामति । 'छादं वग्घं च परिमसदि' क्षुधोपद्रुतं व्याघ्रं च स्पृशति ॥१३२२॥

सो कंठोल्लगिदसिलो दहमत्थाहं अदीदि अण्णाणी ।
जो दिक्खिदो वि इंदियकसायवसिगो हवे साधू ॥१३२३॥

'सो कंठोल्लगिदसिलो' स कण्ठावलम्बितशिलः । 'दहमत्थाहं' ह्रदमगाधं । 'अदीदि' प्रविशति । 'अण्णाणी' अज्ञः । 'जो दिक्खिदो वि य' यो दीक्षितोऽपि 'इंदियकसायवसिगो' इन्द्रियकषायवशवर्ती साधुः स्यादभेदव्यवहारः ॥१३२३॥

धारण करके इस प्रकारके गृहवास सम्बन्धी दोषोंसे मुक्त होकर भी पुनः उन्हीं दोषोंको स्वीकार करता है ॥१३१९॥

गा०—जो दीक्षित होकर इन्द्रिय और कषायोंके बन्धनमें पड़ता है वह अज्ञानी बन्धनसे मुक्त होकर पुनः बन्धनको प्राप्त होता है ॥१३२०॥

गा०—जो दीक्षित होकर भी इन्द्रिय कषायमयी कलिको स्वीकार करता है वह मनुष्य कलिकालसे मुक्त होकर भी पुनः उसी कलिको खोजता है ॥१३२१॥

गा०—जो साधु दीक्षित होकर भी इन्द्रिय और कषायोंके बन्धनमें पड़ता है वह हाथमें स्थित जलते हुए अलातको छोड़ना नहीं चाहता, वह काले साँपको लाँघता है और भूखे व्याघ्रका स्पर्श करता है ॥१३२२॥

गा०—जो साधु दीक्षित होकर भी इन्द्रिय और कषायके अधीन होता है वह अज्ञानी अपने गलेमें पत्थर बाँधकर अगाध तालाबमें प्रवेश करता है ॥१३२३॥

इंदियगहोवसिट्ठो उवसिट्ठो ण दु गहेण उवसिट्ठो ।
कुणदि गहो एयभवे दोसं इदरो भवसदेसु ॥१३२४॥

'**इंदियगहोवसिट्ठो**' इन्द्रियग्रहगृहीतः । '**उवसिट्ठो**' गृहीत । '**ण दु गहेण उवसिट्ठो**' नैव ग्रहेणोपसृष्टः । कुतः ? यस्मात् । '**कुणदि गहो एयभवे दोसं**' एकस्मिन्नेव भवे ग्रहो बुद्धिव्यामोहलक्षणं दोषं करोति । '**इदरो भवसदेसु**' इन्द्रियकषायग्रहो भवशतेषु दोषं करोति ॥१३२४॥

होदि कसाउम्मत्तो उम्मत्तो तध ण पित्तउम्मत्तो ।
ण कुणदि पित्तुम्मत्तो पावं इदरो जधुम्मत्तो ॥१३२५॥

'**होदि कसाउम्मत्तो**' अत्रैवं पदघटना । '**उम्मत्तो होदि**' उन्मत्तो भवति यथा । कः ? '**कसायउम्मत्तो**' कषायोन्मत्तः । यथा '**उम्मत्तो ण होदित्ति**' पदघटना तथा उन्मत्तो न भवति । कः ? '**पित्तउम्मत्तो**' पित्तोन्मत्तः । एतेन पित्तकृतादुन्मादात् कषायकृतस्योन्मादस्य जघन्यता ख्याता । कथ ? '**न कुणदि पित्तुम्मत्तो**' पापं न करोति पित्तोन्मत्त । '**पावं इदरो जधुम्मत्तो**' कषायोन्मत्तो यथा पापं करोति, तथाभूतं न करोति । यतः एकैकोऽपि क्रोधादि हिंसादिषु प्रवर्तयति । कर्मणां स्थितिबन्धं दीर्घीकरोति । विवेकज्ञानमेव तिरस्करोति पित्तोन्मादः । ततोऽनयोर्महदन्तरं इति भावः ॥१३२५॥

इंदियकसायमइओ णरं पिसायं करंति हु पिसाया ।
पावकरणवेलंबं पेच्छणयकरं सुयणमज्झे ॥१३२६॥

'**इंदियकसायमइओ**' इन्द्रियकषायमयः पिशाचः । '**णरं पिसायं करेदि**' नरं पिशाचं करोति । कीदृग्भूतं पिशाचं करोति ? '**सुजणमज्झे पेच्छणयकरं**' सुजनमध्ये प्रेक्षणिककारणं । '**पावकरणवेलंब**' हिंसादिपापक्रियाविलम्बनां प्रेक्षणीयत्वेन संपादयन्तं पिशाचं करोतीति यावत् ॥१३२६॥

कुलजस्स जसमिच्छंतगस्स णिघणं वरं खु पुरिसस्स ।
ण य दिक्खिदेण इंदियकसायवसिएण जेदुंजे ॥१३२७॥

गा०—जो इन्द्रियरूपी ग्रहसे पकडा हुआ है वही ग्रह पीड़ित है। जो ग्रहसे पकडा हुआ है वह ग्रहपीड़ित नहीं है। क्योंकि ग्रह तो एक ही भवमें कष्ट देता है किन्तु इन्द्रियरूपी ग्रह सैकडो भवोंमे कष्ट देता है ॥१३२४॥

गा०-टी०—जो कषायसे उन्मत्त (पागल) है वही उन्मत्त है। जो पित्तसे उन्मत्त है वह उन्मत्त नहीं है। इससे पित्तके द्वारा हुए उन्मादसे कषायके द्वारा हुए उन्मादको निकृष्ट बतलाया है। क्योंकि कषायसे उन्मत्त पुरुष जैसा पाप करता है पित्तसे उन्मत्त वैसा पाप नहीं करता। एक-एक भी क्रोधादि कषाय हिंसा आदिमें प्रवृत्त करता है। कर्मोके स्थितिबन्धको बढ़ाता है। किन्तु पित्तसे हुआ उन्माद केवल विवेकमूलक ज्ञानका ही तिरस्कार करता है। इसलिए इन दोनोंमें बहुत अन्तर है ॥१३२५॥

गा०—इन्द्रिय और कषायमय पिशाच मनुष्यको सुजनोंके मध्यमें देखने योग्य पापक्रियाकी विडम्बनाओको करनेवाला पिशाच बना देता है ॥१३२६॥

'कुलजस्स पुरिसस्स जसमिच्छंतस्स' कुलप्रसूतस्य पुंसः यशोऽभिकाङ्क्षिणः । 'मिच्चणं वरं' मृतिः शोभना । 'ण हु जीविदुं जे' नैव वरं जीवनं । 'दिक्खिदेण इंदियकसायवसिएण' दीक्षितस्येन्द्रियकषायवशवर्तिनः जीवनं न शोभनमित्यर्थः ॥१३२७॥

जध सण्णद्धो पग्गहिदचावकंडो रधी पलायंतो ।
णिंदिज्जदि तध इंदियकसायवसिगो वि पव्वज्जिदो ॥१३२८॥

'जधा रधी पलायंतो णिंदिज्जदि' यथा रथी पलायमानो निन्द्यते । कीदृक् ? 'सण्णद्धो पग्गहिदचावकंडो' सन्नद्धः उपगृहीतचापकाण्ड । तथा 'इंदियकसायवसिगो वि पव्वज्जिदो' तथा इन्द्रियकषायवशवर्त्यपि प्रव्रजितो निन्द्यते ॥१३२८॥

जध भिक्खं हिंडंतो मउडादि अलंकिदो गहिदसत्थो ।
णिंदिज्जइ तध इंदियकसायवसिगो वि पव्वज्जिदो ॥१३२९॥

'जध भिक्खं हिंडंतो' मुकुटादिभिरलंकृतो गृहीतशस्त्रो भिक्षां भ्रमन् निन्द्यते । तथा निन्द्यते इन्द्रियकषायवशवर्ती प्रव्रजित ॥१३२९॥

इंदियकसायवसिगो मुंडो णग्गो य जो मलिणगत्तो ।
सो चित्तकम्मसमणोव्व समणरूवो असमणो हु ॥१३३०॥

'इंदियकसायवसिगो' इन्द्रियकषायवशीकृतः, मुण्डो नग्नश्च यो मलिनगात्र सन् । 'सो समणरूवो ण समणो' स श्रमणरूपो न श्रमण 'स चित्तकम्मसमणो व्व' स चित्रकर्मश्रमण इव । परमार्थश्रमणसदृशरूपोऽपि यथा चित्रश्रमणो न श्रमणस्तद्वदशुभपरिणामप्रवणः ॥१३३०॥

ज्ञानं नरस्य दोषानपहरति इन्द्रियकषायजयमुखेन यथा सत्त्ववत् प्रहरणमावरणं च शत्रुं नाशयतीति-

---

गा०—कुलीन और यशके अभिलाषी पुरुषका मरना श्रेष्ठ है किन्तु दीक्षित होकर इन्द्रिय और कषायके वशमे रहकर जीना श्रेष्ठ नही है ॥१३२७॥

गा०—जैसे धनुष बाण लेकर युद्धके लिए तैयार रथारोही यदि युद्धसे भागता है तो निन्दाका पात्र होता है। उसी प्रकार दीक्षित साधु यदि इन्द्रिय और कषायके वशमें होता है तो निन्दाका पात्र होता है ॥१३२८॥

गा०—जैसे मुकुट आदिसे सुशोभित और हाथमें शस्त्र लिये हुए कोई भिक्षाके लिए घूमता है तो निन्दाका पात्र होता है। वैसे ही दीक्षित होकर इन्द्रिय और कषायके वशमे होनेवाला भी निन्दाका पात्र होता है ॥१३२९॥

गा०-टी०—जो मुण्डित नग्न और मलिन शरीरवाला होकर भी इन्द्रिय और कषायके वशमें होता है वह चित्रमें अंकित श्रमणके समान श्रमणरूपका धारी होनेपर भी श्रमण नहीं है। अर्थात् जैसे चित्रमे अंकित श्रमण वास्तविक श्रमणके समान रूपवाला होनेपर भी श्रमण नही है उसी प्रकार श्रमणका वेष धारण करके भी जिसके परिणाम अशुभ हैं वह श्रमण नहीं है ॥१३३०॥

आगे कहते हैं कि इन्द्रिय और कषायको जीतनेके द्वारा ज्ञान मनुष्यके दोषोंको दूर करता

त्सुसरगाथार्थः इन्द्रियकषायाजये ज्ञानं दोषापहारित्वाख्यं अतिशयमं न लभते यथा सत्वहीनस्यावरअसम्नाहाख्यं प्रहरण च खड्गचक्रादिक शत्रुजयस्वमतिशयं नासादयति—

णाणं दोसे णासिदि णरस्स इंदियकसायविजयेण।
आउहरणं पहरणं जह णासेदि अरिं ससत्तस्स ॥१३३१॥

'णाणं' ज्ञानं **'दोसे'** दोषान्। **'णासिदि'** नाशयति। **'णरस्स'** नरस्य। **'इंदियकसायविजयेन'**। **'जह'** यथा। **'आउहरणं पहरणं'** आयुषो हरणं प्रहरणं शस्त्रं। सह सत्वेन वर्तते इति ससत्वस्तस्य। **'अरिं'** रिपुं। **'णासेदि'** नाशयति ॥१३३१॥

णाणंपि कुणदि दोसे णरस्स इंदियकसायदोसेण।
आहारो वि हु पाणो णरस्स विससंजुदो हरदि ॥१३३२॥

'णाणपि कुणदि दोसे णरस्स' ज्ञान दोषानपि करोति नरस्य। **'इंदियकसायदोसेण'** इन्द्रियकषायपरिणामदोषेण। उपकार्यपि अनुपकारितामुद्वहति परससर्गेण। यथा प्राणधारणनिमित्तोऽप्याहारो विषमिश्रः प्राणान्विनाशयति ॥१३३२॥

णाणं करेदि पुरिसस्स गुणे इंदियकसायविजयेण।
बलरूववण्णमाऊ करेहि जुत्तो जधाहारो ॥१३३३॥

'णाणं करेदि' ज्ञान करोति। **'पुरिसस्स गुणे'** पुरुषस्य गुणान्। कथ? **'इंदियकसायविजएण'** इन्द्रियकषायविजयेन। **'बलवण्णरूवमाऊ करेदि'** बल, रूप, तेजः, आयुश्च करोति। **'जुत्तो जधाहारो'** युक्तः शोभनो यथाहारः विषेणामिश्रित ॥१३३३॥

णाणं पि गुणे णासेदि णरस्स इंदियकसायदोसेण।
अप्पवधाए सत्थं होदि हु कापुरिसहत्थगयं ॥१३३४॥

है। जैसे सत्वसम्पन्न मनुष्यका शस्त्र और कवच शत्रुका नाश करता है। तथा इन्द्रिय और कषायको न जीतनेपर ज्ञान दोषोको दूर करनेरूप अतिशयको प्राप्त नही करता। जैसे सत्वहीन पुरुषका कवच और तलवार चक्र आदि शस्त्र शत्रुको जीतनेरूप अतिशयको नही प्राप्त करता ॥१३३०॥

गा०—इन्द्रिय और कषायको जीतनेसे ज्ञान मनुष्यके दोषोको नष्ट करता है। जैसे सत्वशालीका आयुको हरनेवाला शस्त्र शत्रुको नष्ट करता है ॥१३३१॥

गा० इन्द्रिय और कषायरूप परिणामोंके दोषसे ज्ञान भी मनुष्योंमें दोष उत्पन्न करता है। दूसरेके संसर्गसे उपकारी भी अनुपकारी हो जाता है। जैसे आहार प्राण धारणमें निमित्त है किन्तु विषसे मिला आहार प्राणोंका घातक होता है ॥१३३२॥

गा०—और इन्द्रिय तथा कषायोको जीतनेसे ज्ञान पुरुषमें गुण उत्पन्न करता है। जैसे विषसे रहित उत्तम आहार बल, रूप, तेज और आयुको बढाता है ॥१३३३॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूप परिणामोंके दोषसे ज्ञान भी पुरुषके गुणोंको नष्ट करता है। जैसे कायर पुरुषके हाथमें गया शस्त्र उसके ही बधमें निमित्त होता है ॥१३३४॥

ज्ञानमपि गुणान्नाशयति नरस्य इन्द्रियकषायपरिणामदोषेण । आत्मवधाय भवति शस्त्रं कापुरुषहस्तगतं इति ॥१३३४॥

उत्तरगाथार्थः—

सबहुस्सुदो वि अवमाणिज्जदि इंदियकसायदोसेण ।
णरमाउधहत्थंपि हु मदयं गिद्धा परिभवंति ॥१३३५॥

'सुबहुस्सुदोवि' सुष्ठुबहुश्रुतोऽप्यवमन्यते इन्द्रियकषायदोषेण । गृहीतास्त्रमपि नरं मृतं गृद्धाः परिभवन्ति यथा ॥१३३५॥

इंदियकसायवसगो बहुस्सुदो वि चरणे ण उज्जमदि ।
पक्खीव छिण्णपक्खो ण उप्पडदि इच्छमाणो वि ॥१३३६॥

'इंदियकसायवसगो' इन्द्रियकषायवशगः बहुश्रुतोऽपि चारित्रे नोद्यमं करोति । यथा छिन्नपक्षः पक्षी नोत्पतति इच्छन्नपि ॥१३३६

णस्सदि सग बहुगं पि णाणमिंदियकसायसम्मिस्सं ।
विससम्मिसिदुद्धं णस्सदि जध सक्कराकढिदं ॥१३३७॥

'णस्सदि सग बहुगंपि णाणं' नश्यति स्वय बह्वपि ज्ञानं इन्द्रियकषायसम्मिश्रं । शर्कराक्वथितं दुग्धं विषमिश्रमिव । माधुर्यात्सातिशयता दुग्धस्य शर्कराक्वथितशब्देन कथ्यते ॥१३३७॥

इंदियकसायदोसमलिणं णाणं वट्टदि हिदे से ।
वट्टदि अण्णस्स हिदे खरेण जह चंदणं ऊढं ॥१३३८॥

ज्ञानं यदीयं तस्मै उपकारितया प्रसिद्धमपि तन्नोपकारि भवति इन्द्रियकषायमलिन, परोपकारि तु भवति खरेणोढ चन्दनादिकमिवेति सूत्रार्थ. ॥१३३८॥

गा०—इन्द्रिय और कषायोंके दोषसे अच्छे प्रकारसे बहुतसे शास्त्रोंका ज्ञाता भी विद्वान् अपमानका पात्र होता है। जैसे हाथमें अस्त्रके होते हुए भी मरे मनुष्यको गृद्ध खा जाते है ॥१३३५॥

गा०—इन्द्रिय और कषायोंके वशमें हुआ बहुश्रुत भी विद्वान् चारित्रमें उद्योग नहीं करता। जैसे जिसका पर कट गया है ऐसा पक्षी इच्छा करते हुए भी नही उड़ सकता ॥१३३६॥

गा०—इन्द्रिय और कषायके योगसे बहुत भी ज्ञान स्वयं नष्ट हो जाता है। जैसे शक्करके साथ कढ़ा हुआ दूध विषके मिलनेसे नष्ट हो जाता है अर्थात् अपने स्वभावको छोड़ देता है। यहाँ शक्करके साथ कढ़ाया हुआ कहनेसे मिठासके कारण दूधकी सातिशयता बतलाई है। ऐसा दूध भी विषके मेलसे हानिकर होता है ॥१३३७॥

गा०—जिसका ज्ञान होता है उसीका उपकारी होता है यह बात प्रसिद्ध है किन्तु इन्द्रिय और कषायसे मलिन ज्ञान जिसका होता है उसका उपकार नहीं करता, दूसरोंका उपकार

---

१. यजोगेण अ० ।

ज्ञानं प्रकाशकत्वमपि स्वं जहाति इन्द्रियकषायपरिणामवशादिति निगदति—

इंदियकसायणिग्गहणिमीलिदस्स हु पयासदि ण णाणं ।
रत्तिं चक्खुणिमीलस्स जघा दीवो सुपज्जलिदो ॥१३३९॥

'इंदियकसायणिग्गहणिमीलिदस्स' इन्द्रियकषाय[1]निग्रहे निमीलितस्यात्मनो ज्ञानं न प्रकाशकं । **'रत्तिय'** रात्राविव । **'चक्खुणिमिलिदस्स'** निमीलितचक्षुषः पुंसः । **'जह दीवो सुपज्जलिदो'** यथा सुप्रज्वलित प्रदीप. ॥१३३९॥

इंदियकसायमइलो बाहिरकरणणिहुदेण वेसेण ।
आवहदि को वि विसए सउणो [2]वादंसगेणेव ॥१३४०॥

'इंदियकसायमइलो' इन्द्रियकषायपरिणाममलिन । **'बाहिरकरणणिहुदेण वेसेण'** बाह्याया गमनागमनादिकायाः क्रियाया निभृतेन वेषेण । **'कोई विसए आवहदि'** कश्चिद्विषयानावहति आत्मनो भोगाय ॥१३४०॥

घोडगलिंडसमाणस्स तस्स अब्भंतरम्मि कुधिदस्स ।
बाहिरकरणं किं से काहिदि बगणिहुदकरणस्स ॥१३४१॥

'घोडगलिंडसमाणस्स' घोटकलिंडसमानस्य यथा बहिर्मसृणता न तद्वदन्तर्मसृणता । तद्वत्कस्यचिद्बाह्यचरण समीचीन नाभ्यन्तरा परिणामा शुद्धा । स एवमुच्यते । **'बाहिरकरणं कि काहिदि'** बाह्यक्रिया अनशनादिका किं करिष्यति । **'अब्भंतरम्मि कुधिदस्स'** अन्तः कुथितस्स । इन्द्रियकषायसंज्ञाऽशुभपरिणामेन नष्टाभ्यन्तरतपोवृत्तेरिति यावत् । **'बगणिहुदकरणस्स'** बकवन्निभृतक्रियस्य ॥१३४१॥

करता है। जैसे गधेपर लदा चन्दन दूसरोंका उपकार करता है ॥१३३८॥

आगे कहते हैं कि इन्द्रिय कषायरूप परिणामोंके दोषसे ज्ञान अपने प्रकाशकत्व धर्मको भी छोड देता है—

गा०-टी०—इन्द्रिय और कषायोका निग्रह करनेमे जो अपना उपयोग नहीं लगाता अर्थात् जो इन्द्रिय और कषायोसे प्रभावित है, उसका ज्ञान वस्तुस्वरूपका प्रकाशक नही होता। जैसे, जिसने आँखे मूँदी है उसके लिए तीव्रतासे जलता हुआ दीपक पदार्थोंका प्रकाश नही करता ॥१३३९॥

गा०—जिसका परिणाम इन्द्रिय और कषायसे मलिन होता है ऐसा कोई साधु बाह्य गमन आगमन आदि क्रियाओके द्वारा अपने वेशको छिपाकर अपने भोगके लिये विषयोंको ग्रहण करता है जैसे निश्चल बैठा पक्षी अपनी चोंचसे अपने शिकारको ग्रहण करता है ॥१३४०॥

गा०-टी०—जैसे घोड़ेकी लीद ऊपरसे चिकनी और भीतरसे खुरदरी होती है वैसे ही किसीका बाह्य आचरण तो समीचीन होता है किन्तु अभ्यन्तर परिणाम शुद्ध नहीं होते। उसे घोडेकी लीदके समान कहा है। जिसके अभ्यन्तर परिणाम शुद्ध नही है उसकी बाह्यक्रिया अनशन आदि क्या करेगी? अर्थात् इन्द्रिय और कषायरूप अशुभ परिणामके द्वारा अभ्यन्तर तपोवृत्ति जिसकी नष्ट हो चुकी है वह बाह्य अनशन आदि तप करे भी तो क्या लाभ है। वह तो नदीके तटपर निश्चल बैठे हुए बगुलेकी तरह है ॥१३४१॥

---

१. षायानि—आ०। २. वीदंसगे—ज०, मु०, मूलारा०।

बाह्यं तपः करणीयतयोपदिष्टं तत्स्वफलं सम्पादयत्येव किमुच्यते बाह्यक्रिया किं करोतीत्याशङ्क्य सूरिराचष्टे—

बाहिरकरणविसुद्धी अब्भंतरकरणसोधणत्थाए ।
ण हु कुंडयस्स सोधी सक्का सतुसस्स कादुं जे ॥१३४२॥

'बाहिरकरणविसुद्धी' बाह्यक्रियाविशुद्धिः । **'अब्भंतरकरणसोधणत्थाए'** अभ्यन्तरक्रियाणां विनयादीना शुद्धये, अभ्यन्तरतपसां लघ्वेव बहुतरकर्मनिर्जराक्षमाणां परिवृद्धये श्रूयन्ते बाह्यान्यनशनादितपांसि । ततोऽन्वर्थतया बाह्यान्युपदिष्टानि । यद्धि यदर्थं तत्प्रधानं इति प्रधानताभ्यन्तरतपस तच्च शुभशुद्धपरिणामात्मकं । तेन विना न निर्जरायै बाह्यमलं । उक्तं च—**बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थं ।** इति । **'ण खु कुंडयस्स सोधी सक्का कादुं जे'** नैवान्तर्मलस्य शुद्धिः शक्या कर्तुं । कस्य ? **'सतुसस्स'** सतुषस्य धान्यस्य ॥१३४२॥

अब्भंतरसोधीए सुद्धं णियमेण बाहिरं करणं ।
अब्भंतरदोसेण हु कुणदि णरो बाहिरं दोसं ॥१३४३॥

'अब्भंतरसोधीए' अभ्यन्तरशुद्धया । **'सुद्धं णियमेण बाहिरं करणं'** शुद्धं निश्चयेन बाह्यं करणं । **'अब्भंतरदोसेण खु'** अन्तःपरिणामदोषेणैव इन्द्रियकषायपरिणामादिना । **'कुणदि णरो बाहिरं दोसं'** करोति नरो बाह्यान्दोषान्वाक्कायाश्रयान् ॥१३४३॥

लिंगं च होदि अब्भंतरस्स सोधीए बाहिरा सोधी ।
भिउडीकरणं लिंगं जह अंतोजादकोधस्स ॥१३४४॥

'लिंगं च होदि' चिह्नं च भवति । **'अब्भंतरस्स परिणामसोधीए'** अभ्यन्तरस्य परिणामस्य शुद्धेः । **'बाहिरा सोधी'** बाह्या शुद्धिरशनादितपोविषया । **'भिउडीकरणं लिंगं'** भृकुटीकरणं लिङ्गं । **'जह'** यथा ।

यहाँ कोई शङ्का करता है कि ऊपर बाह्यतप करनेका उपदेश किया है वह अपना फल अवश्य देता है । तब आप कैसे कहते हैं कि बाह्यक्रिया क्या करेगी ? इसका उत्तर आचार्य देते हैं—

गा०-टी०—अभ्यन्तर क्रिया विनय आदिकी शुद्धिके लिये बाह्यक्रियाकी विशुद्धि कही है । शीघ्र ही बहुतसे कर्मोंकी निर्जरामें समर्थ अभ्यन्तर तपोकी वृद्धिके लिए बाह्य अनशन आदि तप सुने जाते हैं । इसीलिए उनका बाह्य नाम सार्थक है । जो जिसके लिये होता है वह प्रधान होता है । इसलिए अभ्यन्तर तपकी प्रधानता है । वह अभ्यन्तर तप शुभ और शुद्ध परिणामरूप होता है । उसके विना बाह्यतप निर्जरामे समर्थ नही होता । कहा भी है—'भगवन् ! आपने आध्यात्मिक तपकी वृद्धिके लिए अत्यन्त कठोर बाह्यतप किया ।' ठीक ही है, क्योंकि छिलकेके रहते हुए धान्यकी अन्तः शुद्धि सम्भव नहीं है ॥१३४२॥

गा०—नियमसे अभ्यन्तर शुद्धिके होनेसे ही बाह्यशुद्धि होती है । इन्द्रियकषाय परिणाम आदि अन्तरंग परिणाम दोषसे ही मनुष्य वचन और कायसम्बन्धी बाह्य दोषोंको करता है ॥१३४३॥

गा०-टी०—अनशन आदि तपविषयक बाह्यशुद्धि अभ्यन्तर परिणामोंकी विशुद्धिका

'अंतोभावकोवस्स' अन्तर्भावस्य कोपस्य लिङ्गं लिङ्गभाव'। बाह्यानामभ्यन्तराणां चैवं भवति यदि परस्पराविनाभाविता स्यादग्निधूमयोरिव। प्रसिद्धस्च लिङ्गलिङ्गिभाव कार्येण बाह्येन कारणस्याभ्यन्तरस्येति भावार्थः ॥१३४४॥

ते चेव इंदियाणं दोसा सव्वे हवंति णादव्वा ।
कामस्स य भोगाण य जे दोसा पुव्वणिदिट्ठा ॥१३४५॥

'ते चेव इंदियाणं दोसा' त एवेन्द्रियाणां सर्वेषां दोषा भवन्ति इति ज्ञातव्याः। के ? **'जे दोसा पुव्वणिद्दिट्ठा'** ये दोषा. पूर्वनिर्दिष्टाः। **'कामस्स य भोगाण य'** कामस्य भोगाना च संबन्धितया निर्दिष्टा दोषा. ॥१३४५॥

महुलित्तं असिधारं तिक्खं लेहिज्ज जध णरो कोई ।
तध विसयसुहं सेवदि दुहावहं इहहि परलोगे ॥१३४६॥

'मधुलित्तं' मधुना लिप्तां। **'असिधारं'** असेर्धारां। **'तिक्खं'** तीक्ष्णां। **'जह णरो कोई लेहिज्ज'** यथा नरः कश्चिदास्वादयति जिह्वया। **'तह विसयसुहं सेवदि'** तथा विषयसुखं सेवते। **'दुहावहं इह य परलोए'** दुःखावहमत्र जन्मनि परत्र च, स्वल्पसुखतया बहुदु.खतया च साम्य दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयो. ॥१३४६॥

एकैकेन्द्रियविषयवशवर्तिभिर्मृगादिभिरुपद्रवो ह्याप्त', किं पुनरशेषेन्द्रियविषयलम्पटैर्जनै प्राप्येऽनर्थे वाच्यमिति मत्वाचष्टे—

सद्देण मओ रूवेण पदंगो वणगओ वि फरिसेण ।
मच्छो रसेण भमरो गंधेण य पाविदो दोसं ॥१३४७॥

चिह्न है। जैसे क्रोध उत्पन्न होनेका चिह्न भृकुटी चढाना होता है। इस प्रकार बाह्य और अभ्यन्तरको अग्नि और धूमकी तरह परस्परमें अविनाभाविता है। अर्थात् जैसे आगके होनेपर ही धूम होता है अतः जहाँ धूम होता है वहाँ आग अवश्य होती है। इसीको अविनाभाविता कहते हैं। धूम लिंग है आग लिंगी है। इसी प्रकार बाह्य कार्यके साथ अभ्यन्तर कारणका लिंग-लिंगी भाव सम्बन्ध जानना ॥१३४४॥

गा०—जो दोष पहले काम और भोगके सम्बन्धमे कहे हैं वे ही सब दोष इन्द्रियोंके सम्बन्धमे जानना ॥१३४५॥

गा०-टी०—जैसे कोई मनुष्य जिह्वाके द्वारा मधुसे लिप्त तलवारकी तीक्ष्ण धारको चाटता है वैसे ही मनुष्य विषय सुखका सेवन करता है जो इस जन्ममे और परजन्ममें दुःखदायी है। जैसे मधुलिप्त तलवारकी धारको जिह्वासे चाटनेसे प्रारम्भमे मधुके कारण थोड़ा सुख होता है किन्तु जीभ कट जानेपर बहुत दु.ख होता है उसी प्रकार विषय भोगमें भी सुख अल्प हैं दुःख बहुत है ॥१४४६॥

आगे कहते हैं कि एक एक इन्द्रियके विषयमें आसक्त हिरन आदि कष्ट भोगते हैं तब समस्त इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त जनोंके द्वारा प्राप्य अनर्थका क्या कहना है—

'सद्देण मओ' शब्देन मृगः बाष्पच्छेद्यसरससुरभितृणाग्रग्रासेन, मृदुपवनानीतशैत्यस्फटिकसंकाशपानीयपानेन च पुष्टमूर्तिरन्तःकरणमिव लघुतरप्रयाणो हरिणो व्याधकलगीतश्रवणेन सुखाकूणितलोचनः, दुष्टयमदंष्ट्रासमाननिशितविशिखावलीभिन्नतनुर्जहाति प्रियतमान्प्राणान् । **'रूवेण पदंगो य'** एककलिकाकारप्रदीपरूपेण अनितानुरागः पतंगो दीपार्चिषि भस्मसाद्भावमुपयाति । **'वणगओ वि फरिसेण'** वनगजश्च विलासिनीहृदयमिव दुष्प्रवेशासु, संसृतिरिव महतीषु अरण्यानीषु, विपद इव दुरतिक्रमणीयासु सल्लकीतरुणतरुशाखाहारः, रम्यगिरिनदीविपुलह्रदेषु, स्वेच्छापानतरणनिमज्जनोन्मज्जनैरुपगतप्रीतिः, अनुकूलानेककरिणीकदम्बकेनानुगम्यमानो वासिताविशालजघनस्पर्शनोपनीतप्रीतिर्मदकलो विचेतनो रागबहलतिमिरपटलावगुण्ठितलोचनो महति गर्ते निपतित परं व्यसनमवगाहते । **'मच्छो'** मत्स्यः युवजनमनः[1]सरोनपायिविलासिनी विलोचनविभ्रमविलम्बनोद्यतः स्वल्पाहाररसलोलुपो विपदमाशुवशः प्रयाति । विचित्रसुरभिप्रसूनप्रकररजोऽङ्गरागो भ्रमरः विषपादपकुसुमगन्धेनापहृतप्रियतमप्राणो भवति । एवमेते दोषान्प्रापिताः ॥१३४७॥

तिरश्चां दुःखं प्रतिपाद्य विषयरागजनितं मनुजगतौ दर्शयति—

[2]इदि पचहि पंच हदा सद्दरसफरिसगंधरूवेहिं ।
इक्को कहं ण हम्मदि जो सेवदि पंच पंचेहिं ॥१३४८॥

गा०–टी०—वनमे हिरण मुखके वाष्पसे टूटनेवाले सरस सुगन्धित तृणोके अग्रभागोंको खाकर और कोमल वायुके द्वारा शीतल किये गये स्फटिकके समान स्वच्छ जलको पीकर पुष्ट होता है। उसकी गति मनसे भी तीव्र होती है। वह व्याधके मनोहर गीतको सुनकर सुखसे अपनी आँखे मूँद लेता है। और दुष्ट यमराजकी दाढ़के समान तीक्ष्ण विशाल बाणोंके द्वारा छेदा जाकर अत्यन्त प्रिय प्राणोको त्याग देता है। एक कलिकाके आकार दीपकके रूपसे अनुराग करनेवाला पतगा दीपककी लौमे जलकर भस्म हो जाता है। वनका हाथी स्त्रीके हृदयकी तरह जिसमे प्रवेश करना कठिन है, जो संसारकी तरह महान् है और विपत्तिकी तरह जिसे लांघना अशक्य है ऐसे महान् वनमें सल्लकीके तरुण वृक्षोंकी शाखा खाता है, रमणीक पहाड़ी नदी और बडे-बडे तालाबोंमे स्वेच्छापूर्वक जल पीता है, अवगाहन करता है, डुबकी लगाता है, अनेक अनुकूल हथिनियोंका समूह उसके पीछे चलता है, हथिनीके विशाल जघन भागके स्पर्शनमें अनुरक्त होकर मदमत्त हो, रागकी अधिकतारूपी अन्धकारके पटलसे आँखे बन्द कर लेता है और महान् गर्तमे गिरकर कष्ट भोगता है। युवा पुरुषोंके मनरूपी सरोवरमे विलास करनेवाली स्त्रियोंके लोचनके हावभावका अनुकरण करनेवाला मच्छ थोड़ेसे भोजनकी लोलुपतावश शीघ्र ही विपत्तिमें पड जाता है। अनेक प्रकारके सुगन्धित फूलोंके समूहकी रजसे आवेष्ठित भौरा विषवृक्षके फूलकी गन्धसे प्राण खो देता है। इस प्रकार एक एक इन्द्रियके वश होकर ये कष्ट उठाते हैं ॥१३४७॥

तिर्यञ्चोका विषयरागसे उत्पन्न दुःख कहकर मनुष्य गतिमें कहते हैं—

गा०—इस प्रकार शब्द, रस, स्पर्श, गन्ध, रूप इन पाँच विषयोके द्वारा पाँच जीव अपने प्राण गँवाते हैं। तब जो एक ही पुरुष पाँचों इन्द्रियोके द्वारा पाँचों विषयोंका सेवन करता है वह प्राण क्यों न गँवायेगा ॥१३४८॥

१. मस्सारो–आ० । २. एतां टीकाकारो नेच्छति ।

सरजूए गंधमित्तो घाणिंदियवसगदो विणीदाए ।
विसपुप्फगंधमग्घाय मदो णिरयं च संपत्तो ॥१३४९॥

'सरजूए' सरय्वा नद्यां । **'गंधमित्तो'** गंधमित्रो नाम भूपाल. । **'मदो'** मृत । **'विणीदाए'** विनीतापुरीपति । **'घाणिंदियवसगदो'** घ्राणेन्द्रियवशंगत । **'विसगंधपुप्फमग्घाय'** विषचूर्णवासितपुष्पमाघ्राय । **'मदो'** मृत । **णिरयं च संपत्तो** नरकं च संप्राप्तः तीव्रविषयरागाज्जातेन कर्मभारेण ॥१३४९॥

पाडलिपुत्ते पंचालगीदसद्देण मुच्छिदा संती ।
पासादादो पडिदा णट्ठा गंधव्वदत्ता वि ॥१३५०॥

पाटलिपुत्रे पान्चालस्य गीतशब्देन मूर्छिता सती प्रासादात्पतिता नष्टा गन्धर्वदत्ता नामधेया गणिका ॥१३५०॥

माणुसमंसपसत्तो कंपिल्लवदी तधेव भीमो वि ।
रज्जब्भट्ठो णट्ठो मदो य पच्छा गदो णिरयं ॥१३५१॥

'माणुसमंसपसत्तो' मानुषमांसप्रसक्त काम्पिल्यपुराधिपो भीमो राज्यभ्रष्टो नष्टो मृत पश्चान्नरकमुपयात. ॥१३५१॥

चोरो वि तह सुवेगो महिलारूवम्मि रत्तदिट्ठीओ ।
विद्धो सरेण अच्छीसु मदो णिरयं च संपत्तो ॥१३५२॥

'चोरो वि तह सुवेगो' सुवेगनामधेयश्चौरोऽपि युवतिरूपाकृष्टदृष्टि शरैर्विद्धेक्षणे मृतो नरकमुपगतः ॥१३५२॥

फासिंदिएण गोवे सत्ता गिहवदिपिया वि णासक्के ।
मारेदूण सपुत्तं धूयाए मारिदा पच्छा ॥१३५३॥

'फासिंदिएण' स्पर्शनेन्द्रियेण हेतुना । **'गोवे सत्ता'** आत्मीये गोपाले आसक्ता । **'[1]गिहवदिपिया'**

गा०—अयोध्यापुरीका राजा गन्धमित्र घ्राणेन्द्रियके वशमे होकर सरयू नदीमें विषैले फूलकी गन्धको सूँघकर मरा और नरकमे गया ॥१३४९॥

विशेषार्थ—उसके बड़े भाईने भयंकर विषसे फूलको सुवासित करके दिया था। इसकी कथा बृहत्कथाकोशमे ११३ नम्बर पर है।

गा०—पाटलीपुत्र नगरमे गंधर्वदत्ता नामक गणिका पचालके गीतके शब्द सुनकर मूर्छित हो महलसे नीचे गिरकर मर गई ॥१३५०॥

विशेषार्थ—इसकी कथा बृहत्कथाकोशमें ११४ नम्बर पर है।

गा०—कंपिला नगरीका राजा भीम मनुष्यके मासका प्रेमी था। वह राज्यसे निकाला जाकर मरकर नरकमें गया ॥१३५१॥

विशेषार्थ—बृहत्कथाकोशमें ११५ नम्बर पर इसकी कथा है।

---

१. वदि गिहिणी—अ० आ०।

राष्ट्रकूटभार्या । 'णासिक्के' नासिक्ये नगरे । 'मारेदूण सपुत्तं' स्वपुत्रं हत्वा । 'धूदाए' दुहित्रा । 'पच्छा' पश्चात् । 'मरिदा' मृतिं नीता ॥१३५३॥ इदिया ।

एवमिन्द्रियदोषानुपदर्श्य कोपदोषप्रकटनार्थं प्रक्रम्यते—

रोसाइट्ठो णीलो हदप्पभो अरदिअग्गिसंसत्तो ।
सीदे वि णिवाइज्जदि वेवदि य गहोवसिट्ठो व ॥१३५४॥

'रोसाविट्ठो' रोषाविष्ट. । नीलवर्णो भवति 'हदप्पभो' विनष्टदीप्ति. । 'अरदिअग्गिसंसत्तो' अरत्यग्निसंतप्त । 'सीदे वि णिवाइज्जइ' शीतेऽपि तृषितो भवति । 'वेवदि' वेपते च । 'गहोवसिट्ठोव' ग्रहेणोपसृष्ट इव ॥१३५४॥

भिउडीतिवलियवयणो उग्गदणिच्चलसुरत्तलुक्खक्खो ।
कोवेण रक्खसो वा णराण भीमो णरो भवदि ॥१३५५॥

'भिउडीतिवलियवयणो' भृकुटीत्रिवलितवदनो । 'उग्गदणिच्चलसुरत्तलुक्खक्खो' उद्गतनिश्चलसुरक्तरूक्षेक्षण । 'रोसेण' रोषेण हेतुना । 'रक्खसो' राक्षस इव । 'णराण भीमो णरो होदि' नराणा भीमो भयावहो भवति नर. ॥१३५५॥

जह कोइ तत्तलोहं गहाय रुट्ठो परं हणामित्ति ।
पुव्वदरं सो डज्झदि डहिज्ज व ण वा परो पुरिसो ॥१३५६॥

'जह कोइ' यथा कश्चित् 'तत्तलोहं गहाय' तप्तलोहं गृहीत्वा । किमर्थं ? 'रुट्ठो परं हणामित्ति'

गा०—सुवेग नामक चोर युवती स्त्रियोंके रूपको देखनेका अनुरागी था । उसकी आँखमें बाण लगा और वह मरकर नरक गया ॥१३५२॥

विशेषार्थ—बृ० क० को० में इसकी कथा ११६ वी है । उसमें सुवेगको म्लेच्छराज कहा है ॥१३५२॥

गा०—नासिक नगरमे गृहपति सागरदत्तकी भार्या नागदत्ता स्पर्शन इन्द्रियके कारण अपने ग्वाले पर आसक्त थी । उसने अपने पुत्रको मारा तो उसकी लड़कीने अपनी मांको मार दिया ॥१५५३॥

विशेषार्थ—इसकी कथा उसी कथाकोशमे ११७ नम्बर पर है ॥१३५३॥

इस प्रकार इन्द्रियके दोष बतलाकर क्रोधके दोष बतलाते हैं—

गा०-टी०—जो क्रोधसे ग्रस्त होता है उसका रंग नीला पड़ जाता है, कान्ति नष्ट हो जाती है, अरतिरूपी आगसे संतप्त होता है । ठंडमें भी उसे प्यास सताती है और पिशाचसे गृहीत की तरह क्रोधसे काँपता है ॥१३५४॥ भृकुटी चढ़नेसे मस्तक पर तीन रेखाएँ पड जाती है, लाल लाल निश्चल आँखें बाहर निकल आती है । इस तरह क्रोधसे मनुष्य दूसरे मनुष्योंके लिए राक्षसकी तरह भयानक हो जाता है ॥१३५५॥

गा०—जैसे कोई पुरुष रुष्ट होकर दूसरेका घात करनेके लिए तपा लोहा उठाता है । ऐसा करनेसे दूसरा उससे जले या न जले, पहले वह स्वयं जलता है ॥१३५६॥

रुष्ट: पर हन्मीति । **'पुव्वतरं सो डज्झदि'** पूर्वतरं स एव दह्यते तेन तप्तेन क्रोधेन गृहीतेन । **'उज्झिज्ज परो ण वा पुरिसो'** दह्यते पर पुरुषो न वा दह्यते ॥१३५६॥

तध रोसेण सयं पुव्वमेव डज्झदि हु कलकलेणेव ।
अण्णस्स पुणो दुक्खं करिज्ज रुट्ठो ण य करिज्ज ॥१३५७॥

'तध रोसेण' तथा रोषेण स्वय पूर्वं दह्यते द्रवीकृतलोहसम्थानीयेन । अन्यस्य पुनर्दु ख कुर्यान्न वा रुष्ट ॥१३५७॥

णासेदूण कसायं अग्गी णसदि सयं जधा पच्छा ।
णासेदूण तध णरं णिरासवो णस्सदे कोघो ॥१३५८॥

कोधो सत्तुगुणकरो णीयाणं अप्पणो य मण्णुकरो ।
परिभवकरो सवासे रोसो णासेदि णरमवसं ॥१३५९॥

'रोसो सत्तुगुणकरो' रोष शत्रोर्यो गुणो धर्मोऽपकारित्व नाम त करोति । अथवा शत्रूणा गुणमुपकार करोति रोष । यतोऽस्य हि रोषदहनेन दह्यमान त दृष्ट्वा ते तुष्यन्ति । कथमस्य रोषमुत्पादयाम इत्येवमादृतास्ते सदापीति । **'णीयाणं अप्पणो या'** बान्धवाना आत्मनश्च शोक करोति । **'परिभवकरो सवासे'** स्वनिवासस्थाने परिभवमानयति । **'रोसो णासेदि णरमवसं'** रोषो नरमवश नाशयति ॥१३५९॥

ण गुणे पेच्छदि अववददि गुणे जंपदि अजंपिदव्वं च ।
रोसेण रुद्दहिदओ णारगसीलो णरो होदि ॥१३६०॥

'ण गुणे पेच्छदि' गुण न पश्यति, यस्मै कुप्यति । **'अववदति'** निन्दति । **'गुणे'** गुणानपि तदीयान् । **'जंपदि अजंपिदव्वं च'** वदत्यवाच्यमपि । **'रोसेण रुद्दहिदओ'** रोषेण रौद्रचित्त: । **'णारगसीलो णरो हवदि'** नारकशीलो भवति नर ॥१३६०॥

गा०—उसी प्रकार पिघले हुए लोहेकी तरह क्रोधसे पहल वह स्वय जलता है। दूसरेको वह दु खी करे या न करे ॥१३५७॥

गा०—जैसे आग ईंधनको नष्ट करके पीछे स्वय बुझ जाती है उसी प्रकार क्रोध पहले क्रोधी मनुष्यको नष्ट करके पीछे निराधार होनेसे स्वय नष्ट हो जाता है ॥१३५८॥

गा०-टी०—क्रोध शत्रुका जो धर्म है अपकार करना, उसे करता है अथवा क्रोध शत्रुका उपकार करता है क्योंकि उसे क्रोधकी आगमें जलते हुए देखकर शत्रु प्रसन्न होते है। वे सदा इस प्रयत्नमे रहते है कि कैसे इसे क्रोध उत्पन्न करे। क्रोध अपने और बन्धु बान्धवोंको शोकमे डालता है। अपने ही घरमे अपना तिरस्कार कराता है। परवश मनुष्यका नाश करता है ॥१३५९॥

गा०—क्रोधी जिसपर क्रोध करता है उसके गुणोंको नही देखता। उसके गुणोंकी भी निन्दा करता है। जो कहने योग्य नही है वह भी कहता है इस प्रकार क्रोधसे रौद्र हृदय मनुष्यका स्वभाव नारकी जैसा होता है ॥१३६०॥

जध करिसयस्स धण्णं वरिसेण समज्जिदं खलं पत्तं।
डहदि फुलिंगो दित्तो तध कोहग्गी समणसारं ॥१३६१॥

'**अह करिसगस्स**' यथा कर्षकस्य धान्यं वर्षेण समार्जितं खलप्राप्तं दहति विस्फुलिङ्गो दीप्तस्तथा क्रोधाग्निर्दहति श्रमणस्य सारं पुण्यपण्यं ॥१३६१॥

जध उग्गविसो उरगो दब्भतणंकुरहदो पकुप्पंतो।
अचिरेण होदि अविसो तध होदि जदी वि णिस्सारो ॥१३६२॥

'**अह उग्गविसो उरगो**' यथोग्रविष उरगो। दर्भतृणाङ्कुरहत तत्प्रकृष्टरोषवशमुपनयन् स्पष्ट तृणादिक भक्षयित्वा झटिति निर्विषो भवति। तथा यतिरपि निस्सारो भवत्यचिरेण रत्नत्रयविनाशात् ॥१३६२॥

पुरिसो मक्कडसरिसो होदि सरूवो वि रोसहदरूवो।
होदि य रोसणिमित्तं जम्मसहस्सेसु य दुरूवो ॥१३६३॥

'**पुरिसो मक्कडसरिसो**' पुरुषो मर्कटसदृशो भवति सुरूपोऽपि सन् रोषोऽपहतरूप। इह जन्मनि दोषानुपदर्श्य पारभविकमाचष्टे–'**होदि**' भवति। जन्मसहस्रेषु दुरूप एकभवकृतात्कोपात् ॥१३६३॥

सुट्ठु वि पिओ मुहुत्तेण होदि वेसो जणस्स कोधेण।
पधिदो वि जसो णस्सदि कुद्धस्स अकज्जकरणेण ॥१३६४॥

'**सुट्ठुवि**' नितरामपि। जनस्य प्रियो मुहूर्तमात्रेणैव द्वेष्यो भवति रोषेण प्रथितमपि यशो नश्यति। कस्य ? '**कुद्धस्य अकज्जकरणेन**' क्रुद्धस्य अकार्यकरणेन ॥१३६४॥

णीयल्लगो वि [1]रुट्ठो कुणदि अणीयल्ल एव सत्तू वा।
मारेदि तेहिं मारिज्जदि वा मारेदि अप्पाणं ॥१३६५॥

गा०—जैसे चिनगारी एक वर्षके श्रमसे प्राप्त खलिहानमे आये किसानके धान्यको जला देती है उसी प्रकार क्रोधरूपी आग श्रमणके जीवन भरमे उपार्जित पुण्य धनको जला देती है ॥१३६१॥

गा०—जैसे उग्र विषवाले सर्पको घासके एक तिनकेसे मारने पर वह अत्यन्त रोषमे आकर उस तिनके पर अपना विष वमन करके तत्काल विष रहित हो जाता है उसी प्रकार यति भी क्रोध करके अपने रत्नत्रयका विनाश करता है और शीघ्र ही निस्सार हो जाता है ॥१३६२॥

गा०—सुन्दर सुरूप पुरुष भी क्रोधसे रूपके नष्ट हो जाने पर बन्दरके समान लाल मुख-वाला विरूप हो जाता है। इस जन्ममे क्रोधके दोष दिखलाकर परलोकमे दिखलाते हैं एक भवमें क्रोध करनेसे हजारो जन्मोंमें कुरूप होता है ॥१३६३॥

गा०—क्रोध करनेमे अत्यन्त प्रिय व्यक्ति भी मुहूर्त मात्रमे ही द्वेषका पात्र होता है। तथा क्रोधी मनुष्यके अनुचित काम करनेसे उसका फैला हुआ यश भी नष्ट हो जाता है ॥१३६४॥

1. वि कुद्धो आ० मु०।

'णीयल्लगो वि 'रुट्ठो' बन्धुरपि बन्धूकरोति शत्रुवत् । हन्ति बान्धवान् । मार्यते वा स्वय तैरात्मानं वा हन्यात् ॥१३६५॥

पुज्जो वि णरो अवमाणिज्जदि कोवेण तक्खणे चेव ।
जगविस्सुदं वि णस्सदि माहप्पं कोहवसियस्स ॥१३६६॥

'**पुज्जो वि**' पूज्योऽपि नरो अवमन्यते रोषेण । तत्क्षण एव जगति विश्रुतमपि माहात्म्य नश्यति रोषिण. ॥१३६६॥

हिंसं अलियं चोज्जं आचरदि जणस्स रोसदोसेण ।
तो ते सव्वे हिंसालिया[2]दि दोसा भवे तस्स ॥१३६७॥

'**हिंसं अलियं चोज्जं**' हिंसामसत्य चौर्यं वाचरति जनस्य रोषदोषेण । तस्मात्तस्य हिंसादिप्रभवा दोषा भवे भविष्यन्ति ॥१३६७॥

वारवदीय असेसा दड्ढा दीवायणेण रोसेण ।
बद्धं च तेण पावं दुग्गादिभयबंधणं घोरं ॥१३६८॥

'**वारवती**' द्वारवती । निश्शेषा दग्धा रुष्टेन द्वीपायनेन । घोर च पाप बद्ध दुर्गतिभयप्रवृत्तिनिमित्त । '**कोधुत्ति गदं**' ॥१३६८॥

मानदोषप्रकटनार्थ प्रबन्ध उत्तर —

कुलरूवाणाबलसुदलाभस्सरयत्थमदितवादीहिं ।
अप्पाणमुण्णमंतो नीचागोदं कुणदि कम्मं ॥१३६९॥

'**कुलरूवाणा**' कुलेन रूपेण आज्ञया, बलेन, श्रुतेन, लाभेन, ऐश्वर्येण मत्या तपसाऽन्यैश्च आत्मानमुत्कर्षयन्नीचैर्गोत्रं कर्म बध्नाति ॥१३६९॥

गा०—क्रोधी मनुष्य अपने निकट सम्बन्धियोंको भी असम्बन्धी अथवा शत्रु बना लेता है । उनको मारता है या उनके द्वारा मारा जाता है अथवा स्वय मर जाता है ॥१३६५॥

गा०—पूजनीय मनुष्य भी क्रोध करनेसे तत्काल अपमानित होता है । क्रोधीका जगत्मे प्रसिद्ध भी माहात्म्य नष्ट हो जाता है ॥१३६६॥

गा०—क्रोधके कारण मनुष्य लोगोंकी हिसा करता है, उनके सम्बन्धमे झूठ बोलता है, चोरी करता है । अत: उसमे हिसा झूठ आदि सब दोष होते हैं ॥१३६७॥

गा०—दीपायन मुनिने क्रोधसे समस्त द्वारका नगरी भस्म कर दी । और दुर्गतिमे ले जाने वाले घोर पापका बन्ध किया ॥१३६८॥

क्रोध का कथन समाप्त हुआ ।

आगे मानके दोष कहते हैं—

गा०—कुल, रूप, आज्ञा, बल, श्रुत, लाभ, ऐश्वर्य, तप तथा अन्य बातोंमें अपनेको बड़ा

---

१ विकुद्धो आ० । २ लियचोज्ज समुब्भवा दोसा–मु० ।

दट्ठूण अप्पणादो हीणे मुक्खाउ विंति माणकलिं ।
दट्ठूण अप्पणादो अधिए माणं णयंति बुधा ॥१३७०॥

'दट्ठूण अप्पणादो' आत्मनो हीनान् दृष्ट्वा मूर्खा मानकलिं उद्वहन्ति। बुधा पुनरात्मनोऽधिकान्बुद्ध्यावलोक्य मानं निरस्यन्ति ॥१३७०॥

माणी विस्सो सव्वस्स होदि कलहभयवेरदुक्खाणि ।
पावदि माणी णियदं इहपरलोए य अवमाणं ॥१३७१॥

'माणी विस्सो सव्वस्स' मानी सर्वस्य द्वेष्यो भवति। कलहं, भय, वैरं, जन्मान्तरानुगं दु:ख च प्राप्नोति। नियोगत इह परत्र चावमान ॥१३७१॥

सव्वे वि कोहदोसा माणकसायस्स होदि णादव्वा ।
माणेण चेव मेधुणहिंसालियचोज्जमाचरदि ॥१३७२॥

'सव्वे वि कोहदोसा' क्रोधस्य वर्णिता दोषाः। 'ण गुणे पिच्छदि' इत्येवमादिसूत्रेण ते सर्वे मानकषायस्यापि ज्ञातव्या.। मानेन मैथुने चौर्ये हिंसायामसत्याभिधाने च प्रयतते ॥१३७२॥

सयणस्स जणस्स पिओ णरो अमाणी सदा हवदि लोए ।
णाणं जसं च अत्थं लभदि सकज्जं च साहेदि ॥१३७३॥

'सयणस्स' मानरहित. स्वजनस्य परजनस्य च सदा प्रियो जनो भवति। 'लोए' लोके। 'णाणं' ज्ञानं। 'जस' यश', 'अत्थं' द्रविणं लभते स्व कार्यमन्यदपि साधयति ॥१३७३॥

ण य परिहायदि कोई अत्थे मउगत्तणे पउत्तम्मि ।
इह य परत्त य लब्भदि विणएण हु सव्वकल्लाणं ॥१३७४॥

'ण य परिहायदि' मार्दवे प्रयुक्ते नैव कश्चिदर्थो हीयते येनायमर्थहानिभयात् मान कुर्यात्। मार्दवे तु प्रयुक्ते इह जन्मान्तरे च लभ्यते विनयेनैव सर्वकल्याण ॥१३७४॥

मानने वाला, उनका अहंकार करनेवाला नीच गोत्र नामक कर्मका बन्ध करता है ॥१३६९॥

गा०—अपनेसे हीन व्यक्तियोको देखकर मूर्ख लोग मान करते हैं। किन्तु विद्वान् अपनेसे बड़ोको देखकर मान दूर करते हैं ॥१३७०॥

गा०—मानीसे सब द्वेष करते हैं। वह कलह, भय, वैर और दुःखका पात्र होता है तथा इस लोक और परलोकमे नियमसे अपमानका पात्र होता है ॥१३७१॥

गा०—पहले जो क्रोधके दोष कहे हैं वे सब दोष मानकषायके भी जानना। मानसे मनुष्य हिंसा, असत्य बोलना, चोरी और मैथुनमें प्रवृत्ति करता है ॥१३७२॥

गा०—मान रहित व्यक्ति जगत्में स्वजन और परजन सदा सबका प्रिय होता है। वह ज्ञान, यश और धन प्राप्त करता है तथा अन्य भी अपने कार्यको सिद्ध करता है ॥१३७३॥

गा०—मार्दव युक्त व्यवहार करने पर कोई धनहानि नहीं होती जिससे धनहानिके भयसे मनुष्य मान करे। विनयसे इस जन्ममें और जन्मान्तरमें सर्व कल्याण प्राप्त होते हैं ॥१३७४॥

सट्ठिं साहस्सीओ पुत्ता सगरस्स रायसीहस्स ।
अदिबलवेगा संता णट्ठा माणस्स दोसेण ॥१३७५॥

'सट्ठिं साहस्सीओ' सगरस्य राजसिंहस्य चक्रिण. षष्ठिसहस्रसख्या. पुत्रा महाबला विनष्टा मानदोषेण ॥१३७५॥ माणत्तिगद ।

मायादोषनिरूपणायोत्तरगाथा—

जध कोडिसमिद्धो वि ससल्लो ण लभदि सरीरणिव्वाणं ।
मायासल्लेण तहा ण णिव्वुदिं तवसमिद्धो वि ॥१३७६॥

'जध कोडिसमिद्धो वि' यथा कोटिसमृद्धोऽपि शरीरानुप्रविष्टशल्यो न शरीरसुख लभते । तथा मायाशल्येन न निर्वृत्ति लभते तप समृद्धोऽपि ॥१३७६॥

होदि य वेस्सो अप्पच्चइदो तध अवमदो य सुजणस्स ।
होदि अचिरेण सत्तू णीयाणवि णियडिदोसेण ॥१३७८॥

'होदि य वेस्सो' द्वेष्यो भवत्यप्रत्ययित तथा सुजनस्यावमत । बान्धवानामपि शत्रुरचिरेण भवति मायादोषेण ॥१३७७॥

पावइ दोसं मायाए महल्लं लहु सगावराधेवि ।
सच्चाण सहस्साणि वि माया एक्का वि णासेदि ॥१३७८॥

'पावदि दोस' प्राप्नोति दोष महान्त अल्पापराधोऽपि मायया । एकापि माया सत्यसहस्राणि नाशयति । महादोषप्रापणं सत्यसहस्रविनाशन च मायादोषो ॥१३७८॥

मायाए मित्तभेदे कदम्मि इधलोगिगच्छपरिहाणी ।
णासदि मायादोसा विसजुदहुद्धंव सामण्णं ॥१३७९॥

गा०—सगर चक्रवर्तीके साठ हजार पुत्र महाबलशाली होते हुए भी मान दोषके कारण मृत्युको प्राप्त हुए ॥१३७५॥

मानके दोषोंका वर्णन पूर्ण हुआ ।

आगे मायाके दोष कहते हैं—

गा०—जैसे एक कोटी धनका स्वामी होने पर भी यदि शरीरमे कीलकाँटा घुसा हो तो शारीरिक सुख नही मिलता । उसी प्रकार तपसे समृद्ध होने पर भी यदि अन्तरमे मायारूपी शल्य घुसा है तो मोक्ष लाभ नही हो सकता ॥१३७६॥

गा०—माया दोषसे मनुष्य सबके द्वेषका पात्र होता है, उसका कोई विश्वास नही करता। सुजन भी उसका अपमान करते हैं । वह शीघ्र ही अपने बन्धु-बान्धवोंका भी शत्रु बन जाता है ॥१३७७॥

गा०—अपने द्वारा थोडा सा अपराध होने पर भी मायाचारी महान् दोषका भागी बनता है । एक बारका भी मायाचार हजारो सत्योंको नष्ट कर देता है इस प्रकार महादोषका भागी होना और हजार सत्योका बिनाश ये मायाके दोष है ॥१३७८॥

'मायाए' मायया । 'मित्तभेदे' मैत्र्या विनाशे कृते । 'इह लोगियकज्जपरिहाणी' ऐहलौकिककार्यविनाशः । 'णासदि सामण्णं' नश्यति श्रामण्यं । 'मायादोसा' मायाख्य दोषहेतोः । 'विसजुददुद्धं व' विषयुतदुग्धमिव । मित्रकार्यविनाशः श्रामण्यहानिश्च मायाजनितदोषौ ॥१३७९॥

माया करेदि णीचागोदं इत्थी णवुंसयं तिरियं ।
मायादोसेण य भवसएसु डंभिज्जदे बहुसो ॥१३८०॥

'माया करेदि णीचागोदं' माया करोति नीचैर्गोत्रं कर्म । नीचैर्वा गोत्रमस्य जन्मान्तरे । 'इत्थी णवुंसयं-तिरियं' स्त्रीवेदं, नपुंसकवेदं, तिर्यग्गतिं च नामकर्म करोति । अथवा स्त्रीत्वं, नपुंसकत्वं, तिर्यक्त्वं वा । 'मायादोसेण' [1]मायासञ्जितेन दोषेण । 'भवसएसु' जन्मशतेषु । 'डंभिज्जदि' वंच्यते । 'बहुसो' बहुशः ॥१३८०॥

कोहो माणो लोहो य जत्थ माया वि तत्थ सण्णिहिदा ।
कोहमदलोहदोसा सव्वे मायाए ते होंति ॥१३८१॥

'कोहो माणो' क्रोधमानलोभास्तत्र जीवे सन्निहिता यत्र स्थिता माया । क्रोधमानलोभजन्या दोषाः सर्वेऽपि मायावतो भवन्ति ॥१३८१॥

सस्सो य भरधगामस्स सत्तसंवच्छराणि णिस्सेसो ।
दड्ढो डंभणदोसेण कुंभकारेण रुट्ठेण ॥१३८२॥

'सस्सो' सस्यं । 'भरधगामस्स' भरतनामधेयग्रामस्य । 'सत्तसंवच्छराणि' वर्षसप्तकं । 'णिस्सेसो दड्ढो' निरवशेषं दग्धं । 'डंभणदोसेण' मायादोषेण हेतुना । 'रुट्ठेण कुंभकारेण' रुष्टेन कुम्भकारेण ॥१३८२॥ मायासिगदा ।

लोभदोषानाचष्टे—

लोभेणासाघत्तो पावइ दोसे बहुं कुणदि पावं ।
णीए अप्पाणं वा लोभेण णरो ण विगणेदि ॥१३८३॥

गा०—मायाचारसे मित्रता नष्ट हो जाती है और उससे इस लोक सम्बन्धी कार्योंका विनाश होता है । तथा मायादोषसे विष मिश्रित दूधकी तरह मुनि धर्म नष्ट हो जाता है । इस प्रकार मित्रता और कार्यका नाश तथा मुनि धर्मकी हानि ये मायाके दोष हैं ॥१३७९॥

गा०-टी०—मायासे नीच गोत्र नामक कर्मका बन्ध होता है, जिससे दूसरे जन्ममें नीच कुलमें जन्म होता है । तथा स्त्रीवेद, नपुसकवेद और तिर्यञ्चगति नाम कर्मका बन्ध करती है । अथवा मायासे स्त्रीपना, नपुंसकपना और तिर्यञ्चपना प्राप्त होता है । मायासे उत्पन्न हुए दोषसे सैकड़ों जन्मोंमें बहुत बार ठगाया जाता है अर्थात् किसीको एक बार ठगनेसे बार-बार ठगा जाता है ॥१३८०॥

गा०—जहाँ मायाचार है वहाँ क्रोध, मान लोभ भी रहते हैं । क्रोध मान और लोभसे उत्पन्न होने वाले सब दोष मायाचारीमें होते हैं ॥१३८१॥

गा०—मायाचारके दोषसे रुष्ट हुए कुम्भकारने भरत नामक गाँवका धान्य सात वर्ष तक पूर्ण रूपसे जलाया था ॥१३८२॥

---

१ मायासंजनितेन—मु० ।

'लोभेण' लोभेन हेतुना । **'आसाभ्वत्तो'** ममेदंभविष्यतीत्याशया ग्रस्तः । **'पावदि दोसे'** प्राप्नोति दोषान् । **बहुं कुणदि पावं'** पापं च बहु करोत्याशावान् । **'णीए'** बान्धवान् । **'अप्पाणं वा'** आत्मान वा । **'लोभेण'** लोभेन । **णरो ण विगणेदि'** न विगणयति । बान्धवानपि बाधते स्वशरीरश्रमं च नापेक्षते इति यावत् ॥१३८३॥

वस्तुनः सारासारतया न कश्चित् कर्मबन्धातिशयः येन केनचिद्द्रव्येण जनिता मूर्च्छा कर्मबन्धे निमित्तं आत्मा शुभपरिणामनिमित्तत्वादिति मत्वा सूरिराचष्टे—

लोभो तणे वि आदो जणेदि पावमिदरत्थ किं वच्चं ।
[1]लगिदमउडादिसंगस्स वि हु ण पावं अलोहस्स ॥१३८४॥

'लोभो तणो वि जादो' लोभस्तृणेऽपि जातो । **'जणेदि पावं'** जनयति पाप । **'इदरत्थ'** इतरत्र सारवति वस्तुनि । **'किं वच्चं'** किं वाच्यं । **'लगिदमउडादिसंगस्स वि'** स्वशरीरविलग्नमुकुटादिपरिग्रहस्यापि न पाप भवति । **'अलोहस्स'** लोभकषायवर्जितस्य मुकुटादे. सारद्रव्यस्याति प्रत्यासत्तिर्न बन्धायेति मन्यते ॥१३८४॥

साकेदपुरे सीमंधरस्स पुत्तो मियद्धओ नाम ।
भद्दयमहिसनिमित्तं जुवरायया केवली जादो ॥१३८५॥

तृप्तिमापादयति द्रव्यमिति योऽस्यानुरागः स नास्ति द्रव्यत इत्याचष्टे—

विशेषार्थ—इसकी कथा बृ० क० को० में १२० नम्बर पर है उसमे गाँवका नाम भरण दिया है ॥१३८२॥

लोभके दोष कहते हैं—

गा०—लोभसे मनुष्य 'यह वस्तु मेरी होगी' इस आशासे ग्रस्त होकर बहुत दोष करता है; बहुत पाप करता है। लोभसे अपने कुटुम्बियोकी और अपनी भी चिन्ता नही करता। उन्हे भी कष्ट देता है और अपने शरीरको भी कष्ट देता है ॥१३८३॥

वस्तुके सारवान या असार होनेसे कर्मबन्धमें कोई विशेषता नही होती। जिससे किसी द्रव्यमें उत्पन्न हुआ ममत्व भाव कर्मबंधमे निमित्त होता है क्योकि वह ममत्व भाव आत्माके अशुभ परिणाममे निमित्त होता है, ऐसा मानकर आचार्य कहते है—

गा०—तृणसे भी हुआ लोभ पापको उत्पन्न करता है तब सारवान् वस्तुमे हुए लोभका तो कहना ही क्या है? जो लोभकषायसे रहित है उसके शरीरपर मुकुट आदि परिग्रह होनेपर भी पाप नहीं होता। अर्थात् सारवान् द्रव्यका सम्बन्ध भी लोभके अभावमे बन्धका कारण नही है ॥१३८४॥

गा०—साकेत नगरीमे सीमन्धरका पुत्र मृगध्वज नामक था। वह भद्रक नामक भैंसेके निमित्तसे केवली हुआ ॥१३८५॥

विशेषार्थ—बृ क को. में मृगध्वजकी कथा १२१ नम्बर पर है।

'द्रव्य तृप्ति देता है' इस भावनासे मनुष्यका द्रव्यमे जो अनुराग है वह नही होनेसे बन्ध नहीं होता, यह कहते हैं—

---

१. रइदम–अ० आ०।

तेलोक्केण वि चित्तस्स णिव्वुदी णत्थि लोभघत्थस्स ।
संतुट्ठो हु अलोभो लभदि दरिद्दो वि णिव्वाणं ॥१३८६॥

'**तेलोक्केण वि**' त्रैलोक्येनापि । '**चित्तस्स णिव्वुदी णत्थि**' चित्तस्य निर्वृत्तिर्नास्ति । '**लोभघत्थस्स**' लोभग्रस्तस्य । '**संतुट्ठो**' सन्तुष्ट: लब्धेन केनचिद्वस्तुना शरीरस्थितिहेतुभूतेन । '**अलोभो**' द्रव्यगतमूर्च्छारहितः । '**लभदि**' लभते । '**दरिद्दो वि**' दरिद्रोऽपि । '**णिव्वाणं**' निर्वाणं । सन्तोषायत्ता चित्तनिर्वृत्तिर्न द्रव्यायत्ता, सत्यपि द्रव्ये महति असन्तुष्टस्य हृदये महति दुःखासिका ॥१३८६॥

सव्वे वि गंथदोसा लोभकसायस्स हुंति णादव्वा ।
लोभेण चेव मेहुणहिंसालियचोज्जमाचरदि ॥१३८७॥

'**सव्वे वि गंथदोसा**' सर्वेऽपि परिग्रहस्य ये दोषाः पूर्वमाख्यातास्ते सर्वेऽपि । '**लोभकसायस्स**' लोभकषायवत लोभ कपायोऽस्येति लोभकषाय इति गृहीतत्वात् । अथवा लोभसंज्ञितस्य कषायस्य दोषा इति सम्बन्धनीय । '**लोभेण चेव**' लोभेन चैव । मैथुन, हिसा, अलीकं, चौर्यं वाचरति । तत: सावद्यक्रियाया सर्वस्या आदिमान् लोभ ॥१३८७॥

रामस्स जामदग्गिस्स वज्जं घित्तूण कत्तविरिओ वि ।
णिघणं पत्तो सकुलोससाहणो लोभदोसेण ॥१३८८॥

'**रामस्स**' रामस्य । '**जामदग्गिस्स**' जामदग्न्यस्य । '**वज्जं**' व्रज । '**घित्तूण**' गृहीत्वा । '**कत्तविरिओ वि**' कार्तवीर्योऽपि । '**णिघण पत्तो**' निधन प्राप्त' '**सकुलो**' सबन्धुवर्ग. । '**ससाहणो**' सबल' । '**लोभदोसेण**' लोभदोषेण ॥१३८८॥ **लोभः ।**

ण हि तं कुणिज्ज सत्तू अग्गी वग्घो व कण्हसप्पो वा ।
जं कुणइ महादोसं णिव्वुदिविग्घं कसायरिवू ॥१३८९॥

स्पष्टा ॥१३८९॥

गा०-टी०—जो लोभसे ग्रस्त हैं उसके चित्तको तीनों लोक प्राप्त करके भी सन्तोष नही होता। और जो शरीरकी स्थितिमे कारण किसी भी वस्तुको पाकर सन्तुष्ट रहता है, जिसे वस्तुमें ममत्वभाव नहीं है वह दरिद्र होते हुए भी सुख प्राप्त करता है। अत. चित्तकी शान्ति सन्तोषके अधीन है, द्रव्यके अधीन नहीं है। महान् द्रव्य होते हुए भी जो असन्तुष्ट है उसके हृदयमें महान् दुःख रहता है ॥१३८६॥

गा०—पूर्वमें परिग्रहके जो दोष कहे हैं वे सब दोष लोभकषायवालेके अथवा लोभ नामक कषायके जानना। लोभसे ही मनुष्य हिंसा, झूठ, चोरी और मैथुन करता है। अतः समस्त पाप-क्रियाओंका प्रथम कारण लोभ है ॥१३८७॥

गा०——जमदग्निके पुत्र परशुरामकी गायोंको ग्रहणकर लेनेके कारण राजा कार्तवीर्य लोभदोषसे समस्त परिवार और सेनाके साथ मृत्युको प्राप्त हुआ। परशुरामने सबको मार डाला ॥१३८८॥

विशेषार्थ—बृ. क. को. में कार्तवीर्यकी कथा १२२ नम्बर पर है।

उत्तरगाथा—

इंदियकसायदुद्दंतस्सा पाडेंति दोसविसमेसु ।
दु:खावहेसु पुरिसे पसढिलणिव्वेदखलिया हु ॥१३९०॥

'इंदियकसायदुद्दंतस्सा' इन्द्रियकषायदुर्दान्ताश्वा । **'पाडेंति'** पातयन्ति । **'दोसविसमेसु'** पापविषमस्थानेषु । **'दुक्खावहेसु'** दु:खावहेषु । **'पुरिसे'** पुरुषान् । **'पसढिलणिव्वेदखलिआ'** प्रशिथिलनिर्वेदखलिना: ॥१३९०॥

इंदियकसायदुद्दंतस्सा णिव्वेदखणिलिदा संता ।
ज्झाणकसाए भीदा ण दोसविसमेसु पाडेंति ॥१३९१॥

'इंदियकसायदुद्दंतस्सा' इन्द्रियकषायदुर्दान्ततुरङ्गा वैराग्यखलीननियमिता सन्त ध्यानकशासुभीता न दोषविषमेषु पातयन्ति ॥१३९१॥

इंदियकसायपण्णगदट्ठा बहुवेदणुद्दिदा पुरिसा ।
पब्भट्ठझाणसुक्खा संजमजीयं पविजहंति ॥१३९२॥

इन्द्रियकषायपन्नगदष्टा, बहुवेदनावष्टब्धा पुमास प्रभ्रष्टध्यानसुखा सयमजीव परित्यजन्ति ॥१३९२॥

ज्झाणागदेहि इंदियकसायभुजगा विरागमंतेहिं ।
णियमिज्जंता संजमजीयं साहुस्स ण हरंति ॥१३९३॥

ध्यानागदैरिन्द्रियकषायभुजगा वैराग्यमन्त्रैर्नियम्यमाणा साधो सयमजीवितं न हरन्ति ॥१३९३॥

सुमरणपुंखा चिंतावेगा विसयविसलित्तरइधारा ।
मणधणुमुक्का इंदियकंडा विंधेति पुरिसमयं ॥१३९४॥

गा०—शत्रु, आग, व्याघ्र और कृष्ण सर्प भी वह बुराई नही करता जो बुराई कषायरूपी शत्रु करता है। वह कषायरूप शत्रु मोक्षमे बाधारूप महादोषका कारण है ॥१३८९॥

गा०—इन्द्रिय कषायरूपी घोडे दुर्दमनीय है इनको वशमे करना बहुत कठिन है। वैराग्यरूपी लगामसे ही ये वशमें होते हैं। किन्तु उस लगामके ढीले होनेपर वे पुरुषको दु:खदायी पापरूपी विषम स्थानोमें गिरा देते है ॥१३९०॥

गा०—किन्तु इन्द्रिय कषायरूपी दुर्दमनीय घोड़े जब वैराग्यरूपी लगामसे नियमित होते हैं और ध्यानरूपी कोड़ेसे भयभीत रहते हैं तो विषम पापस्थानमे नही गिराते ॥१३९१॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूपी सर्पोंसे डसे हुए मनुष्य बहुत कष्टसे पीड़ित होकर, उत्तमध्यानरूपी सुखसे भ्रष्ट हो, संयमरूपी जीवनको त्याग देते है ॥१३९२॥

गा०—किन्तु इन्द्रिय और कषायरूपी सर्प सम्यग्ध्यानरूपी सिद्ध औषधि और वैराग्यरूपी मंत्रोसे वशमे होनेपर साधुके सयमरूपी जीवनको नही हरते ॥१३९३॥

'सुमरणपुंखा' स्मरणपुङ्खाः 'चिंताबेगा' विषयविषेणालिप्ता रतिर्धारा येषां ते मनोधनुर्मुक्ताः इन्द्रिय-बाणाः पुरुषमृगं घातयन्ति ॥१३९४॥

तान्बाणान्पुरुषमृगहननोद्यतान्यतय एव वारयन्तीति कथयति—

धिदिखेडएहिं इंदियकंडे ज्झाणवरसत्तिसंजुत्ता ।
[1]वारंति समणजोहा सुणाणदिट्ठीहिं दट्ठूण ॥१३९५॥

'धिदिखेडएहिं' धृतिखेटै इन्द्रियशरान्वारयन्ति ध्यानसत्त्वसमन्विताः । 'समणजोहा' श्रमणयोधाः सम्यग्ज्ञानदृष्ट्या दृष्ट्वा ॥१३९५॥

गंथाडवीचरंतं कसायविसकंटया पमायमुहा ।
विद्धंति विसयतिक्खा अधिदिदढोवाणहं पुरिसं ॥१३९६॥

'गंथाडवीचरंतं' परिग्रहवने चरन्तं कषायविषकंटकाः प्रमादमुखा विध्यन्ति विषयैस्तीक्ष्णा धृतिदृढोपान-द्रहित पुरुष ॥१३९६॥

सयतस्य पुनरेवपरिकरस्य कषायविषकटका. किञ्चिदपि न कुर्वन्ति इत्याचष्टे सूरि—

आइद्धधिदिदढोवाणहस्स उवओगदिट्ठिजुत्तस्स ।
ण करिंति किंचि दुक्खं कसायविसकंटया मुणिणो ॥१३९७॥

'आबद्धधिदिदढोवाणहस्स' आबद्धधृतिदृढोपानत्कस्य ज्ञानोपयोगसहितदृष्टेर्मुने स्वल्पमपि दुःख न कुर्वन्ति कषायविषकंटका. ॥१३९७॥

गा०—इन्द्रियाँ बाणके समान पुरुषरूपी हिरनको बींधती है। बाणमें पुंख होते हैं। भोगे हुए भोगोका स्मरण इनका पुंख है। भोगोंकी चिन्ता इनका वेग है। रति इनकी धारा-गति है जो विषयरूपी विषसे लिप्त है। ये इन्द्रियरूप बाण मनरूपी धनुषके द्वारा छोड़े जाते हैं ॥१३९४॥

आगे कहते है कि पुरुषरूप मृगोंका घात करनेमें तत्पर उन बाणोंको संयमीजन ही निवारण करते हैं—

गा०—ध्यानरूपी श्रेष्ठ शक्तिसे युक्त श्रमण योद्धा सम्यग्ज्ञानरूप दृष्टिसे देखकर धैर्यरूप फलकके द्वारा इन्द्रियरूप बाणोंका वारण करते हैं ॥१३९५॥

गा०—परिग्रहरूपी घोर वनमे कषायरूपी विषैले काँटे फैले हैं। प्रमाद उनका मुख है और विषयोकी चाहसे वे तीक्ष्ण हैं। धैर्यरूपी दृढ जूतेको धारण किये विना जो उस वनमें विचरण करता है, उसे ये काँटे बींध देते हैं ॥१३९६॥

आगे कहते हैं इस प्रकारके धैर्यरूपी जूता धारण करनेवाले संयमीका वे कषायरूप विषैले काँटे कुछ भी नही करते—

गा०—जिस मुनिने धैर्यरूपी दृढ जूता धारण किया है और जो सम्यग्ज्ञानोपयोग दृष्टिसे सम्पन्न है उसको वे कषायरूपी विषैले काँटे कुछ भी दुःख नहीं देते ॥१३९७॥

---

१ फेडन्ति—मु० मूलारा०।

उद्धहणा अदिचवला अणिग्गहिदकसायमक्कडा पावा ।
गंथफललोलहिदया णासंति हु संजमारामं ॥१३९८॥

'उद्धहणा' असयता अतिचपला अनिगृहीताः कषायमर्कटा , परिग्रहफलासक्तहृदया नाशयन्ति सयमारामं ॥१३९८॥

णिच्चं पि अमज्झत्थे तिकालदोसाणुसरणपरिहत्थे ।
संजमरज्जूहिं जदी बंधंति कसायमक्कडए ॥१३९९॥

'णिच्चं पि' नित्यमपि अमाध्यस्थान्, त्रिकालविषयदोषानुसरणपटून, कषायमकर्टान्यतय. सयमरज्जूभिर्बध्नन्ति ॥१३९९॥

धिदिवम्मिएहिं उवसमसरेहिं साधूहिं णाणसत्थेहिं ।
इंदियकसायसत्तू सक्का जुत्तेहिं जेदुं जे ॥१४००॥

'धिदिवम्मिएहिं' धृतिसन्नद्धैः, उपशमशरैः साधुभिर्ज्ञानशस्त्रैरुपयुक्तैरिन्द्रियकषायशत्रवो जेतुं शक्या ॥१४००॥

इंदियकसायचोरा सुभावणासंकलाहिं वज्झंति ।
ता ते ण विकुव्वंति चोरा जह संकलाबद्धा ॥१४०१॥

'इंदियकसायचोरा' इन्द्रियकषायचौरा शुभध्यानभावशृंखलाभिर्बध्यन्ते । बन्धस्थास्ते न विकार कुर्वन्ति शृङ्खलाबद्धचोरा इव ॥१४०१॥

इंदियकसायवग्घा संजमणरघादणे अदिपसत्ता ।
वेरग्गलोहदढपंजरेहिं सक्का हु णियमेदुं ॥१४०२॥

'इंदियकसायवग्घा' इन्द्रियकषायव्याघ्रा संयमनरभक्षणे अत्यासक्ता वैराग्यलोहदृढपञ्जरै नियन्तुं शक्या. ॥१४०२॥

गा०—ये कषायरूपी बन्दर असयत हैं, अतिचपल है, पापी है, इनका हृदय परिग्रहरूपी फलमें आसक्त है। इनका यदि निग्रह नहीं किया तो ये सयमरूपी उद्यानका विनाश कर देते हैं ॥१३९८॥

गा०—ये कषायरूपी बन्दर, निरन्तर चपल है, त्रिकालवर्ती दोषोका अनुसरण करनेमें चतुर हैं। इन्हें संयमी संयमरूपी रस्सीसे बाँधता है ॥१३९९॥

गा०—सन्तोषरूपी कवच, उपशमरूपी बाण और ज्ञानरूपी शस्त्रोंसे सहित साधुओंके द्वारा वे इन्द्रिय और कषायरूप शत्रु जीते जा सकते हैं ॥१४००॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूपी चोर शुभध्यानरूप भावोकी साकलसे बाँधे जाते हैं। बाँधे जानेपर वे सांकलसे बँधे चोरोंकी तरह विकार नहीं करते ॥१४०१॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूपी व्याघ्र सयमरूपी मनुष्यको खानेके बड़े प्रेमी होते हैं। इन्हें वैराग्यरूपी लोहके मजबूत पीजरेमे रोका जा सकता है ॥१४०२॥

इंदियकसायहत्थी वयवारिमं णीणिदा उवायेण।
विणयवरत्ताबद्धा सक्का अवसा वसे कादुं ॥१४०३॥

'इंदियकसायहत्थी' इन्द्रियकषायहस्तिनः उपायेन व्रतवारीमुपनीता विनयवरत्राबद्धा अवशा अपि शक्या वशे नेतुं ॥१४०३॥

इंदियकसायहत्थी वोलेदुं सीलफलियमिच्छंता।
धीरेहिं रुंभिदव्वा धिदिजमलारुप्पहारेहिं ॥१४०४॥

इन्द्रियकसायहस्तिनः शीलपरिघालंघनैषिणो रोद्धव्या धीरैर्धृतिकर्णतोवप्रहारैः ॥१४०४॥

इंदियकसायहत्थी दुस्सीलवणं जदा अहिलसेज्ज।
णाणंकुसेण तइया सक्का अवसा वसं कादुं ॥१४०५॥

'इंदियकसायहत्थी' इन्द्रियकषायहस्तिन दुःशीलवनं प्रवेष्टुं यदाभिलषन्ति तदा अवशा अपि वशे कर्तुं शक्यन्ते ज्ञानांकुशेन ॥१४०५॥

जदि विसयगंधहत्थी अदिणिज्जदि रागदोसमयमत्ता।
विण्णाणज्झाणजोहस्स वसे णाणंकुसेण विणा ॥१४०६॥

'जदि विसयगंधहत्थी' यद्यपि विषयगन्धहस्तिनः स्वयं ग्रन्थाटवी प्रविशन्ति रागद्वेषमत्ता न तिष्ठेयुर्विज्ञानध्यानयोधस्य वशे ज्ञानाकुशेन विना ॥१४०६॥

विसयवणरमणलोला बाला इंदियकसायहत्थी ते।
पसमे रामेदव्वा तो ते दोसं ण काहिंति ॥१४०७॥

'विसयवणरमणलोला' विषयवनरमणलोलाः बाला इन्द्रियकषायहस्तिनः ते रतिमुपनेयाः प्रशमेन ततस्ते दोषं न कुर्वन्ति ॥१४०७॥

गा०—इन्द्रिय कषायरूपी हाथी यद्यपि स्वच्छन्द है तथापि व्रतरूपी बाड़ेमें ले जाकर विनयरूपी रस्सीसे उपायपूर्वक बाँधे जानेपर वशमे लाये जा सकते हैं ॥१४०३॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूप हाथी शीलरूपी अर्गलाको लांघना पसन्द करते हैं। अतः धीर पुरुषोको उनके दोनो कानोंके पास धैर्यरूपी प्रहार करके रोकना चाहिए ॥१४०४॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूप हाथी जब दुःशीलरूपी वनमें प्रवेश करना चाहे तो उसे ज्ञानरूपी अंकुशसे वशमें करना शक्य है ॥१४०५॥

गा०—यदि रागद्वेषरूपी मदसे मस्त विषयरूपी गन्धहस्ती ज्ञानाकुंशके विना विज्ञान ध्यानरूपी योधाके वशमें नहीं रहता और परिग्रहरूपी वनमें प्रवेश करता है ॥१४०६॥

गा०—तो इन्द्रिय और कषायरूप बालहस्ती विषयरूपी वनमें क्रीड़ा करनेके प्रेमी होते हैं। उन्हे प्रशमरूपी वनमें अर्थात् आत्मा और शरीरके भेदज्ञानसे प्रकट हुए स्वाभाविक वैराग्यमें रमण कराना चाहिए तब वे दोष नहीं करेंगे ॥१४०७॥

---

१. मवीणि—ज० मु०, मूलारा०। २. चेट्ठेज्ज झाण—मूलारा०।

सद्दे रूवे गंधे रसे य फासे सुभे य असुभे य।
तम्हा रागद्दोसं परिहर तं इंदियजएण ॥१४०८॥

'सद्दे रूवे गंधे रसे य' शुभाशुभेषु शब्दादिषु रागद्वेषं च निराकुरु त्वं इन्द्रियजयेनेत्युत्तरसूत्र-स्यार्थः ॥१४०८॥

जह णीरसं पि कडुयं ओसहं जीविदत्थिओ पिबदि।
कडुयं पि इंदियजयं णिव्वुइहेदुं तह [1]पिविज्ज ॥१४०९॥

'जह णीरसं पि' यथा स्वादुरहितं कटुकमप्यौषधं जीवितार्थं पिबति। तथा इन्द्रियजयं भजते कटुक-मपि निर्वृतिहेतुम् ॥१४०९॥

इन्द्रियजये क उपाय इत्याशङ्कायां इन्द्रियकषायविषयाणां शुभाशुभत्वे अनवस्थिते। ये शुभास्त एवे-दानीं अशुभा, अशुभा ये ते एव शुभा। ये तु अशुभतया दोषा इदानीं हरि? से शुभा इति गृहीता न त्वशुभा जातास्त एवामी इति कथं नानुरागस्तत्र ये वाऽशुभास्तेषु कथं द्वेषं शुभता प्रतिपत्स्यमानेषु इति निवेदयति—

जे आसि सुभा एण्हिं असुभा ते चेव पुग्गला जादा।
जे आसि तदा असुभा ते चेव सुभा इमा इण्हिं ॥१४१०॥

'जे आसि सुभा एण्हिं' ये पुद्गला शुभा आसन्निदानीं त एवाशुभा जाता। ये चासन्तदा अशुभा ते चैव शुभा इदानी इति तौ न युक्तौ रागद्वेषौ इति शिक्षयति ॥१४१०॥

सव्वे वि य ते भुत्ता चत्ता वि य तह अणंतखुत्तो मे।
सव्वेसु एत्थ को मज्झ विंभओ भुत्तविजडेसु ॥१४११॥

गा०—इसलिए हे क्षपक! इन्द्रियको जीतकर तू शुभ और अशुभ शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्शमें रागद्वेष मत कर ॥१४०८॥

गा०—जैसे जीवनका इच्छुक रोगी स्वादरहित कडुवी औषधी पीता है वैसे ही तू मोक्षके लिए कटुक भी इन्द्रियजयका सेवन कर ॥१४०९॥

इन्द्रिय जयका क्या उपाय है ऐसी शंका करनेपर कहते हैं—

गा०-टी०—इन्द्रिय और कषायके विषयोंमे अच्छा और बुरापना स्थिर नहीं है। जो विषय आज अच्छे लगते हैं कल वे ही बुरे लगते हैं। जो आज बुरे लगते है कल वे ही अच्छे लगते हैं। जिन्हे अच्छा मानकर स्वीकार किया वे ही बुरा लगनेपर द्वेषके पात्र होते हैं तो उनमें अनुराग कैसा? और जो बुरे लगते हैं कल वे ही अच्छ लगनेवाले हैं अतः उनमे द्वेष कैसा? जो पुद्गल इस समय अच्छे प्रतीत होते है वे ही बुरे लगने लगते हैं। जो पहले बुरे प्रतीत होते थे वे ही अब अच्छे प्रतीत होते हैं इसलिए उनमे रागद्वेष करना उचित नहीं है ॥१४१०॥

गा०—वे अच्छे बुरे सभी पुद्गल मैंने अनन्तबार भोगे हैं और अनन्तबार त्यागे हैं। उन भोगे और त्यागे हुए सब पुद्गलोंमें मुझे अचरज कैसा? इस प्रकार हे क्षपक! तुम्हें विचारना चाहिए ॥१४११॥

---

१. भजेज्ज मु०, मूलारा०।

'सव्वे वि ते भुत्ता' सर्वेऽपि च ते पुद्गलाः शुभाशुभरूपा अनुभूतास्त्यक्ता अनन्तवारं मया। तेषु द्रव्येषु भुक्तत्यक्तार्येषु को विस्मयो ममेति त्वया चिन्ता कार्या ॥१४११॥

सुखसाधनतया यदि तवानुरागो, दुःखसाधनतया च रोष सैव सुखदुःखसाधनता शुभाशुभादीनां रूपाणां नैवास्ति सङ्कल्पमन्तरेणात्मनः इति वदति—

रूवं सुभं च असुभं किंचि वि दुक्खं सुहं च ण य कुणदि ।
संकप्पविसेसेण हु सुहं च दुःखं च होइ जए ॥१४१२॥

'रूवं सुभं च असुभं' रूपं शुभमशुभं वा किञ्चिद्दुःखं सुखं च नैव करोति। सङ्कल्पवशेनैव सुखं वा दुखं भवति जगति ॥१४१२॥

इह य परत्त य लोए दोसे बहुगे य आवहइ चक्खू ।
इदि अप्पणो गणित्ता णिज्जेदव्वो हवदि चक्खू ॥१४१३॥

'इह य परत्त य' जन्मद्वयेऽपि बहून्दोषानावहति चक्षुरित्यात्मनावगणय्य निर्जेतव्यं चक्षुः ॥१४१३॥

एवं सम्मं सद्दरसगंधफासे विचारयित्ताणं ।
सेसाणि इंदियाणि वि णिज्जेदव्वाणि बुद्धिमदा ॥१४१४॥

'एवं सम्मं' उभयजन्मगोचरानेकदोषावहत्वं विचार्य स्वबुद्धया शेषाण्यपीन्द्रियाणि शब्दरसगन्धस्पर्शविषयाणि निर्जेतव्यानि बुद्धिमता। **'सद्दरसगंधफासे'** इति वैषयिकी सप्तमी ॥१४१४॥

क्रोधजयोपायमाचष्टे—

जदिदा सवदि असंतेण परो तं णत्थि मेत्ति खमिदव्वं ।
अणुकंपा वा कुज्जा पावइ पावं वरावोत्ति ॥१४१५॥

'जदिदा सवदि असंतेण' यदि तावदसता दोषेण शपति परः स दोषो न ममास्तीति क्षमा कार्या। असद्दोषख्यापनेनास्य मम किं नष्टं इति। अथवानुकम्पां आक्रोशके कुर्याद्वराकोऽसदभिधानेन समार्जयति पाप-

---

आगे कहते हैं यदि सुखका साधन होनेसे इनमें तेरा अनुराग है और दुःखका साधन होनेसे द्वेष है तो अच्छे बुरे पुद्गलोंमें वही सुख-दुःख साधनता तेरे संकल्पके सिवाय यथार्थमें नहीं है—

गा०—कोई अच्छा या बुरा रूप सुख या दुःख नहीं करता। जगत्मे संकल्पवश ही सुख-दुःख होता है ॥१४१२॥

गा०—इस लोक और परलोकमें ये आँखें बहुत बुराई उत्पन्न करती हैं ऐसा जानकर चक्षु इन्द्रियको जीतना चाहिए ॥१४१३॥

गा०—इस प्रकार दोनों लोकोंमें अनेक दोष उत्पन्न करने वाली जान अपनी बुद्धिसे विचारकर शब्द, रस, गन्ध और स्पर्शको विषय करने वाली शेष इन्द्रियोंको भी बुद्धिमान् पुरुषको जीतना चाहिए ॥१४१४॥

क्रोधको जीतनेका उपाय कहते हैं—

गा०-टी०—यदि दूसरा व्यक्ति मेरेमें अविद्यमान दोषको कहता है तो वह दोष मुझमे नहीं है अतः उसे क्षमा करना चाहिए; क्योंकि असत् दोषको कहनेसे मेरी क्या हानि हुई ? अथवा

भारं अनेक दु:खावह । मदीयैर्दोषैरस्य किञ्चिन्नायाति दोषजाल । गुणैर्वा किमस्मै किञ्चिद्भवति ? प्राणिना प्रतिनियता गुणदोषास्तत्तमेव प्रति सुखदु:खयोजना[1]स्ततो पुरसृतो (?) मुधानेन कर्मबन्ध. सम्पाद्यते इति ॥१४१५॥

चिन्ता करुणात्मिका रोषं परुषमपसारयति—

जदि वा सवेज्ज संतेण परो तह वि पुरिसेण खमिदव्वं ।
सो अत्थि मज्झ दोसो ण अलीयं तेण भणिदत्ति ॥१४१६॥

'जदि वा सवेज्ज' यदि वा शपेन्न सता दोषेण तथापि क्षमा कार्या । सोऽनेन कथ्यमानो दोषो ममास्ति न व्यलीकं तेनोक्तमिति [2]सङ्कल्पतया न हि [3]सन्तो दोषा· परे चेद् न ब्रुवन्ति इति विनश्यन्ति ॥१४१६॥

यो यस्य समुपकार महान्त चेतसि करोति स तस्यापराध अल्प सहते इति प्रसिद्धमेव लोके इति कथयति—

सत्तो वि ण चेव हदो हदो वि ण य मारिदो त्ति य खमेज्ज ।
मारिज्जंतो [4]वि सहेज्ज चेव धम्मो ण णट्ठोत्ति ॥१४१७॥

'सत्तो वि चेव' शप्त एवास्मि न हत इत्यहनन गुण पृथु चेतसि सस्थाप्य किमनेन शपनेन मे नष्टमिति क्षन्तव्य । एवमितरत्रापि योज्य । हत एव न मृत्यु प्रापित । मार्यमाणोऽपि सहेत विपन्निर्मूलन-क्षमोऽभिलषितसुखसम्पादनोद्यतो धर्मो न विनाशित इति ॥१४१७॥

उपायान्तरमपि रोषविजये निरूपयति —

निन्दा करने वाले पर दया करना चाहिए—बेचारा झूंठ बोलकर अनेक दु.ख देने वाला पाप भार एकत्र करता हैं । मेरे दोषोंसे उसमें दोष उत्पन्न नही होते और न मेरे गुणोसे ही उसका कोई लाभ होता है । प्राणियोंके अपने-अपने गुण दोष नियत है । उनसे होने वाला सुख-दु ख भी उन्हे ही होता है । अत. यह व्यर्थ ही कर्मबन्ध करता है ॥१४१५॥

आगे कहते है दया रूप चिन्तनसे कठोर क्रोध दूर होता है—

गा०——यदि दूसरा मेरेमें विद्यमान दोषको कहता है तब भी क्षमा करना चाहिए क्योंकि वह जिस दोषको कहता है वह मेरेमें है । वह झूंठ नही कहता । विद्यमान दोषोको दूसरे यदि न कहे तो वे नष्ट हो जाते हैं, ऐसी बात भी नही है ऐसा विचार करना चाहिए ॥१४१६॥

आगे कहते है कि जो जिसका महान् उपकार करता है वह उसके छोटेसे अपराधको सहता है यह बात लोकमे प्रसिद्ध ही है—

गा०—इसने मुझे अपशब्द ही कहे है मारा तो नही है, इस प्रकार उसके न मारनेके गुण-को चित्तमें स्थापित करके 'अपशब्द कहनेसे मेरा क्या नष्ट हुआ' अत: क्षमा करना चाहिए। मारे तो भी सहन करना चाहिए कि इसने विपत्तिको जड़से दूर करनेमे समर्थ और इष्ट सुखको देने वाले मेरे धर्मका नाश नही किया ॥१४१७॥

क्रोधको जीतनेका अन्य उपाय कहते है—

---

१ ना पर नृतो–अ० । ना पुर सृतो–आ० । ना परो सृतो–ज० । २. संकल्पतयता–मु० । ३ सतो दोषान्–आ० । ४. वि खमेज्ज–अ० आ० ।

रोसेण महाधम्मो णासिज्ज तणं व अग्गिणा सव्वो ।
पावं च करिज्ज महं बहुगंपि णरेण खमिदव्वं ॥१४१८॥

'**रोसेण महाधम्मो**' दुरर्जनो दुर्लभो दुश्चरो धर्मोऽनुयायी रोषेण [1]मदीयो नश्यति । अग्निना तृणमिव । **तथा चाभ्यधायि—**

अज्ञानकाष्ठजनितस्त्ववमानवातैः संधुक्षित पनववाग्गुरुविस्फुलिंगः ।
हिंसाशिखोऽपि भृशमुत्थितवैरधूमः क्रोधाग्निरुद्दहति धर्मवनं नराणाम् ॥ इति॥ [ ] ॥१४१८॥

उपायान्तरमपि वदति—

पुव्वकदमज्झपावं परं परदुःखकरणजादं मे ।
रिणमोक्खो मे जादो अज्जत्ति य होदि खमिदव्वं ॥१४१९॥

'**पुव्वकदमज्झपावं**' पापागमद्वारमजानता [2]अनेनापि प्रमादिना पूर्वं कृतं यत्कर्म पाप परेषा दु खकारणं तदद्य निर्वर्तित । ऋणमोक्षोऽद्य मम जात इति चिन्तयताऽपसारयितव्यो रोष ॥१४१९॥

पुव्वं सयमुवभुत्तं काले णाएण तेत्तियं दव्वं ।
को धारणीओ धणियस्स दिंतओ दुक्खिओ होज्ज ॥१३२०॥

'**पुव्वं सयमुवभुत्तं**' पूर्वं स्वयमेव भुक्त, अवधिकाले प्राप्ते । '**णायेण**' नीत्या । द्रव्यं अधमर्ण उत्तमर्णाय प्रयच्छन् को दु ख करोति ॥१४२०॥

गा०-टी०—आगसे तृणकी तरह क्रोधसे दु खसे उपार्जन किया गया दुर्लभ और दुश्चर मेरा धर्म नष्ट होता है । कहा भी है—यह क्रोधरूपी आग मनुष्योंके धर्मवनको जलाती है । यह क्रोधरूपी आग अज्ञानरूपी काष्ठसे उत्पन्न होती है, अपमानरूपी वायु उसे भड़काती है । कठोर वचनरूपी उसके बडे स्फुलिंग है । हिंसा उसकी शिखा है और अत्यन्त उठा वैर उसका धूम है ।

तथा यह क्रोध मुझे पापका बन्ध कराता है जो अनेक भवोमे दु खका बीज है । इसलिये चित्तमे क्षमा धारण करना चाहिए ॥१४१८॥

अन्य उपाय कहते हैं—

गा०—पापके आश्रवके द्वारको न जानते हुए मैने प्रमादवश जो पूर्वमे पापकर्म किया था, जो दूसरोंके दुःखका कारण था, वह आज चला गया । आज मै उस ऋणसे मुक्त हो गया । ऐसा विचारकर क्रोधको दूर करना चाहिए ॥१३१९॥

गा०-टी०—पूर्व जन्ममे मैने जिसका अपराध किया था उसके द्वारा इस जन्ममे उस अपराधसे उपार्जित पापकर्मकी उदीरणा किये जाने पर उसको भोगते हुए मुझे दु.ख कैसा ? साहूकार से पहले कर्जा लेकर जिस धनको मैने स्वय भोगा है, उतना ही धन उस ऋणका अवधिकाल आने पर देते हुए कौन कर्जदार दुःखी होता है ॥१४२०॥

---

१. महानपि न–आ० । २. अनेना–ज० ।

इह य परत्त य लोए दोसे बहुए य आवहदि कोघो ।
इदि अप्पणो गणित्ता परिहरिदव्वो हवइ कोघो ॥१४२१॥

स्पष्टा उत्तरगाथा ॥१४२१॥

क्रोधजयोपायभूतान्परिणामानुपदर्श्य मानप्रतिपक्षपरिणामं निरूपयति—

को इत्थ मज्झ माणो बहुसो णीचत्तणं पि पत्तस्स ।
उच्चत्ते य अणिच्चे उवट्ठिदे चावि णीचत्ते ॥१४२२॥

'को इत्थ मज्झ माणो' कोऽत्रासकृत्प्राप्ते [1]ज्ञानादिकैरुन्नतत्वे गर्वो मम बहुशो ज्ञानकुलरूपतपोद्रविणप्रभुत्वैरुन्नतता प्राप्तस्य प्राप्तेऽप्युन्नतत्वे अनवस्थायिनि सति उपस्थिते चोत्तरकालनीचत्वे ॥१४२२॥

अधिगेसु बहुसु संतेसु ममादो एत्थ को मइं माणो ।
को विब्भओ वि बहुसो पत्ते पुव्वम्मि उच्चत्ते ॥१४२३॥

स्पष्टा ॥१४२३॥

उत्तरगाथा—

जो अवमाणणकरणं दोसं परिहरइ णिच्चमाउत्तो ।
सो णाम होदि माणी ण दु गुणचत्तेण माणेण ॥१४२४॥

'जो अवमाणणकरणं' योऽवमानकरणं दोषं परिहरति नित्यमुपयुक्त स मानी भवति। न तु भवति मानी गुणरिक्तेन मानेन ॥१४२४॥

इह य परत्तय लोए दोसे बहुगे य आवहदि माणो ।
इदि अप्पणो गणित्ता माणस्स विणिग्गहं कुज्जा ॥१४२५॥

गा०—क्रोध इस लोक और परलोकमे बहुत दोषकारक है ऐसा जानकर क्रोधका त्याग करना चाहिए ॥१४२१॥

क्रोधको जीतनेके उपायभूत परिणामोको बतलाकर मानके प्रतिपक्षी परिणामोको कहते है—

गा०-टी०—ज्ञान, कुल, रूप, तप, धन, प्रभुत्व आदिमें मै ऊँचा भी होऊँ, तो उसका गर्व कैसा, क्योंकि अनेक बार मै इनमे नीचा भी हो चुका हू। उच्चता और नीचता ये दोनो अनित्य हैं ॥१४२२॥

गा०—इस लोकमे बहुतसे मुझसे भी ज्ञानादिमें अधिक हैं इनका मुझे अभिमान कैसा ? तथा पूर्व जन्मोमे मै यह उच्चता अनेक बार प्राप्त कर चुका हूँ तब इनके प्राप्त होने पर आश्चर्य कैसा ? ॥१४२३॥

जो सदा मन लगाकर अपमान करने रूप दोषका त्याग करता है अर्थात् किसीका अपमान नही करता वह मानी होता है। गुण रहित मानसे मानी नही होता ॥१४२४॥

---

१ ज्ञानादेकरत्नत्रयत्वे-आ० मु० ।

इह य परत्तय जन्मद्वये दोषान् बहूनावहति मानमिति विगणय्य माननिग्रहं कुर्यात्साधुजनः ।।१४२५।।

मायाप्रतिपक्षपरिणामस्वरूपं निगदति—

अदिगूहिदा वि दोसा जणेण कालंतरेण णज्जंति ।
मायाए पउत्ताए को इत्थ गुणो हवदि लद्धो ।।१४२६।।

'अविगूहिदा वि दोसा' अतीव संवृता अपि दोषा जनेन ज्ञायन्ते कालान्तरे मायया प्रयुक्तया को गुणो लब्ध इति चिन्तया निहन्ति ।।१४२६।।

[1]परिभागम्मि असंते णियडिसहस्सेहिं गूहमाणस्स ।
चंदग्गहोव्व दोसो खणेण सो पायडो होइ ।।१४२७।।

जणपायडो वि दोसो दोसोत्ति ण घेप्पए सभागस्स ।
जह समलत्ति ण घिप्पदि समलं पि जए तलायजलं ।।१४२८।।

'जणपायडो वि दोसो' लोकप्रकटोऽपि दोषो दोष इति न गृह्यते भाग्यवतः । यथा समलमिति न गृह्यते लोके तटाकजलं समलमिति सदृशं । एतदुक्तं भवति पुण्यवतोऽपि मायया न किञ्चित्साध्यं । प्रकटेऽपि दोषे यतोऽसौ जगति मान्यः । दोषनिगूहनं हि मान्यताविनाशभयादिति भावः ।।१४२८।।

अथ माया करोत्यर्थार्थं तथापि सानर्थिकेति वदति—

डंभसएहिं बहुगेहिं सुपउत्तेहिं अपडिभोगस्स ।
हत्थं ण एदि अत्थो अण्णादो सपडिभोगादो ।।१४२९।।

गा०—इस लोक और परलोकमे मान बहुत दोषकारी है। ऐसा जानकर अपने मानका निग्रह करना चाहिए ।।१४२५।।

अब मायाके विरोधी परिणामोका स्वरूप कहते है—

गा०— अत्यन्त छिपाकर भी की गई बुराई कालान्तरमे मनुष्योंको ज्ञात हो जाती है। तब मायाचार करनेसे क्या लाभ है। इस प्रकारके चिन्तनसे मायाको दूर करना चाहिए ।।१४२६।।

गा०—भाग्य प्रतिकूल हो तो हजार छलसे छिपाया हुआ भी काम चन्द्रमाके ग्रहणकी तरह क्षणमात्रमे प्रकट हो जाता है ।।१४२७।।

गा०-टी०—और भाग्यशालीका लोकमें प्रकट भी दोष दोष नही माना जाता। जैसे तालाबका जल मैला हो तब भी लोग उसे मैला नहीं मानते। आशय यह है कि पुण्यशालीको मायासे कोई लाभ नही है क्योकि दोष प्रकट होनेपर भी वह जगत्मे मान्य रहता है। मान्यताके विनाशके भयसे ही मनुष्य दोषको छिपाता है ।।१४२८।।

आगे कहते है कि मनुष्य धनके लिए मायाचार करता है किन्तु वह व्यर्थ है—

गा०—अच्छी तरह सैकड़ों छलकपट करनेपर भी पुण्यहीनके हाथमे पुण्यशालीका धन नही आता ।।१४२९।।

---

१. परिभोगम्मि—ज० । एता टीकाकारो नेच्छति ।

'डंभसदेहिं बहुगेहिं' दम्भशतैर्बहुभिः सुप्रयुक्तैरपि अपुण्यस्य हस्त नायात्यर्थ । अन्यस्मात्स-पुण्यात् ॥१४२९॥

इह य परत्तय लोए दोसे बहुए य आवहइ माया ।
इदि अप्पणो गणित्ता परिहरिदव्वा हवइ माया ॥१४३०॥

'इह य परत्त य' इहपरलोकयोर्बहून्दोषानावहति माया । इति आत्मनि निरूप्य परिहर्तव्या भवति माया ॥१४३०॥

लोभे कए वि अत्थो ण होइ पुरिसस्स अपडिभोगस्स ।
अकएवि हवदि लोभे अत्थो पडिभोगवंतस्स ॥१४३१॥

'लोभे कदे' लोभे कृतेऽप्यर्थो न भवति पुरुषस्य अपुण्यस्य । अकृतेऽपि लोभेऽर्थो भवति पुण्यवत । तत अर्थासक्तिरर्थलाभे मम न निमित्तमपि तु पुण्यमित्यमया चिन्तया लोभो निराकार्य ॥१४३१॥

अपि च [1]अर्थप्राप्तये जनः प्रयतते अर्था पुनरसकृत्प्राप्तास्त्यक्ताश्च तेषु को विस्मय इति मन प्रणिधान कुरु लोभविजयायेति वदति—

सव्वे वि जए अत्था परिगहिदा ते अणंतखुत्तो मे ।
अत्थेसु इत्थ को मज्झ विंभओ गहिदविजडेसु ॥१४३२॥

'सव्वे वि जये अत्था' सर्वेऽपि जगत्यर्था. परिगृहीता मयानन्तवार ममार्थेष्वमीषु को विस्मयो गृहीत-त्यक्तेषु ॥१४३२॥

इह य परत्तय लोए दोसे बहुए य आवहइ लोभो ।
इदि अप्पणो गणित्ता णिज्जेदव्वो हवदि लोभो ॥१४३३॥

इंदियकसायत्तिगदं ॥१४३३॥

गा०—माया इस लोक और परलोकमे बहुतसे दोष लाती है ऐसा जानकर मायाका त्याग करना चाहिए ॥१४३०॥

गा०—लोभ करनेपर भी पुण्यहीन पुरुषके पास धन नही होता, और लोभ नही करनेपर भी पुण्यशालीके पास धन होता है। अत धनका लोभ धनलाभमे निमित्त नही है किन्तु पुण्य निमित्त है ऐसा विचारकर लोभको त्यागना चाहिए ॥१४३१॥

अर्थकी प्राप्तिके लिए मनुष्य प्रयत्न करता है। किन्तु अर्थ अनेक बार प्राप्त हुआ और छोडा है। उसमे आश्चर्य कैसा ? इस तरह लोभको जीतनेके लिए मनमे चिन्तन करो, यह कहते हैं—

गा०—जगत्मे जितने पदार्थ हैं वे सब मैंने अनन्तबार प्राप्त किये। उन ग्रहण किये और त्यागे हुए पदार्थोंमें आश्चर्य कैसा ? ॥१४३२॥

गा०—लोभ इस भव और परभवमें बहुतसे दोष पैदा करता है ऐसा जानकर लोभको त्यागना चाहिए ॥१४३३॥

इस प्रकार इन्द्रिय और कषायोंका कथन किया।

---

1. अप्राप्ताय-आ०।

एवमिन्द्रियकषायपरिणामनिरोधोपायभूतान्परिणामानुपदिश्य निद्राजयक्रमं निरूपयति सूरिः—

णिद्दं जिणाहि णिच्चं णिद्दा हु णरं अचेयणं कुणइ ।
वट्टिज्ज हु पासुत्तो खवओ सव्वेसु दोसेसु ॥१४३४॥

'**णिद्दं जिणाहि**' निद्रां जय नित्यं। अजिता सा किमपकारं करोति इत्याशङ्क्य आह '**णिद्दा हु णरं अचेयणं कुणइ**' निद्रा नरं अचेतनं करोति। चैतन्यरहितावस्थाभावात्किमुच्यते करोतीति। अत्रोच्यते–विवेकज्ञानरहितत्वमेवात्राचेतनशब्देनोच्यते। यत एव योग्यायोग्यविवेकज्ञानरहित अत एव। '**वट्टिज्ज हु**' वर्तते एव। '**पासुत्तो**' प्रकर्षेण सुप्तः '**खवओ**' क्षपकः। '**सव्वेसु दोसेसु**' हिंसामैथुनपरिग्रहादिकेषु ॥१४३४॥

निद्रा कर्मोदयवशात्प्रवर्तते कथं मयापाकर्तव्या इत्यत्राह—

जदि अधिवाधिज्ज तुमं णिद्दा तो तं करेहि सज्झायं ।
सुहुमत्थे वा चिंतेहि सुणसु संवेगणिव्वेगं ॥१४३५॥

'**जदि अधिवाधिज्ज तुमं**' यद्यधिबाधेत भवन्तं निद्रा। ततस्त्वं कुरु स्वाध्यायं। '**सुहुमत्थे वा चिंतेहि**' सूक्ष्मान्वाऽर्थान् चिन्तय। '**सुणसु संवेगणिव्वेगं**' शृणुष्व संवेजनीं निर्वेजनीं वा कथां ॥१४३५॥

प्रकारान्तरं निद्राविजयहेतुं निगदति—

पीदी भए य सोगे य तहा णिद्दा ण होइ मणुयाणं ।
एदाणि तुमं तिण्णिवि जागरणत्थं णिसेवेहिं ॥१४३६॥

'**पीदी भए य सोगे**' प्रीत्या भये शोके च सति निद्रा मनुष्याणां न भवति। तेन प्रीत्यादिसेवां कुरु त्वं निद्राविजितये ॥१४३६॥

इस प्रकार इन्द्रिय और कषायरूप परिणामोंको रोकनेके उपायरूप परिणामोंको कहकर निद्राको जीतनेका क्रम कहते है—

गा०–टी०—सदा निद्रापर विजय प्राप्त करो। नहीं जीतनेपर वह क्या बुराई करती है यह कहते है—निद्रा मनुष्यको अचेतन करती है।

शंका—चेतन मनुष्यकी चैतन्यरहित अवस्था नहीं होती। तब कैसे कहते हैं कि निद्रा अचेतन करती है?

समाधान—यहाँ अचेतन शब्दसे विवेकज्ञानसे रहित होना ही कहा है।

इसलिए जो गहरी नींदमें सोया है वह क्षपक योग्य अयोग्यके विवेकज्ञानसे रहित होनेसे हिंसा मैथुन परिग्रह आदि सब दोषोंमें प्रवृत्ति करता है ॥१४३४॥

निद्रा कर्मके उदयसे होती है। उसे मैं कैसे दूर करूँ? इसका उत्तर आचार्य देते हैं—

गा०—यदि तुम्हें निद्रा सताती है तो स्वाध्याय करो। या सूक्ष्म अर्थोंका विचार करो। अथवा संवेग और निर्वेदको करनेवाली कथा सुनो ॥१४३५॥

निद्राको जीतनेका अन्य उपाय कहते हैं—

गा०—प्रीति, भय अथवा शोक होनेपर मनुष्योंको निद्रा नहीं आती। अतः तुम निद्राको जीतनेके लिए प्रीति आदिका सेवन करो ॥१४३६॥

प्रीतिभयशोकानां अशुभपरिणामत्वात्कर्मास्रवनिमित्तता । निद्राया वा अविशिष्टत्वात् कथ संवरार्थिनो निरूप्यते प्रीत्यादिक इत्याशङ्काया संवरहेतुभूततया तद्व्यपदेशं प्रति नियतविषयमुपदर्शयति—

भयमागच्छसु संसारादो पीदिं च उत्तमट्ठम्मि ।
सोगं च पुरादुच्चरिदादो णिद्दाविजयहेदुं ॥१४३७॥

'**भयमागच्छसु**' भय प्रतिपद्यस्व । '**संसारादो**' संसारात् पञ्चविधपरावर्तनरूपात् । प्रीतिं रत्नत्रयाराधनायां । शोक उपैहि पूर्वकृताद्दुश्चरितात् निद्रां विजेतुं । नरकादिगतिष्वसकृत्परिवर्तमानेन शारीरमागन्तुकं, मानस, स्वाभाविक च दु.खं विचित्रमनुभूतं तत्पुनरप्यायास्यति इति मन प्राणिधेहि । सकलामापत्संहतिमुन्मूलयितुं, अभ्युदयनिश्रेयससुखानि च प्रापयितु, असारशरीभारमपनेतु, अनन्तावबोधदर्शनसाम्राज्यश्रियमाक्रष्टुं, कर्मविषविटपानुत्पाटयितु क्षमामिमां, अनन्तेषु भवेषु अनवाप्तपूर्वां रत्नत्रयाराधना कर्तुं उद्यतोऽस्मीति प्रीतिर्भावनीया । हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेषु मिथ्यात्वकषायेष्वशुभमनोवाक्काययोगेषु विचित्रकर्मार्जनमूलेषु चतुर्विधबन्धपर्यायनिमित्तेषु अनारत मन्दभाग्य प्रवृत्तोऽस्मि हिताहितविचारणाविमुग्धबुद्धितया सन्मार्गस्योपदेष्टृणामनुपलम्भात्प्रबरज्ञाना[1]वरणोदयात्तदुदीरितार्थतत्त्वानवबोधात् । अवगमे सत्यप्यश्रद्धाया, चारित्रमोहोदयात्सन्मार्गेऽप्रवृत्तेश्च दु खाम्भोधौ निमग्नोऽस्मीत्युद्विग्नचित्ततया च निद्रा प्रयाति ॥१४३७॥

यहाँ शंका होती है कि प्रीति भय और शोक तो अशुभ परिणामरूप होनेसे कर्मोके आस्रवमें निमित्त होते है । अत उनमे और निद्रामे कोई अन्तर नही है । तब जो संवरका इच्छुक है उसके लिए प्रीति आदि करनेको क्यों कहते है ? इसके उत्तरमें सवरके हेतु जो प्रीति आदि हैं उनके प्रतिनियत विषयको बतलाते हैं—

गा०-टी०—निद्राको जीतनेके लिये पाँच प्रकारके परावर्तन रूप ससारसे भय करो । रत्नत्रयकी आराधनामें प्रीति करो और पूर्वमे किये दुराचरणके लिये शोक करो । नरकादि गतियोंमे बार-बार आने जानेसे मैने शारीरिक, आगन्तुक, मानसिक और स्वाभाविक अनेक प्रकारका दुःख भोगा । वही दु.ख आगे भी भोगनेमे आवेंगे, ऐसा मनमें विचार करो । समस्त आपत्तियोके समूहका विनाश करनेके लिये, स्वर्ग और मोक्षके सुखोंको प्राप्त करनेके लिये, असार शरीरका भार उतारनेके लिये, अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन रूप साम्राज्य लक्ष्मीको आकर्षित करनेके लिये, स्वर्ग और मोक्षके सुखोको प्राप्त करनेके लिये और कर्मरूपी विष वृक्षको उखाडनेमें समर्थ इस रत्नत्रय आराधनाको, जिसे पहले अनन्तभवोंमे कभी प्राप्त नही किया, करनेके लिये मै तत्पर हूँ । इस प्रकार प्रीतिकी भावना करो । हिंसा झूठ चोरी अब्रह्म परिग्रह, मिथ्यात्व कषाय और अशुभ मनोयोग अशुभ वचन योग अशुभ काययोगमें, जो नाना प्रकारके कर्मोंके संचयके मूल है और चार प्रकारके बन्धमे निमित्त हैं, मै अभागा निरन्तर लगा रहा, क्योंकि हित अहितके विचार मे मूढ बुद्धि होनेसे तथा सन्मार्गका उपदेश देने वालोंकी प्राप्ति न होनेसे अथवा प्रबल ज्ञानावरणका उदय होनेसे उनके द्वारा कहे गये अर्थ तत्त्वको न जान सकनेसे, या जान लेने पर भी श्रद्धा न करनेसे और चारित्र मोहके उदयसे सन्मार्गमें प्रवृत्ति न करनेसे मैं दु खके समुद्रमें डूबा हू । इस प्रकार चित्तके उद्विग्न होनेसे निद्रा चली जाती है ॥१४३७॥

---

१ ज्ञानावरोधोदयात्तदुदीरितार्थान—अ० मु० ।

जागरणत्थं इच्चेवमादिकं कुण कम्म सदा उत्तो ।
झाणेण विणा वंज्झो कालो हु तुमे ण कायव्वो ॥१४३८॥

जागरणार्थं निद्रानिरासार्थं एवमादिकं कुरु कर्म सदोपयुक्तं । ध्यानेन विना बन्ध्यः कालो न कर्तव्यस्त्वया ॥१४३८॥

संसाराडविणित्थरणमिच्छदो अणवणीय दोसाहिं ।
सोदुं ण खमो अहिमणपणीय सोदुं व सघरम्मि ॥१४३९॥

'संसाराडविणिच्छरणमिच्छदो' संसाराटविनिस्तरणमिच्छन्ननपाकृत्य दोषान् न हि स्वप्तुं क्षमः । अहिं अनपनीय स्वप्तुमिव गृहे ॥१४३९॥

को णाम [1]णिरुव्वेगो लोगे मरणादिअग्गिपज्जलिदे ।
पज्जलिदम्मि व णाणी घरम्मि सोदुं अभिलसिज्ज ॥१४४०॥

'को णाम णिरुव्वेगो लोगे मरणादि अग्गिपज्जलिदे' जातिजरामरणव्याधयः, शोका भयानि, प्राथिता[2]लाभो, अभिमतवियोग इत्यादिनाग्निना प्रज्वलिते । 'णाणी सोदुमभिलसेज्ज' ज्ञानी स्वप्तुमभिलषेत् । 'पज्जलिदम्मि घरम्मि व' प्रज्वलिते गृह इव ॥१४४०॥

को णाम णिरुव्वेगो सुविज्ज दोसेसु अणुवसंतेसु ।
गहिदाउहाण बहुयाण मज्झयारेव सत्तूणं ॥१४४१॥

'को णाम णिरुव्वेगो' को नाम निरुद्वेगः स्वपेद्रागादिषु संसारप्रवर्द्धनेषु दोषेषु अनुपशान्तेषु गृहीतायुधाना शत्रूणां बहूनां मध्ये इव ॥१४४१॥

णिद्दा तमस्स सरिसो अण्णो णत्थि हु तमो मणुस्साणं ।
इदि णच्चा जिणसु तुमं णिद्दा ज्झाणस्स विग्घयरी ॥१४४२॥

गा०—निद्राको दूर करनेके लिये इस प्रकारके चिन्तनमें सदा लगे रहो। ध्यानके विना तुम्हें एक क्षण भी नही गँवाना चाहिए ॥१४३८॥

गा०—जैसे घरमें यदि सर्प घुसा हो तो उसे निकाले विना सोना शक्य नहीं है। उसी प्रकार जो संसार रूपी महावनसे निकलना चाहता है वह दोषोंको दूर किये विना सोनेमें समर्थ नहीं होता ॥१४३९॥

गा०—जलते हुए घरकी तरह लोकके जन्म, जरा, मरण, व्याधि, शोक, भय, प्रार्थितकी अप्राप्ति और इष्ट वियोग इत्यादि आगसे जलते रहने पर कौन ज्ञानी निर्भय होकर सोना चाहेगा ॥१४४०॥

गा०—जैसे शस्त्रधारी बहुतसे शत्रुओंके मध्यमें कोई निर्भय होकर नहीं सो सकता, उसी प्रकार संसारको बढ़ानेवाले रागादि दोषोंके उपशान्त हुए विना कौन निर्भय होकर सो सकता है ॥१४४१॥

---

१. अणुव्विग्गो मूलारा० । २. प्रार्थितकोमो आ० ।

'णिद्दा तमस्स सरिसो' तमस्सदृशमन्यत्तमो नास्ति मनुजानां इति ज्ञात्वा निद्रा ध्यानस्य विघ्नकारिणीं जयेति ॥१४४२॥

कुण वा णिद्दामोक्खं णिद्दामोक्खस्स भणिदवेलाए ।
जह वा होइ समाही खवणकिलिंतस्स तह कुणह ॥१४४३॥

'कुण वा णिद्दामोक्खं' कुरु वा निद्रामोक्षं । निद्रामोक्षस्य कथितायां वेलायां रात्रेस्तृतीये यामे इति यावत् । यथा वा समाधिर्भवति भवत उपवासपरिश्रान्तस्य तथा वा निद्रामोक्षं कुरु ॥१४४३॥ णिद्दत्तिगदं ।

उक्तार्थोपसंहारं वक्ष्यमाणं चाधिकारं दर्शयत्युत्तरगाथा—

एस उवावो कम्मासवदारणिरोहणो हवे सव्वो ।
पोराणयस्स कम्मस्स पुणो तवसा खओ होइ ॥१४४४॥

'एस उवाओ' कर्मणामास्रवद्वारनिरोधे उपायोऽयं सर्वोऽभिहितः । पौराणस्य कर्मणस्तपसा क्षयो भवति । संवरपूर्विका निर्जरा मुक्तये भवति न संवरहीनेति पूर्वं संवरोपन्यासः ॥१४४४॥

अब्भंतरबाहिरगे तवम्मि सत्ति सगं अगूहंतो ।
उज्जमसु सुहे देहे अप्पडिबद्धो अणलसो तं ॥१४४५॥

'अब्भंतरबाहिरगे' अभ्यन्तरे बाह्ये च तपस्युद्योगं कुरु त्वं शक्तिमगूहमानः । सुखे शरीरे चानासक्तिः अनालस्यः । न हि शरीरे सुखे वा आदरवांस्तत्प्रतिपक्षभूते तपसि प्रयतते । न[1] सालस्य प्रवर्तते तपसि । तपसः प्रत्यूहभावेन स्थितं सुखे शरीरे च प्रतिबद्धत्वमलसत्वमावेदितमनेन ॥१४४५॥

गा०—निद्रा रूपी अन्धकारके समान मनुष्योंका कोई दूसरा अन्धकार नहीं है। ऐसा जानकर हे क्षपक ! तुम ध्यानमें विघ्न करने वाली निद्राको जीतो ॥१४४२॥

गा०—अथवा यदि निद्राको नहीं जीत सकते हो तो आगममें निद्रा त्यागनेका जो समय रात्रिका तीसरा पहर कहा है उस समय निद्रा त्यागो । अथवा उपवाससे थके हुए आपकी समाधि जिस प्रकार हो उस प्रकार करो ॥१४४३॥

आगे उक्त कथनका उपसंहार और आगेका अधिकार कहते हैं—

गा०—नवीन कर्मके आनेके द्वारको रोकनेका यह सब उपाय कहा है। पूर्व संचित कर्मोंका क्षय तपसे होता है। संवर पूर्वक निर्जरा मोक्षका कारण होती है, संवरके विना निर्जरा मोक्षका कारण नहीं है। इसलिये पहले संवरका कथन किया है ॥१४४४॥

गा०-टी०—हे क्षपक ! अपनी शक्तिको न छिपाकर अभ्यन्तर और बाह्य तपमें उद्योग करो। सुखमें और शरीरमें आसक्त मत होओ और न आलस्य करो। जो शरीर और सुखमें आदरभाव रखता है वह उनके विरोधी तपमें प्रयत्न नहीं करता। तथा आलसी भी तपमें प्रवृत्ति नहीं करता। इससे सुख और शरीरमें आसक्ति तथा आलस्यको तपके लिये विघ्नकारी कहा है ॥१४४५॥

---

१. न चालस्यः—आ० । न चालसः—मु०, मूलारा० ।

सुहसीलदाए अलसत्तणेण देहपडिबद्धदाए य ।
जो सत्ती संतीए ण करिज्ज तवं स सत्तिसमं ।।१४४६।।

'सुहसीलदाए' सुखासक्ततया, अलसतया, देहप्रतिबद्धतया वा यः शक्तौ सत्यामपि तपो न करोति शक्तिसमम् ।।१४४६।।

तस्स ण भावो सुद्धो तेण पउत्ता तदो हवदि माया ।
ण य होइ धम्मसद्धा तिव्वा सुहदेहपिक्खाए ।।१४४७।।

'तस्स ण भावो' तस्य परिणामो न शुद्धस्तस्मात्तेन शक्तिसमे तपस्यवर्तमानेन माया प्रयुक्ता भवति । यतस्ततो न भावः शुद्धः, धर्मे तीव्रा च श्रद्धा न भवति । केन ? 'सुहदेहपिक्खाए' सुखे देहे च प्रेक्षया तत्र आसक्तया बुद्धया हेतुभूतया ।।१४४७।।

अप्पा य वंचिओ तेण होइ विरियं च गूहियं भवदि ।
सुहसीलदाए जीवो बंधदि हु असादवेदणियं ।।१४४८।।

'अप्पा य वंचिओ' आत्मा वंचितस्तेन । शक्त्यनुरूपे तपस्यनभ्युद्यतेन शक्तिश्च प्रच्छादिता भवति । सुखासक्ततया जीवो बध्नात्यसातवेदनीयं चानेकभवेषु दुःखावहं ।।१४४८।।

आलस्यदोषमाचष्टे—

विरियंतरायमलसत्तणेण बंधदि चरित्तमोहं च ।
देहपडिबद्धदाए साधू सपरिग्गहो होइ ।।१४४९।।

विरियंतरायं वीर्यान्तरायमलसतया बध्नाति चारित्रमोहनीयं च । शरीरासक्त्या साधुः सपरिग्रहो भवति ।।१४४९।।

मायादोसा मायाए हुंति सव्वे वि पुव्वणिद्दिट्ठा ।
धम्मम्मि [1]णिप्पिवासस्स होइ सो दुल्लहो धम्मो ।।१४५०।।

गा०—सुखमे आसक्त होनेसे, आलस्यसे और शरीरमे प्रतिबद्ध होनेसे जो शक्ति होते हुए भी शक्तिके अनुसार तप नहीं करता ।।१४४६।। उसका परिणाम शुद्ध नही है । अत. शक्तिके अनुसार तपमे प्रवृत्ति न करने वाला मायाचारी है । तथा सुख और शरीरमें आसक्ति होनेसे उसको धर्ममें तीव्र श्रद्धा नहीं है ।।१४४७।।

गा०—जो शक्तिके अनुसार तपमें तत्पर नही है वह आत्माको ठगता है और अपनी शक्तिको छिपाता है । तथा सुखमें आसक्त होनेसे असातवेदनीयको बाँधता है जो अनेक भवोंमें दु.खदायी है ।।१४४८।।

आलस्यके दोष कहते हैं—

गा०—आलसी होनेसे वह वीर्यान्तराय और चारित्र मोहनीय कर्मका बन्ध करता है । तथा शरीरमें आसक्ति रखनेसे वह साधु परिग्रही होता है ।।१४४९।।

---

1. णिप्पिहासस्स—आ० ।

'मायादोसा' मायादोषा. सर्वेऽपि पूर्वनिर्दिष्टा.। मायाया तपसि स्वशक्तिनिगूहनलक्षणाया भवन्ति किं च जन्मन्मि धर्मे तपोलक्षणे। भिप्पिवासस्स अनादरस्य जन्मान्तरे दुर्लभो भवति धर्म. ॥१४५०॥

दोषान्तरमपि निगदति—

पुव्वुत्ततवगुणाणं चुक्को जं तेण वंचिओ होइ।
विरियणिगूही बंधदि मायं विरियंतरायं च ॥१४५१॥

'पुव्वुत्ततवगुणाणं' पूर्वोक्तसंवरनिर्जरा चेत्येवमादिभिस्तप.साध्यैरुपकारैः। 'चुक्को' च्युत.। 'जं' यस्मात्। 'तेण' तेन तप साध्योपकारप्रच्युतत्वेन। 'वंचिदो होदि' वञ्चितो भवति। विरियणिगूही बंधदि मायं' वीर्यसंवरणपरो बध्नाति मायाकर्म 'विरियंतराय च' वीर्यान्तराय च ॥१४५१॥

तवमकरिंतस्सेदे दोसा अण्णे य होंति संतस्स।
होंति य गुणा अणेया सत्तीए तवं कुणंतस्स ॥१४५२॥

'तवमकरेंतस्स' तपस्यनुद्यतस्येमे दोषा अन्ये च भवन्तीति ज्ञातव्या। भवन्ति चानेकगुणा शक्त्या तपसि वर्तमानस्य ॥१४५२॥

तपोगुणप्रख्यापनायोत्तरप्रबन्ध —

इह य परत्त य लोए अदिसयपूयाओ लहइ सुतवेण।
आवज्जिज्जंति तहा देवा वि सइंदिया तवसा ॥१४५३॥

इह जन्मनि परत्र च तपसा सम्यक् कृतेन अतिशयपूजा लभ्यते। आवर्ज्यन्ते च तपसा देवा सेन्द्रका ॥१४५३॥

अप्पो वि तवो बहुगं कल्लाणं फलइ सुप्पओगकदो।
जह अप्पं वडबीअं फलइ वडमणेयपारोहं ॥१४५४॥

गा०—तपमे अपनी शक्तिको छिपाने रूप मायाचारमे वे सब दोष होते है जो पूर्वमे माया-के दोष कहे है। जो धर्ममें अनादर भाव रखता है उसको दूसरे जन्ममें धर्मकी प्राप्ति दुर्लभ होती है ॥१४५०॥

अन्य दोष भी कहते हैं—

गा०—पूर्वमे जो तपके द्वारा साध्य संवर निर्जरा इत्यादि उपकार कहे हैं उनसे च्युत होने से वह उनसे वंचित होता है। और अपनी शक्तिको छिपानेसे मायाकर्म और वीर्यान्तराय कर्मका बन्ध करता है ॥१४५१॥

गा०—जो तपमें तत्पर नही होता उसको ये दोष तथा अन्य दोष होते हैं और जो शक्तिके अनुसार तप करता है उसमे अनेक गुण होते है ॥१४५२॥

आगे तपके गुण कहते हैं—

गा०—सम्यक्रूपसे तप करनेसे इस जन्ममें और परजन्ममें सातिशय पूजा प्राप्त होती है। तथा तपसे इन्द्रसहित सब देव भी विनय करते है ॥१४५३॥

'अप्पोवि तवो' अल्पमपि तपः महाकल्याणं फलति सुसंयमनिष्पन्नं। सुष्ठु प्रयुज्यते प्रवर्त्यतेऽनेनेति च विग्रहे संयमः सुप्रयोगशब्देनोच्यते। यथा अल्पमपि वटबीजं फलति वटमनेकप्ररोहं अल्पमपि पृथुल फलदायितपः इत्येतदाख्यातमनया ॥१४५४॥

सुट्ठु कदाण वि सस्सादीणं विग्घा हवंति अदिबहुगा।
सुट्ठु कदस्स तवस्स पुण णत्थि कोइ वि जए विग्घो ॥१४५५॥

'सुट्ठु कदाण वि' सम्यक् कृतानामपि शस्यादीनां अतीव विघ्ना भवन्ति। तपसः पुनः सम्यक् कृतस्य जगति न कश्चिद् विघ्नः फलदाने। निर्विघ्नफलदायित्वं तपसो माहात्म्यं कथितम् अनया ॥१४५५॥

जणणमरणादिरोगादुरस्स सुतवो वरोसधं होदि।
रोगादुरस्स अदिविरियमोसधं सुप्पउत्तं वा ॥१४५६॥

'जणणमरणादिरोगादुरस्स' जन्ममरणाद्यापीडितस्य सुतपो वरौषधं भवति। रोगपीडितस्य सुप्रयुक्तमतिवीर्यमौषधमिव। जननमरणादीना विनाशकत्वं तत्कारणकर्मविनाशादनेनाख्यायते ॥१४५६॥

संसारमहाडाहेण डज्झमाणस्स होइ सीयघरं।
सुतवोदाहेण जहा सीयघरं डज्झमाणस्स ॥१४५७॥

'संसारमहाडाहेण' ससारमहादाघेन दह्यमानस्स तपो भवति जलगृहं। यथा दह्यमानस्य सूर्यांशुभिर्धारागृहम्। सांसारिकदुःखनिर्मूलनकारिता तपसोऽनेन सूच्यते ॥१४५७॥

णीयल्लओ व सुतवेण होइ लोगस्स सुप्पिओ पुरिसो।
मायाव होइ विस्ससणिज्जो सुतवेण लोगस्स ॥१४५८॥

गा०-टी०—सम्यक् सयमपूर्वक किया गया थोड़ा भी तप बहुत कल्याणकारी होता है। गाथामे सुप्रयोग शब्दसे 'जिसके द्वारा सुष्ठुरूप प्रवर्तित होता है' इस विग्रहके अनुसार सयम लिया गया है। जैसे छोटा-सा भी वटबीज अनेक शाखा प्रशाखासे पूर्ण वटवृक्षरूपसे फलता है उसी प्रकार थोड़ा भी तप बहुत फल देता है। यह इस गाथाके द्वारा कहा है ॥१४५४॥

गा०—धान्य आदिकी खेती बहुत सावधानतासे परिश्रमपूर्वक करनेपर भी उसमें बहुत विघ्न आते हैं। किन्तु सम्यक्रूपसे किये गये तपके फल देनेमें कोई विघ्न नही आता। निर्विघ्न फल देना तपका माहात्म्य है यह इस गाथाके द्वारा कहा है ॥१४५५॥

गा०-टी०—जैसे रोगसे पीड़ित पुरुषके लिए यत्नपूर्वक दी गई अति शक्तिशाली औषध होती है। उसी प्रकार जन्ममरण आदि रोगसे पीड़ितको श्रेष्ठ औषध तप है। तप करनेसे जन्ममरणके कारण कर्मोंका विनाश होता है। इससे तपको जन्ममरण आदिका विनाशक कहा है ॥१४५६॥

गा०—संसाररूपी महादाहसे जलते हुए प्राणीके लिए तप जलघर है, जैसे सूर्यकी किरणोंसे जलते हुए मनुष्यके लिए धाराघर होता है। तप सांसारिक दुःखोंको निर्मूल करता है, यह इससे सूचित किया है ॥१४५७॥

'बंधवजणो व' बन्धुरिव लोकस्य नितरां प्रियो भवति पुरुषः । शोभनेन तपसा सर्वजगत्प्रियता करोति तप इत्यनेन आख्यातम् । 'मादाव होइ विस्ससणिज्जो' मातेव विश्वसनीयो भवति लोकस्य । सर्वजगद्विश्वास्यत्वं तपःसम्पाद्यमनेन कथ्यते ॥१४५८॥

कल्लाणिड्ढिसुहाइं जावदियाइं हवे सुरणराणं ।
जं परमणिव्वुदिसुहं च ताणि सुतवेण लब्भंति ॥१४५९॥

'कल्लाणिड्ढिसुहाइं'' कल्याणानि स्वर्गावतरणादीनि ऋद्धयो विभूतयश्चक्रलाञ्छनाना अर्द्धचक्रवर्तिना सुखानि च यानि देवानां मनुष्याणां च, यच्च परमनिर्वृतिसुखं तानि शोभनेन तपसा लभ्यन्ते ॥१४५९॥

कामदुहा वरधेणू णरस्स चिंतामणिव्व होइ तओ ।
तिलओव्व णरस्स तओ माणस्स विहूसणं सुतओ ॥१४६०॥

'कामदुहा' कामदुघा वरधेनुः, चिन्तामणिश्च तप यदभिलषित तस्य दानात् । तिलकाख्यालङ्कारो नरस्य शोभन तप , मानस्य विभूषण च । तपसा हि सर्वेण जगता मान्यस्य मान शोभते इति ॥१४६०॥

होइ सुतवो य दीओ अण्णाणतमंधयारचारिस्स ।
सव्वावत्थासु तओ वट्ठदि य पिदा व पुरिसस्स ॥१४६१॥

'होइ सुतओ व दीओ' सम्यक्तपः प्रदीपो भवति अज्ञानतमसि महति सचरतः । एतेन जगतोऽज्ञानाख्य तमो विनाशयति तप इति सूचितं । सर्वावस्थासु हिते तपो वर्तते पितेव पुस. ॥१४६१॥

विसयमहापंकाउलगड्डाए संकमो तवो होइ ।
होइ य णावा तरिदुं तवो कसायातिचवलणादिं ॥१४६२॥

गा०—सम्यक् तप करनेसे पुरुष बन्धुकी तरह लोगोंको प्रिय होता है। इससे यह कहा है कि सम्यक् तपसे मनुष्य सब जगत्का प्रिय होता है। तथा सम्यक् तपसे मनुष्य माताकी तरह लोकका विश्वासभाजन होता है। इससे तपसे सर्वजगत्का विश्वासपात्र होना कहा है ॥१४५८॥

गा०—स्वर्गसे अवतरित होना आदि पाँच कल्याणक, चक्रवर्ती और अर्धचक्रियोंकी विभूतियाँ तथा देवो और मनुष्योंके जितने सुख हैं, तथा जो मोक्षका परम सुख है वह सब सम्यक् तपसे प्राप्त होते है ॥१४५९॥

गा०-टी०—जो चाहो वह तपसे मिलता है इसलिए सम्यक् तप मनुष्यके लिए कामधेनु और चिन्तामणि रत्नके समान है। तथा मनुष्यके मस्तकपर शोभित होनेवाले तिलक नामक अलंकारके समान है और मानका विशिष्ट भूषण है अर्थात् तपसे सर्वजगत्के द्वारा मान्य पुरुषका मान शोभित होता है ॥१४६०॥

गा०—अज्ञानरूपी घोर अन्धकारमें विचरण करनेवालेके लिए सम्यक् तप दीपकके समान है। इससे सूचित किया है कि तप जगत्के अज्ञानरूपी अन्धकारको नष्ट करता है। तथा सम्यक् तप सब अवस्थाओंमें पिताकी तरह पुरुषको हितमें लगाता है ॥१४६१॥

गा०—यह विषय महान् कीचड़से भरे गर्तके समान हैं क्योंकि उससे निकलना बहुत कठिन

'विसयमहापंकाउलपइदाए' विषयो महापंकाकुलनदी इव दुस्तरत्वात् । तस्मिन् संक्रमो भवति । तदुत्तरणहेतुर्भवति तपः । तपो नौरुल्लंघयितुं कषायातिचपलनदीं ॥१४६२॥

फलिहो व दुग्गदीणं अणेयदुक्खावहाण होइ तवो ।
आसिसतण्हाछेदणसमत्थमुदकं व होइ तवो ॥१४६३॥

'फलिहो व दुग्गदीणं' दुर्गतीनां परिघ इव । कीदृशां दुर्गतीनां ? अनेकदुःखावहानां । किं च विषयतृष्णाच्छेदनसमर्थं च तपः उदकमिव तृष्णाच्छेदने ॥१४६३॥

मणदेहदुक्खवित्तासिदाण सरणं गदी य होइ तवो ।
होइ य तवो सुतित्थं सव्वासुहदोसमलहरणं ॥१४६४॥

'मणदेहदुक्खवित्तासिदाण' मानसानां शारीराणां दुःखानां ये वित्रस्तास्तेषां शरणं गतिश्च तपः । भवति च तपस्तीर्थं सर्वाशुभदोषमलनिरासकारि ॥१४६४॥

संसारविसमदुग्गे तवो पणट्ठस्स देसओ होदि ।
होइ तवो पच्छयणं भवकंतारम्मि दिग्घम्मि ॥१४६५॥

'संसारविसमदुग्गे' संसारो विषमदुर्ग इव दुरुत्तरणीयत्वात् । तस्मिन्प्रणष्टस्य दिङ्मूढस्य । 'तवो देसओ होदि' तप उपदेष्टा भवति । संसारविषमदुर्गमुत्तारयतीति । 'होदि तवो पच्छयणं' भवति तपः पथ्यदनं 'भवकंतारम्मि' भवाटव्यां । 'दिग्घम्मि' दीर्घे ॥१४६५॥

रक्खा भएसु सुतवो अब्भुदयाणं च आगरो सुतवो ।
णिस्सेणी होइ तवो अक्खयसोक्खस्स मोक्खस्स ॥१४६६॥

'रक्खा भएसु सुतवो' भयेषु रक्षा सुतपः । अभ्युदयानां चाकरः सुतपः मोक्षस्य अक्षयसुखस्य निश्रयणी भवति तपः ॥१४६६॥

है। तप उससे निकलनेमें कारण है। तथा तप कषायरूप अति चपल नदीको पार करनेके लिए नौका है ॥१४६२॥

गा०—अनेक दुःखदायी दुर्गतियोंके लिए तप अर्गलाके समान है। तथा विषयोंकी तृष्णाको नष्ट करनेके लिए जलके समान है। जैसे जलसे प्यास बुझ जाती है वैसे ही तपसे विषयोंकी प्यास बुझ जाती है ॥१४६३॥

गा०—जो मानसिक और शारीरिक दुःखोंसे पीड़ित हैं उनके लिए तप शरण और गति है। तप सर्व अशुभ दोषरूप मलको दूर करनेवाला तीर्थ है ॥१४६४॥

गा०—यह संसार विषम दुर्गके समान है क्योंकि उससे निकलना कठिन है। उस संसाररूपी दुर्गमें जो दिशा भूल गये हैं उनके लिए तप उपदेशक है अर्थात् संसाररूपी विषम दुर्गसे निकलनेका मार्ग बतलाकर उससे निकालता है। तथा सुदीर्घ भवरूपी भयानक वनमें कलेवाके समान सहायक है ॥१४६५॥

गा०—सम्यक् तप भयमें रक्षा करता है, अभ्युदयोंकी खान है और अविनाशी सुखस्वरूप मोक्षमें जानेके लिए नसैनी है ॥१४६६॥

तं णत्थि जं ण लब्भइ तवसा सम्मं कएण पुरिसस्स ।
अग्गीव तणं जलिओ कम्मतणं डहदि य तवग्गी ॥१४६७॥

'तण्णत्थि' तन्नास्ति यन्न लभ्यते तपसा सम्यक्कृतेन । तपोऽग्नि कर्मतृणं दहति तृणमिवाग्नि प्रज्वलित. ॥१४६७॥

सम्मं कदस्स अपरिस्सवस्स ण फलं तवस्स वण्णेदुं ।
कोई अत्थि समत्थो जस्स वि जिब्भासयसहस्सं ॥१४६८॥

'सम्मं कदस्स' सम्यक् कृतस्य निरास्रवस्य तपस. फलं वर्णयितु न कश्चित्समर्थोऽस्ति जिह्वाशतसहस्रं यद्यप्यस्ति ॥१४६८॥

एवं णादूण तवं महागुणं संजमम्मि ठिच्चाणं ।
तवसा भावेदव्वा अप्पा णिच्चं पि जुत्तेण ॥१४६९॥

'एवं णादूण' एवं ज्ञात्वा तपो महोपकारि सयमे स्थित्वा तपसा भावयितव्य आत्मा नित्यमपि उपयुक्तेन ॥१४६९॥

जह गहिदवेयणो वि य अदयाकज्जे णिउज्जदे भिच्चो ।
तह चेव दमेयव्वो देहो मुणिणा तवगुणेसु ॥१४७०॥

'जह गहिदवेयणो वि य' यथा गृहीतवेतनोऽपि न दयाकार्ये नियुज्यते भृतक । तथैव दमितव्यो देहो मुनिना तपोगुणेषु । उत्तरगुण ॥१४७०॥

इच्चेव समणधम्मो कहिदो मे दसविहो सगुणदोसो ।
एत्थ तुममप्पमत्तो होहि समण्णागदमंदीओ ॥१४७१॥

गा०—संसारमे ऐसा कोई पदार्थ नही है जो सम्यक्‌रूपसे किये गये तपके द्वारा न प्राप्त होता हो। जैसे प्रज्वलित आग तृणको जलाती है वैसे ही तपरूपी आग कर्मरूपी तृणोको जलाती है ॥१४६७॥

गा०—सम्यक्‌रूपसे किये गये और कर्मास्रवसे रहित तपके फलका वर्णन करनेमे जिसके एक हजार जिह्वा हों वह भी समर्थ नही है ॥१४६८॥

गा०—इस प्रकार तपको महान् उपकारी जानकर संयममें स्थित सयमीजनोको नित्य ही उपयोग लगाकर आत्मामें तपकी भावना करनी चाहिए ॥१४६९॥

गा०—जैसे वेतन लेनेवाले सेवकको कार्यमें नियुक्त करते समय उसपर दया नहीं की जाती। उसी प्रकार मुनिको अपने शरीरको तपरूप गुणमें लगाना चाहिए। अर्थात् जब शरीर को भोजनरूपी वेतन दिया जाता है उसपर दया न करके उसको तपकी साधनामें लगाना चाहिए ॥१४७०॥

---

१ दसदी–मु० मूलारा०।

'**इत्येव समणधम्मो**' इत्येवं श्रमणधर्मः दशविधः सगुणदोषः कथितो मया । '**एत्थ तुममप्पमत्तो होहि**' अत्र दशविधे धर्मे त्वमप्रमत्तो भवः, समागतस्मृतिक इति गणिना स्वशिक्षापरिसमाप्तिरादर्शिता ॥१४७१॥

तो खवगवयणकमलं गणिरविणो तेहिं वयणरस्सीहिं ।
चित्तप्पसायविमलं पफुल्लिदं पीदिमयरंदं ॥१४७२॥

'**तो खवगवयणकमलं**' तत शिक्षानन्तर तस्य क्षपकस्य वदनकमलं प्रफुल्लित सूरिधर्मरश्मेस्तैर्वचनरश्मिभि. चित्तप्रसादविमल प्रीतिमकरंद ॥१४७२॥

वयणकमलेहिं गणिअभिमुहेहिं सा [1]विंभियच्छिपत्तेहिं ।
सोभइ इह[2] सूरोदयम्मि फुल्लं व णलिणिवणं ॥१४७३॥

'**वयणकमलेहिं**' वदनकमलै यतीना गणिनोऽभिमुखे [3]विस्मिताक्षिपत्रै. सा सभा शोभा वहति स्म । सूर्योदये पुष्पितनलिनवनमिव ॥१४७३॥

गणिउवएसामयपाणएण पल्हादिदम्मि चित्तम्मि ।
जाओ य णिव्वुदो सो पादूणय पाणयं तिसिओ ॥१४७४॥

गणिउवएसामयपाणएण' गणिन उपदेशामृतपानकेन प्रह्लादिते चित्ते जातोऽसौ क्षपकः सुष्ठु निर्वृत. तृषित पानक पीत्वेव ॥१४७४॥

तो सो खवओ तं अणुसट्ठिं सोऊण जादसंवेगो ॥
उट्ठित्ता आयरियं वंदइ विणएण पणदंगो ॥१४७५॥

गा०—इस प्रकार हे क्षपक ! मैंने गुणदोषोंके विवेचनपूर्वक दस प्रकारके श्रमण धर्मका कथन किया। उसको स्मरण करके तुम दस प्रकारके धर्ममे अप्रमादी होओ। इस प्रकार निर्यापकाचार्यने अपनी शिक्षाकी समाप्ति सूचित की है ॥१४७१॥

गा०—इस शिक्षाके अनन्तर उस क्षपकका मुखरूपी कमल आचार्यरूपी सूर्यके वचनरूपी किरणोंसे प्रफुल्लित हो जाता है, चित्तके प्रसन्न होनेसे उस मुख कमलकी विरूपता चली जाती है और उसमेसे प्रीतिरूपी पुष्परस झरने लगता है ॥१४७२॥

गा०—जैसे सूर्यके उदय होनेपर खिला हुआ कमलोंका वन शोभित होता है उसी प्रकार आचार्यके अभिमुख हुए यतियोंके मुख कमलोंसे, जो आश्चर्ययुक्त नेत्ररूपी पत्रोसे संयुक्त होते हैं, वह मुनिसभा शोभित होती है ॥१४७३॥

गा०—आचार्यके उपदेशरूपी अमृतका पान करके चित्तके आह्लादयुक्त होनेपर क्षपक वैसा ही सुखी होता है जैसा प्यासा अमृतमय पानक पीकर होता है ॥१४७४॥

गा०—उसके पश्चात् वह क्षपक आचार्यका उपदेश सुनकर वैराग्यसे भर जाता है और उठकर अंगोंको नम्र करके विनयपूर्वक आचार्यको वन्दना करता है ॥१४७५॥

---

१ हि विंभि–आ० । सावत्थिदत्थिपत्तेहि–मु० । २, सोभदि ससभा सू–मु० । ३ विस्मृताक्षि–मु० ।

'सो सो खवगो' ततोऽसौ क्षपकः तदनुशासनं श्रुत्वा जातसंवेग उत्थाय आचार्यं वंदते विनयेन प्रणताङ्गः ॥१४७५॥

भंते सम्मं णाणं सिरसा य पडिच्छिदं मए एदं ।
जं जह उत्तं तं तह[1] करेमि विणओ तदो भणइ ॥१४७६॥

'भंते सम्मं णाणं' भगवन् सम्यग्ज्ञान एतच्छिरसा मया परिगृहीतं । यद्यथोक्तं भवद्भिस्तथा करिष्यामि इति वदति ॥१४७६॥

अप्पा णिच्छरदि जहा परमा तुट्ठी य हवदि जह तुज्झ ।
जह तुज्झ य संघस्स य सफलो य परिस्समो होइ ॥१४७७॥

'अप्पा णिच्छरदि जहा' अह यथा निस्तीर्णो भवामि संसारात् । यथा युष्माकं परमा तुष्टिर्भवति । भवता संघस्य चास्मदनुग्रहे प्रवृत्ताना श्रमस्य फलं भवति ॥१४७७॥

जह अप्पणो गणस्य य संघस्स य विस्सुदा हवदि कित्ती ।
संघस्स पसायेण य तहहं आराहइस्सामि ॥१४७८॥

'जह अप्पणो गणस्स य' यथा मम गणस्य संघस्य च कीर्तिविश्रुता भवति तथाहमाराधयिष्यामि संघस्य प्रसादेन ॥१४७८॥

[2]वीरपुरिसेहिं जं आयरियं जं च ण तरंति कापुरिसा ।
मणसा वि विचिंतेदुं तमहं आराहणं काहं ॥१४७९॥

[3]वीरपुरिसेहिं [4]वीरैः पुरुषैर्या आचरिता, या च न शक्नुवन्ति कापुरुषा मनसापि चिन्तयितुं तादृशीमाराधनामहं करिष्यामि ॥१४७९॥

गा०—और कहता है—भगवन् ! मैने आपके द्वारा दिया सम्यग्ज्ञान सिर नवाकर स्वीकार किया । आपने जो-जो जिस प्रकार कहा है मै वैसा ही करूँगा ॥१४७६॥

गा०—जिस प्रकारसे मैं संसारसे पार उतरूँ, जिस प्रकारसे आपको परम सन्तोष हो, मेरे कल्याणमें संलग्न आपका और संघका परिश्रम जिस प्रकारसे सफल हो ॥१४७७॥

गा०—जिस प्रकार मेरी और संघकी कीर्ति फैले, मै संघकी कृपासे उस प्रकार रत्नत्रयकी आराधना करूँगा ॥१४७८॥

गा०—वीर पुरुषोने जिसका आचरण किया है, कायर पुरुष जिसकी मनमे कल्पना भी नही कर सकते, मै ऐसी आराधना करूँगा ॥१४७९॥

---

१. तह काहेत्तिय मो तदो –मु० । २, ३, ४. धीर –मु० ।

एवं तुज्झं उवएसामिदमासाइदत्तु को णाम ।
बीहेज्ज छुहादीणं मरणस्स वि कायरो वि णरो ॥१४८०॥

'**एवं तुज्झं**' एवं भवतामुपदेशामृतमास्वाद्य को नाम बिभेति कातरोऽपि नरः क्षुधादीनां मृत्योर्वा ॥१४८०॥

किं जंपिएण बहुणा देवा वि सइंदिया मह विग्घं ।
तुम्हं पादोवग्गहगुणेण कादुं ण अरिहंति ॥१४८१॥

'**किं जंपिएण बहुणा**' किं बहुना जल्पितेन देवा अपि शतमखप्रमुखा मम विघ्नं कर्तुं असमर्था भवत्पादोपग्रहणगुणेन ॥१४८१॥

किं पुण छुहा व तण्हा परिस्समो वादियादि रोगो वा ।
काहिंति ज्झाणविग्घं इंदियविसया कसाया वा ॥१४८२॥

'**किं पुण**' किं पुन कुर्वन्ति ध्यानस्य विघ्नं क्षुधा, तृषा वा, परिश्रमो वा, वातिकादिरोगा वा, इन्द्रियाणा विषया , कषाया वा ॥१४८२॥

ठाणा चलेज्ज मेरू भूमी ओमच्छिया भविस्सिहिदि ।
ण य हं गच्छमि विगदिं तुज्झं पायप्पसाएण ॥१४८३॥

'**ठाणा चलिज्ज**' स्वस्मात्स्थानाच्चलिष्यति मेरु. । भूमि. परावृतमस्तका भविष्यति । नाह विकृतिं गमिष्यामि भवता पादप्रसादेन ॥१४८३॥

[1]एवं खवओ संथारगओ खवइ विरियं अगूहंतो ।
देदि गणी वि सदा से तह अणुसट्ठिं अपरिदंतो ॥१४८४॥

समासमनुशासनम् ॥१४८४॥

गा०—आपके इस प्रकारके उपदेशामृतको पीकर कौन कायर भी मनुष्य भूख प्यास और मृत्युसे डरेगा ॥१४८०॥

गा०—अधिक मै क्या कहूँ, आपके चरणोके अनुग्रहसे इन्द्रादि प्रमुख देव भी मेरी आराधनामें विघ्न नही कर सकते ॥१४८१॥

गा०—तब भूख, प्यास, परिश्रम, वातादि जन्य रोग, अथवा इन्द्रियोंके विषय और कषाय ध्यानमें विघ्न कैसे कर सकते है ॥१४८२॥

गा०—सुमेरु अपने स्थानसे विचलित हो जाये और पृथ्वी उलट जाये किन्तु आपके अनुग्रहसे मैं विकारसे विचलित नही होऊँगा ॥१४८३॥

गा०—इस प्रकार क्षपक संस्तर पर आरूढ़ होकर अपनी शक्तिको न छिपाकर पूर्वोपार्जित अशुभ कर्म की निर्जरा करता है और आचार्य भी बिना विरक्त हुए उसे सदा सत् शिक्षा देता है ॥१४८४॥

---

१. एतां टीकाकारो नेच्छति ।

सारणेत्येतत्सूत्रपदव्याख्यानमुत्तरम्—

अकडुगमतित्तयमणविलंच अकसायमलवणममधुरं ।
अविरस¹मदुरभिगंधं अच्छमणुण्हं अणदिसीदं ॥१४८५॥

'**अकडुगं**' अकटुक, अतिक्त, अनाम्ल, अकषाय, अलवण, अमधुर, अविरस, अदुरभिगध, स्वच्छमनुष्णमशीत ॥१४८५॥

पाणगमसिंभलं परिपूयं खीणस्स तस्स दादव्वं ।
जह वा पच्छं खवयस्स तस्स तह होइ दायव्वं ॥१४८६॥

'**पाणगमसिंभलं**' पानकमश्लेष्मकारि परिपूत क्षीणाय क्षपकाय दातव्य । यथाभूत वा क्षपकस्य तस्य पथ्यं तथाभूत दातव्यम् ॥१४८६॥

संथारत्थो खवओ जइया खीणो हवेज्ज तो तइया ।
वोसरिदव्वो पुव्वविधिणेव सोपाणगाहारो ॥१४८७॥

'**संथारत्थो**' सस्तरस्थ' क्षपको यदा क्षीणो भवेत्तदा व्युत्सृष्टव्योऽसौ पानकविकल्प पूर्वविधिनैव ॥१४८७॥

एवं संथारगदस्स तस्स कम्मोदएण खवयस्स ।
अंगे कत्थइ उट्ठिज्ज वेयणा ज्झाणविग्घयरी ॥१४८८॥

'**एवं संथारगदस्स**' एव सस्तरगतस्य क्षपकस्य कर्मोदयेन क्वचिदुद्वेदनोपजायते ध्यानविघ्नकारिणी ॥१४८८॥

अब पूर्व गाथामे आगत 'सारण' पदका व्याख्यान करते है—

गा०–टी०—क्षपकको दिया जानेवाला पानक कटुक, चरपरा, खट्टा कसैला, नमकवाला, मीठा, स्वादयुक्त और दुर्गन्ध युक्त नही होना चाहिये अर्थात् वह न कटुक हो, न चरपरा हो, न खट्टा हो, न कसैला हो, न नमकसे युक्त हो, न मीठा हो, तथा स्वादहीन और दुर्गन्धयुक्त भी न हो। स्वच्छ हो, न गर्म हो और न ठडा हो ॥१४८५॥

गा०—कफ पैदा करने वाला न हो। कपड़े से छान लिया गया हो। इस प्रकार कमजोर क्षपकको ऐसा पेय देना चाहिये जो उसके लिये पथ्य हो, अर्थात् समाधिमे विघ्न डालने वाला न हो ॥१४८६॥

गा०—जब सस्तरारूढ क्षपक अतिक्षीण हो जाये तब पूर्वविधिसे पानकका त्याग करा देना चाहिये ॥१४८७॥

गा०—इस प्रकार सस्तरारूढ क्षपकके कर्मके उदयसे किसी अंगमे ध्यानमे विघ्न डालने वाली वेदना यदि उत्पन्न हो जाये ॥१४८८॥

---

१. मदुब्भिगन्ध –मु०, मूलारा० ।

बहुगुणसहस्सभरिया जदि णावा जम्मसायरे भीमे ।
भिज्जदि हु रयणभरियाणावा व समुद्दमज्झम्मि ॥१४८९॥

'बहुगुणसहस्सभरिया' बहुभिर्गुणसहस्रैः, सम्पूर्णा यतिनौर्जन्मसागरे भीमे यदि भेदमुपेयात् रत्नपूर्णा नौरिव समुद्रमध्ये ॥१४८९॥

गुणभरिदं जदिणावं दट्ठूण भवोदधिम्मि भिज्जंतं ।
कुणमाणो हु उवेक्खं को अण्णो हुज्ज णिद्धम्मो ॥१४९०॥

'गुणभरिदं जदि णावं' गुणैः पूर्णां यतिनाव भवसमुद्रमध्ये भिद्यमाना दृष्ट्वा यः करोत्युपेक्षा तस्मात्कोऽन्यो भवेद्धर्मनि क्रान्त' ॥१४९०॥

विज्जावच्चस्स गुणा जे पुव्वं वित्थरेण अक्खादा ।
तेसिं फिडिओ सो होइ जो उविक्खिज्ज तं खवयं ॥१४९१॥

'वेज्जावच्चस्स गुणा' वैयावृत्तस्य गुणा ये पूर्वं विस्तरेण व्याख्यातास्तेभ्यः प्रच्युतो भवति य उपेक्षते क्षपक ॥१४९१॥

तो तस्स तिगिंछाजाणएण खवयस्स सव्वसत्तीए ।
विज्जादेसेण व से पडिकम्मं होइ कायव्वं ॥१४९२॥

'तो तस्स' ततस्तस्य क्षपकस्य चिकित्सा जानता सर्वशक्त्या प्रतिकर्म कर्तव्य वैद्यस्य चोपदेशेन ॥१४९२॥

णाऊण विकारं वेदणाए तिस्से करेज्ज पडियारं ।
फासुगदव्वेहिं करेज्ज वायकफपित्तपडिघादं ॥१४९३॥

'णाऊण विकारं' ज्ञात्वा विकार तस्या वेदनायाः ततः प्रतिकार कुर्यात् । योग्यैर्द्रव्यैर्वातिकफपित्तप्रतिघातं ॥१४९३॥

गा०—समुद्रके मध्यमे रत्नोंसे भरी नावकी तरह हजारो गुणोंसे भरी यतिरूपी नौका यदि भयकर ससारसागरमें डूबने लगे ॥१४८९॥

गा०—गुणोसे भरी नावको ससार-समुद्रमे डूबते हुए देखकर यदि कोई उपेक्षा करता है तो उससे बड़ा अधार्मिक दूसरा कौन होगा ॥१४९०॥

गा०—जो क्षपककी उपेक्षा करता है वह पूर्वमें जो वैयावृत्यके गुण विस्तारसे कहे हैं उनसे च्युत होता है ॥१४९१॥

गा०—अतः उस क्षपकके रोगकी चिकित्सा जाननेवाले निर्यापकाचार्यको स्वयं अथवा वैद्यके परामर्शसे सर्वशक्तिके साथ इलाज करना चाहिये ॥१४२॥

गा०—उस क्षपककी वेदनाके विकारको जानकर प्रासुक द्रव्योंसे वात, पित्त और कफको रोकनेवाला प्रतिकार करना चाहिये ॥१४९३॥

वच्छीहिं अवद्दवणतावणेहिं आलेवसीदकिरियाहिं ।
अब्भंगणपरिमद्दण आदीहिं तिगिंछदे खवयं ॥१४९४॥

'वच्छीहिं' बस्तिकर्मभि', **अवद्दवणतावणेहिं'** ऊष्मकरणतापनै, आलेपनेन, शीतक्रियया, अभ्यङ्ग-परिमर्दनादिभिश्च चिकित्सते क्षपकं ॥१४९४॥

एवं पि कीरमाणो परियम्मे वेदणा उवसमो सो ।
खवयस्स पावकम्मोदएण तिव्वेण हु ण होज्ज ॥१४९५॥

एवं पि कीरमाणे प्रतीकारे क्षपकस्य वेदनोपशम तीव्रेण पापकर्मोदयेन[1] नापि भवेदपि, नहि बहिर्द्रव्य-माहात्म्येनैव कर्माणि स्वफल न प्रयच्छन्ति । तदेव हि बहिर्द्रव्य एकस्य वेदना प्रशमयति नापरस्येति प्रतीत-तरमेतद् ॥१४९५॥

अहवा तण्हादिपरीसहेहिं खवओ हविज्ज अभिभूदो ।
उवसग्गेहिं व खवओ अचेदणो होज्ज अभिभूदो ॥१४९६॥

'अहवा तण्हादिपरीसहेहिं' अथवा तृष्णादिभि. परीषहैरभिभूतो भवेत्क्षपक, उपसर्गैर्वाभिभूतो निश्चेतन' स्यात् ॥१४९६॥

तो वेदणावसट्टो वाउलिदो वा परीसहादीहिं ।
खवओ अणप्पवसिओ सो विप्पलवेज्ज जं किं पि ॥१४९७॥

'तो वेदणावसट्टो' ततो वेदनावशार्तो व्याकुलित परीषहोपसर्गे क्षपकोऽसावनात्मवशो विप्रलपेद्यदि किञ्चित् ॥१४९७॥

गा०—वस्तिकर्म (एनिमा) गर्म लोहेसे दागना, पसीना लाना, लेप लगाना, प्रासुक जलका सेवन कराना, मालिश, अंगमर्दन आदिके द्वारा क्षपककी वेदना दूर करना चाहिये।१४९४।

गा०—इस प्रकार प्रतीकार करने पर भी तीव्र पाप कर्मके उदयसे यदि क्षपककी वेदना शान्त न हो। क्योंकि केवल 'बाह्य' द्रव्यके प्रभावसे ही कर्म अपना फल न दे, ऐसी बात नही है। वही बाह्य द्रव्य एककी वेदना शान्त करता है दूसरेकी नहीं करता। यह तो अनुभवसिद्ध है ॥१४९५॥

गा०—अथवा क्षपक प्यास आदिकी वेदनासे अभिभूत हो जाय या उपसर्गोसे पीड़ित होकर मूर्छित हो जाये ॥१४९६॥

गा०—या वेदनासे पीड़ित और परीषह उपसर्गोसे व्याकुल होकर क्षपक अपने वशमे न रहे और जो कुछ भी बकने लगे ॥१४९७॥

---

१. वेन चन वेदनापि नहि —अ० ।

उब्भासेज्ज व गुणसेढीदो उदरणबुद्धिओ खवओ ।
छड्डं दोच्चं पढमं व सिया कुंटिलिदपदमिछंतो ॥१४९८॥

'उब्भासेज्ज' वदेद्वायोग्य, संयमगुणश्रेणितः कृतावतरणबुद्धि' 'छड्डं' रात्रिभोजनं, 'दोच्चं' पानं, दिवसे 'पढमं व' अशन वा । 'सिया' कदाचित् । 'कुंटिलिदपदमिछंतो' स्खलनपदं इच्छन् ॥१४९८॥

तह मुज्झंतो खवगो सारेदव्वो य सो तओ गणिणा ।
जह सो विसुद्धलेस्सो पच्चागदचेदणो होज्ज ॥१४९९॥

'तह मुज्झंतो खवगो' मोहमुपगच्छन् क्षपकस्तथा सारयितव्योऽसौ तेन गणिना । कथ ? यथा विशुद्ध-लेश्यो भवति प्रत्यागतचेतनश्च ॥१४९९॥

सारणोपायं कथयति—

कोसि तुमं किं णामो कत्थ वससि को व संपही कालो ।
किं कुणसि तुमं कह वा अत्थसि किं णामगो वाहं ॥१५००॥

'कोऽसि तुमं' कस्त्व ? किनामधेय ? 'कत्थ वससि' क्व वससि ? 'को व संपही कालो' को वेदानीं काल ? किमय दिवा रात्रिर्वा ? 'किं कुणसि तुमं' किं करोषि भवान् ? 'कधं वा अत्थसि' कथं वा तिष्ठसि ? 'किं णामगो वाहं' अहं वा किनामधेय ? ॥१५००॥

एवं आउच्छित्ता परिक्खहेदुं गणी तयं खवयं ।
सारइ वच्छलयाए तस्स य कवयं करिस्संति ॥१५०१॥

'एवं आउच्छित्ता' एवमनुपरतं सारयति गणी त क्षपकं । किं सचेतनो निश्चेतन इति परीक्षितुकाम. वत्सलतया । यद्यस्ति चेतना कवचं करिष्यामीति मत्वा ॥१५०१॥

गा०—अयोग्य वचन कहे, या संयमगुणकी सीढ़ीसे नीचे उतरना चाहे, या निचले स्थानको चाहते हुए रात्रि भोजन या रात्रिमें पानक लेना चाहे या दिनमें असमयमें भोजन करना चाहे ॥१४९८॥

गा०—इस प्रकार जब क्षपक मोहमें पड़ जाये तो आचार्यको उसे सब पिछली बातोका स्मरण कराना चाहिये। जिससे उसके परिणाम विशुद्ध हो और उसका यथार्थ ज्ञान लौट आवे ॥१४९९॥

उसके उपाय कहते हैं—

गा०—तुम कौन हो ? तुम्हारा क्या नाम है ? कहाँ रहते हो ? इस समय दिन है या रात है ? तुम क्या करते हो ? कहाँ बैठे हो ? मेरा क्या नाम है ॥१५००॥

गा०—इस प्रकार आचार्य उसकी परीक्षाके लिये कि यह सचेत अवस्थामें है या अचेत अवस्थामें है, वात्सल्य भावसे बार-बार उसे स्मरण कराते हैं। उनकी यह भावना रहती है कि यदि यह सचेत है तो उसके संयमकी रक्षा की जाये ॥१५०१॥

जो पुण एवं ण करिज्ज सारणं तस्स [1]वियलचक्खुस्स ।
सो तेण होइ णिद्धंधसेण खवओ परिचत्तो ॥१५०२॥

'**जो पुण एवं ण करिज्ज**' य पुनरेवं न कुर्यात् सारणं । स्खलितचित्तवृत्ते. स क्षपकस्तेन परित्यक्तो भवति सूरिणा ॥१५०२॥

एवं सारिज्जंतो कोई कम्मुवसमेण लभदि सदिं ।
तह य ण लब्भिज्ज सदिं कोई कम्मे उदिण्णम्मि ॥१५०३॥

'**एवं सारिज्जन्तो**' एवं सार्यमाण कश्चित् चारित्रमोहोपशमेन असद्वेद्योपशमेन वा स्मृतिं योग्यायोग्यविषयां लभते । अयुक्तेयं इच्छा मम अकाले भोक्तुं पातुं वा प्रत्याख्यातं कथं कालेऽपि प्रार्थयामीति सार्यमाणोऽपि । लभते स्मृतिं कश्चित्कर्मण्युदीर्णे नो इन्द्रियमतिज्ञानावरणे । सारणा ॥१५०३॥

सदिमलभंतस्स वि कादव्वं पडिकम्ममट्ठियं गणिणा ।
उवदेसो वि सया से अणुलोमो होदि कायव्वो ॥१५०४॥

'**सदिमलभंतस्स वि**' स्मृतिमलभमानस्यापि गणिनाऽस्थितं कर्तव्यं । प्रतिकार , उपदेशोऽपि अनुकूल सदा तस्य कर्तव्य' ॥१५०४॥

चेयंतो पि य कम्मोदयेण कोई परीसहपरद्धो ।
उब्भासेज्ज व उक्कावेज्ज व भिंदेज्ज आउरो पदिण्णं ॥१५०५॥

'**चेयंतो पि**' चेतयमानोऽपि कर्मोदयेन कश्चित्परीषहपराजितो यत्किञ्चिद्वदेत् आरटेत्, भिन्द्याद्वा स्वां प्रत्याख्यानप्रतिज्ञा ॥१५०५॥

गा०—यदि आचार्य उस चलायमान चित्तवाले क्षपकको इस प्रकारसे स्मरण नहीं करावे तो समझना चाहिये उस निर्दयीने उस क्षपकको त्याग दिया है ॥१५०२॥

गा०—इस प्रकार स्मरण दिलाने पर कोई-कोई क्षपक चारित्र मोह अथवा असातावेदनीय का उपशम होनेसे योग्य अयोग्यके विचारविषयक स्मृतिको प्राप्त होते है कि अकालमे खाने पीनेकी इच्छा करना मेरे लिये योग्य नही है। जो मै त्याग कर चुका उसे कालमे भी कैसे ग्रहण करूँ ? आदि। किन्तु कोई नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरण कर्मकी उदीरणा होनेपर स्मृति प्राप्त नही करते ॥१५०३॥

गा०—स्मृतिको जो प्राप्त नही होता, उसके प्रति भी आचार्यको निरन्तर प्रतिकार करते रहना चाहिये। तथा उसके अनुकूल उपदेश भी करते रहना चाहिये ॥१५०४॥

गा०—कोई क्षपक चेतनाको प्राप्त करके भी कर्मके उदयसे परीषहोसे हारकर यदि अयोग्य वचन बोले, या रुदन करे या अपनी व्रत प्रतिज्ञाको भंग करे तो भी उसके प्रति कटुक वचन

---

१. विप्पलक्खस्स (स्खलितचित्तवृत्तेः) । —मूलारा० ।

ण हु सो कडुवं फरुसं व भणिदव्वो ण खीसिदव्वो य ।
ण य वित्तासेदव्वो ण य वट्ठुदि हीलणं कादुं ॥१५०६॥

'ण हु सो कडुवं' स एव कुर्वन्क्षपकः न कर्तव्यः कटुकं परुषं वा, न भर्त्सनीयं, न च त्रासं नेतव्यः, न च युक्तः परिभवः कर्तुं तस्य ॥१५०६॥

परुषवचनादिभिः को दोषो जायते इत्यत्रोच्यते—

फरुसवयणादिगेहिं दु माणी 'विप्फुरिओ तओ संतो ।
उद्धाणमवक्कमणं कुज्जा असमाधिकरणं वा ॥१५०७॥

'फरुसवयणादिगेहिं' परुषवचनादिभिर्मानी विराधितः सन् ॥१५०७॥

तस्स पदिण्णामेरं भित्तुं इच्छंतयस्स णिज्जवओ ।
सव्वायरेण कवयं परीसहणिवारणं कुज्जा ॥१५०८॥

'तस्स पदिण्णामेरं' तस्य स्वप्रतिज्ञाव्यवस्थां भेत्तुं वाञ्छतो निर्यापक. सूरिः कवचं कुर्यात् परीषहनिवारणक्षमं ॥१५०८॥

णिद्धं मधुरं पल्हादणिज्ज हिदयंगमं अतुरिदं वा ।
तो सीहावेदव्वो सो खवओ पण्णवंतेण ॥१५०९॥

'णिद्धं' स्नेहसहितं, 'मधुरं' श्रोत्रप्रियं, हृदयसुखविधायि, हृदयप्रवेशि, अत्वरितं असौ शिक्षयितव्यः क्षपकः प्रज्ञापयता ॥१५०९॥

रोगादंके सुविहिद विउलं वा वेदणं धिदिबलेण ।
तमदीणमसंमूढो जिण पच्चूहे चरित्तस्स ॥१५१०॥

बोलना उचित नहीं है, न उसका तिरस्कार करना चाहिये, न उसका हास्य करना चाहिये, न उसे त्रास देना चाहिये और न उसका अनादर करना चाहिये ॥१५०५-१५०६॥

उसके प्रति कठोर वचन बोलने आदिसे क्या हानि होती है यह कहते हैं—

गा०—कठोर वचन आदिसे भड़ककर वह अभिमानी क्षपक संयमसे च्युत हो सकता है या दुर्ध्यानमें लग सकता है अथवा सम्यक्त्वको त्याग सकता है ॥१५०७॥

गा०—यदि वह अपनी प्रतिज्ञारूपी मर्यादाको तोड़ना चाहे तो निर्यापकाचार्य उसकी रक्षाके लिये ऐसा कवच आदरपूर्वक करे जो परीषहोंका निवारण कर सके ॥१५०८॥

गा०—आचार्यको स्नेहसहित, कानोंको प्रिय, हृदयमें सुख देनेवाले तथा हृदयमे प्रवेश करने वाले वचनोंसे क्षपकको धीरे-धीरे सम्बोधना चाहिये ॥१५०९॥

गा०—हे सुन्दर आचार वाले ! तुम दीनता और मूढ़ताको त्यागकर चारित्रमे बाधा डालनेवाली छोटी या बड़ी व्याधियोंको, महती वेदनाको धैर्यरूपी बलसे जीतो । राग और कोपका

---

१. विप्फुरिसिवो-विराधितः -मूलारा० ।

रोगातङ्कं महतोऽल्पांश्च व्याधीन् । विपुलां वा वेदनां धृतिबलेन जय त्वमदीनोऽमूढश्च प्रत्यूहान् चारित्रस्य । वीतरागकोपतावि चारित्रं । तद्व्याधिप्रतीकारार्थेषु वस्तुषु आदरवतो व्याधिषु वेदनासु च द्वेषवतो नश्यति । ततश्चारित्रविघ्नास्त्वया जेतव्या इति भावः ॥१५१०॥

सव्वे वि य उवसग्गे परिसहे य तिविहेण णिज्जिणाहि तुमं ।
णिज्जिणिय सम्ममेदे होहिसु आराहओ मरणे ॥१५११॥

'सव्वे वि य उवसग्गे' सर्वांश्चोपसर्गान् परीषहांश्च मनोवाक्कायैर्जय । उपसर्गपरीषहजयदुःखा-भीरुता मनसा जयः । भीतोऽयमिति दयया न दुःखानि हरन्ति । सन्निहितद्रव्यादिसहकारिकारणमसद्वेद्यमुदया-गतं अनिवार्यवीर्यं बल प्रयच्छत्येवेति धृतिबलेन भावना मनसा जयः । श्रान्तोऽस्मि वेदनादुःसहात्मता पश्यत मदीयामिमां अतिकष्टामवस्थां । दग्धोऽस्मि ताडितोऽस्मि इत्येवमादिदीनवचनानुच्चारण । असकृदनुभूतार्था. परीषहा क्षुदादयः, उपसर्गाश्च पूर्वं । पूत्कुर्वन्तमपि नामी मुञ्चन्ति । केवलं धृतिरहितोऽयं वराको रारटीति निन्द्यते । न सन्मार्गात्प्रच्यावयितुं इमे क्षमा इति उदारवचनता वचनेन जयः । अदीनेक्षणमुखरागवत्ता अचलता च कायेन जय. । **'णिज्जिणिय सम्ममेदे'** निर्जित्यैवं सम्यगेतानुपसर्गपरीषहान्मरणे मृतिकाले । **आराधओ होहिसि'** रत्नत्रयपरिणतो भविष्यसि । उपसर्गपरीषहव्याकुलितचेतसो नैवाराधकता ॥१५११॥

संभर सुविहिय जं ते मज्झम्मि चदुव्विधस्स संघस्स ।
वूढा महापदिण्णा अहयं आराहइस्सामि ॥१५१२॥

'संभर' स्मृतिं निधेहि । **'सुविहिय'** सुचारित्र । किं स्मरामि इति चेत् 'तं' ता प्रतिज्ञा या कृतवानसि ।

त्याग ही चरित्र है । व्याधिको दूर करनेके उपायोमे आदर करनेवाले तथा व्याधि और वेदनासे द्वेष करनेवालेका चारित्र नष्ट होता है। अत. तुम्हे चारित्रके विघ्नोको जीतना चाहिये ॥१५१०॥

गा०-टी०—हे क्षपक ! तुम सब उपसर्गों और परीषहोंको मन वचन कायसे जीतो । उपसर्ग और परीषहोंके जीतनेमे जो दुःख होता है उससे न डरना मनसे जीतना है । यह डरपोक है अत. दया करके उपसर्ग परीषह उसे दुःख नही देंगे ऐसी बात नही है । द्रव्यादि सहकारी कारणोंके रहने पर असातावेदनीय कर्म उदयमें आता है और उसकी शक्तिको रोकना शक्य नही होता तब वह कष्ट देता ही है । धैर्यरूपी बलपूर्वक ऐसी भावना होना मनसे जीतना है । मैं थक गया हूँ, मेरी इस अतिकष्टकर और दुःसह वेदना रूप अवस्थाको देखो, मै दुःखमे जल रहा हू, कष्ट ने मुझे मार डाला इत्यादि दीन वचनोका उच्चारण न करना । मैने पूर्वमे अनेक बार भूख आदि परीषहो और उपसर्गोंको सहा है । चिल्लाने पर भी ये छोड़ते नही है । केवल यह बेचारा धैर्य खोकर रोता है ऐसी निन्दा करते हैं । ये मुझे सन्मार्गसे डिगानेमे समर्थ नहीं हैं । इस प्रकारके उदार वचन बोलना वचनसे जीतना है । आखोंमें और मुखपर दीनताका भाव न होना, मुखपर प्रसन्नताका रहना, विचलित न होना कायसे जीतना हैं । इस प्रकार इन परीषहों और उपसर्गोंको सम्यक् रूपसे जीतनेपर मरते समय तुम रत्नत्रयरूपसे परिणत हो सकोगे । जिसका चित्त उपसर्ग और परीषहसे व्याकुल रहता है वह आराधक नही हो सकता ॥१५११॥

गा०—हे सुचारित्रसे सम्पन्न क्षपक ! तुमने चतुर्विध संघके मध्यमें जो महती प्रतिज्ञा की थी कि मै आराधना करूँगा उसे स्मरण करो ॥१५१२॥

'मज्झम्मि' मध्ये । कस्य ? 'चदुव्विहसंघस्स' चतुर्विधस्य संघस्य । 'कदा' कृता । 'महापतिण्णा' महती प्रतिज्ञा । 'अहयं' अहं 'आराधइस्सामि' आराधयिष्यामि इति ॥१५१२॥

को णाम भडो कुलजो माणी थोलाइदूण जणमज्झे ।
जुज्झे पलाइ आवडिदमेत्तओ चेव अरिभीदो ॥१५१३॥

'को णाम भडो' क. पलायते युद्धे भट. शूर. । 'कुलजो' मानी । 'थोलाइदूण' भुजास्फालनं कृत्वा । जनमध्ये । एवं युद्धे शत्रुपराजयं करिष्यामीति उद्घुष्य 'आवडिदमेत्तओ' अभिमुखायातशत्रुरेव अरिभीत । क. पलायनं करोति ॥१५१३॥

दार्ष्टान्तिके योजयति—

थोलाइदूण पुव्वं माणी संतो परीसहादीहिं ।
आवडिदमित्तओ चेव को विसण्णो हवे साहू ॥१५१४॥

'थोलाइदूण पुव्वं' भुजास्फालनं कृत्वा पूर्वं । 'परीसहादीहिं आवडिदमेत्तगो चेव' परीषहारातिभिरभिमुखायात एव । 'को विसण्णो हवे साहू माणी संतो' को विषण्णो भवेत्साधुवर्गो मानी सन् ॥१५१४॥

आवडिया पडिकूला पुरओ चेव कमंति रणभूमिं ।
अवि य मरिज्ज रणे ते ण य पसरमरीण वड्ढंति ॥१५१५॥

'आवडिया पडिकूला' अभिमुखायाताः शत्रव. । 'पुरओ चेव कमंति रणभूमिं' पुरस्तादेवोपसर्पन्ति रणभूमि । 'अवि य मरिज्ज रणे' यद्यपि रणे म्रियन्ते । 'ण य पसरमरीण वड्ढन्ति' नैव प्रसरमरीणा वर्धयन्ति ॥१५१५॥

तह आवइपडिकूलदाए साहवो माणिणो सूरा ।
अइतिव्ववेयणाओ सहंति ण य विगडिमुवयंति ॥१५१६॥

'तह आवइपडिकूलदाए' तथा आपत्प्रतिकूलतया । 'साहवो' मानिन शूरा । 'अदितिव्ववेयणाओ' अतीव तीव्रवेदनाः 'सहंति' सहन्ते । 'ण य विगडिमुवयंति' नैव विकृतिमुपयांति ॥१५१६॥

गा०—कौन कुलीन स्वाभिमानी शूरवीर मनुष्योंके बीचमें अपनी भुजाओंको ठोककर 'मै युद्धमे इस प्रकार शत्रुओको हराऊंगा' ऐसी घोषणा करके सामने आये शत्रुसे ही डरकर भागना पसन्द करेगा ॥१५१३॥

गा०—उसी प्रकार पूर्वमें भुजाओको ठोककर कौन स्वाभिमानी साधु परीषह आदिके सन्मुख आते ही खेदखिन्न होगा ॥१५१४॥

गा०—जिन सुभटोंके शत्रु उनके सन्मुख आते हैं वे सुभट शत्रुओंके आनेसे पूर्व ही युद्ध भूमिमें पहुँच जाते हैं। वे युद्धमें मर जायें भले ही किन्तु शत्रुओंका उत्साह नहीं बढने देते ॥१५१५॥

गा०—उसी प्रकार स्वाभिमानी शूरवीर साधु आपत्तियोंकी प्रतिकूलतामें अति तीव्र कष्ट भोगते हैं किन्तु विकारको प्राप्त नही होते। अर्थात् दुर्भाग्यवश उपसर्ग परीषहोंके उपस्थित होनेपर रत्नत्रयकी विराधना नहीं करते ॥१५१६॥

[1]थोलाइयस्स कुलजस्स माणिणो रणमुहे वरं मरणं।
ण य लज्जणयं काउं जावज्जीवं सुजणमज्झे ॥१५१७॥

'[2]थोलाइयस्स' कृतभुजास्फालनस्य। 'माणिणो' मानिन। 'रणमुहे वरं मरणं' युद्धमुखे मरणं शोभनं। 'ण य वरं' नैव शोभनं। 'लज्जणयं काउं जावज्जीवं च सुजणमज्झे' सुजनमध्ये यावज्जीवं निंदाकरणं ॥१५१७॥

समणस्स माणिणो संजदस्स णिहणगमणं पि होइ वरं।
ण य लज्जणयं कादुं कायरदादीणकिविणत्तं ॥१५१८॥

'समणस्स' समानस्य श्रवणस्य वा। 'माणिणो' मानिन, 'संजदस्स' संयतस्य। 'णिधणगमणं पि होदि वरं' निधनगमनमपि भवति वरं। 'ण य लज्जणगं कादुं' नैव लज्जनीयकरण शोभन। कातरता न वरं। 'दीणकिविणत्तं' दीनत्व कृपणत्व च न वर ॥१५१८॥

एयस्स अप्पणो को जीविदहेदुं करिज्ज जंपणयं।
पुत्तपउत्तादीणं रणे पलादो [3]सुजणलंछं ॥१५१९॥

'एयस्स अप्पणो' एकस्यात्मन। 'जीविदहेदुं' जीवितनिमित्त। 'को करिज्ज जंपणगं' क कुर्यादपवादं। 'पुत्तपउत्तादीणं' पुत्रपौत्रादीना। 'रणे पलादो' रणात्पलायमान। सुजणलंछं स्वजनलाछन ॥१५१९॥

तह अप्पणो कुलस्स य संघस्स य मा हु जीवदत्थी तं।
कुणसु जणे जंपणयं किविणं कुव्वं सुगणलंछं ॥१५२०॥

'तह तथा। 'अप्पणो जीविदत्थं' भवतो जीवितार्थं। 'कुलस्स संघस्स य मा कुणसु जणे दूसणयं' कुलस्य सघस्य च दूषण जने मा कार्षीः। 'किविणं कुव्वं' कृपणत्व कुर्वन्। 'सुगणलंछं' स्वगणलांछनं ॥१५२०॥

गा०—भुजा स्फालन करनेवाले कुलीन अभिमानीके लिये युद्धमे सन्मुख मरना श्रेष्ठ है किन्तु सुजनोके मध्यमे जीवनपर्यन्त लज्जा उठाना श्रेष्ठ नही है ॥१५१७॥

गा०—उसी प्रकार स्वाभिमानी सयमी श्रमणका मर जाना श्रेष्ठ है किन्तु लज्जाजनक कार्य करना श्रेष्ठ नही है, कातरता–विपत्तियोसे घबराना, दीनता कृपणता–कि मैं कुछ भी नहीं कर सकता आदि श्रेष्ठ नही है ॥१५१८॥

गा०—एक अपने जीवनके लिये युद्धभूमिसे भागकर कौन अपने पुत्र पौत्र आदिके लिये अपवादका कारण बनेगा और अपने परिवारको लाछन लगायेगा ॥१५१९॥

गा०—उसी प्रकार हे क्षपक ! अपने जीवनके लिये परीषह आदि आनेपर अपनी निर्बलता का परिचय देते हुए अपने कुल और सघको लोकापवादका पात्र मत बनाओ और अपने गणपर लांछन मत लगाओ ॥१५२०॥

१, २. थोवाइय–अ० आ०। ३. सुणगलछ ललाटे कुर्कुरदाहसमानं–मूलारा०।

गाढप्पहारसंताविदा वि सूरा रणे अरिसमक्खं ।
ण मुहं भंजंति सयं मरंति [1]भिउडीमुहा चेव ॥१५२१॥

'गाढप्पहारसंताविदा वि' गाढप्रहारसंतापिता अपि शूरा 'रणे' युद्धे । 'सयं मुहं अरिसमक्खं ण भंजंति' स्वमुखभङ्गं अरीणां पुरतो न कुर्वन्ति । 'मरंति' म्रियंते । 'भिउडीए सह चेव' भ्रुकुट्या सह चैव ॥१५२१॥

सुट्ठु वि आवइपत्ता ण कायरत्तं करिंति सप्पुरिसा ।
कत्तो पुण दीणत्तं किविणत्तं वा वि काहिंति ॥१५२२॥

'सुट्ठु वि आवइपत्ता' निरन्तरमापदं प्राप्ता अपि । 'सप्पुरिसा ण कायरत्तं करंति' सत्पुरुषा न कातरतां कुर्वन्ति । 'कत्तो पुण काहिंति' कुतः पुनः करिष्यन्ति । 'दीणत्तं किविणत्तं वावि' दीनतां कृपणता च ॥१५२२॥

केई अग्गिमदिगदा समंतओ अग्गिणा वि उज्झंता ।
जलमज्झगदा व णरा अत्थंति अचेदणा चेव ॥१५२३॥

केई अत्थंति अचेदणा चेव' केचिदासते अचेतना इव । 'अग्गिमदिगदा' अग्निं प्रविष्टाः 'समंतदो अग्गिणा वि उज्झंता' समन्तात् अग्निना दह्यमाना अपि । 'जलमज्झगदा व णरा' जलमध्यगता नरा [2]इव ॥१५२३॥

तत्थ वि साहुक्कारं सगअंगुलिचालणेण कुव्वंति ।
केई करंति धीरा उक्किट्ठिं अग्गिमज्झम्मि ॥१५२४॥

'तत्थ वि' तत्राप्यग्निमध्ये । 'साहुक्कारं सगअंगुलिचालणेण कुव्वंति' साधुकारं स्वाङ्गुलिचालनया कुर्वते । 'केई अग्गिमज्झगदा धीरा' केचिदग्निमध्यगता धीराः । 'उक्किट्ठिं करंति' उत्कृष्टिं उत्क्रोशनं कुर्वन्ति ॥१५२४॥

गा०—युद्धमें शूरवीर पुरुष जोरदार प्रहारसे पीड़ित होनेपर भी शत्रुके सामनेसे अपना मुख नहीं मोड़ते और मुखपर भौं टेढ़ी किये हुए ही मरते हैं ॥१५२१॥

गा०—उसी प्रकार सत्पुरुष अत्यन्त आपत्ति आनेपर भी कातर नहीं होते । तब वे दीनता या कायरता क्यों दिखायेंगे ? ॥१५२२॥

गा०—कितने ही सत्पुरुष आगमें प्रवेश करके सब ओरसे आगसे जलनेपर भी जलके मध्यमें प्रविष्ट हुए मनुष्यकी तरह अथवा अचेतनकी तरह रहते हैं ॥१५२३॥

गा०—तथा आगके मध्यमें भी रहते हुए अपने अंगुलि संचालनके द्वारा साधुकार करते है कि कितना अच्छा हुआ कि मेरे अशुभ कर्म क्षय हुए । कितने ही धीर वीर पुरुष आगके मध्यमें रहकर अपना आनन्द प्रकट करते हैं ॥१५२४॥

---

1. भिउडीए सह–मु० । 2. नरा इव अचेतना इव–आ० मु० ।

जदिदा तह अण्णाणी संसारपवड्ढणाए लेस्साए ।
तिव्वाए वेदणाए सुहसाउलया करिंति धिदिं ॥१५२५॥

'जदिदा' यदि तावत् । **'तह'** तथा । **'अण्णाणी धिदि करिंति'** तथा अज्ञानिनो धृतिं कुर्वन्ति **'संसारपवड्ढणाए लेस्साए'** संसारप्रवर्द्धनकारिण्या लेश्यया । **'तिव्वाए वेदणाए'** तीव्रायां वेदनायां सत्यां । **'सुहसाउलया'** सुखास्वादनलम्पटाः ॥१५२५॥

किं पुण जदिणा संसारसव्वदुक्खक्खयं करंतेण ।
बहुतिव्वदुक्खरसजाणएण ण घिदी हवदि कुज्जा ॥१५२६॥

किं पुण जदिणा ण करिज्जा हवदि 'धिदि' किं पुनर्न कार्या भवति धृति यतिना । कीदृशा ? **संसारसव्वदुक्खक्खयं** संसारसर्वदुःखक्षयं कुर्वता । **'बहुतिव्वदुक्खरसजाणगेण'** बहूनां चतुर्गतिगतानां तीव्राणां दुःखानां रसं जानता ॥१५२६॥

असिवे दुब्भिक्खे वा कंतारे भएव आगाढे ।
रोगेहिं व अभिभूदा कुलजा माणं ण विजहंति ॥१५२७॥

'असिवे मार्यां । **'दुब्भिक्खे वा'** दुर्भिक्षे वा । **'कंतारे'** अटव्यां वा । गाढे भये च । उपर्युपरि निपतितभये वा । **'रोगेहिं व अभिभूदा'** व्याधिभिर्वा अभिभूता । **'ण विजहंति कुलजा माणं'** न जहति कुलप्रसूता मानं ॥१५२७॥

ण पियंति सुरं ण य खंति गोमयं ण य पलंडुमादीयं ।
ण य कुव्वंति विकम्मं तहेव अण्णंवि लज्जणयं ॥१५२८॥

'ण पियंति सुरं' न पिबन्ति सुरां । **'ण खंति'** न च भक्षयन्ति गोमांसं । **'ण य पलंडुमादीयं'** न पलाण्डुप्रभृतिकं भक्षयन्ति । **'ण य कुव्वंति विकम्मं'** नैव कुत्सितं कर्म परोच्छिष्टभोजनादिकं कुर्वन्ति । **'तहेव अण्णंपि लज्जणयं'** तथैव नान्यदपि लज्जनीयं कुर्वन्ति ॥१५२८॥

गा०—यदि संसारको बढ़ानेवाली अशुभ लेश्यासे युक्त अज्ञानी पुरुष सांसारिक सुखकी लालसासे तीव्र वेदना होते हुए भी धैर्य धारण करते हैं ॥१५२५॥

विशेषार्थ—आगमें जलकर मरनेका कथन उन धर्मवालोंके लिये किया है जो आगमे जलकर मरनेमें धर्म मानते हैं।

गा०—तो जो क्षपक साधु संसारके सब दुःखोंका क्षय करना चाहता है और चारों गतियोंके तीव्र दुःखोका स्वाद जानता है वह धैर्य धारण क्यों न करेगा ॥१५२६॥

गा० भारी रोगमें, दुर्भिक्षमें, भयानक वनमें, अत्यन्त प्रगाढ भयमें तथा रोगोंसे ग्रस्त भी कुलीन पुरुष स्वाभिमानको नहीं छोड़ते ॥१५२७॥

गा०—वे मदिरा पान नहीं करते । गोमांस नहीं खाते । लहसुन प्याज आदि नहीं खाते । दूसरेका जूठा खाना आदि बुरे काम नहीं करते । इसी प्रकार अन्य भी लज्जास्पद काम नहीं करते ॥१५२८॥

किं पुण कुलगणसंघस्स असमाणिणो लोयपूजिदा साधू ।
माणं पि जहिय काहंति विकम्मं सुजणलज्जणयं ॥१५२९॥

'किं पुण साहू वि कम्मं काहिंति' किं पुनः साधवः कुत्सितं कर्म करिष्यन्ति । 'कुलगणसंघस्स असमाणिणो' 'कुलस्य गणस्य संघस्य च यशः संपादनाहंकारवन्तः । 'लोगपूजिदा साधू' लोके कृतपूजाः । 'माणं विजहिय' मानं त्यक्त्वा 'सुजणलज्जणयं' साधुजनेन विलज्जनीयं कर्म ॥१५२९॥

जो गच्छिज्ज विसादं महल्लमप्पं व आवदिं पत्तो ।
तं पुरिसकादरं विंति धीरपुरिसा हु संढुत्ति ॥१५३०॥

'जो गच्छिज्ज विसादं' यो गच्छेद्विषादं । 'महल्लं अप्पं व आवदं पत्तो' महतीं अल्पां वा आपदं प्राप्तः । 'तं पुरिसकातरं' पुरुषेषु कातरं । 'धीरपुरिसा संढुत्ति विंति' धीराः सुपुरुषा षण्ढ इति ब्रुवन्ति ॥१५३०॥

मेरुव्व णिप्पकंपा अक्खोभा सागरुव्व गंभीरा ।
धिदिवंतो सप्पुरिसा हुंति महल्लावईए वि ॥१५३१॥

'मेरुव्व णिप्पकंपा' मेरुरिव निश्चलाः । 'अक्खोभा' अकम्प्याः । 'सागरोव्व' सागर इव 'धिदिवंतो सप्पुरिसा' धृतिमन्तः संतोषवतः सत्पुरुषाः । 'महल्लावईए वि' महत्यामापदि ॥१५३१॥

केई विमुत्तसंगा आदारोविदभरा अपडिकम्मा ।
गिरिपब्भारमभिगदा बहुसावदसंकडं भीमं ॥१५३२॥

'केई उत्तमट्ठं साधेंति' इति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । केचिदुत्तमं वस्तु रत्नत्रयं साधयन्ति । कीदृग्भूताः ? 'विमुत्तसंगा' निष्परिग्रहाः । 'आदारोविदभरा' आत्मारोपितभराः । 'अपडिकम्मा' निष्प्रतीकाराः । 'गिरिपब्भारमभिगदा' गिरिप्राग्भारमभिगताः । कीदृशं ? 'बहुसावदसंकडं' बहुव्यालमृगाकुलं । 'भीमं' भयावहं ॥१५३२॥

धिदिधणियबद्धकच्छा अणुत्तरविहारिणो सुदसहाया ।
साहिंति उत्तमट्ठं सावददाढंतरगदा वि ॥१५३३॥

गा०—तब कुल गण और संघके यश सम्पादनका अहंकार करनेवाले लोकपूजित साधु स्वाभिमान त्यागकर साधुजनके लिये लज्जाके योग्य बुरा कर्म करेंगे क्या ? कभी नहीं करेंगे ॥१५२९॥

गा०—जो छोटी या बड़ी विपत्ति आने पर खिन्न होता है उस कायर पुरुषको धीर पुरुष नपुंसक कहते हैं ॥१५३०॥

गा०—सज्जन पुरुष महती विपत्तिमें भी सुमेरुकी तरह अकम्प, सागरकी तरह गम्भीर और धैर्यशील रहते हैं ॥१५३१॥

गा०—कितने ही साधु समस्त परिग्रहको त्यागकर, अपने आत्मामें आत्माको आरोपित करके, प्रतीकार रहित होकर, बहुतसे व्याघ्र आदि हिंस्र जन्तुओंसे भरे भयंकर पर्वतोंके शिखरोंपर

'विविधधीरबद्धकच्छा' कृत्वा निश्चलं बद्धकक्षयाः । 'अणुत्तरविहारिणो प्रकृष्टचारित्राः । 'सुदसहाया' श्रुतज्ञानसहायाः । 'साधिंति उत्तमट्ठं' साधयन्त्युत्तमार्थं रत्नत्रयं । 'सावददाढंतरगदा वि' श्वापददंष्ट्रामध्यगता अपि ॥१५३३॥

मल्लकिकए तिरत्तं खज्जंतो घोरवेदणट्टो वि ।
आराधणं पवण्णो ज्झाणेणावंतिसुकुमालो ॥१५३४॥

'मल्लकिकए तिरत्तं खज्जंतो' श्रृगालेन तिसृषु रात्रिषु भक्ष्यमाण । 'घोरवेदणट्टो वि' घोरवेदनाबाधितोऽपि । 'आराधणं पवण्णो ज्झाणेण' शुभध्यानेनाराधनां प्रपन्नः । क. ? 'अवंतिसुकुमालो' अवंतिसुकुमारः ॥१५३४॥

[2]पोग्गिलगिरिम्मि य सुकोसलो वि सिद्धत्थदइय भयवंतो ।
वग्घीए वि खज्जंतो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५३५॥

[3]पुद्गलगिरौ सुकोशलोऽपि सिद्धार्थस्य पुत्रो भगवान् व्याघ्र्या जननीचर्या भक्षितः सन् प्रतिपन्नः उत्तमार्थम् ॥१५३५॥

भूमीए समं कीला[4]कोडिददेहो वि अल्लचम्मं व ।
भयवं पि गयकुमारो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५३६॥

'भूमीए समं भूमौ समं । 'कीलाकोडिददेहो' कीलोत्कृतदेह । 'अल्लचम्म व' आर्द्रचर्मवत् । 'भयवं वि' भगवान् गजकुमारोऽपि । उत्तमार्थं प्रतिपन्न ॥१५३६॥

कच्छुजरखाससोसो भत्तच्छदअच्छिकुच्छिदुक्खाणि ।
अधियासयाणि सम्मं सणक्कुमारेण वाससयं ॥१५३७॥

जाकर दृढ धैर्यको अपनाकर, उत्कृष्ट चारित्रपूर्वक श्रुतज्ञानकी सहायतासे सिंहादिके मुँहमे जाकर भी उत्तमार्थ रत्नत्रयकी साधना करते हैं ॥१५३२-३३॥

गा०—अवन्ती अर्थात् उज्जैनी नगरीमें सुकुमार मुनि तीन रात तक श्रृगालीके द्वारा खाये जानेपर घोर वेदनासे पीडित होते हुए भी शुभध्यानके द्वारा रत्नत्रयकी आराधनाको प्राप्त हुए ॥१५३४॥

गा०—पुद्गल या मुद्गल नामक पर्वतपर सिद्धार्थ राजाके प्रिय पुत्र भगवान् सुकौशल मुनि अपनी पूर्व जन्मकी माता व्याघ्रीके द्वारा खाये जानेपर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५३५॥

गा०—पृथ्वीके साथ गीले चमड़ेकी तरह शरीरमें कीलें ठोककर एकमेक कर देनेपर भी भगवान् गजकुमार मुनि उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५३६॥

गा०—सनत्कुमार मुनि ने सौ वर्षों तक खाज, ज्वर, खांसी, सूखापन, तीव्र उदराग्नि, नेत्रपीड़ा, उदरपीड़ा आदिके दुःख बिना संक्लेशके धैर्यपूर्वक सहन किये ॥१५३७॥

---

१. पंगोवि अ० आ० । २-३. मोग्गिल—मु०, मूलारा० । ४ कीलाहोडिद-अ० ।

'कच्छुजरखाससोसो' कच्छूज्वरकासशोषाः । **'भत्तच्छंदअच्छिकुच्छिदुक्खाणि'** तीव्रो जठराग्निः अक्षि-दुःखं । कुक्षिदुःख च । **'अधियासयाणि'** असक्लेशेन धृतानि **'सणक्कुमारेण'** सनत्कुमारेण । **'वाससदं'** वर्षशतं ॥१५३७॥

णावाए णिव्वुडाए गंगामज्झे अमुज्झमाणमदी ।
आराधणं पवण्णो कालगओ एणियापुत्तो ॥१५३८॥

'णावाए णिव्वुडाए' नावि निमग्नायां च । **'गंगामज्झे'** गंगाया मध्ये । **'अमुज्झमाणमदी'** अमुह्य-मानमति । **'आराधण पवण्णो'** आराधना प्रतिपन्न सन् । **'कालगओ'** काल गत. । **'एणियापुत्तो'** एणिकपुत्र-नामधेयो यति ॥१५३८॥

ओमोदरिए घोराए भद्दबाहू असंकिलिट्ठमदी ।
घोराए [1]विगिंछाए पडिवण्णो उत्तमं ठाणं ॥१५३९॥

'ओमोदरिए घोराए' घोरेणावमोदर्येण तपसा समन्वित । **'भद्दबाहू असंकिलिट्ठमदी'** भद्रबाहुरसं-क्लिष्टचित्त. । **'घोराए[2]विगिंछाए'** घोरया क्षुधा बाधितोऽपि । **'पडिवण्णो उत्तमं ठाणं'** प्रतिपन्न उत्तमार्थं ॥१५३९॥

[3]कोसंबीललियघडा बूढा णइपूरएण जलमज्झे ।
आराधणं पवण्णा पावोवगदा अमूढमदी ॥१५४०॥
चंपाए मासखमणं करित्तु गंगातडम्मि तण्हाए ।
घोराए धम्मघोसो पडिवण्णो उत्तमं ठाणं ॥१५४१॥

'चंपाए' चम्पानगर्यां । **'मासखवणं करित्तु'** मासोपवासं कृत्वा । **'गंगातडम्मि'** गंगायास्तटे । **'तण्हाए घोराए'** तृष्णया तीव्रया बाधितोऽपि । **'धम्मघोसो'** धर्मघोष' । उत्तमार्थं प्रतिपन्न ॥१५४०–१५४१॥

गा०—गंगाके मध्यमे नाव डूबनेपर एणिक पुत्र नामके मुनि मोहरहित होकर मरणको प्राप्त हुए और आराधनाके धारक हुए ॥१५३८॥

गा०—घोर अवमोदर्य तपके धारी भद्रबाहु मुनि घोर भूखसे पीडित होनेपर भी संक्लेश रूप परिणाम न करके उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५३९॥

गा०—कौशाम्बी नगरीमे सुखपूर्वक पाले गये इन्द्रदत्त आदि बत्तीस श्रेष्ठि पुत्र जलके मध्यमें यमुना नदीके प्रवाहके द्वारा प्रायोपगमन संन्यास पूर्वक मरणको प्राप्त हुए। उन्होंने मोह रहित होकर आराधनाको प्राप्त किया ॥१५४०॥

गा०—चम्पा नगरीमे एक मासका उपवास करते हुए धर्मघोष नामक मुनि गंगाके तटपर तीव्र प्याससे पीड़ित होकर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४१॥

१–२. तिगिंछाए मु० मूलारा० । ३. एता टीकाकारो नेच्छति ।

सीदेण पुव्ववइरियदेवेण विकुव्विएण घोरेण ।
संतत्तो सिरिदत्तो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५४२॥

'**सीदेण**' शीतेन । '**संतत्तो**' सतप्त । '**पुव्ववइरियदेवेण विकुव्विएण**' पूर्वजन्मशत्रुणा देवेनोत्पादितेन '**सिरिदत्तः**' श्रीदत्तः । उत्तमार्थमुपगत ॥१५४२॥

उण्हं वादं उण्हं सिलादलं आदवं च अदिउण्हं ।
सहिदूण उसहसेणो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५४३॥

'**उण्हं वादं**' उष्णं वातं, '**उण्हं सिलादलं**' उष्णं शिलातल । '**आदवं च अदिउण्हं**' आतापं चात्युष्णं '**सहिदूण**' प्रसह्य वृषभसेन उत्तमार्थं प्रतिपन्न ॥१५४३॥

रोहेडयम्मि सत्तीए हओ कोंचेण अग्गिदइदो वि ।
तं वेयणमधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५४४॥

'**रोहेडयम्मि**' रोहेडगे नगरे । '**सत्तीए हओ**' शक्त्या हतः । '**कोंचेण**' क्रौंचनामधेयेन । '**अग्गिदइदो वि**' अग्निराजसुतोऽपि । '**तं वेयणमधियासिय**' ता वेदना प्रसह्य । उत्तमार्थं प्रतिपन्न ॥१५४४॥

काइंदि अभयघोसो वि चंडवेगेण छिण्णसव्वंगो ।
तं वेयणमधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५४५॥

'**काइंदि अभयघोसो वि**' काकन्द्या नगर्यां अभयघोषोऽपि । '**चंडवेगेण छिण्णसव्वंगो**' चडवेगेन छिन्नसर्वांग ॥१५४५॥

दंसेहिं य मसएहिं य खज्जंतो वेदणं परं घोरं ।
विज्जुच्चरोऽधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५४६॥

'**दंसेहिं य**' दशैर्मशकैश्च भक्ष्यमाण विद्युच्चरस्ता वेदना अवगणय्य आराधना प्रपन्न. ॥ १५४६॥

गा०—पूर्वभवके बैरी देवके द्वारा विक्रिया पूर्वक किये गये शीत से पीडित होकर श्रीदत्त मुनि उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४२॥

गा०—गर्म वायु, गर्म शिलातल और अत्यन्त गर्म आतापको सहन करके वृषभसेन उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४३॥

गा०—रोहतक नगरमें क्रोंच नामक राजाके द्वारा शक्ति नामक शस्त्र विशेषसे मारा गया अग्नि राजाका पुत्र उसकी वेदनाको सहकर उत्तमार्थको प्राप्त हुआ ॥१५४४॥

गा०—काकन्दी नगरीमे चण्डवेगके द्वारा सब अगोंके छेद डालनेपर अभयघोष मुनि उसकी वेदनाको सहकर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४५॥

गा०—डांस मच्छरोके द्वारा खाये जानेपर विद्युच्चर मुनि अत्यन्त घोर वेदनाको सहन करके उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४६॥

हत्थिणपुरगुरुदत्तो संबलिथाली व दोणिमंतम्मि
उज्झंतो अधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५४७॥

'**हत्थिणपुरगुरुदत्तो**' हास्तिनापुरवास्तव्यो गुरुदत्तः । '**संबलिथालीव**' हरितसंकोश निरामाल [?] पूर्णभाजन अर्कपत्रपिहितमिव मुख अधोमुखं संस्थाप्य उपरिभाजनस्य अग्निप्रक्षेप. सबलीत्युच्यते । तद्वच्छिरसि निक्षिप्ताग्नि । '**दोणिमंतम्मि**' द्रोणीमत्पर्वते दह्यमान प्रपन्न उत्तमार्थं ॥१५४७॥

गाढप्पहारविद्धो पूइंगलियाहिं चालणीव कदो ।
तध वि य चिलादपुत्तो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५४८॥

'**गाढप्पहारविद्धो**' नितरामायुधैर्विद्ध । '**पूइगलियाहिं**' कृष्णै स्थूलोत्तमाङ्गै पिपीलिकाभि । '**चालणीव कदो**' चालनीव कृतश्चिलातपुत्रस्तथाप्युत्तमार्थमुपगतः ॥१५४८॥

दंडो जउणावंकेण तिक्खकंडेहिं पूरिदंगो वि ।
तं वेयणमधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५४९॥

'**दंडो**' दण्डनामको यति । '**जमुणावंकेण**' यमुनावक्रसञ्ज्ञितेन । '**तिक्खकंडेहिं**' तीक्ष्णै शरै '**पूरितांगोऽपि**' रत्नत्रय समाराधयति स्म ॥१५४९॥

अभिणंदणादिया पंचसया णयरम्मि कुंभकारकडे ।
आराधणं पवण्णा पीलिज्जंता वि यंतेण ॥१५५०॥

'**अभिणंदणादिगा**' अभिनन्दनप्रभृतय. पञ्चशतसख्याः, कुम्भकारकटे नगरे यत्रेण पीड्यमाना अप्याराधना प्राप्ताः ॥१५५०॥

गा०—हस्तिनापुर नगरके वासी गुरुदत्त मुनि द्रोणगिरि पर्वतपर संबलिथालीकी तरह जलते हुए उसकी वेदनाको सहकर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४७॥

विशेषार्थ—एक पात्रमें उडदकी फलिया भरकर उसे आकके पत्रोसे ढाककर, उस पात्रका मुख नीचेको करके चारो ओर आगसे घेर देनेपर सबलिथाली कहते है। द्रोणगिरि पर्वतपर गुरुदत्त मुनिके सिरपर आग जला दी गई थी। बृ० क० कोषमे १३९ नम्बर पर इनकी कथा विस्तारसे दी है।

गा०—चिलातपुत्र नामक मुनिका शरीर काली चीटियोके तीव्र डक प्रहारसे चलनीकी तरह बीध दिया गया था। फिर भी उन्होंने उत्तमार्थको प्राप्त किया ॥१५४८॥

गा०—दण्ड नामक मुनिके शरीरको यमुनावक्र नामके राजाने तीक्ष्ण बाणोसे छेदकर भर दिया था। फिर भी वे उसकी वेदनाको सहन करके उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४९॥

विशेषार्थ—बृ० क० कोषमे मुनिका नाम धान्यकुमार दिया है उनकी कथाका क्रमांक १४१ है।

गा०—कुम्भकारकट नामक नगरमें अभिनन्दन आदि पाँच सौ मुनि कोल्हूमे पेल दिये जानेपर भी आराधनाको प्राप्त हुए ॥१५५०॥

[1]गोट्ठे पाओवगदो सुबंधुणा गोव्वरे पलिवदम्मि ।
उज्झंतो चाणको पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५५१॥
वसदीए पलविदाए रिट्ठामच्चेण उसहसेणो वि ।
अराधणं पवण्णो सह परिसाए कुणालम्मि ॥१५५२॥

'वसदीए पलविदाए' वसतौ दग्धायां । रिट्ठामच्चनामधेयेन वृषभसेन सह मुनिपरिषदा प्रतिपन्न आराधनाम् ॥१५५१-१५५२॥

जदिदा एवं एदे अणगारा तिव्ववेदणट्टा वि ।
एयागी अपडियम्मा पडिवण्णा उत्तमं अट्ठं ॥१५५३॥

'जदिदा' एव यदि एदे तावदेवमेते 'अणगारा' यतयस्तीव्रवेदनापीडिता अपि एकाकिनोऽप्रतीकारा उत्तमार्थं प्रतिपन्ना ॥१५५३॥

किं पुण अणयारसहायगेण [2]कीरयंत पडिकम्मो ।
संघे ओलग्गंते आराधेदुं ण सक्केज्ज ॥१५५४॥

'किं पुण अणगारसहायगेण' किं पुनर्न शक्यते आराधयितु अनगारसहायेन भवता क्रियमाणे प्रतिकारे सघे चोपासना कुर्वति सति ॥१५५४॥

जिणवयणममिदभूदं महुरं कण्णाहुदिं सुणंतेण ।
सक्का हु संघमज्झे साहेदुं उत्तमं अट्ठं ॥१५५५॥

'जिणवयण' जिनाना वचन । अमृतभूत, मधुर कर्णाहुति शृण्वता त्वया सघमध्ये शक्यमाराधयितु ॥१५५५॥

गा०—चाणक्य मुनि गोकुलमे प्रायोपगमन सन्यासमे स्थित थे। सुबन्धु नामक मन्त्रीने कण्डोके ढेरमे आग लगा दी। उसमे जलकर चाणक्य मुनि उत्तम अर्थको प्राप्त हुए ॥१५५१॥

गा०—कुणालपुरीमे रिष्ट नामक मन्त्रीके द्वारा वसतिकामे आग लगानेपर वृषभसेन मुनि अपने शिष्य परिवारके साथ आराधनाको प्राप्त हुए ॥१५५२॥

गा०—इस प्रकार यदि ये मुनि अकेले प्रतीकार किये बिना तीव्र वेदनासे पीड़ित होकर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५५३॥

गा०—तो तुम्हारी सहायताके लिये तो मुनि समुदाय है वह तुम्हारे कष्टका इलाज करता है, तुम्हारे साथ उपासना करता है तब तुम आराधना क्यो नही कर सकते ॥१५५४॥

गा०—अमृतके समान मधुर जिन-वचन तुम्हारे कानोमे जाता है। उसे सुनते हुए संघके मध्यमे तुम्हारे लिये आराधना करना सरल है ॥१५५५॥

---

१. एता टीकाकारो नेच्छति । २. कीरतयम्मि पडिकम्मे —आ० मु० ।

णिरयतिरिक्खगदीसु य माणुसदेवत्तणे य संतेण ।
जं पत्तं इह दुक्खं तं अणुचिंतेहि तच्चित्तो ॥१५५६॥

'**णिरयतिरिक्खगदीसु य**' नरकतिर्यग्गतिषु च । '**माणुसदेवत्तणे य संतेण**' मानुषत्वदेवत्वयोश्च सता यत्प्राप्तं इह सुखानन्तर दु ख 'तं **अणुचिंतेहि**' तद्गतचित्तस्तदनुचिन्तय ।।१५५६।।

णिरएसु वेदणाओ अणोवमाओ असादबहुलाओ ।
कायणिमित्तं पत्तो अणंतखुत्तो व बहुविधाओ ॥१५५७॥

'**णिरएसु**' नरकेषु । '**वेदणाओ**' वेदना । '**अणोवमाओ**' अनुपमा. । तादृश्या वेदनाया जगत्यन्यस्या अभावात् । '**असादबहुलाओ**' असद्वेद्यकर्मबहुला । कारणबहुलत्वेन कार्यानुपरतिराख्याता । '**कायणिमित्तं पत्तो**' शरीरनिमित्तासंयमार्जितकर्मनिमित्तत्वान्मूलकारण निर्दिष्टं कायनिमित्तमिति । '**अणंतसो**' अणंतवारं । '**तं**' भवान् '**बहुविधाओ**' बहुविधा. ।।१५५७।।

उष्णनरकेषु उष्णमहत्तासूचनार्थोत्तरा गाथा—

जदि कोइ मेरुमत्तं लोहुण्डं पक्खिविज्ज णिरयम्मि ।
उण्हे भूमिमपत्तो णिमिसेण विलिज्ज सो तत्थ ॥१५५८॥

'**णिरयम्मि उण्हं** [2]**लोहुण्ड मेरुमत्तं अवि कोइ पक्खिवेज्ज**' उष्णनरके लोहपिण्ड मेरुसमान यदि कश्चिद्देवो दानवो वा प्रक्षिपेत् । '**सो तत्थ भूमिमपत्तो चेव विलिज्ज**'[3] लोहपिण्डो भूमिमप्राप्त एव द्रवतामुपयाति । '**उण्हेण**' उष्णेन नरकबिलाना ।।१५५८।।

गा०—नरकगति, तिर्यञ्चगतिमें और मनुष्य पर्याय तथा देवपर्यायमे रहते हुए तुमने जो दु ख सुख भोगा, उसमे मन लगाकर उसका विचार करो ॥१५५६॥

गा०-टी०—इस शरीरके निमित्त किये गये असयमसे उपार्जित कर्मके निमित्तसे तुमने नरकोमें अनन्तबार नाना प्रकारकी तीव्र वेदना असातावेदनीय कर्मके तीव्र उदयमे भोगी है। इस प्रकारकी वेदना जगत्में दूसरी नही है। उसका मूल कारण यह शरीर है। उसीके निमित्तसे होनेवाले असंयमके कारण असातावेदनीयका तीव्रबन्ध होकर वह नरकमे प्रचुरतासे उदयमे आता रहता है। अतः कारणकी बहुलता होनेसे वेदना रूप कार्य निरन्तर हुआ करता है ॥१५५७॥

आगेकी गाथासे उष्ण नरकोमे उष्णताकी महत्ता बतलाते हैं—

गा०—यदि कोई देव या दानव मेरुके समान लोहेके पिण्डको उष्ण नरकमे फेंके तो वह लोहपिण्ड वहाँकी भूमिको प्राप्त होनेसे ही पहले मार्गमें ही नरकबिलोकी उष्णतासे पिघल जाये ॥१५५८॥

१—२. लोहपिण्ड आ० । ३. विलाइज्ज —अ० आ० ।

तह चेव 'य तद्देहो पज्जलिदो सीयणिरयपक्खित्तो ।
सीदे भूमिमपत्तो णिमिसेण सडिज्ज लोहुण्डं ॥१५५९॥

'तह चेव' तथैव । 'तद्देहो' मेरुमात्रदेहः । 'लोहुंडो' लोहपिण्ड । 'पज्जलिदो' प्रज्वलित । 'सीयणिरयम्मि' शीतनरके । 'पक्खित्तो' प्रक्षिप्तो भूमिमप्राप्त एव । 'सीदेण सडिज्ज' शीतेन विशीर्यते ॥१५५९॥

शीतोष्णजनितवेदनातिशयमुद्दिश्य शारीरवेदनामाचष्टे—

होदि य णरये तिव्वा सभावदो चेव वेदणा देहे ।
चुण्णीकदस्स वा मुच्छिदस्स खारेण सित्तस्स ॥१५६०॥

'होदि य णरये तिव्वा' भवति च नरके तीव्रे वेदना । 'देहे' शरीरे । 'सभावदो चेव' स्वभावत एव । 'चुण्णीकदस्सेव' चूर्णीकृतस्येव । 'खारेण सित्तस्स' क्षारेण सिक्तस्य । 'अमुच्छिदस्स' अमूर्छितस्य । यादृशी वेदना तादृश्येव शरीरे वेदनेति यावत् ॥१५६०॥

णिरयकडयम्मि पत्तो जं दुक्खं लोहकंटएहिं तुमं ।
णेरइहिं य[2] तत्तो पडिओ जं पाविओ दुक्खं ॥१५६१॥

'णिरयकडयम्मि' नरकबिलसमूहे-नरकस्कन्धावारे इति केचिद्वदन्ति । अन्ये तु निरयगर्त इति । 'पत्तो जं दुक्खं' यद्दुःख प्राप्त । 'लोहकटएहिं' निशिततरलोहकण्टकैः तुद्यमानस्त्वं ॥१५६१॥

जं कूडसामलीए दुक्खं पत्तोसि जं च सूलम्मि ।
असिपत्तवणम्मि य जं जं च कयं गिद्धकंकेहि ॥१५६२॥

'जं कूटसामलीहिं य' यद्दुःखं प्राप्तोऽसि विक्रियाजनितनिशातशाल्मलीभि । ऊर्ध्वमुखैरधोमुखैश्च-तीक्ष्णकण्टकैराकीर्णा कूटशाल्मलीरारोहन् नारकभयात् । 'जं च सूलम्मि' यच्च दुःखमवाप्नोसि शूलाग्रप्रोत ।

गा०—उसी प्रकार उस पिघले हुए मेरु प्रमाण लोहपिण्डको यदि शीत नरकमे फेका जाये तो भूमिको प्राप्त होनेसे पहले ही वह वहाँके शीतसे जमकर खण्ड-खण्ड हो जाय ॥१५५९॥

शीत और उष्णसे होनेवाली वेदनाकी महत्ता बतलाकर शारीरिक वेदना कहते हैं—

गा०—जैसे किसी मूर्छारहित मनुष्यके शरीरको कुचलकर उसे खारे तप्त तेलसे सीचनेपर जैसी वेदना होती है वैसी ही तीव्र वेदना नरकमें नारकीके शरीरमे स्वभावसे ही होती है॥१५६०॥

गा०—नरकरूपी स्कन्धावारमे अथवा गढेमे नारकियोके द्वारा लोहेके अत्यन्त नुकीले कांटोपर घसीटे जानेसे तुमने जो दुःख भोगा उसका विचार करो ॥१५६१॥

गा०-टी०—विक्रियासे रचे गये तीक्ष्ण शाल्मली वृक्षोपर, जो ऐसे कांटोंसे घिरे होते हैं जिनमेसे कुछ कांटोका मुख ऊपरकी ओर और कुछका नीचेकी ओर होता है, नारकियोके भयसे डरकर चढ़ते हुए तुमने जो दुःख भोगा। सूलीके अग्र भागपर चढाये जानेपर तुमने जो दुःख

१. यदा तद्देहो च्चिय प—ज० । २. य संतो पडिदो तिक्खेहि तुद्दतो' —इति अन्येषा पाठ । —मूलारा० ।

'असिपत्तवणम्मि य जं' असय एव पत्राणि यस्मिन्वने तदसिपत्रवनं। उष्णार्दितानां पूत्कुर्वतां नारकाणां असिपत्रवनेऽनेकासुरविक्रियाविनिर्मितविविधायुधपत्राणि वनानि। **'जं च कयं'** यच्च कृतं। **'गिद्धकंकेहिं'** गृद्धैः कङ्कैश्च वज्रमयैस्तुण्डैः[1] ते लुञ्चनैस्तुदन्ति। तीक्ष्णीकृतक्रकचसदृशैः पक्षैः प्रहरन्ति[2] नितान्तखरपरुषैश्चरणाङ्कुशैस्ताडयन्ति ॥१५६२॥

सामसवलेहिं दोसं वइतरणीए य पाविओ जं सि।
पत्तो कयंववालुयमइगम्ममसायमतितिव्वं ॥१५६३॥

'सामसवलेहिं' श्यामशबलसंज्ञितैरसुरैः। **'दोसं'** दोषं दण्डानां। **'वइतरणीए य पाविओ जं सि'** वैतरण्या नद्यां प्रापितो यदसि। तृडभिभूतानां जलं मृगयता दिक्षु विन्यस्तदीनलोचनानां शुष्कतालुगलाना वैतरणीनदीमुपदर्शयन्ति। रङ्गत्तरङ्गाकुलां, अगाधनीलनीरभरितन्हृदां, विषयसुखसेवेव दुरन्ततृष्णानुबंधनोद्यता, संसृतिरिव दुरुत्तरा, आशेव विशाला, कर्मपुद्गलस्कंधसंहतिरिव विचित्रविपद्विधायिनी, तद्दर्शनाद्दूरादेवोपजातोत्कठा लब्धजीवितास्संवृत्ताः स्म इति मन्यमाना द्रुततरगतयस्तामवगाहन्ते। तदवगाहनानन्तरमेव कृताजलय पिबन्ति ताम्रद्रवसन्निभ तदम्भः। परुषवचनमिव हृदयदाहविधायि, हा विप्रलब्धाः स्मेति करुणं रसता शिरासि परुषतमसमीरणप्रेरणोत्थिततरङ्गासिधारा निकृन्तन्ति करचरणानि च। तेनातिक्षारेणोष्णेन, कालकूटविषायमानेन जलेन, व्रणान्तरप्रवेशिना दह्यमाना झटिति घटितकरचरणास्तटमेव रटन्तः समारोहन्ति। तेषा च

भोगा। जिस वनमे तलवारकी धारके समान पत्ते होते हैं उसे असिपत्र वन कहते हैं। गर्मीसे पीडित नारकी असिपत्र वनमें जाते हैं जो अनेक असुर कुमार देवोंकी विक्रियाके द्वारा निर्मित विचित्र आयुध रूप पत्रोंसे युक्त होते हैं और उन आयुध रूप पत्तोंके गिरनेपर उनका सर्वांग छिद जाता है। तथा गृद्ध और कङ्क पक्षि अपनी वज्रमय चोचोंसे उन्हे नोचते हैं तीक्ष्ण आरेके समान पखोसे प्रहार करते हैं। अत्यन्त तीक्ष्ण कठोर चरणरूपी अंकुशोसे मारते हैं। इन सबका जो दुःख तुमने भोगा ॥१५६२॥

गा०-टी०—श्याम शबल नामक असुर कुमारोके द्वारा वैतरणी नदीमे तुमने जो दण्ड भोगा। जब नारकी प्याससे व्याकुल होकर जलकी खोजमें होते है और उनकी आँखें दीन तथा कण्ठ और तालु सूख जाता है तो उन्हे वैतरणी नदी दिखलाई जाती है। वह रगीन तरंगोंसे व्याप्त और अगाध नीले जलसे भरी होती है, विषय सुख सेवनकी तरह तृष्णाकी परम्पराको बढ़ाने वाली होती है, संसारकी तरह उसे पार करना कठिन होता है, आशाकी तरह विशाल होती है, कर्मपुद्गलोंके स्कन्धोंके समूहकी तरह अनेक विपत्तियाँ लानेवाली होती है। उसको देखकर दूरसे ही उनकी उत्कण्ठा बढ़ जाती है। अब हम जी गये, ऐसा मानते हुए दौड़कर नदीमें प्रवेश करते हैं। प्रवेश करते ही हाथोंकी अजलि बनाकर पिघले हुए तामेके समान उसके जलको पीते हैं। वह जल कठोर वचनकी तरह हृदयको जलानेवाला होता है। 'अरे हम ठगाये गये' ऐसी करुण चीत्कार करते हुए उनके सिर और हाथ पैरोको अत्यन्त कठोर वायुसे प्रेरित लहरे, जो तलवारकी धारके समान होती हैं, काट देती हैं। तब कालकूट विषके समान अत्यन्त खारा गर्म जल उनके घावोंमें जाता है। उससे जलते हुए वे तत्काल तटकी ओर आते हैं। उनके कटे हाथ

---

1. तुण्डैः तरललोचनै —आ० मु०। ते हि वज्रमयैस्तुण्डैर्नेत्राणि तुदन्ति।' 2. रन्ति नित्यं नखर —आ० मु०।

ग्रीवासु श्यामशबला महतीः शिलावज्रशृङ्खलाप्रोता बध्नन्ति दुर्विमोचा । बद्ध्वा च तस्यामेवं पातयन्ति । पातितास्तत्र कृतोन्मज्जननिमज्जनालामुत्तमाङ्गानि असुरविक्रियानिर्मितमहामकरकरप्रहारेण जर्जरीभूय निपतन्ति । पुनश्च तटमारूढा[1]न्गच्छतस्तांस्तब्धभूय निश्चल बध्नन्ति । तानपरिस्पन्दमवस्थितान्लक्षीकृत्य विध्यन्तीति निशातशरशतसहस्रैः । 'पत्तो कयबवालुगमविगम्म' प्राप्त कदम्बप्रसूनाकारा[2]वालिका चित्तदुःप्रवेशा, दलालकृतखदिराङ्गारकणप्रकरोपमाना परिप्राप्य तत्र बलात्सचार्यमाण यत्प्राप्तवानसि दुःख तच्चिन्त्से[3] वज्रकुरु ॥१५६३॥

जं णीलमंडवे तत्तलोहपडिमाउले तुमे पत्तं ।
जं पाइओसि खारं कडुयं तत्तं कलयलं च ॥१५६४॥

'जं पत्तं तं चिंतेहि' यत्प्राप्त दुःख तच्चिन्तय । क्व ? **'णीलमंडवे'** काललोहघटिते मण्डपे । **'तत्तलोहपडिमाउले'** तप्तलोहप्रतिमाकुले । बलात्कारसपाद्यमानस्तप्तलोहप्रतिमायुवत्यालिंगितो यद्दुःखं प्राप्तवानसि तन्मनसि निधेहि । **'ज पाइओसि खारं'** यत्पायितोऽसि क्षार । **'कडुगं'** कटुक । **'तत्त'** तप्त ॥१५६४॥

जं खाविओसि अवसो लोहंगारे य पज्जलंते तं ।
कंडुसु जं सि रद्धो जं सि कवल्लीए तलिओ सि ॥१५६५॥

'ज खाविओसि' यत्खादितोऽसि । **'अवसो'** ऽवश. । बलाद्यन्त्रविदारितानन । **'लोहंगारे य पज्जलंते'** तं लोहाङ्गारान्प्रज्वलत त्व । **'कंडसु ज सि रद्धो'** कटुकासु यन्मण्डका इव पक्व ॥१५६५॥

पैर तत्काल जुड जाते है । उनकी गर्दनोमे भारी शिलाएँ वज्रमयी सांकलसे बाँध देते है जिनको खोलना अति कठिन होता है और उन्हे पुनः उसी वैतरणीमे डाल देते है । उसमे गिराये जानेपर वे डूबते उतराते हैं । असुर कुमारोंकी विक्रियासे बनाये गये महामच्छोके प्रहारसे उनके मस्तक छिन्न-भिन्न होकर गिर जाते हैं । पुन वे तट पर जाते है और उन्हे पुन निश्चल बांध देते हैं । तब उन निश्चल स्थित नारकियोको लक्ष करके लाखो तीक्ष्ण बाणोसे बीध देते हैं । पुन. कदम्बके फूलोके आकार वाली बालूमे, जिसमे बालिकाके चित्तकी तरह प्रवेश करना कठिन है और जो वज्रमयदलसे शोभित है तथा खैरकी लकडीके अंगारोके कण समूहकी तरह गर्म है, उसमे बलपूर्वक चलाये जानेपर तुमने जो दुःख पाया है उसका विचार करो ॥१५६३॥

गा०—काललोहसे निर्मित मण्डपमें तपाये हुए लोहेसे बनी प्रतिमारूपी युवतियोंसे बलपूर्वक आलिगन कराये जानेपर तुमने जो दुःख पाया उसका विचार करो । तथा खारा कडुआ तपा हुआ कलकल पिलाये जानेपर जो दुःख पाया उसका चिन्तन करो ॥१५६४॥

विशेषार्थ—ताम्बा, सीसा, सज्जी, गूगल आदिको पकाकर जो काढा तैयार होता है उसे कलकल कहते हैं ।

गा०—बलपूर्वक यंत्रके द्वारा तुम्हारा मुह फाड़कर जो तुम्हे जलते हुए लोहेके अंगार खिलाये गये और भट्टीमे मांडकी तरह पकाया गया तथा कडाहीमे तला गया ॥१५६५॥

---

१ ढानुगच्छत तस्तत्र भय–अ० । ढान्धतः नक्कभूय–ज० । २ क्षारावालिकावालिकाचि–अ० । रा तेषा ताः शिला पुनर्नि–मूलारा० । ३. तच्चिन्तय–मु० ।

कुट्टाकुट्टिं चुण्णाचुण्णि मुग्गरमुसुंढिहत्थेहिं ।
जं वि सखंडाखंडिं कओ तुमं जणसमूहेण ॥१५६६॥

'कुट्टाकुट्टिं बहुसो' यत्कुट्टितश्चूर्णितः मुद्गरमुसंढिहस्तैः, यच्च जनसमूहेन भवान् असकृत्खण्डितस्तदन्त करणे कुरु ॥१५६६॥

अनुवृत्तिक्रिया भाषा सन्नतिः सुखशीलता ।
त्रपा कृपा दमो दानं प्रसादो मार्दवं क्षमा ॥१॥
इत्येवमाद्याः सुगुणाः प्रशस्ता ये शरीरिणां ।
तेषु ते दुर्लभा नित्यं कान्तारेष्विव मानुषाः ॥२॥
शत्रुर्मित्रमुदासीन इत्यन्यत्र त्रिधा जनः ।
शत्रुरेव हि सर्वोऽत्र जनः सर्वस्य नारकः ॥३॥
कम्पनैः कणयैश्चक्रैर्नाराचैः क्रकचैर्नखैः ।
गदाभिर्मुशलैः शूलैः प्रासैः पाषाणपट्टिशैः ॥४॥
मुष्टिभिर्यष्टिभिर्लोष्टैः शङ्कुभिः शक्तिभिः शरैः ।
असिभिः क्षुरिकाभिश्च कुन्तैर्दण्डैः सतोमरैः ॥५॥
तथा प्रकारैरन्यैश्च निशितैर्नैकसंस्थितैः ।
भूस्वभावात्स्वयं जातैर्वैक्रियैरपि चायुधैः ॥६॥
नारकास्तत्र तेऽन्योन्यं रोषवेगेन पूरिताः ।
पूर्ववैराण्यनुस्मृत्य वैभंगज्ञानसंभवात् ॥७॥
घ्नंति छिंदति भिंदंति खादंति च तुदंति च ।
विध्यंति चापैर्मथ्नंति प्रहरन्ति हरन्ति च ॥८॥
श्वशृंगालवृकव्याघ्रगृध्ररूपाणि चापरे ।
विकृत्य विविधं पापा बाधंतेऽत्र परस्परं ॥९॥

गा०-टी०—अनेक बार हाथमे मुद्गर लेकर तुम्हे कूटा गया, मूसलोंसे जनसमूहने तुम्हे चूर्ण कर डाला । उसका मनमें विचार करो ।

अनुकूल क्रिया, भाषा, सज्जनता, नम्रता, सुखशीलता, लज्जा, दया, इन्द्रिय दमन, दान, प्रसन्नता, मार्दव, क्षमा आदि जो प्रशस्त सुगुण प्राणियोमें होते है वे गुण नरकमे वैसे ही दुर्लभ हैं जैसे घोर वनमें मनुष्यका मिलना दुर्लभ है । अन्यत्र शत्रु, मित्र और उदासीन तीन प्रकारके लोग होते हैं । किन्तु नारकी सब सबके शत्रु ही होते हैं । नरकमें नारकी अपने विभंगज्ञानसे पूर्व जन्मके वैरोंको स्मरण करके और क्रोधसे भरकर चक्र, बाण, करोंत, नख, गदा, मूसल, शूल, भाला, पाषाणसे निर्मित अस्त्र विशेष, मुट्ठी, लकड़ी, लोष्ट, शङ्कु, शक्ति, तलवार, छुरी, भाला, दण्डा, गुर्ज तथा इसी प्रकारके अन्य तीक्ष्ण अस्त्र शस्त्रोंसे जो वहाँकी पृथिवीके स्वभावसे स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं तथा विक्रियासे निर्मित आयुधसे परस्परमे मारते हैं, छेदते भेदते हैं, खाते हैं कोंचते हैं, प्रहार करते है, बींधते हैं । अन्य नारकी कुत्ता, सियार, भेडिया, व्याघ्र, गृद्ध

काष्ठशैलशिलारूपैर्निपतंति च केचुचित् ।
पततस्तान्प्रतीच्छंति ते च शूलाग्रसंस्थिताः ॥१०॥
मज्जयंति जलीभूय वायूभूय नुवंति च ।
वहंति वहनीभूय न दयंति परस्परं ॥११॥
तिष्ठ दासैव हन्मि त्वां त्वं कुतस्त्य पलायसे ।
निगूहसे महामोहान्मृत्युस्त्वां समुपस्थित ॥१२॥
छिंद्धि भिंद्धि तु वाकर्ष रुंद्धि इंधि वधान त ।
बधानैनं मृवानाशु वह च्छादय मारय ॥१३॥
प्रबधे पातयाप्येनं तुद पिंडीं प्रदीपय ।
विशसेति च संरभ्य तं मुंचंति गिरोऽशुभाः ॥१४॥

जनेनेदृशा नारकेण प्रापितवेदना बुद्धि निरूपयति—

जं [1]अवद्धदो उप्पाडिदाणि अच्छीणि णिरयवासम्मि ।
अवसस्स उक्खया जं सतूलमूलाय ते जिब्भा ॥१५६७॥

'**ज अवदृधदो उप्पाडिदाणि**' शिर पृष्ठदेशादुत्पाटिते । '**अच्छीणि**' लोचने । '**णिरयवासे य**' नरकवासे च । '**अवसस्स**' अवशस्य । '**उत्खाता**' उत्पाटिता । '**जं**' यत् । '**सतूलमूलाय ते जिब्भा**' निरवशेषा ते जिह्वा ॥१५६७॥

कुंभीपाएसु तुमं उक्कढिओ जं चिरं पि[2] वं सोल्लं ।
जं सुठ्ठिउव्व णिरयम्मि पउलिदो पावकम्मेहिं ॥१५६८॥

'**कुंभीपाएसु तुमं**' कुभीपाकेषु त्व । '**उक्कड्ढिदो**' उत्क्वथित । '**जं सुट्ठिउव्व**' शूलप्रोतमासवत् । '**णिरयम्मि**' नरके । '**पोलिदो**' अंगारप्रकरे पक्व । '**पावकम्मेहिं**' पापकर्मभि ॥१५६८॥

आदिका रूप अपनी विक्रियासे बनाकर विस्तारपूर्वक परस्परमे कष्ट देते है। कुछ काष्ठ, पर्वत और शिलारूप बनकर उनपर बरसते है। उनको अपने ऊपर गिरते देखकर दूसरे नारकी जो सूलीके अग्र भागपर टँगे होते हैं उन्हे ग्रहण करते है। वे नारकी जल बनकर दूसरे नारकियोंको डुबाते हैं, वायु बनकर उडाते हैं। आग बनकर जलाते हैं। परस्परमे दया नही करते। अरे दासीपुत्र! ठहर, कहाँ भागा जाता है। मै तुझे मारूँगा। तेरी मृत्यु आ गई है। इसका छेदन करो, भेदन करो, पकड़ लो, खीच लो, मार डालो, जला डालो, चीर दो इत्यादि अशुभ बचन बोलते हैं ॥१५६६॥

नारकी जीवने इस प्रकार जो वेदना भोगी उसे कहते है—

गा०—नरकमे सिरके पिछले भागसे तेरी आँखे निकाली गई। और पराधीनतावश तेरी पूरी जिह्वा जडमूलसे उखाड़ी गई ॥१५६७॥

गा०—पापी नारकियोंके द्वारा नरकमे तुम चिरकाल तक कुम्भीपाकमें औटाये गये। तथा सूलमें पिरोये मांसकी तरह अंगारोपर पकाये गये ॥१५६८॥

---

१. आवट्ठदो मु० । अवदृधदो मूलारा० । २ पि सोहग्गे अ० ज० । सोल्ल घृतमिश्रित तैलं वज्रलेप इत्यन्य.—मूलारा० ।

जं भज्जिदोसि भज्जिदगंपि व जं गालिओसि रसयं व ।
जं कप्पिओसि वल्लूरयं व चुण्णं व चुण्णकदो ॥१५६९॥

'**जं भज्जिदोसि**' यद्भृष्टोऽसि '**भज्जिदगंपि**' भज्जिदगनामधेयशाकवत् । '**जं गालिओसि रसगोव्व**' यद्गालितोऽसि रसवत् । '**जं कप्पिदोसि**' यत्कर्तितः । '**जं छिण्णो सि**' यत् छिन्नः । '**वल्लूरयं पि व**' वल्लूरवत् । '**चुण्णंव**' चूर्णवत् '**चुण्णकदो**' चूर्णीकृत ॥१५६९॥

चक्केहिं करकचेहिं य जं सि णिकत्तो विकत्तिओ जं च ।
परसूहिं फाडिओ ताडिओ य जं तं मुसुंढीहिं ॥१५७०॥

'**चक्केहि करकचेहिं**' चक्रैः क्रकचैश्च । '**जं सि णिकत्तो**' यदसि निकृत्तः । '**विकत्तिदो**' विविध कृत्त. । '**परसूहि फालिदो**' परशुभि पाटित. । '**ताडिदो**' ताडित. । '**जं**' यत् त्व '**मुसुढीहिं**' मुषुंढीभि ॥१५७०॥

पासेहिं जं च गाढं बद्धो भिण्णो य जं सि दुघणेहिं ।
जं खारकद्दमे खुप्पिओ सि ओमच्छिओ अवसो ॥१५७१॥

'**पासेहिं**' पाशै । '**जं**' यत् । '**गाढं बद्धो**' दृढ बद्ध । '**भिण्णो य**' भिन्नश्च । '**जं सि**' यदसि । '**दुघणेहिं**' घनै । '**जं**' यत् । '**खारकद्दमे**' क्षारकर्दमे । '**खुप्पिदोसि**' निखातोऽसि । '**ओमच्छिओ**' अधोमस्तक. । '**अवसो**' परवश ॥१५७१॥

जं छोडिओसि जं मोडिओसि जं फाडिओसि मलिदो सि ।
जं लोडिदोसि सिंघाडएसु तिक्खेसु वेएण ॥१५७२॥

यच्छूरन., पातितः, मर्दित , लोठितश्च तीक्ष्णेषु श्रृंगाटकेषु वेगेन ॥१५७२॥

विच्छिण्णंगोवंगो खारं सिंच्चित्तु वीजिदो जं सि ।
सत्तीहिं वि[1]मुक्कीहिं य अदयाए खुंचिओ जं सि ॥१५७३॥

'**विच्छिण्णगोवंगो**' विच्छिन्नांगोपाग । '**खारं सिच्चित्तु**' क्षार सिक्त्वा । '**वीजिदो जं सि**' यद्वीजित ।

गा०—तुम भाजीकी तरह भूँजे गये हो। गुडके रसकी तरह छाने गये हो। मांसके टुकडोंकी तरह काटे गये हो और चूर्णकी तरह चूर्ण किये गये हो ॥१५६९॥

गा०—चक्रके द्वारा छेदे गये हो। आरेके द्वारा चीरे गये हो। परसुके द्वारा फाड़े गये हो। और मुसुंढी अस्त्र विशेषसे पीटे गये हो ॥१५७०॥

गा०—पाशके द्वारा मजबूतीसे बांधे गये हो। घनोंके द्वारा छिन्न-भिन्न किये गये हो। पराधीन होकर खारी कीचड़में नीचेको मस्तक करके गाड़े गये हो ॥१५७१॥

गा०—जो विदारे गये हो। मोड़े गये हो, फाड़े गये हो, पैरोसे मले गये हो, तथा वेगसे तीक्ष्ण लोहमयी सिंघाड़ोंपर घसीटे गये हो ॥१५७२॥

गा०— अंग उपांगके विच्छिन्न होनेपर खारे जल आदिसे सींचे गये। फिर पंखासे

---

1. मुतिक्खीहिं आ० ।

'सत्तीहिं' शक्तिभि । 'विमुक्कीहिं य' अयोमयकण्टकाग्रैर्दण्डै: । 'अदयाए' दयामन्तरेण । 'खुंचिदो' परावर्तित ॥१५७३॥

पगलंतरुधिरधारो पलंबचम्मो पभिन्नपोट्टसिरो ।
पउलिदहिदओ जं फुडिदच्छो पडिचूरियंगो य ॥१५७४॥

'पगलंतरुधिरधारो' प्रगलद्रुधिरधार । 'पलंबचम्मो' प्रलम्बत्वक् । 'पभिन्नपोट्टसिरो' प्रभिन्नोदर शिर । 'पउलिदहिदओ' प्रतप्तहृदय । 'जं' यत् । 'फुडिदच्छो' स्फुटितलोचन । 'पडिचूरियंगो य' परिचूर्णिताङ्ग ॥१५७४॥

जं [1]वडवडिंतकरचरणंगो पत्तो सि वेदणं तिव्वं ।
णिरए अणंतखुत्तो तं अणुचिंतेहि णिस्सेसं ॥१५७५॥

'ज' यत् । 'वडवडिंतकरचरणंगो' वेपमानकरचरणाङ्ग । 'पत्तो सि वेदणं तिव्व' प्राप्तोऽसि वेदना तीव्रां । 'णिरए' नरके । 'अणंतखुत्तो' अनतवार तत् 'अणुचिंतेहि' अनुक्रमेण चिन्तय । 'णिस्सेसं' निरवशेष ॥ नरकगतिदु ख वर्णितम् ॥१५७५॥

तिरियगदिं अणुपत्तो भीममहावेदणाउलमपारं ।
जम्मणमरणरहट्टं अणंतखुत्तो परिगदो जं ॥१५७६॥

'तिरियगदिं अणुपत्तो' तिर्यग्गतिमनुप्राप्त । 'भीममहावेदणाउलमपारं' । भीममहावेदनाकुलमपार 'जम्मणमरणरहट्टं' जन्ममरणघटीयत्र । 'अणंतखुत्तो' अनतवार । 'परिगदो' परिप्राप्तोऽसि । यत् चितेहि त इति वक्ष्यमाणेन सबन्ध । तिर्यंचो हि नानाविधा पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसभेदेन ॥१५७६॥

हवा की गई जिससे वेदना बढ़े। फिर शक्ति नामक अस्त्रसे और लोहेके दण्डेसे जिसके आगे काटे लगे हो, निर्दयतापूर्वक खोचे गये ॥१५७३॥

गा०—रुधिरकी धार बह रही है, चमडा लटक रहा है, उदर और सिर फट गया है, हृदय दु खसे संतप्त है, आँखें फूट गई हैं। समस्त शरीर छिन्न-भिन्न है ॥१५७४॥

गा०—हाथ पैर कापते है। ऐसी दशामे तुमने नरकमे जो अनन्त बार तीव्र कष्ट भोगा उस सबका क्रमसे चिन्तन करो ॥१५७५॥

नरकगतिके दु:खका वर्णन समाप्त हुआ।

गा०-टी०—नरकसे निकलकर तुम तिर्यञ्चगतिमे आये। यह जन्म मरणरूपी घटीयंत्र (रहट) भयानक महावेदनाओसे भरा है, इसका पार नही है। इसे तुमने अनन्तवार प्राप्त किया है। तिर्यञ्च पृथिवी, जल, तेज, वायु, वनस्पति और त्रसके भेदसे अनेक प्रकारके है ॥१५७६॥

१. वडयडंत—मु०, मूलारा०।

आत्मानुभूतान्यपि न स्मरन्ति दुःखानि केचिद्धि नराः प्रमत्ताः ।
दृष्टश्रुतान्यन्यसमुद्भवानि ते विस्मरन्तीति न विस्मयोऽत्र ॥१॥
प्रमादलोपार्थमतो नरेभ्यो ज्ञातोऽपि सोऽर्थः परिकथ्य एवं ।
संस्मार्यमाणे प्रभवन्ति यस्मिन्गुणा न दोषाश्च समुद्भवन्ति ॥२॥
शीते निवातं सलिलादि चोष्णे क्षेमं [1]भये संश्रयितुं समर्थाः ।
ये जंगमास्ते न तु सन्ति शक्तिरेकेन्द्रियाणां बत जीवकानां ॥३॥
सर्वोपसर्गानिह मोक्षकामा यथा विरागा मुनयः सहन्ते ।
सर्वोपसर्गानवशा वराका एकेन्द्रिया ये च सदा सहन्ते ॥४॥
जात्यन्धमूका बधिराश्च बाला रथ्यासु रक्षाशरणप्रहीणाः ।
प्रमर्द्यमाना गजवाजियानैर्यथा [2]म्रियेरन् विवशा वराका ॥५॥
तथा प्रकारो विकलेन्द्रियाणां प्रवर्तते नारकदुःखतुल्यः ।
मृत्युः समंतात् सततं सुघोरो ग्रामेष्वरण्येषु च निःशरण्यः ॥६॥
गोऽजाविकाद्यैः परिमर्द्यमाना यानादिचक्रैः परिपिष्यमाणाः ।
अन्योन्यवक्त्रै परिमृष्यमाणाः दुःखं च मृत्युं च हि ते लभन्ते ॥७॥
छिन्नैः शिरोभिश्चरणैश्च भग्नैरुजार्दितैश्चावयवैस्तनूनां ।
चिरं स्फुरन्तः प्रतिकारहीनाः कृच्छ्रेण केचिज्जहति स्वमायु. ॥८॥
निमज्यमाना उदबिन्दुनापि निश्वासवातैरपि बाध्यमानाः ।
प्रबाध्यमाना लघुनोष्मणापि नश्यन्ति ये तेषु कथा भवेत् का ॥९॥

कितने ही प्रमादी मनुष्य अपने द्वारा अनुभूत दुःखोंको भी भूल जाते हैं। तब देखे हुए, सुने हुए और दूसरोंके भोगे हुए दुःखोको भूल जाये तो इसमें क्या आश्चर्य है। अतः मनुष्योंके द्वारा जाना हुआ भी यथार्थ प्रमाद दूर करनेके लिये कहा जाता है। जिसका स्मरण होनेपर गुण प्रकट होते है और दोष प्रकट नही होते। जो जगम प्राणी होते हैं वे शीतमे वायु रहित स्थानमें, गर्मीमे जलादिमें, भय उपस्थित होनेपर निरापद स्थानमे आश्रय ले सकते हैं। किन्तु खेद है कि एकेन्द्रिय जीवोंमें ऐसी शक्ति नही होती। जैसे मोक्षके इच्छुक विरागी मुनि सब उपसर्गोको सहते हैं। पराधीन बेचारे एकेन्द्रिय भी सब उपसर्गोको सदा सहते हैं। जैसे जन्मसे अन्धे गूँगे बहरे बालक रक्षा और शरणसे विहीन हुए बेचारे विवश होकर मार्गोंमे हाथी घोड़े सवारी आदिसे कुचलकर मर जाते हैं। विकलेन्द्रिय जीवोंकी भी ऐसी ही दशा है। उनका दुःख भी नारकियोंके समान है। ग्रामों और वनोंमें भी उनको शरण नहीं है। उनकी घोर मृत्यु सदा होती रहती है। गाय बैल, बकरा मेढा आदिके द्वारा वे कुचले जाते हैं। गाड़ी आदिके चकोंके नीचे पिस जाते हैं। परस्परमें एक दूसरेके मुखोंके द्वारा पीड़ित होकर वे दुःख और मृत्युको प्राप्त होते हैं। सिरोंके भग्न हो जानेपर, पैरोंके टूट जानेपर तथा शरीरके अवयवोंके रोगसे ग्रस्त होनेपर वे चिरकाल तक तड़फड़ाते रहते हैं, उनका कोई इलाज नहीं करता। बड़े कष्टसे वे आयु पूरी करते हैं। जो जलकी एक बूंदमें भी डूब जाते हैं, प्राणियोंके श्वासकी वायुसे भी पीड़ित होते हैं। जरा सी भी गर्मीसे पीड़ित होनेपर मर जाते हैं उनकी क्या कथा कही जाये ?

१. भये मु० । २. म्रियंते मु० ।

सरः प्रविश्येह यथा नरः सन्नुन्मज्जनं चैव निमज्जनं च ।
क्रीडाप्रसक्तो बहुशोऽपि कुर्याज्जन्मकार्यं स्ववशो वयस्थ. ॥१०॥
प्रविश्य जन्मोदधिमध्यमेवं शरीरिणस्ते बहु जन्ममृत्यून् ।
अन्तर्मुहूर्तेऽपि समाप्नुवन्ति पेपीयमानाः कटुदुःखतोयम् ॥११॥
सूक्ष्मैः शरीरैरपि ते महान्ति दुःखानि नित्यं समवाप्नुवन्ति ।
[1]स्थूलेषु देहेषु समोहितेषु दुःखोदयो देहिगणैश्च दृष्ट. ॥१२॥
येषां न माता न पिता न बन्धुर्न चापि मित्रं न गुरुर्न नाथः ।
न भेषजं नाभिजनो न भक्ष्यं न ज्ञानमस्त्येव कुतः सुखं स्यात् ? ॥१३॥
मात्रा वियोगेऽपि सतीह तावत् दुःखाम्बु तत्तुं न जनो लभेत ।
मात्रा वियोगस्तु भवेन्न येषां स्यान्नं कथं ते न हि दुःखराशे. ॥१४॥
मा भैष्ट मा भूत्तव दु[2]खजालं मा बिद्ध मा वेति वराककाणां ।
आश्वासको वाप्यनुकम्पिता वा तेषां जनः कोऽस्ति यथा नराणां ॥१५॥
तैस्तैः प्रकारैः सततं समन्ताच्छश्वद्व्रजता अपि मृत्युमुग्र ।
करोति वा को ग्रहणं निरीक्ष्य विमृश्य सबन्धविदो मनुष्यान् ॥१६॥
अन्योन्यतो मर्त्यजनाच्च पापात् क्षुधादितश्चापि महाभयानि ।
पञ्चेन्द्रिया यानि समाप्नुवन्ति दुःखानि तेषामिह कोपमा स्यात् ॥१७॥
स्तनंधयान्स्वानपि भक्षयन्त [3]श्रुतास्तिरश्चोऽपि न निष्कृपाकाः ।
निहत्य खादन्तु परान्परेषु तिर्यक्षु किं विस्मयनीयमस्ति ॥१८॥

जैसे कोई स्वाधीन वयस्क पुरुष क्रीडासक्त हो, सरोवरमे प्रवेश करके बहुत बार जलमे डूबता और उतराता है। वैसे ही शरीरधारी प्राणी जन्मरूपी समुद्रके मध्यमे प्रवेश करके कटुक दु.खरूपी जलको पीते हुए एक अन्तर्मुहूर्तमे भी बहुत बार जन्म लेते और मरते है। यद्यपि उनके शरीर सूक्ष्म होते है फिर भी वे महान् दुःख भोगते है। स्थूल शरीर मिलने पर उनका दु.ख अन्य प्राणी भी देख सकते हैं। जिनका न पिता है, न माता है, न बन्धु है, न मित्र है, न गुरु है, न स्वामी है, न औषध है, न वंश है, न भोजन है और न ज्ञान है उन्हे सुख कैसे हो सकता है। माताका वियोग भी होनेपर इतना दुःख होता है जिसे मनुष्य सह नही पाता। जिनके माता ही नही है उनकी दुःख राशिका तो कहना ही क्या है। तुम मत डरो, तुम्हे दुःख न हो, इस प्रकार उन बेचारोको मनुष्योकी तरह न कोई सान्त्वना देनेवाला है और न कोई उनपर दया करनेवाला है। विभिन्न प्रकारोसे निरन्तर सदा चहुँ ओरसे उग्र मृत्युको प्राप्त उन प्राणियोंको देखकर उनके सम्बन्धमें जानने वाले मनुष्योके सिवाय अन्य कौन उनकी सुध लेता है। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च परस्परमें एक दूसरेसे, पापी मनुष्योसे भूख प्यास आदिसे जिन महाभयकारी दुःखोको प्राप्त होते है उनकी कोई उपमा नही है। वे अपने बच्चोको भी खा जाते हैं। तिर्यञ्च भी दयाहीन नही सुने गये हैं। किन्तु जो अपने ही बच्चोको खाते हैं वे यदि दूसरोंको खा जावे तो इसमें आश्चर्य ही क्या। वे परस्परमे एक दूसरेका घात करनेके लिये प्रहार करते हैं। उनको मारनेके लिये

१ स्थूलानुदेहेषु समोहितेषु सुखोदयो देहिगुणैश्च दृष्ट. ।'—अ० । २. दुःख च स्या आविष्ट—अ० । ३. सुता आ० ।

अन्योन्यघातार्थमनुप्रयाति हन्तुं [illegible]

तं कश्चिदन्यः सहसा निहंता ह्री [1]धिक्ततो भीमतरं किमन्यत् ॥१९॥

अन्योन्यरन्ध्रेक्षणनष्टनिद्रा अन्योन्यमाहत्य जिजीविषन्तः ।

स्वस्था न येऽन्योन्यभयात्स्वपन्ति किं ते भवेयुः सुखिनः कदाचित् ॥२०॥

वने मृगास्तोयतृणप्रपुष्टाः मृगीसहाया रतिमाप्नुवन्ति ।

व्याधादिभिर्यद्भयमाप्नुवन्ति निरेनसः कारणमत्र कर्म ॥२१॥

वियोजिता आत्मसुतैश्च बालैर्मृग्यो मृगैश्चात्ममनोऽनुकूलैः ।

दिशस्तु दीनाक्षिभिरीक्ष्यमाणाः सुदारुणं मारणमाप्नुवन्ति ॥२२॥

स्वभावपापाः कुकवीरिताभिः प्रोत्साहिता दुःश्रुतिभिः कुतश्च ।

अबिभ्यतो दुर्गतितो यथेष्टं घ्नन्तोऽप्यवंतश्च हितानुमन्यते ? ॥२३॥

वने मृगेभ्यः पिशिताशनेभ्यो ग्रामेषु नृभ्यश्च तथाविधेभ्यः ।

ते बिभ्यते न क्वचिदाश्रयस्ततो यदृच्छया बिभ्रति जीवितानि ॥२४॥

यदङ्कुशादिप्रहृतैर्गजाश्च कशाभिघातैश्च हया हताशाः ।

गावश्च तोत्राभिवधैः परेषां कुर्वन्ति कर्माभरणावकामाः ॥२५॥

[2]मत्याधुतानामलमेतदेव विरागभावप्रभवे निमित्तम् ।

तावृग्विधाना बहवो हि कोटयः कथं प्रकुर्वन्त्य[3]मितेतरस्य ॥२६॥

दंदह्यमानाश्च दवाग्निवेगैर्महाजलौघैश्च समूह्यमानाः ।

मृगाः खगाः सर्पसरीसृपाश्च सार्धं म्रियन्ते बहवो यतान्ये ॥२७॥

दूसरा पशु उसके पीछे लग जाता है। उसको भी कोई तीसरा मार देता है। धिक्कार है इसे, इससे भयानक और क्या हो सकता है। परस्परमें एक दूसरेके छिद्रोंको देखनेसे जिनकी नींद भाग जाती है, जो एक दूसरेको मारकर जीना चाहते हैं, जो परस्परमें एक दूसरेके भयसे स्वस्थ होकर सो नही सकते वे कभी सुखी कैसे हो सकते हैं ? वनमें मृग जल और तृण खाकर पुष्ट होते हैं। हिरणी उनकी सहचरी होती है। परस्परमें प्रेमसे रहते है। बिना किसी अपराधके भी व्याध आदिसे उन्हे भय रहता है। इसमे कारण उनका पूर्व कर्म है। उन्हे अपने बच्चोंसे वियोगका दु ख उठाना पड़ता है। अपने मनके अनुकूल मृगोकी खोजमें दीन दृष्टिसे दिशाओको देखा करते हैं और इस तरह भयकर मृत्युको प्राप्त होते हैं। जो स्वभावसे ही पापी है, और कुकवियोंके द्वारा कही गई न सुनने योग्य कविताओसे उत्साहित होकर, दुर्गतिसे भी नहीं डरते वे उन पशुओंको यथेच्छ मारते हैं और इसे हित मानते है। वनमें मांसाहारी पशुओंसे, ग्रामोंमें मांसाहारी मनुष्योंसे डरते हैं। वे कही भी अपनी इच्छानुसार निर्भय जीवन नहीं बिताते। हाथी अंकुश आदिके प्रहारोंसे, घोड़े कोड़े आदिकी मारसे और बैल पैनी आदिके घातसे मरणपर्यन्त दूसरोंका काम करते हैं। जो बुद्धिमान् हैं उनके वैराग्य उत्पन्न होनेमें यह सब ही निमित्त है। उनकी बहुतसी कोठियाँ हैं वे एक दूसरेको कष्ट कैसे दे सकते हैं। जंगलकी आगके वेगसे जलते हुए महाजलसमूहके प्रवाहसे बहाये जाते हुए मृग, पक्षी, सर्प, सरीसृप तथा अन्य भी बहुतसे जीव एक साथ मर जाते हैं ॥१५७६॥

---

१ ह्री धिक्क लोभान्वितरा किमन्यत्' --आ० । २. मत्यायुतानामामल--आ० । ३. न्त्यमिते नारस्य --आ० ज० ।

ताडणतासणबंधणवाहणलंछणविहेडणं[1] दमणं ।
कण्णच्छेदणणासावेहणणिल्लंछणं[2] चेव ॥१५७७॥

'ताडणतासण' ताडनत्रासनबन्धनलाञ्छनवाहनविहेडनकर्णछेदननासिकावेधनबीजविनाशनानि ॥१५७७॥

छेदणभेदणडहणं णिपीलणं गालणं छुहातण्हा ।
भक्खणमद्दणमलणं विकत्तणं सीदउण्हं च ॥१५७८॥

छेदनभेदनदहननिपीडनगालनानि क्षुत्तृड्बाधाभक्षणमर्दनमलनविकर्तनानि । शीतमुष्ण च ॥१५७८॥

जं अत्ताणो णिप्पडियम्मो बहुवेदणुद्दिओ पडिओ ।
बहुएहिं मदो दिवसेहिं चडयडंतो अणाहो तं ॥१५७९॥

'जं अत्ताणो' यदत्राणो । 'णिप्पडियम्मो' निष्प्रतीकार । 'बहुवेदणद्दिओ' बहुवेदनार्दित । 'पडिदो' पतित । 'बहुगेहिं मदो दिवसेहिं' बहुभिर्मृतो दिवसै. । 'चडवडितो' स्फुरद्देह । 'अणाहो' अनाथ । 'त' त्वं ॥१५७९॥

रोगा विविहा बाधाओ तह य णिच्चं भयं च सव्वत्तो ।
तिव्वाओ वेदणाओ धाडणपादाभिघादाओ १५८०॥

'रोगा विविहा' व्याधयो नानाप्रकारा । 'बाधाओ' बाधाश्च । 'तथा णिच्च भयं च सव्वत्तो' नित्यं भयं च सर्वत' । 'तिव्वाओ वेदणाओ' तीव्रा वेदना घाटनपादाभिघाताश्च ॥१५८०॥

सुविहिय अदीदकाले अणंतकायं तुमे अदिगदेण ।
जम्मणमरण[3]मणंतं अणंतखुत्तो समणुभूदं ॥१५८१॥

'सुविहिद' सुचारित्र । 'अदीदकाले' अतीतकाले । 'अणंतकाय तुमे अदिगदेण' अनतकायं त्वया प्रविष्टेन । 'जम्मणमरणमणत' जन्ममरण चानन्तं । 'अणंतखुत्तो' अनन्तवार क्षिप्त. । 'समणुभूद' सम्यगनुभूत ॥१५८१॥

गा०—लाठी आदिसे मारना, डराना, रस्सी आदिसे बाधना, बोझा लादकर देशान्तरमे ले जाना, गर्म लोहेसे दागना, पीड़ा देना, दमन करना, अण्डकोषोको दवा देना । अगोंको छेदना, भेदना, जलाना, दबाना, रोग आदि होनेपर रक्त निकालना, भूख प्यासकी बाधा, भक्षण, मर्दन, मलना, कान आदिको काटना, शीत उष्ण इत्यादि दु:ख तिर्यञ्च गतिमे तुमने सहे हैं ॥१५७७-७८॥

गा०—जहाँ कोई रक्षक नहीं, कोई प्रतीकार नही, बहुत कष्टसे पीड़ित होकर गिरे और अनाथ दशामे तड़फड़ाते हुए तुम बहुत दिनोंमें मरे ॥१५७९॥

गा०—तिर्यञ्चगतिमे नाना प्रकारके रोग, नाना प्रकारकी बाधाएँ, सदा सब ओरसे भय, तीव्र वेदनाएँ, पैरसे मारना आदि कष्ट है ॥१५८०॥

गा०—हे चारित्रसे सम्पन्न क्षपक ! अतीतकालमें तुमने अनन्तकायमें जन्म लेकर अनन्त वार अनन्त जन्म मरणोंको भोगा ॥१५८१॥

---

१. णं मक्षणं अ० । २. णेण लछण चेव—अ० । ३. णादंकं अणं —अ०, आ० ।

इच्चेवमादिदुक्खं अणंतखुत्तो तिरिक्खजोणीए ।
जं पत्तोसि अदीदे काले चिंतेहि तं सव्वं ॥१५८२॥

'इच्चेवमादिदुक्खं' इत्येवमादिदुःखं । 'अणंतखुत्तो' अनन्तवारं । 'तिरिक्खजोणीए' तिर्यग्योनौ । 'जं' यत् । 'पत्तोऽसि' प्राप्तोऽसि । 'अदीदकाले' अतीतकाले । 'चिंतेहि तं सव्वं' तत्सर्वं चिन्तय । तिरियगदी ॥१५८२॥

देवत्तमाणुसत्ते जं ते जाएण सकयकम्मवसा ।
दुक्खाणि किलेसा वि य अणंतखुत्तो समणुभूदं ॥१५८३॥

'देवत्तमाणुसत्ते' देवत्वमानुषत्वयोः । 'जादेण' जातेन । 'सकयकम्मवसा' स्वकृतकर्मवशात् । 'दुक्खाणि किलेसा वि य' दुःखानि क्लेशाश्च । 'अणंतखुत्तो' अनन्तवारं समनुभूताः ॥१५८३॥

पियविप्पओगदुक्खं अप्पियसंवासजाददुक्खं च ।
[1]जं वेमणस्सदुक्खं जं दुक्खं पच्छिदालाभे ॥१५८४॥

'पियविप्पओगदुक्खं' प्रियविप्रयोगजातं दुःखं । 'अप्पियसंवासजाददुक्खं च' अप्रियैः सहवासेन जातं च दुःख । येषां नामश्रवणेऽपि शिरःशूलो जायते, येषां दर्शनाद्दर्शने धूमायेते । 'जं वेमणस्सदुक्खं' यद्वैमनस्यदुःखं 'पच्छिदालाभे जं दुःखं' यद्दुःखं प्रार्थितालाभे ॥१५८४॥

परभिच्चदाए जं ते असब्भवयणेहिं कडुगफरुसेहिं ।
णिब्भत्थणावमाणणतज्जणदुक्खाइं पत्ताइं ॥१५८५॥

'परभिच्चदाए' परभृत्यतायां सत्यां 'ते' तव 'जं' यज्जातं । 'असब्भवयणेहिं' अशिष्टवचनैः । 'कडुगफरुसेहिं' कटुकैः परुषैश्च । 'णिब्भत्थणावमाणणतज्जणदुक्खाइं पत्ताइं' निर्भर्त्सनावमाननतर्जनदुःखानि प्राप्तानि ॥१५८५॥

दीणत्तरोसचिंतासोगामरिसग्गिपज्जलिदमणो जं ।
पत्तो घोरं दुक्खं माणुसजोणीए संतेण ॥१५८६॥

गा०—तिर्यञ्चयोनिमें तुमने अतीतकालमें अनन्तवार जो इस प्रकारके दुःख भोगे हैं उन सबका विचार करो ॥१५८२॥

गा०—अपने किये हुए कर्मके वशीभूत होकर तुमने देवपर्याय और मनुष्य पर्यायमें जन्म लिया और वहाँ भी अनन्तवार दुःख और क्लेशोंको भोगा ॥१५८३॥

गा०-टी०—प्रिय जनके वियोगका दुःख, अप्रियजनोंके साथमें रहनेका दुःख, जिनका नाम सुनकर भी सिरमें दर्द होता है, जिनके देखने मात्रसे आँखें लाल हो जाती हैं उन्हे अप्रिय कहते हैं। उनके साथमें रहनेका दुःख, वैमनस्यका दुःख और इच्छित वस्तुके न मिलनेका दुःख, राजा आदिकी नौकरी करनेपर अशिष्ट और कटुक वचनोंका दुःख, धिक्कार, तिरस्कार, अपमान और डांटनेका दुःख तुमने सहा है ॥१५८४-८५॥

---

१ जं ते माणसदुक्खं —मूलारा० ।

'दीणत्तरोसचिंतासोगामरिसग्गिपज्जलिदमणो जं' दीनत्वरोषचिंताशोकामर्षाग्निभि: संतप्तमना यत् । 'पत्तो घोरं दुक्खं' प्राप्त घोर दु:ख । 'माणुसजोणीए संतेण' मनुष्ययोनौ सत्या भवता ॥१५८६॥

दंडणमुंडणताडणधरिसणपरिमोससंकिलेसा य ।
धणहरणदारधरिसणघरदाहजलादिधणणास ॥१५८७॥

दंडणमुंडण—दण्डनमुण्डनताडणदूषणपरिमोषणसंक्लेशा धनापहरणदारदूषणानि गृहदाहजलादिभिर्द्रविणनाशात् ॥१५८७॥

दंडकसालट्ठिसदाणि डंगुराकंटमद्दणं घोरं ।
कुंभीपाको मच्छयपलीवणं भत्तवुच्छेदो ॥१५८८॥

'**दण्डकसालट्ठिसदाणि**' दण्डकशायष्टिशतैस्ताडनानि दण्डादिकार्यत्वाद्दण्डादिशब्देनोच्यन्ते । डंगुरा मुष्टिप्रहारा । '**कंटमद्दणं**' कण्टकानामुपरि प्रक्षिप्य मर्द्दन घोरं । कुम्भीपाक । '**मच्छगपलीवण**' मस्तके अग्निप्रज्वलन । '**भत्तवुच्छेदो**' आहारनिरोध ॥१५८८॥

दमणं च हत्थिपादस्स णिगलअंदूवरत्तरज्जूहिं ।
बंधणमाकोडणयं ओलंबणणिहणणं चेव ॥१५८९॥

'**दमणं च हत्थिपादस्स**' हस्तिपादेनोन्मर्द्दन । '**णिगलअंदूवरत्तरज्जूहिं**' निगलेन, अन्दुकाभि , वरत्राभि , रज्जूभिश्च बन्धन । '**आकोडणयं**' हस्तौ पृष्ठतो नीत्वा बन्धन । '**ओलंबण**' ग्रीवाबद्धपाशस्य तरुशाखासु लम्बन । '**णिहणण**' चेव गर्ते निक्षिप्य पूरणं ॥१५८९॥

कण्णोट्ठसीसणासाछेदणदंताण भंजणं चेव ।
उप्पाडणं च अच्छीणं तहा जिब्भायणीहरणं ॥१५९०॥

'**कण्णोट्ठसीसणासाछेदण**' कर्णयोरोष्ठयो:, शिरसो, नासिकायाश्च छेद । '**दंताण भंजण चेव**' दंताना भञ्जन । '**उप्पाडणं च अच्छीणं**' अक्ष्णोरुत्पाटन, तथा '**जिब्भाए णीहरणं**' जिह्वानिर्हरण ॥१५९०॥

गा०—दीनता, रोष, चिन्ता, शोक और क्रोधरूप आगसे मनके संतप्त होनेपर तुमने मनुष्ययोनिमे रहते हुए घोर दु:ख पाया है ॥१५८६॥

गा०—राजा आदिसे दण्डित होना, सिर मुण्डा करा देना, पीटा जाना, तिरस्कारपूर्वक दोष लगाया जाना, चोरी होना, राजा आदिके द्वारा धनका हरण, स्त्रियोको दोष लगाना, घरमे आग लगाना, बाढ वगैरहसे संपत्तिका नष्ट होना, डण्डे कोडे लाठी आदिसे पीटा जाना, मुट्ठीका प्रहार होना, कांटोंके ऊपर लिटाकर घोर मर्द्दन करना, कडाहीमे डालकर पकाना, मस्तकपर आग जलाना, आहारका रोक देना इत्यादि दु:ख तुमने मनुष्यगतिमे सहे है ॥१५८७-८८॥

गा०—हाथीके पैरसे दबाया जाना, सांकल, चमड़ेकी रस्सी या साधारण रस्सीसे बाधा जाना, दोनों हाथ पीछे करके बांधना, गर्दनमे रस्सी डालकर वृक्षसे लटकाना, गड्ढेमे डालकर उसे पूर देना । कान, ओष्ठ और नाक काटना, दांत तोड़ना, आंखें निकाल लेना, जीभ उखाड़ लेना, इत्यादि दु:ख तुमने भोगे हैं ॥१५८९-९०॥

अग्गिविससत्तुसप्पादिवालसत्थाभिघादघादेहिं ।
सीदुण्हरोगदंसमसएहिं तण्हाछुहादीहिं ॥१५९१॥

'**अग्गिविससत्तुसप्पादिवालसत्थाभिघादघादेहिं**' अग्नेर्विषस्य, शत्रूणा, सर्पादेर्व्यालमृगाणां, शस्त्रप्रहारस्य च घातं । '**सीदुण्हरोगदंसमसएहिं**' शीतोष्णेन, दंशमशकैः, '**तण्हाछुहादीहिं**' तृट्क्षुधादिभिः ॥१५९१॥

जं दुक्खं संपत्तो अणंतखुत्तो मणे सरीरे य ।
माणुसभवे वि तं सव्वमेव चिंतेहि तं धीर ! ॥१५९२॥

'**जं दुक्खं संपत्तो**' यद्दुःखं सप्राप्तः । '**अणंतखुत्तो**' अनन्तवारं । '**मणे सरीरे य**' मनसि शरीरे च । मानस शारीर च दुःखं प्राप्त । '**माणुसभवे वि**' मनुष्यभवेऽपि । '**तं सव्वमेव चिंतेहि**' तत्सर्वमेव चिन्तय । '**तं धीर**' त्वं धीर ! ॥१५९२॥

सारीरादो दुक्खादु होइ देवेसु माणसं तिव्वं ।
दुक्खं दुस्सहमवसस्स परेण अभिजुज्जमाणस्स ॥१५९३॥

'**सारीरादो दुक्खादु**' शारीराद्दुःखात् । '**होदि**' भवति । '**देवेसु**' देवेषु । '**माणुसं तिव्वं**' मानसं तीव्रं दुःखं । '**दुःस्सह**' सोढुमशक्यं । '**अवसस्स**' अवशस्य । '**परेण**' अन्येन '**अभिजुज्जमाणस्स**' अभियुज्यमानस्य वाहनतां नीयमानस्य ॥१५९३॥

देवो माणी संतो पासिय देवे महढ्ढिए अण्णे ।
जं दुक्खं संपत्तो घोरं भग्गेण माणेण ॥१५९४॥

'**देवो माणी संतो**' देवो मानी सन् । '**पासिय देवे**' देवान् दृष्ट्वा । '**महढ्ढिए**' महर्द्धिकान् । '**अण्णे**' अन्यान् । '**जं दुक्खं संपत्तो घोरं**' यद्घोरं दुःखं प्राप्तः । '**भग्गेण माणेण**' भग्नेन मानेन ॥१५९४॥

दिव्वे भोगे अच्छरसाओ अवसस्स सग्गवासं च ।
पजहंतगस्स जं ते दुक्खं जादं चयणकाले ॥१५९५॥

गा०—आग, विष, शत्रु, सर्प आदि तथा सिंह, शस्त्रके प्रहारसे घात, शीत, उष्ण, डांस मच्छर, भूख प्यास, इनसे तुमने मनुष्यभवमें जो शारीरिक और मानसिक दुःख पाया है, हे धीर ! उस सबका विचार करो ॥१५९१-१५९२॥

गा०—जब देवगतिमें अभियोग्य जातिका देव होकर वह परवश होकर इन्द्रादिके द्वारा वाहन बनाया जाता है तब उसे शारीरिक दुःखसे तीव्र मानसिक दुःख होता है जो असह्य होता है ॥१५९३॥

गा०—अभिमानी देव हुआ तो अन्य महर्द्धिक देवोंको देखकर मानका भंग होनेसे जो घोर दुःख हुआ उसका विचार करो ॥१५९४॥

गा०—परवश होकर दिव्य भोग, देवांगनाएँ और स्वर्गवास त्यागनेपर स्वर्गसे च्युत होते समय जो दुःख हुआ उसको स्मरण करो ॥१५९५॥

'दिव्वे भोगे' दिव्यान्भोगान् । 'अच्छरसाओ' देवकन्यकाः । 'सग्गवासं च' स्वर्गवासं च । 'पजहत-गस्स' परित्यजतः । 'अवसस्स' परवशस्य । 'जं ते दुक्खं जादं' यत्तव दुःख जातं । 'चयणकाले' च्यवनकाले ॥१५९५॥

जं गब्भवासकुणिमं कुणिमाहारं छुहादिदुक्खं च ।
चिंतंतगस्स यं सुचिसुहिदस्स दुक्खं चयणकाले ॥१५९६॥

'जं गब्भवासकुणिमं' यद्गर्भवासकुथितं । 'कुणिमाहार' कुथिताहारं । क्षुधादिदुःख च । 'चितंतगस्स' चिन्तयतः । 'सुचिसुहिदस्स' शुचेः सुखितस्य । 'जं दुक्खं चयणकाले' स्वर्गाच्च्यवनकाले ॥१५९६॥

एवं एदं सव्वं दुक्खं चदुगदिगदं च जं पत्तो ।
तत्तो अणंतभागो होज्ज ण वा दुक्खमिमगं ते ॥१५९७॥

'एवं एदं सव्वं' एवमेतत्सर्वं । 'दुक्खं चदुगदिगदं' दुःखं चतुर्गतिगतं । 'जं पत्तो' यत्प्राप्तवान् । 'तत्तो' ततः । 'अणंतभागो' अनन्तभागः । 'होज्ज ण वा' भवेद्वा न वा । 'दुक्खमिमगं ते' दुःखमिदं[1] तव मनुजजन्मनि ॥१५९७॥

संखेज्जमसंखेज्जं कालं ताइं अविस्समंतेण ।
दुक्खाइं सोढाइं किं पुण अदिअप्पकालमिमं ॥१५९८॥

'संखिज्जमसंखिज्जं कालं' संख्यातमसंख्यातं वा कालं । 'ताइं दुक्खाइं सोढाइं' तानि दुःखानि सोढानि । 'अविस्समंतेण' विश्रामरहितेन । 'किं पुणो' किं पुनः सह्यते । 'अदिअप्पकालमिमं' अत्यल्पकालमिदं दुःखं ॥१५९८॥

जदि तारिसाओ तुम्हे सोढाओ वेदणाओ अवसेण ।
धम्मोत्ति इमा सवसेण कहं सोढुं ण तीरेज्ज ॥१५९९॥

'जदि तारिसाओ' यदि तादृश्यः । 'तुम्हे सोढाओ वेदणाओ' त्वया सोढा वेदनाः । 'परवसेण'

गा०—पवित्र और सुखी देव स्वर्गसे च्युत होते समय विचारता है कि मुझे अब दुर्गन्धयुक्त गर्भमे जाना होगा । वहाँ दुर्गन्धित भोजन होगा । भूख प्यासकी बाधा होगी । ऐसा विचार करते समय जो दुःख होता है उसका चिन्तन करो ॥१५९६॥

गा०—इस प्रकार चारो गतियोमे तुमने जो यह सब दुःख भोगा है उसके अनन्तवें भाग दुःख इस मनुष्य जन्ममे हो न भी हो ॥१५९७॥

गा०—तुमने संख्यात वा असंख्यात काल पर्यन्त बिना विश्राम लिये ये दुःख सहे हैं । तब अति अल्पकालके लिये यह थोडासा दुःख क्यो नही सहते हो ॥१५९८॥

गा०-टी०—यदि तुमने परवश होकर उक्त प्रकारकी वेदनाएँ सही है तो इस समय इस वेदनाको धर्म मानकर स्वय अपनी इच्छासे क्यो नहीं सहते ।

शंका—वेदना धर्म कैसे है ?

१. मिदं भवं मनु —आ० मु० ।

परवशेन । 'धम्मोत्ति' धर्म इति । 'इमा' इयं वेदना । 'सवसेण' स्ववशेन सता । 'सोढुं ण तीरेज्ज' सोढु न शक्यते ? । कथं वेदना धर्मः ? उत्तमक्षमामार्जवार्दवादिभिः दशप्रकारो धर्म उच्यते । वेदनासहनं धर्म इति कृत्वा कथं न शक्यते सोढुं संबन्धोऽत्र ॥१५९९॥

[1]तण्हा अणंतखुत्तो संसारे तारिसी तुमं आसी ।
जं पसमेदुं सव्वोदधीणमुदगं ण तीरेज्ज ॥१६००॥
आसी अणंतखुत्तो संसारे ते छुधावि तारिसिया ।
जं पसमेदुं सव्वो पुग्गलकाओ ण तीरेज्ज ॥१६०१॥
जदि तारिसया तण्हा छुधा य अवसेण ते तदा सोढा ।
धम्मोत्ति इमा सवसेण कधं सोढुं ण तीरेज्ज ॥१६०२॥
सुइपाणएण अणुसट्ठिभोयणेण य [2]पुणोवगहिएण ।
ज्झाणोसहेण तिव्वा वि वेदणा तीरदे सहिदुं ॥१६०३॥

'सुइपाणएण' त्रिविधधर्मकथाश्रुतिपानेन । 'अणुसट्ठिभोयणेण य' अनुशासनभोजनेन । 'उवगहिदेण' उपगृहीतेन । 'ज्झाणोसधेण' शुभध्यानौषधेन च । 'तिव्वा वि वेदणा' तीव्रापि वेदना । 'तीरदे सहिदुं' शक्यते सोढु ॥१६००॥१६०१॥१६०२॥१६०३॥

भीदो व अभीदो वा णिप्पडियम्मो व सप्पडियम्मो वा ।
मुच्चइ ण वेदणाए जीवो कम्मे उदिण्णम्मि ॥१६०४॥

'भीदो व अभीदो वा' भीतोऽभीतो वा । 'णिप्पडियम्मो सप्पडियम्मो वा' निष्प्रतिकार सप्रतिकारो वा । 'मुच्चदि ण वेदणाए जीवो' न मुच्यते वेदनाया जीव । 'कम्मे उदिण्णम्मि' कर्मण्यसद्वेद्ये उदीर्णे ॥१६०४॥

समाधान—उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव आदिके भेदसे दस प्रकारका धर्म कहा है अतः वेदनाको सहना भी धर्म है ॥१५९९॥

गा०—हे क्षपक ! ससारमें तुम्हे ऐसी प्यासकी वेदना अनन्त बार हुई है जिसको शान्त करनेके लिये सब समुद्रोंका जल भी समर्थ नही है ॥१६००॥

गा०—संसारमे तुम्हें ऐसी भूखकी वेदना अनन्त बार हुई है जिसको शान्त करनेके लिये समस्त पुद्गल काय भी समर्थ नहीं है ॥१६०१॥

गा०—यदि तुमने परवश होकर वैसी भूख प्यासकी घोर वेदनाको सहा है तो अब धर्म मानकर इस वेदनाको स्वेच्छापूर्वक क्यों नही सहते ॥१६०२॥

गा०—तीन प्रकारकी धर्मकथाको कानोंके द्वारा पीकर, तथा गुरुकी शिक्षारूपी भोजन करके और शुभध्यानरूपी औषधको ग्रहण करके तीव्र भी वेदनाको सहा जा सकता है ॥१६०३॥

गा०—असातावेदनीय कर्मकी उदीरणा होनेपर डरो या न डरो, प्रतीकार करो या न करो, जीव वेदनासे छुटकारा नहीं पाता ॥१६०४॥

---

१. एतद् गाथात्रयं टीकाकारो नेच्छति । २. पुणो उवक्कयिए,—अ० ।

पुरिसस्स पावकम्मोदएण ण करंति वेदणोवसमं ।
सुट्ठु पउत्ताणि वि ओसधाणि अदिवीरियाणी वि ॥१६०५॥

'पुरिसस्स पावकम्मोदयम्मि' पुरुषस्य पापकर्मोदये **'ण करेंति'** न कुर्वन्ति । **'वेदणोवसमं'** वेदनोपशम । **'सुट्ठु पउत्ताणि वि'** सुष्ठु प्रयुक्तान्यपि । **'ओसधाणि वि'** औषधानि **'अदिवीरियाणि'** अतिवीर्याण्यपि ॥१६०५॥

रायादिकुडुंबीणं अदयाए असंजमं करंताणं ।
धण्णंतरी वि कादुं ण समत्थो वेदणोवसमं ॥१६०६॥

'रायादिकुडुंबीणं' राजादीनां कुटुम्बीनां अनेक द्रव्यसपत्परिवारकसपत्प्रख्याताना । **'अदयाए असंजमं करेंताणं'** दयामन्तरेणासंयम कुर्वता । **'धण्णंतरी वि कादुं'** धन्वंतरिरपि कर्तु असमर्थ । **'वेदणोवसमं'** वेदनाया उपशम । वैद्यसपत्ता धन्वन्तरेर्ग्रहणेन सूचिता ॥१६०६॥

किं पुण जीवणिकाये दयंतया जादणेण लद्धेहिं ।
फासुगदव्वेहिं करेंति साहुणो वेदणोवसमं ॥१६०७॥

'किं पुणं' किं पुन । **'जीवणिकाए'** जीवनिकायान् । **'दयंतगा'** दयमाना । **'जादणेण लद्धेहिं'** याञ्चया लब्धै । **'फासुगदव्वेहिं'** प्रासुकद्रव्यै । **'करेज्ज'** कुर्यात् । **'साहुणो वेदणोवसमं'** साधोर्वेदनोपशम । परिचारकसपदभावो दर्श्यते **'जीवणिकाए दयंतगा'** इत्यनेन । यथा व्याधेरुपशमो भवति तथा कुर्वंति परिचारका: । अमी पुनर्यतय. षड्जीवनिकायबाधापरिहारोद्यता स्वसयमविनाशभीरवो । **'जायणेण लद्धेहिं'** इत्यनेन द्रव्यसपदभाव आख्यायते ॥१६०७॥

मोक्खाभिलासिणो संजदस्स णिधणगमणं पि होदि वरं ।
ण य वेदणामित्तं अप्पासुगसेवणं कादुं ॥१६०८॥

गा०—जब पुरुषके पापकर्मका उदय होता है तो अच्छी तरहसे प्रयुक्त और अतिशक्तिशाली भी औषधियाँ वेदनाको शान्त नही करती ॥१६०५॥

गा०-टी०—राजा आदि कुटुम्बी जिनके पास अनेक प्रकारकी धन-सम्पदा और सेवा करनेवाले दास-दासियोंकी प्रचुरता होती है, किन्तु जो दयाहीन होकर असयमी जीवन बिताते हैं, उनकी वेदनाको शान्त करनेके लिये धन्वन्तरि भी समर्थ नही है। धन्वन्तरिपदसे वैद्यरूपी सम्पदाको सूचित किया है। अर्थात् धन्वन्तरि जैसा वैद्य भी उनकी वेदनाको दूर नही कर सकता ॥१६०६॥

गा०-टी०—तब जीवमात्रपर दया करनेवाले याचनासे प्राप्त प्रासुक द्रव्योसे साधुकी वेदनाका उपशम कहाँ तक कर सकते है? अर्थात् परिचारक साधु जहाँ तक शक्य होता है व्याधिको शान्त करनेका प्रयत्न करते है क्योकि उनके पास परिचारक रूप सम्पदा—दासदासी तो हैं नही और यतिगण छह कायके जीवोंको बाधा न पहुँचे इसके लिये सदा तत्पर रहते हैं तथा अपने सयमके विनाशसे भी भयभीत रहते हैं। साथ 'याचनासे प्राप्त' कहनेसे उनके पास धनसम्पदाका भी अभाव कहा है ॥१६०७॥

'**मोक्षाभिलासिणो**' निरवशेषकर्मापायाभिलाषिणः । '**संजदस्स**' प्राणसंयमवतः । '**णिधणगमणं वि होदि वरं**' मरणमपि वरं । '**ण य**' नैव वरं युक्तं । '**वेदणाणिमित्तं**' वेदनोपशमार्थं । '**अप्पासुगसेवणं कादुं**' अयोग्यद्रव्यसेवनं कर्तुम् ॥१६०८॥

णिघणगमणं एयभवे णासो पुणो पुरिल्लजम्मेसु ।
णासं असंजमो पुण कुणइ भवसएसु बहुगेसु ॥१६०९॥

'**णिधणगमणं एयभवे**' निधनगमनमेकभवे । '**णासो**' नाशः । '**ण पुणो**' न पुनर्नाशः । '**पुरिल्लजम्मेसु**' भाविषु जन्मसु । '**असंजमो पुण**' असंयमः पुनः । '**भवसएसु**' जन्मशतेषु । '**बहुएसु**' बहुषु । '**णासं कुणइ**' नाशं करोति । वेदना हि न संयतमनुयाति रत्नत्रयभावनोद्यतं । सा हि असातं मन्दं करोति । असंयमः पुनः असद्वेद्यं प्रकृष्टानुभवं करोति । **उक्तं च—'दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्येति'** [त० सू० ६।११] ॥१६०९॥

ण करेंति णिव्वुइं इच्छया वि देवा सइंदिया सव्वे ।
पुरिसस्स पावकम्मे अणक्कमग्गे उदिण्णम्मि ॥१६१०॥

'**णं करेंति णिव्वुइं**' न कुर्वन्ति निर्वृतिं । '**पुरिसस्स**' पुरुषस्य । '**सइंदिया देवा सव्वे इच्छया वि**' सेन्द्रकाः सर्वे देवा इच्छन्तोऽपि । '**पावकम्मे**' पापकर्मणि । '**अणुक्कमगे**' अनुक्रमके । '**उदिण्णम्मि**' उदयमुपगते ॥१६१०॥

किह पुण अण्णो काहिदि उदिण्णकम्मस्स णिव्वुदिं पुरिसो ।
हत्थीहिं अतीरंतं भंतुं भंजिहिदि किह ससओ ॥१६११॥

'**किह पुण**' कथं पुनः । '**अण्णो काहिदि पुरिसो**' अन्यः करिष्यति पुरुषः । '**उदिण्णकम्मस्स**' उदया-

---

गा०—समस्त कर्मबन्धनके विनाशरूप मोक्षके अभिलाषी संयमीका मरण होना भी श्रेष्ठ है। किन्तु वेदनाकी शान्तिके लिये अप्रासुक अयोग्य द्रव्यका सेवन करना श्रेष्ठ नहीं है ॥१६०८॥

गा०-टी०—मरण होना तो एक भवका ही विनाश है भावि जन्मोंका नाश नहीं है किन्तु असयम तो सैकड़ो जन्मोंको नष्ट कर देता है । जो संयमी रत्नत्रयकी भावनामें तत्पर रहते हैं वेदना उनका पीछा नहीं करती । क्योंकि रत्नत्रयकी भावना असाताके उदयको मन्द करती है । और असंयम असातावेदनीयके अनुभागको बढ़ाता है । कहा भी है दुःख, शोक, पश्चात्ताप, रुदन, वध और हृदयको व्याकुल करनेवाला रुदन स्वयं करनेसे, दूसरोंमे करनेसे या दोनोंमें करनेसे असातावेदनीयका आस्रव होता है ॥१६०९॥

गा०—पुरुषके पापकर्मके अनुक्रमसे उदय आनेपर इन्द्रसहित सब देव इच्छा करनेपर भी सुखी नहीं कर सकते ॥१६१०॥

गा०—तब असातावेदनीय कर्मका उदय आनेपर अन्य साधारण पुरुष क्या कर सकते हैं ? जिसे महाबलशाली हाथी भी तोड़नेमें असमर्थ है क्या उसे बेचारा कमजोर खरगोश तोड़ सकता है ॥१६११॥

---

१ अनुक्रमेण —आ० । अणक्कमगे निष्प्रतीकारे —मूलारा० ।

गतासवं बकर्मण: । 'णिव्वुदिं' निर्वृतिं । 'हत्थीहिं जलीरंतं भंतुं' हस्तिभिर्महाबलै. कर्तुमशक्यं यज्जलं । 'किध ससयो भंजीहिं' कथं स्वल्पप्राणो भङ्क्ष्यति शशकः ॥१६११॥

ते अप्पणो वि देवा कम्मोदयपच्चयं मरणदुक्खं ।
वारेदुं ण समत्था धणिदं पि विकुव्वमाणा वि ॥१६१२॥

'**ते देवा अप्पणो वि कम्मोदयपच्चयं मरणदुक्खं**' ते देवा सेन्द्रका. आत्मनोऽपि कर्मोदयहेतुकं मरणदुःखं '**वारेदुं ण समत्था**' निवारयितुं न समर्था. । '**धणिदंपि विकुव्वमाणा**' नितरा विक्रिया कुर्वन्तोऽपि ॥१६१२॥

[1]उज्झंति जत्थ हत्थी महाबलपरक्कमा महाकाया ।
सुत्ते तम्मि वहंते ससया [2]ऊढेल्लया चेव ॥१६१३॥

'**उज्झंति**' यस्मिन् स्रोतसि हस्तिन ऊह्यते महाबलपराक्रमा महाकाया । तस्मिन् स्रोतसि वहन्ति शशका गता एव ॥१६१३॥

किह पुण अण्णो मुच्चहिदि सगेण उदयागदेण कम्मेण ।
तेलोक्केण वि कम्मं अवारणिज्जं खु समुवेदं ॥१६१४॥

'**किह पुण अण्णो मुच्चहिदि**' कथ पुनरन्यो मोक्ष्यते, स्वेन कर्मणा उदयागतेन । त्रैलोक्येनापि कर्मानिवार्यमेव समुपगतं ॥१६१४॥

कह ठाइ सुक्कपत्तं वाएण पडंतयम्मि मेरुम्मि ।
देवे वि य विहेडयदो कम्मस्स तुमम्मि का गण्णा ॥१६१५॥

'**कह ठाइ सुक्कपत्त**' कथं तिष्ठेत् शुष्कपत्रं । वातेन पतति मेरौ । अणिमाद्यष्टगुणसपन्नान्देवानपि कुत्सीकुर्वत कर्मणो भवत्यल्पबले का सज्ञा ॥१६१५॥

गा०—वे देव कर्मके उदयके कारण होनेवाले अपने भी मरणके दु.खको दूर करनेमे समर्थ नहीं है यद्यपि वे दिव्यशक्तिसे सम्पन्न होनेसे अनेक प्रकारकी विक्रिया करनेमे समर्थ होते हैं ॥१६१२॥

गा०—जिस प्रवाहमें महाबली, महापराक्रमी और विशाल शरीरवाले हाथी बह जाते हैं उस प्रवाहमें बेचारे खरगोश स्वयं ही बह जाते हैं ॥१६१३॥

गा०—जब देव भी अपने उदयागत कर्मको टालनेमे असमर्थ है तब अन्य साधारण प्राणी अपने उदयागत कर्मसे कैसे छूट सकता है ? उदयागत कर्मको तीनो लोक भी नही टाल सकते ॥१६१४॥

गा०—जिस वायुसे मेरुपर्वतका पतन हो सकता है उसके सामने सूखा पत्ता कैसे ठहर सकता है ? इसी प्रकार जो कर्म अणिमा आदि आठ गुणोंसे सम्पन्न देवोंकी भी दुर्गति कर देता है उसके सामने तुम्हारे जैसे मरणोन्मुख मनुष्यकी क्या गिनती है ॥१६१५॥

---

१ वुब्भंति—मूलारा० । २ रुढिल्लिया अ० आ० ज० । वूढेल्लया मूलारा० ।

कम्माइं बलियाइं बलिओ कम्मादु णत्थि कोवि जगे ।
सव्वबलाइं कम्मं मलेदि हत्थीव णलिणिवणं ॥१६१६॥

'**कम्माइं**' कर्माणि बलवन्ति, कर्मभ्यो बलवान्नास्ति जगति । कस्मात्कस्मात्सर्वाणि बंधुविद्याद्रव्य-शरीरपरिवारबलानि कर्म मर्द्दयति हस्तीव नलिनवनं ॥१६१६॥

इच्चेवं कम्मुदओ अवारणिज्जोत्ति सुट्ठु णाऊण ।
मा दुक्खायसु मणसा कम्मम्मि सगे उदिण्णम्मि ॥१६१७॥

'**इच्चेवं कम्मुदओ**' इतिशब्दः प्रक्रांतपरिसमाप्तिं सूचयति । एवं इत्युक्तपरामर्शः । '**कम्मुदओ**' कर्मोदयः । '**अवारणिज्जोत्ति**' अनिवार्य इति । '**सुट्ठु णाऊण**' सम्यग्ज्ञात्वा । '**मा दुक्खायसु मणसा**' मा कार्षीर्दुःखं मनसा । '**कम्मम्मि सगे उदिण्णम्मि**' कर्मणि स्वके उदीर्णे ॥१६१७॥

पडिकूविदे विसण्णे रडिदे दुक्खाइदे किलिट्ठे वा ।
ण य वेदणोवसामदि णेव विसेसो हवदि तिस्से ॥१६१८॥

'**पडिकूविदे**' परिदेवने कृते शोके । विषादे रटने, दुःखे, संक्लेशे वा न वेदनोपशाम्यति । नापि कश्चिदतिशयो भवति वेदनायाः ॥१६१८॥

अण्णो वि को वि ण गुणोत्थ संकिलेसेण होइ खवयस्स ।
अट्टं सुसंकिलेसो ज्झाणं तिरियाउगणिमित्तं ॥१६१९॥

'**अण्णो वि को वि ण गुणोत्थ**' अन्योप्यत्र गुणो न कश्चिच्छोकादिना संक्लेशेन । प्रेक्षापूर्वकारिणो हि तत्कर्तुं प्रारभंते यस्य साध्यं फलं अस्ति । संक्लेशेन न किंचित् अपि मुमुक्षोः फलं अपि तु संक्लेशपरिणामो ह्यार्तं ध्यानममनोज्ञविप्रयोगाख्यं तच्च तिर्यगायुषो निमित्तं । ततोऽल्पदुःखभीरुं भवत त्वदीयः संक्लेशो दुरुत्तरे तिर्यगावर्ते निपातयतीति भयोपदर्शनं कृतं ॥१६१९॥

गा०—कर्म बड़े बलवान हैं । जगत्में कर्मसे बलवान कोई नहीं है । जैसे हाथी कमलोंके वनको रौंद डालता है । वैसे ही कर्म बन्धु, ज्ञान, द्रव्य, शरीर और परिवार आदि सब बलोंको नष्ट कर देता है । कर्मके सामने ये सब बल क्षीण हो जाते हैं ॥१६१६॥

गा०—इस प्रकार कर्मका उदय अनिवार्य है उसे रोका नहीं जा सकता इस बातको अच्छी तरहसे जानकर अपने कर्मका उदय आनेपर मनमें दुःख मत करो ॥१६१७॥

गा०—रोनेपर, विषाद करनेपर, चिल्लानेपर अथवा दुःख और संक्लेश करनेपर वेदना शान्त नहीं होती और उसमें कोई विशेषता भी नहीं आती ॥१६१८॥

गा०-टी०—शोक आदि संक्लेश करनेसे क्षपकका कोई अन्य लाभ भी नहीं है । बुद्धिमान पुरुष उसी कार्यको करना प्रारम्भ करते हैं जिससे कोई लाभ होता है । संक्लेशसे मुमुक्षुका जरा भी लाभ नहीं है । बल्कि इष्ट वियोग नामक आर्तध्यान संक्लेश परिणामरूप होनेसे तिर्यञ्चायुके बन्धका कारण है अतः थोड़ेसे दुःखसे डरनेवाले आपको तुम्हारा संक्लेश ऐसी तिर्यञ्चगतिरूपी भँवरमें डाल देगा जिससे निकलना बहुत कठिन है ॥१६१९॥

संक्लेशस्य नैरर्थक्यप्रकटनार्थोत्तरगाथा—

हदमाकासं मुट्ठीहिं होइ तह कंडिया तुसा होंति ।
सिगदाओ पीलिदाओ घुसिलिदमुदयं च होइ जहा ॥१६२०॥

'हदमागासं' हतं मुष्टिभिराकाश ताडितु । तुषकडन तडुलार्थं । सिकतापीडन तिलयत्रे तैलार्थं । जलमंथनं च घृतार्थं यथापार्थकं तथानर्थक सक्लेशो वेदनाकुलस्य । वेदनाया अनिराकरणत्वान्नैरर्थक्य-साम्यादभेदोपन्यासो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयो ॥१६२०॥

पुव्वं सयमुवभुत्तं काले णाएण तेत्तियं दव्वं ।
को धारणिओ धणिदस्स देंतओ दुक्खिओ होज्ज ॥१६२१॥

'पुव्वं सयमुवभुत्त' पूर्वं स्वयमुपभुक्त । काले **'णायेण'** न्यायेन । **'तेत्तिगं दव्व'** तावद्द्रव्य । **'को दुक्खिओ होज्ज धारणिगो'** को दु खितो भवेदधमर्ण. । **'धणिदम्मि'** उत्तमर्णे । **'हरते'** स्व द्रव्य हरति ॥१६२१॥

तह चेव सयं पुव्वं कदस्स कम्मस्स पाककालम्मि ।
णायागयम्मि को णाम दुक्खिओ होज्ज जाणंतो ॥१६२२॥

'तह चेव' तथा चैव । **'सयं पुव्वं कदस्स कम्मस्स'** आत्मना पूर्व कृतस्य कर्मण । **'पाककालम्मि'** फलदानकाले न्यायेनागते । **'को णाम दुक्खिदो होज्ज जाणंतो'** को नाम दु खितो भवेज्ज्ञानी ॥१६२२॥

इय पुव्वकदं इणमज्ज महं कम्माणुगत्ति णाऊण ।
रिणमुक्खणं च दुक्खं पेच्छसु मा दुक्खिओ होहि ॥१६२३॥

'इय पुव्वकदं' **'इय'** एवंभूत । **'दुक्ख पुव्वकदं'** पूर्वकर्मणा कृत । **'इणं'** इद दु ख । **'अज्ज'** अद्य । **'महं कम्माणुगत्ति'** मम कर्मणामिति । **'णाऊण'** ज्ञात्वा । **'रिणमुक्खणं वा'** ऋणमोक्षण इव । **'दुक्खं पिच्छसु'** दुःखं प्रेक्षस्व । **'मा दुक्खिदो होहि'** दु खितो मा भू. ॥१६२३॥

आगे संक्लेशकी निरर्थकता बतलाते है—

गा०—जैसे मुट्ठियोसे आकाशको मारना, चावलके लिये उसके छिलकोको कूटना, तेलके लिये कोल्हूमें रेत पेलना, और घीके लिये जलको मथना निरर्थक है उसी प्रकार वेदनासे पीडित व्यक्तिका संक्लेश करना निरर्थक है। सक्लेश करनेसे वेदना दूर नही होती है अत निरर्थक होनेसे दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिमे समानता है ॥१६२०॥

गा०—जैसे कोई कर्जदार साहूकारसे ऋण लेकर स्वयं उसका उपभोग करता है। और ऋण चुकानेका समय आनेपर उतना ही द्रव्य देते हुए उसे दुःख नही होता। उसी प्रकार पूर्वमें स्वयं बांधे हुए पापकर्मका फल भोगनेवाले ज्ञानीको दुःख कैसा ? अत पूर्वमे बाधे गये कर्मका उदयकाल आनेपर कौन ज्ञानी दुःखी होता है ॥१६२१-२२॥

गा०—यह दुःख मेरे पूर्वमे किये गये कर्मोका ही फल है ऐसा जानकर दुःखको ऋण मुक्तिके समान देखो। दुःखी मत होओ ॥१६२३॥

पुव्वकदमज्झ कम्मं फलिदं दोसो ण इत्थ अण्णस्स ।
इदि अप्पणो पओगं णच्चा मा दुक्खिदो होहि ॥१६२४॥

'पुव्वकदमज्झ कम्मं' पूर्वकृत मदीय कर्म, 'फलिदं' फलितं । 'दोसो ण एत्थ अण्णस्स' दोषो नैवान्यस्य इति । 'अप्पणो पओगं 'णच्चा' ज्ञात्वा । 'मा दुक्खिदो होहि' मा कृथा दुःख ॥१६२४॥

जदिदा अभदपुव्वं अण्णेसिं दुक्खमप्पणो चेव ।
जादं हविज्ज तो णाय होज्ज दुक्खाइदुं जुत्तं ॥१६२५॥

'जदिदा' यदि तावत् । दुःखमन्येषां अभूतपूर्वं । 'अप्पणो चेव' आत्मन एव 'जादं हविज्ज' 'जातं भवेत्' 'तो णाम होज्ज दुक्खाइदुं जुत्तं' । ततो नाम दुःखं कर्तुं युक्तं ॥१६२५॥

सव्वेसिं सामण्णं अवस्सदायव्वय करं काले ।
णाएण य को दाऊण णरो दुक्खादि विलवदि वा ॥१६२६॥

'सव्वेसि सामण्णं' सर्वेषां भव्यानां श्रामण्यं । 'काले' कर्मविनाशनकाले । 'अवस्स दायव्वय' अवश्य दातव्यं । यस्मात्तस्मात् । 'करं' करशब्दवाच्यं 'दाऊण' दत्वा । 'णाएण य' न्यायेन च 'को णरो दुक्खदि विलवदि वा' को नरो दुःख करोति विलपति वा ॥१६२६॥

सव्वेसिं सामण्णं करभूदमवस्सभाविकम्मफलं ।
इण मज्ज मेत्ति णच्चा लभसु सदिं तं विदिं कुणसु ॥१६२७॥

'सव्वेसिं' सर्वेषां विनेयानां । 'सामण्णं करभूदं' श्रामण्यं करभूतं । 'अवस्सभाविकम्मफलं' अवश्यभाविकर्मफलं । 'इणमज्जमेत्ति' इदं'श्रामण्यं अद्य करभूतं ममेति । 'णच्चा' ज्ञात्वा । 'लभसु सदिं' स्मृतिं प्रतिपद्यस्व । 'तं' त्वं 'विदिं कुणसु' धृतिं कुरु ॥१६२७॥

अरहंतसिद्धकेवलि अविउत्ता सव्वसंघसक्खिस्स ।
पच्चक्खाणस्स कदस्स भंजणादो वरं मरणं ॥१६२८॥

गा०—यह मेरे पूर्वकृत कर्मो का फल है। इसमे किसी दूसरेका दोष नहीं है। अतः इसे अपना ही प्रयोग जानकर दुःखी मत होओ ॥१६२४॥

गा०—हे क्षपक ! यदि यह दुःख दूसरोको पहिले कभी नही हुआ और तुमको ही हुआ होता तो दुःख करना युक्त था ॥१६२५॥

गा०—कर्मो के विनाशका समय आनेपर सभी भव्य जीवोंको मुनिपद अवश्य धारण करना होता है। इसलिये इसे 'कर' कहा है। इस करको न्यायपूर्वक देकर कौन मनुष्य दुःखी होता है या विलाप करता है ॥१६२६॥

गा०—सभी मोक्षमार्गियोंके लिये यह श्रामण्य अवश्य भाविकर्मफल होनेसे करके समान देय है अर्थात् सभीको मुनिपद धारण करना होता है। आज यह श्रामण्य मेरे लिये करके समान देय है ऐसा जानकर अपने स्वरूपका स्मरण करो और धैर्य धारण करो ॥१६२७॥

'अरहंत सिद्धकेवलि अविउत्ता सव्वसयसक्खिस्स' । अर्हत., सिद्धान्, केवलिन , तत्रस्था देवता सर्वं च संघं साक्षित्वेनोपादाय कृतस्य । 'पच्चक्खाणस्स भंजणादो' प्रत्याख्यानस्य विनाशनात् । 'वर' शोभन 'मरणं' प्राणपरित्याग. ॥१६२८॥

कथ मरणादशोभनता [1]प्रत्याख्यानभगस्येत्याशकायामाचष्टे प्रबधमुत्तरं प्रत्याख्यानभजने दुष्टता निवेदयितुम्—

आसादिदा तओ होंति तेण ते अप्पमाणकरणेण ।
राया विव सक्खिकदो विसंवदंतेण कज्जम्मि ॥१६२९॥

'आसादिदा' परिभूताः । 'तदो' तत पश्चात् । प्रत्याख्यानग्रहणोत्तरकाल । तेन प्रत्याख्यानभग-कारिणा । ते अर्हदादय । 'अप्पमाणकरणेन' अप्रमाणकरणेन । तत्साक्षिकं कर्म प्रतिज्ञात विनाशयता ते अप्रमाणीकृता भवन्ति । अप्रमाणकरणेन च ते परिभूता भवन्ति । 'राजा विव सक्खिकदो' राजेव साक्षीकृत । 'कज्जम्मि विसंवदंतेण' कार्ये विसंवदता । एतदुक्त भवति राजसाक्षिक प्रतिज्ञात कर्म चान्यथा कुर्वता राजा यथा परिभूतो भवति एवमर्हदादय इति ॥१६२९॥

जइ दे कदा पमाणं अरहंतादी हवेज्ज खवएण ।
तस्सक्खिदं कयं सो पच्चक्खाणं ण भंजिज्ज ॥१६३०॥

'जइ दे कदा पमाणं' यदि ते कृता. प्रमाण । 'अरहंतादी' अर्हदादय । 'भवेज्ज' भवेयु । 'खवएण' क्षपकेण । 'तस्सक्खिद कदं पच्चक्खाणं' तत्साक्षिक कृत प्रत्याख्यान । 'सो ण भंजिज्ज' क्षपको न नाशयेत् ॥१६३०॥

सक्खिकदरायहीलणमावहइ णरस्स जह महादोसं ।
तह जिणवरादिआसादणा वि दोसं महं कुणदि ॥१६३१॥

गा०—अरहन्त, सिद्ध, केवली, उस स्थानके वासी देवता और सर्व संघको साक्षी बनाकर ग्रहण किये त्यागको तोडनेसे मरण श्रेष्ठ है ॥१६२८॥

त्यागका भंग करना मरनेसे भी बुरा कैसे है ऐसी शंका होनेपर त्यागके भंगकी बुराई कहते हैं—

गा०—जैसे राजाको साक्षी बनाकर किये गये कार्यमे विसंवाद करनेवाला पुरुष राजाकी अवज्ञा करनेका दोषी होता है। वैसे ही अरहन्त आदि पचपरमेष्ठीकी साक्षीपूर्वक स्वीकार किये गये त्यागको तोडनेवाला मुनि अरहन्त आदिको भी प्रमाण न माननेसे उनकी अवज्ञा करनेका दोषी होता है ॥१६२९॥

गा०—यदि हे क्षपक ! तुम अरहत आदिको प्रमाण मानते हो तो तुम्हे उनकी साक्षिपूर्वक किये गये त्यागको भग नही करना चाहिये ॥१६३०॥

गा०—जैसे राजाको साक्षी बनाकर उनकी अवज्ञा करना मनुष्यको महादोषका भागी बनाता है वैसे ही अर्हन्त आदिकी आसादना भी महादोषको करनेवाली है ॥१६३१॥

१. न अभ्यास्ये—अ० ।

'सक्खिकयरायहीलणं' साक्षीकृतराजपरिभव.। 'आवहदि णरस्स जह महादोसं' आनयति यथा नरस्य महान्तं दोषं। 'तह जिणवरादि आसादणा' तथा अर्हदाद्यासादनापि। 'दोसं महं कुणदि' दोषं महान्तं करोति ॥१६३१॥

तं महान्तं दोषं कथयति—

तित्थयरपवयणसुदे आइरिए गणहरे महड्ढीए।
एदे आसादंतो पावइ पारंचियं ठाणं ॥१६३२॥

'तित्थयरपवयणसुदे' तीर्थकरान्, रत्नत्रयं, आगमं। 'आयरिए' आचार्यान्। 'गणहरे' गणधरान्। 'महड्ढीए' महर्द्धिकान्। 'एदे' एतान्। 'असादेंतो' असादयन्। 'पावदि' प्राप्नोति। 'पारंचियं ठाणं' पारंचिय-नामधेयं प्रायश्चित्तस्थान ॥१६३२॥

सक्खीकयरायासादणे हु दोसं करे हु एयभवे।
भवकोडीसु य दोसं जिणादि आसादणं कुणइ ॥१६३३॥

साक्षीकृतराजावमानजाताद्दोषादर्हदाद्यवमानजनितदोषो महानिति दर्शयति। स्पष्टार्था गाथा ॥१६३३॥

[1]मोक्खाभिलासिणो संजदस्स णिधणगमणं पि होइ वरं।
पच्चक्खाणं भंजंतस्स ण वरमरहदादिसक्खिकदा ॥१६३४॥

णिधणगमणमेयभवे णासो ण पुणो पुरिल्लजम्मेसु।
णासं वयभंगो पुण कुणइ भवसएसु बहुएसु ॥१६३५॥

ण तहा दोसं पावइ पच्चक्खाणमकरित्तु कालगदो।
जह भंजणा हु पावदि पच्चक्खाणं महादोसं ॥१६३६॥

उस महान दोषको कहते है—

गा०—तीर्थङ्कर, रत्नत्रय, आगम, आचार्य और महान् ऋद्धिधारियोकी आसादना करने वाला पारंचिक नामक प्रायश्चित्तका भागी होता है ॥१६३२॥

गा०—साक्षी बनाये गये राजाकी आसादना करनेपर तो एक ही भवमें दोषका भागी होता है। किन्तु अरहन्त आदिकी आसादना करनेपर करोड़ों भवोंमें दोषका भागी होता है। अतः साक्षी बनाये गये राजाकी अवज्ञाके दोषसे अर्हन्त आदिकी अवज्ञासे होनेवाला दोष महान होता है ॥१६३३॥

मोक्षके अभिलाषी संयमीका मरना भी श्रेष्ठ होता है किन्तु अरहन्त आदिको साक्षी करके किये गये त्यागका भग करना श्रेष्ठ नहीं है। मरणको प्राप्त होनेपर तो एक भवका ही विनाश होता है, आगेके भवोंका विनाश नही होता। किन्तु व्रतका भंग बहुतसे भवोंमें विनाश-कारी होता है ॥१६३४–३५॥

---

1. एते द्वे गाथे टीकाकारो नेच्छति।

'ण तहा दोसं पावदि' न तथा दोषं प्राप्नोति । 'पच्चक्खाणमकरित्तु' प्रत्याख्यानमकृत्वा । कालगतो मृतः । 'जह भंजंतो पावदि' यथा प्रत्याख्यानभंगान्महादोषं प्राप्नोति ॥१६३४॥१६३५॥१६३६॥

प्रत्याख्याताहारसेवा हि प्रत्याख्यानभंगः स चाहारः प्रार्थ्यमानो हिंसादिदोषानखिलानानयतीति निगदति—

आहारत्थं हिंसइ भणइ असच्चं करेइ तेणेक्कं ।
रूसइ लुब्भइ मायं करेइ परिगिण्हदि य संगे ॥१६३७॥

'आहारत्थं हिंसइ' आहारार्थं षड्जीवनिकायान्हिनस्ति । असत्यं भणति, स्तैन्यं करोति । रुष्यत्यलाभे, लुभ्यति लाभे, मायां करोति, परिगृह्णाति संगान् ॥१६३७॥

होइ णरो णिल्लज्जो पयहइ तवणाणदंसणचरित्तं ।
आमिसकलिणा ठइओ छायं मइलेइ य कुलस्स ॥१६३८॥

'होइ णरो णिल्लज्जो' निर्लज्जो भवति नरः आहारार्थं परयाञ्चाकरणात् । प्रजहाति च तपो, ज्ञानं दर्शनं चारित्रं च । आमिषाख्येन कलिनावष्टब्धः छायां कुलस्य मलिनयति परोच्छिष्टभोजनादिना ॥१६३८॥

णासदि बुद्धी जिब्भावसस्स मंदा वि होदि तिक्खा वि ।
जो णिगसिलेसलग्गो व होइ पुरिसो अणप्पवसो ॥१६३९॥

'णासदि बुद्धी' बुद्धिर्नश्यति आहारलम्पटतया युक्तायुक्तविवेकाकरणात् । कस्य ? जिह्वावशस्य तीक्ष्णापि सती पूर्वं बुद्धिः कुण्ठा भवति । रसरागमलोपप्लुता अर्थयाथात्म्यं न पश्यतीति पारसीकश्लेशलग्नलिंग इव भवति पुरुषोऽनात्मवशः ॥१६३९॥

गा०—बिना त्याग ग्रहण किये मरनेपर इतना दोष नहीं होता जितना महादोष त्याग लेकर उसका भंग करनेपर होता है ॥१६३६॥

त्यागे हुए आहारको ग्रहण करना व्रतभंग है । वह आहार हिंसा आदि सब दोषोंको लानेवाला है यह कहते हैं—

गा०—आहारके लिये मनुष्य छहकायके जीवोंका घात करता है । असत्य बोलता है, चोरी करता है । आहार न मिलनेपर क्रोध करता है । मिलनेपर उसका लोभ करता है । मायाचार करता है । घर पत्नी आदि परिग्रह स्वीकार करता है ॥१६३७॥

गा०—आहारके लिये मनुष्य निर्लज्ज होता है क्योंकि दूसरोंसे माँगता है । अपना तप, ज्ञान, दर्शन और चारित्र तक त्याग देता है । आहाररूपी कलिके द्वारा ग्रस्त होकर अपने कुल की छायाको मलिन करता है दूसरोंका झूठा भोजन खाता है ॥१६३८॥

गा०—जो जिह्वाके वशीभूत है उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है क्योंकि भोजनका लम्पटी होनेसे वह भक्ष्य अभक्ष्यका विचार नहीं करता । यदि उसकी बुद्धि तीक्ष्ण होती है तो वह मन्द हो जाती है क्योंकि रसोंमें रागरूपी मलसे लिप्त होनेसे बुद्धि भक्ष्य वस्तुके यथार्थ स्वरूपको नहीं

---

१. जोणिकविलेस—अ० ।

धीरत्तणमाहप्पं कदण्णदं विणयधम्मसद्धाओ ।
पयहइ कुणइ अणत्थं गललग्गो मच्छओ चेव ॥१६४०॥

'धीरत्तं' धीरत्वं, माहात्म्यं, कृतज्ञता, विनय, धर्मश्रद्धां च प्रजहाति । करोत्यनर्थश्रद्धां च । प्रजहाति करोत्यनर्थमात्मन' । गलावलग्नमत्स्य इव ॥१६४०॥

आहारत्थं पुरिसो माणी कुलजादि पहियकित्ती वि ।
भुंजंति अभोज्जाए कुणइ कम्मं अकिच्चं खु ॥१६४१॥

'आहारत्थं'—आहारार्थं, भुंजते अभोज्यानि पुरुषो मानी कुलीन', प्रथितकीर्तिरपि अकरणीयं करोति ॥१६४१॥

आहारत्थं मज्जारिसुंसुमारी अही मणुस्सी वि ।
दुब्भिक्खादिसु खायंति पुत्तभंडाणि दइयाणि ॥१६४२॥
इहपरलोइयदुक्खाणि आवहंते णरस्स जे दोसा ।
ते दोसे कुणइ णरो सव्वे आहारगिद्धीए ॥१६४३॥

स्पष्टम् उत्तरगाथाद्वयम् ॥१६४२॥१६४३॥

आहारलोलुपतया स्वयंभूरमणसमुद्रे तिमितिमिंगिलादयो मत्स्या महाकाया योजनसहस्रायामाः षण्मासं विवृतवदना. स्वपन्ति । निद्राविमोक्षानन्तर पिहितानना. स्वजठरप्रविष्टमत्स्यादीनाहारीकृत्य अवधिष्ठानना-मधेयं नरकं प्रविशति । तत्कर्णविलग्नमलाहारा शालिसिक्थमात्रतनुत्वाच्च शालिसिक्थसंज्ञका' यदीदृशमस्माकं शरीरं भवेत् किं मि सत्' एकोऽपि जन्तुर्लभते ? सर्वान्भक्षयामीति कृतमन प्रणिधानास्ते तमेवावधिस्थानं प्रविशंति । इति कथयति गाथया—

देख पाती । तथा आहारका लम्पटी मनुष्य विषय सेवन करते हुए मनुष्यकी तरह अपने वशमें नहीं रहता ॥१६३९॥

गा०—वह धीरता, माहात्म्य, कृतज्ञता, विनय और धर्मश्रद्धाको भी आहारके पीछे छोड़ देता है और गलेमें फँसी मछलीकी तरह अनर्थ करता है ॥१६४०॥

गा०—मानी, कुलीन और प्रख्यातकीर्ति वाला भी आहारके लिये अभक्ष्यका भक्षण करता है और न करने योग्य कर्म करता है ॥१६४१॥

गा०—भूखसे पीड़ित होनेपर बिल्ली, मच्छ, सर्पिणि और दुर्भिक्ष आदिमें मनुष्य भी अपने प्रिय पुत्रोंको खा जाते हैं ॥१६४२॥

गा०—मनुष्यके जो दोष इस लोक और परलोकमें दुःखदायी हैं वे सब दोष मनुष्य आहारकी लम्पटताके कारण ही करता है ॥१६४३॥

आगे कहते हैं—स्वयंभूरमण समुद्रमें तिमितिमिंगल आदि महाकाय वाले महामच्छ जो एक हजार योजन लम्बे होते हैं, छह मास तक मुह खोले सोते रहते हैं । जागने पर अपने मुखमें घुसे मच्छों आदिको खाकर मरकर सातवें नरकमें जाते हैं । उसके कानमें एक सालिसिक्थ नामक मत्स्य रहता है जो उसके कानका मैल खाता है । उसका शरीर चावलके बराबर होता

अवघिट्ठाणं णिरयं मच्छा आहारहेदु गच्छंति ।
तत्थेवाहारभिलासेण गदो सालिसिच्छो वि ॥१६४४॥

अवघिट्ठाणमित्यादिका गाथा ॥१६४४॥

चक्कधरो वि सुभूमो फलरसगिद्धीए वंचिओ संतो ।
णट्ठो समुद्दमज्झे सपरिजणो तो गओ णिरयं ॥१६४५॥

'चक्कधरो वि सुभूमो' नाम चक्रलाञ्छन' फलरसगृद्धया वञ्चित समुद्रमध्ये विनष्ट. सपरिजन. । पश्चाच्च नरकं गत ॥१६४५॥

आहारत्थं काऊण पावकम्माणि तं परिगओ सि ।
संसारमणादीयं दुक्खसहस्साणि पावंतो ॥१६४६॥

आहारार्थं पापानि कर्माणि कृत्वा संसारमनादिकं प्रविष्टो भवान्दु खसहस्राणि वेदयमान' ॥१६४६ ।

पुणरवि तहेव संसारं किं भमिदूणमिच्छसि अणंतं ।
जं णाम ण वोच्छिज्जइ अज्जवि आहारसण्णा ते ॥१६४७॥

'पुणरवि' पुनरपि । तथैव संसारमनंतमटितु किमिच्छसि ? यस्मादद्याप्याहारे तृष्णा न नश्यति ॥१६४७॥

जीवस्स णत्थि तित्ती चिरंपि भुंजंतस्य आहारं ।
तित्तीए विणा चित्तं उव्वूरं उद्दुदं होइ ॥१६४८॥

'जीवस्स णत्थि तित्ती' जीवस्य नास्ति तृप्ति चिरमप्याहार भुञ्जानस्य । तृप्त्या च विना चित्त नितरामुच्चलं भवति ॥१६४८॥

है इसलिये उसे सालिसिक्थ कहते है। वह कानमे बैठा हुआ मनमे, सोचा करता है कि यदि मेरा शरीर ऐसा होता तो क्या एक भी जन्तु बचकर जा सकता मै सबको खा जाता। इसी संकल्पसे वह भी मरकर सातवें नरक जाता है—

गा०—महामत्स्य आहारके ही कारण सातवे नरकमे मरकर जाता है और उसी महामत्स्य-के कानमें रहनेवाला सालिसिक्थ मत्स्य भी आहारके सकल्पसे मरकर सातवे नरक जाता है ॥१६४४॥

गा०—सुभौम नामक चक्रवर्ती भी एक देवके द्वारा लाये गये फलके रसकी लम्पटताके कारण ठगा जाकर परिवारके साथ समुद्रमे डूब गया और मरकर नरकमे गया ॥१६४५॥

गा०—हे क्षपक ! पूर्वजन्मोंमें आहारके ही लिये पाप कर्म करके तुम हजारों दु.ख भोगते हुए अनादि ससारमें प्रविष्ट हुए ॥१६४६॥

अब क्या पुनः अनन्त संसारमें भ्रमण करनेकी इच्छा है जो अभी भी तुम्हारी आहार संज्ञा नष्ट नहीं होती ॥१६४७॥

गा०—चिरकाल तक आहार खाकर भी जीवकी तृप्ति नही होती। और तृप्तिके बिना चित्त अत्यन्त व्याकुल रहता है ॥१६४८॥

जह इंधणेहिं अग्गी जह य समुद्दो णदीसहस्सेहिं ।
आहारेण ण सक्को तह तिप्पेदुं इमो जीवो ॥१६४९॥

'जह इंधणेहिं अग्गी' यथेन्धनैरग्निर्नदीसहस्रैश्चाब्धिस्तर्पयितुमशक्यस्तथाहारेण जीवः ॥१६४९॥

देविंदचक्कवट्टी य वासुदेवा य भोगभूमा य ।
आहारेण ण तित्ता तिप्पदी कह भोयण अण्णो ॥१६५०॥

'देविंदचक्कवट्टी य' देवेन्द्रा लाभान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षात् आत्मीयतनुतेजोनिमित्तेन आहारेण, चक्रवर्तिनोऽपि षष्ट्यधिकत्रिशतसूपकारैर्वर्षमात्रेणैकदिनाहारं संस्करणोद्यतैः ढौकितेन तथार्द्धचक्रवर्तिनोऽपि । भोगभूमिजा भोजनाङ्गकल्पतरुप्रभवेन न तृप्ताः । कथमन्यो जनस्तृप्यति ॥१६५०॥

उदुधुदमणस्स ण रदी विणा रदीए कुदो हवदि पीदी ।
पीदीए विणा ण सुहं उदुधुदचित्तस्स घण्णस्स ॥१६५१॥

'उदुधुदमणस्स' इतो भद्रमतो भद्रमस्माच्चेदमिति परिप्लवमानचेतसो न रतिः, क्व च तया विना प्रीतिः । प्रीत्या च विना न सुखं चलचित्तस्य तत्तदाहारलम्पटस्य ॥१६५१॥

सव्वाहारविधाणेहिं तुमे ते सव्वपुग्गला बहुसो ।
आहारिदा अदीदे काले तित्तिं च सि ण पत्तो ॥१६५२॥

'सव्वाहरणविधाणेहिं' अशनपानखाद्यलेह्यविकल्पैस्त्वया सर्वे पुद्गला बहुशः आहारिताः अतीते काले तृप्तिं च न च प्राप्तो भवान् ॥१६५२॥

गा०—जैसे इंधनसे आगकी और हजारो नदियोसे समुद्रकी तृप्ति नही होती वैसे ही यह जीव आहारसे तृप्त नही हो सकता ॥१६४९॥

गा०-टी०—देवेन्द्रोंके लाभान्तरायके क्षयोपशमका प्रकर्ष होनेसे अपने शरीरके तेजके निमित्तसे आहार प्राप्त होता है। भोजनकी इच्छा होते ही कण्ठसे अमृत झरता है। चक्रवर्तीके भी तीन सौ साठ रसोइया होते हैं और वे सब मिलकर एक वर्षका आहार एक दिनमे बनाते हैं। अर्धचक्रवर्तीकी भी ऐसी स्थिति है। भोगभूमिके जीवोंको भोजनांग जातिके कल्पवृक्षोंसे यथेच्छ आहार प्राप्त होता है। फिर भी इन सबकी तृप्ति नहीं होती। तब साधारण मनुष्य भोजनसे कैसे तृप्त हो सकता है ॥१६५०॥

गा०-टी०—यह आहार उत्तम है। इससे भी यह आहार उत्तम है इस प्रकारसे जिसका चित्त चंचल रहता है उसके चित्तमे अनुराग नहीं होता। अनुरागके बिना प्रीति नहीं होती। और प्रीतिके बिना सुख नहीं होता। इस प्रकार विभिन्न आहारोंके लम्पटी चंचलचित्त मनुष्यको आहारसे सुख नहीं होता ॥१६५१॥

गा०—हे क्षपक ! अतीतकालमें तुमने अन्न, पान, खाद्य और लेह्यके भेदसे चार प्रकारका आहार करके सब पुद्गलोंको बहुत बार खाया है फिर भी तुम्हारी तृप्ति नहीं हुई ॥१६५२॥

किं पुण कंठप्पाणो आहारेदूण अज्जमाहारं ।
लभिहिसि तिसिं पाऊणुदधिं हिमलेहणेणेव ॥१६५३॥

'किं पुण' किं पुन. कण्ठप्राणोऽप्याहार गृहीत्वा प्रीति लप्स्यसे। पीत्वोदधि न तृप्तो हि यथा हिमलेहनेन ॥१६५३॥

को एत्थ विंभओ दे बहुसो आहारभुत्तपुव्वम्मि ।
जुंज्जेज्ज हु अभिलासो अभुत्तपुव्वम्मि आहारे ॥१६५४॥

'को एत्थ विंभओ' कोऽत्र विस्मय । आहारे बहुशो भक्तपूर्वे । युज्यते आहारार्थे अभिलाषो ऽभुक्तपूर्वे ॥१६५४॥

आवादमेत्तसोक्खो आहारणो हु सुखमत्थ बहु अत्थि ।
दुःखं चेवत्थ बहुं आहट्टंतस्स गिद्धीए ॥१६५५॥

'आवादमेत्तसोक्खो' जिह्वाग्रपातमात्रसुख आहार । न सुखमत्र बह्वस्ति । दु खमेवात्र बहु [1]अभिलषिताहारगृद्धया ॥१६५५॥

सुखस्याल्पताया कारणमाचष्टे—

जिब्भामूलं बोलेइ वेगदो वरहओव्व आहारो ।
तत्थेव रसं जाणइ ण य परदो ण वि य से पुरदो ॥१६५६॥

जिह्वाया मूलं वेगेनातिक्रामत्याहार. जात्यश्व इव । जिह्वामात्र एव रसं वेत्ति जीवो न आहारानुपरित', न च पुरतोऽग्रत । अल्पा च जिह्वा ॥१६५६॥

गा०—अब तो तुम्हारे प्राण कण्ठगत है अर्थात् तुम्हारी मृत्यु निकट हे। जैसे समुद्रको पीकर जो तृप्त नही हुआ वह ओसको चाटनेसे तृप्त नही हो सकता। उसी प्रकार जब तुम समस्त पुद्गलोको खाकर भी तृप्त नहीं हुए तब मरते समय आज भोजनसे कैसे तृप्त हो सकते हो ॥१६५३॥

गा०—जो आहार तुमने पहले अनेक बार खाया है उसमे तुम्हारी उत्सुकता कैसी ? जो आहार पहले कभी नही खाया है उसमे अभिलाषा होना तो उचित है। जिसे तुम अनेक बार भोग चुके हो उसमे अभिलाषा होना ही आश्चर्यकारी है ॥१६५४॥

गा०—आहारमे बहुत सुख नही है केवल जिह्वाके अग्रभागमे रखनेमात्र ही सुख है। किन्तु इच्छितआहारकी लिप्सासे जो दु ख होता है वह दु.ख ही बहुत है ॥१६५५॥

आहारमें स्वल्पसुख होनेका कारण कहते हैं—

गा०-टी०—जैसे उत्तम घोड़ा बड़ा तेज दौडता है वैसे ही आहार भी जिह्वाके मूलको बडे वेगसे पार करता है अर्थात् जिह्वापर ग्रास आते ही वह झट पेटमे चला जाता है। बस जिह्वापर रहते हुए ही जीवको आहारके स्वादकी प्रतीति होती है, न पहले होती है और न

1. लषितमाहा—अ० ।

अच्छिणिमिसेणमेत्तो आहारसुहस्स सो हवइ कालो ।
गिद्धीए गिलइ वेगं गिद्धीए विणा ण होइ सुहं ॥१६५७॥

'**अच्छिणिमेसणमित्तो**' अक्षिनिमेषणमात्र' कालः । आहाररससेवाजनितसुखस्य । गृद्धया वेगेन निगिरति । यतो गृद्धया च विना नास्तीन्द्रियसुखं ॥१६५७॥

दुक्खं गिद्धीघत्थस्साहट्टंतस्स होइ बहुगं च ।
चिरमाहट्ठियदुग्गयचेडस्स व अण्णगिद्धीए ॥१६५८॥

'**दुक्खं गिद्धीघत्थस्स**' दुःख महद्भवति लम्पटतया ग्रस्तस्याभिलषत । '**चिरमाहट्टियदुग्गयचेडस्स व अण्णगिद्धीए**' अन्नगृद्धया चिरं व्याकुलस्य दरिद्रसबधिनो दासेरस्येव ॥१६५८॥

को णाम अप्पसुक्खस्स कारणं बहुसुहस्स चुक्केज्ज ।
चुक्कइ हु संकिलिसेण मुणी सग्गापवग्गाणं ॥१६५९॥

'**को णाम अप्पसुक्खस्स कारणं**' को नामाल्पसुखनिमित्त महतो निर्वृतिसुखात्प्रच्यवते च मुनि सक्लेशेन स्वर्गापवर्गसुखाभ्याम् ॥१६५९॥

महुलित्तं असिधारं लेहइ भुंजइ य सो सविसमण्णं ।
जो मरणदेसयाले पच्छेज्ज अकप्पियाहारं ॥१६६०॥

'**महुलित्तं**' मधुना लिप्तामसिधारा आस्वादयति । सविषमशनं भुङ्क्ते यो मरणदेशकाले अयोग्याहारप्रार्थना करोति ॥१६६०॥

बादमे। अर्थात् जब आहार जीभपर नहीं आया और जब आकर गलेमें उतरा तब स्वादकी अनुभूति नही होती ॥१६५६॥

गा०—इस प्रकार आहारसे होनेवाले सुखका काल एक बार पलकें बन्द करके खोलनेमें जितना समय लगता है उतना ही है अर्थात् क्षणमात्र है। आहारकी गृद्धि होनेसे आहार वेगसे निगला जाता है और गृद्धिके बिना सुख नहीं होता ॥१६५७॥

गा०—जो आहारविषयक लम्पटताके साथ आहारकी आकांक्षा करता है उसे बहुत दुःख उठाना पड़ता है। जैसे अन्नकी गृद्धिसे चिरकालसे व्याकुल दरिद्र दासको कष्ट होता है वैसा ही कष्ट आहारकी लम्पटतावालेको होता है ॥१६५८॥

गा०-टी०—कौन बुद्धिमान पुरुष थोड़ेसे सुखके लिये बहुत सुखसे वंचित होना चाहेगा। अर्थात् इस अन्तिम अवस्थामे आहारमे आसक्त होनेसे तुम बहुत सुखसे वंचित हो जाओगे। मुनि संक्लेश परिणाम करनेसे स्वर्ग और मोक्षके सुखसे वंचित हो जाता है—उसे स्वर्ग या मोक्षकी प्राप्ति नही होती ॥१६५९॥

गा०-टी०—जो क्षपक मरते समय अयोग्य आहारकी प्रार्थना करता है वह मधुसे लिप्त तलवारकी धारको चाटता है और विष सहित अन्नको खाता है। अर्थात् जैसे मधुसे लिप्त तलवारकी धारको चाटनेसे तत्काल सुख होता है किन्तु जीभ कट जाती है वैसे ही मरते समय

असिधारं व विसं वा दोसं पुरिसस्स कुणइ एयभवे ।
कुणइ दु मुणिणो दोसं अकप्पसेवा भवसएसु ॥१६६१॥

'असिधारं व' असिधारा वा विषं वा पुरुषस्य दोषमेकस्मिन्नेव भवे करोति । अयोग्यसेवा भवशतेषु मुनेर्दोषं करोति ॥१६६१॥

जावंत किंचि दुक्खं सारीरं माणसं च संसारे ।
पत्तो अणतखुत्त कायस्स ममत्तिदोसेण ॥१६६२॥

'जावंत किं चि दुक्खं' यावत्किंचिद्दु:खं शारीरं मानसं वा संसारे त्वमनंतवारं प्राप्तवान् । तत्सर्वं शरीरममतादोषेणैव ॥१६६२॥

इण्हिं पि जदि ममत्तिं कुणसि सरीरे तहेव ताणि तुमं ।
दुक्खाणि संसरंतो पाविहसि अणतयं कालं ॥१६६३॥

'इण्हिं' पि इदानीमपि यदि शरीरे करोषि ममता तथैव तानि दु:खानि चतुर्गतिषु परावर्तमानोऽनंतकालं प्राप्स्यसि ॥१६६३॥

णत्थि भयं मरणसमं जम्मणसमयं ण विज्जदे दुःखं ।
जम्मणमरणादंकं छिण्ण ममत्तिं सरीरादो ॥१६६४॥

'णत्थि भयं मरणसमं' मरणसदृशं भयं नास्ति । कुयोनिषु जन्मसमानं दु:खं न विद्यते । जन्ममरणातंकं [1]छिन्न शरीरममता ॥१६६४॥

अण्णं इमं सरीरं अण्णो जीवोत्ति णिच्छिदमदीओ ।
दुक्खभयकिलेसयारी मा हु ममत्तिं कुण सरीरे ॥१६६५॥

यदि अर्हन्त आदिकी साक्षीपूर्वक त्यागे हुए आहारकी अभिलाषा करता है और उसे खाता है तो तत्काल उसे अपनी इच्छापूर्ति होनेसे सुख प्रतीत होगा। किन्तु उसकी सब आराधना गल जायेगी ॥१६६०॥

गा०—शहदसे लिप्त तलवार और विषमिश्रित अन्न तो पुरुषका एक भवमे ही अनर्थ करते है। किन्तु मुनिका अयोग्य आहारका सेवन सकडो भवोमे अनर्थकारी होता है ॥१६६१॥

गा०—हे क्षपक ! इस संसारमे तुमने जो कुछ भी शारीरिक और मानसिक दुःख अनन्त वार भोगा है वह सब शरीरमे ममतारूप दोषके कारण ही भोगा है। ॥१६६२॥

गा०—इस समय भी यदि तुम शरीरमे ममता करते हो तो उसी प्रकार चारों गतियोंमे भ्रमण करते हुए अनन्त कालतक दुःख भोगोगे ॥१६६३॥

गा०—मरणके समान भय नही है और जन्मके समान दुःख नही है। तथा जन्म मरण रोगका कारण शरीरसे ममत्व है उसको तुम दूर करो ॥१६६४॥

---

१. छिन्द्धि—आ० मु० ।

'अण्णं इमं सरीरं' अन्यदिदं शरीरं । अन्यो जन्तुरिति निश्चितमतिर्दु:खसंक्लेशसंपादनोद्यता मा कृथा: शरीरे ममताम् ॥१६६५॥

सव्वं अधियासंतो उवसग्गविधिं परीसहविधिं च ।
णिस्संगदाए सल्लिह असंकिलेसेण तं मोहं ॥१६६६॥

'सव्वं उवसग्गविहिं' सर्वं उपसर्गविकल्पं परीषहविकल्पं च सहमानो मोहं भवांस्तनूकुरु। 'णिस्संगतया' असंक्लेशेन च ॥१६६६॥

ण वि कारणं तणादोसंथारो ण वि य संघसमवाओ ।
साधुस्स संकिलेसंतस्स य मरणावसाणम्मि ॥१६६७॥

'ण वि कारणं तणादी' नैव कारणं तृणादिसंस्तर: सल्लेखनाया, नापि संघसमुदाय: मरणावसाने संक्लिश्यत: साधो: ॥१६६७॥

जह वाणियगा सागरजलम्मि णावाहिं रयणपुण्णाहिं ।
पट्टणमासण्णा वि हु पमादमूढा वि वज्जंति ॥१६६८॥

'जह वाणियगा' यथा वणिजो रत्नसंपूर्णाभिर्नौभि: सह विनश्यन्ति । समुद्रजलमध्ये प्रमादेन मूढा पत्तनान्तिकमागता अपि ॥१६६८॥

सल्लेहणा विसुद्धा केई तह चेव विविहसंगेहिं ।
संथारे विहरंता वि संकिलिट्ठा विवज्जंति ॥१६६९॥

'सल्लेहणा विसुद्धा वि' शरीरसल्लेखनाभावात् । सल्लेखनया विशुद्धा अपि सन्त: । पूर्वं केचित् विविध

गा०—यह शरीर भिन्न है और जीव भिन्न है ऐसा निश्चय करके दु:ख भय और क्लेशको करनेवाली ममता शरीरमे मत कर अर्थात् शरीरसे ममत्वको त्याग, वही सब दु:खोंका मूल है ॥१६६५॥

गा०—सब उपसर्गोंके प्रकारोको और सब परीषहके प्रकारोको सहन करते हुए तुम नि:संगत्वभावनासे सक्लेश परिणामोंके बिना मोहको कृश करो ॥१६६६॥

गा०-टी०—यदि मरते समय साधुके परिणाम संक्लेशरूप होते हैं तो तृण आदिका सथरा या वैयावृत्य करनेवाले साधुका जमघट सल्लेखनाका कारण नही हो सकता। अर्थात् तृणादिके संथरा और वैयावृत्य करनेवाले साधु तो सल्लेखनाके बाह्य कारण है अन्तरग कारण तो क्षपकका आर्त रौद्र रहित परिणाम ही है। उसके अभावमें केवल बाह्य कारणोंसे सल्लेखना नही हो सकती ॥१६६७॥

गा०—जैसे वणिक् रत्नोसे भरी नावोंके साथ नगरके समीप तक आकर भी प्रमादवश मूढ होकर सागरके जलमें डूब जाते हैं ॥१६६८॥

गा०-टी०—उसी प्रकार पहले विशुद्ध भावसे शरीरकी सल्लेखना करनेवाले भी कुछ क्षपक रागद्वेषादि भावरूप विविध परिग्रहोंके साथ संथरेपर आरूढ होते हुए भी संक्लेश परिणामों

सर्गेहि विचित्रै रागद्वेषादिभावपरिग्रहैः सह । **'संथारे विहरंता वि'** संस्तरे प्रवर्तमाना अपि । **'संकिलिट्ठा विणस्संति'** संक्लिष्टपरिणता विनश्यन्ति ॥१६६९॥

सल्लेहणापरिस्समिमं कयं दुक्करं च सामण्णं ।
मा अप्पसोक्खहेउं तिलोगसारं वि णासेह ॥१६७०॥

'सल्लेहणापरिस्समिमं' शरीरसल्लेखनायां क्रियमाणाया अनशनादितपसा त्रिविधाहारत्यागेन, यावज्जीवं वा पानपरिहारेण जातं परिश्रममिद । **'दुक्करं च कयं सामण्णं'** दुष्कर कृत च श्रामण्यं । चिरकालं त्रिलोकसार अतिशयितस्वर्गापवर्गसुखदानात् । **'अप्पसुक्खहेदुं'** अल्पाहारसेवाजनितसुखनिमित्त । **'मा विणसेहि'** नैव विनाशय ॥१६७०॥

धीरपुरिसपण्णत्तं सप्पुरिसणिसेवियं उवणमित्ता ।
धण्णा णिरावयक्खा संथारगया णिसज्जंति ॥१६७१॥

'धीरपुरिसपण्णत्तं' उपसर्गाणा परिषहाणा चोपनिपाते अविचलधृतयो ये धीरास्तैरुपदिष्ट तत्सर्वं । **'सप्पुरिसणिसेवियं'** सत्पुरुषनिषेवित मार्ग **'उवणमित्ता'** आश्रित्य । **'धण्णा'** धन्या पुण्यवत । **'णिरावयक्खा'** निरपेक्षा परित्यक्तादाना । **'संथारगया'** संस्तरारूढा । **'णिसज्जति'** शेरते ॥१६७१॥

तम्हा कलेवरकुडी पव्वोढव्वत्ति णिम्ममो दुक्खं ।
कम्मफलमुवेक्खंतो विसहसु णिव्वेदणो चेव ॥१६७२॥

'तम्हा' तस्मात् । **'कलेवरकुडी'** शरीरकुटी । **'पव्वोढव्वत्ति'** परित्याज्येति मत्वा । **'णिम्ममो'** शरीरे ममतारहितो । **'दुक्खं विसहसु'** दुःख विसहस्व । **'कम्मफलवेमुवक्खंतो'** कर्मफलमुपेक्षमाणो । **'णिव्वेदणो चेव'** निर्वेदनमिव ॥१६७२॥

इय पण्णविज्जमाणो सो पुव्वं जायसंकिलेसादो ।
विणियत्तंतो दुक्खं पस्सइ परदेहदुक्खं वा ॥१६७३॥

के कारण विनाशको प्राप्त होते हैं। अर्थात् प्रथम तो उनकी सल्लेखना ठीक रहती है। पीछे संक्लेश परिणाम होनेसे संथरेपर रहते हुए भी सल्लेखनासे भ्रष्ट हो जाते है ॥१६६९॥

गा०-टी०—हे क्षपक ! अनशन आदि तपके द्वारा तथा तीन प्रकारके आहार और जीवन पर्यन्तके लिये पानका त्याग करके शरीरको कृश करनेमें तुमने जो परिश्रम किया है और यह अत्यन्त कठिन मुनिपद धारण किया है और इन सबसे तुम्हे जो स्वर्ग और मोक्षका सातिशय सुख मिलनेवाला है, इन सबको आहार सेवनसे होनेवाले थोडेसे सुखके लिये नष्ट मत करो ॥१६७०॥

गा०—उपसर्ग और परीषहोके आनेपर भी जो विचलित नही होते उन धीर पुरुषोंके द्वारा कहे गये और श्रेष्ठ पुरुषोके द्वारा सेवित इस मार्गको अपनाकर पुण्यशाली क्षपक, त्याग और ग्रहणसे निरपेक्ष होकर सस्तरपर आरूढ होकर विशुद्ध होते है ॥१६७१॥

गा०—अतः यह शरीररूपी कुटिया त्यागने योग्य है ऐसा मानकर शरीरसे ममत्त्व मत करो। तथा कर्मफलकी उपेक्षा करते हुए दुःखको इस प्रकार सहो मानो दुःख है ही नही ॥१६७२॥

'इव' एवं । 'पच्चविकअमाणो' प्रज्ञाप्यमानः । 'सो पुब्वं आवत्संकिलेसादो' पूर्वं आत्तसंक्लेशात् । 'विणिवत्तंतो' विनिवर्त्यमानः । 'दुक्खं पस्सदि' दुःखं पश्यति । किमिव ? 'परदेहदुक्खं वा' परशरीरगतमिव दुःखं ॥१६७३॥

रायादिमहड्ढीयागमणपओगेण चा वि माणिस्स ।
माणजणणेण कवयं कायव्वं तस्स खवयस्स ॥१६७४॥

'रायादिमहड्ढीयागमणपओगेण' राजादिमहर्द्धिकागमनप्रयोगेण 'चावि माणिस्स' मानिनोऽपि । 'माणजणणेण' मानजननेन । 'कवयं कायव्वं' कवचः कर्तव्यः । 'तस्स खवयस्स' तस्य क्षपकस्य । मम धीरता द्रष्टुं अमी महर्द्धिका समायाता. । अमीषां पुरस्ताद्यद्यपि प्राणा यान्ति यान्तु कामं तथापि स्वा मनस्विता नाहं त्यजामीति मानघनो दुःखं सहते न कुरुते व्रतभङ्गम् ॥१६७४॥

इच्चेवमाइकवचं भणिदं उस्सग्गियं जिणमदम्मि ।
अववादियं च कवयं आगाढे होइ कादव्वं ॥१६७५॥

'इच्चेवमादिकवचं भणिदं' इत्येवमादिकः कवचः कथितो जिनमते । 'उस्सग्गिगो' औत्सर्गिकः सामान्यभूतः । 'अववादिगं च कवचं कादव्वं' विशेषरूपोऽपि कवचः कर्तव्यो भवत्यवगाढे मरणे ॥१६७५॥

जह कवचेण अभिज्जेण कवचिओ रणमुहम्मि सत्तूणं ।
जायइ अलंघणिज्जो कम्मसमत्थो य जिणदि य ते ॥१६७६॥

'जह कवचेण' यथा कवचेन । 'अभिज्जेण' अभेद्येन । 'कवचिदो' सन्नद्धः । 'रणमुहे सत्तूणमलंघिज्जो

गा०—इस प्रकार उपदेश द्वारा समझानेपर वह क्षपक पूर्वमें हुए संक्लेशरूप परिणामोसे अपनेको हटाकर अपने दुःख इस प्रकार देखता है, मानो वह दुःख उसके शरीरमें नही है किन्तु किसी दूसरेके शरीरमे है ॥१६७३॥

गा०-टी०—महान् ऐश्वर्यशाली राजा आदिको उस क्षपकके पास लाकर भी उस अभिमानीको मानदान देकर उसका कवच (रक्षाका उपाय) करना चाहिये । उन्हे देख वह विचारता है कि मेरी सहनशीलताको देखनेके लिये ये बड़े-बड़े ऐश्वर्यशाली आये हुए हैं । इनके सामने भले ही मेरे प्राण जायें तो चले जायें । तथापि मै अपनी मनस्विताको नही छोड़ूँगा । इस प्रकार वह मानप्रेमी दुःख सहता है किन्तु व्रतभंग नहीं करता ॥१६७४॥

गा०—इस प्रकार जिनमतमे कवचका औत्सर्गिक अर्थात् सामान्य स्वरूप कहा है । मृत्यु निकट होनेपर आपवादिक अर्थात् विशेषरूप भी कवच करना चाहिये ॥१६७५॥

विशेषार्थ—जिसका मरण अभी दूर है उसके लिये सामान्यरूपसे ऊपर कवचका कथन किया है । यहाँ निकट मरण वालेके लिये अपवादरूप विशेष कवचका कथन किया है । जिसका अभिप्राय यह है कि तत्काल उत्पन्न हुए ध्यानमें विघ्न डालने वाले भूख आदिके दुःखको दूर करनेके लिये यथायोग्य प्रयोग करना चाहिये ।

गा०—जैसे अभेद्य कवचके द्वारा सुरक्षित योद्धा युद्धभूमिमें शत्रुओके वशमें नहीं आता । तथा शत्रुपर प्रहार करनेमें समर्थ होता है और इस प्रकार शत्रुओंको जीत लेता है ॥१६७६॥

होदि' रणमुखे शत्रूणामलंघ्यो भवति । **'कम्मसमत्थो य'** प्रहरणादिक्रियासमर्थ । **'जिणदि य ते'** जयति च तानरीन् ॥१६७६॥

एवं खवओ कवचेण कवचिओ तह परीसहरिऊणं ।
जायइ अलंघणिज्जो ज्झाणसमत्थो य जिणदि य ते ॥१६७७॥

'एवं खवगो' एवं क्षपक. कवचेनोपगृहीत परीषहारिभिर्न लुप्यते, ध्यानसमर्थो जयति च तान्परीषहारीन् ॥कवचुत्ति ॥१६७७॥

एवं अधियासेंतो सम्मं खवओ परीसहे एदे ।
सव्वत्थ अपडिबद्धो उवेदि सव्वत्थ समभावं ॥१६७८॥

'एवं अधियासेंतो' एव सहयान सम्यक्‌परीषहानेतान् । सर्वत्राप्रतिबद्ध शरीरे, वसतौ, गणे, परिचारकेषु च सर्वत्रोपैति समचित्तताम् ॥१६७८॥

सव्वेसु दव्वपज्जयविधीसु णिच्चं ममत्तिदो विजडो ।
णिप्पणयदोसमोहो उवेदि सव्वत्थ समभावं ॥१६७९॥

'सव्वेसु' सर्वेषु द्रव्यपर्यायविकल्पेषु नित्य परित्यक्तममतादोष ममेद सुखसाधनं मदीय इति वा । **'णिप्पणयदोसमोहो'** निस्नेहो, निर्दोषो, निर्मोह सर्वत्र समतामुपैति ॥१६७९॥

संजोगविप्पओगेसु जहदि इट्ठेसु वा अणिट्ठेसु ।
रदि अरदि उस्सुगत्तं हरिसं दीणत्तणं च तहा ॥१६८०॥

संयोगे रतिं, विप्रयोगे अरतिं, इष्टे वस्तुन्युत्कण्ठा, इष्टयोगे **'रदिं'** रतिं, हर्ष, इष्टविप्रयोगे अरतिं दीनतां । **'उस्सुगत्तं'** उत्सुकतां च तथा **'जहदि'** जहाति क्षपकः कवचेनोपगृहीत ॥१६८०॥

गा०—उसी प्रकार कवचसे सुरक्षित क्षपक परीषह आदिके वशमे नही आता। तथा ध्यान करनेमे समर्थ होता है और उन परीषहरूपी शत्रुओंको जीत लेता है ॥१६७७॥

गा०—इस प्रकार इन तत्काल उपस्थित हुई परीषहोंको सम्यक् रूपसे सहन करता हुआ क्षपक सर्वत्र शरीर, वसति, संघ और परिचर्या करनेवालोमे अप्रतिबद्ध होता है—ये मेरे हैं मै इनका हूँ ऐसा सकल्प नही करता। तथा सर्वत्र जीवन मरण आदिमे समभावको—रागद्वेषसे रहितताको प्राप्त होता है ॥१६७८॥

गा०—द्रव्य और पर्यायके समस्त भेदोमे नित्य ममता दोषको त्याग स्नेह रहित, दोष रहित और मोहरहित होकर सर्वत्र समभावको प्राप्त होता है अर्थात् समस्त द्रव्यो और पर्यायोमे 'ये मेरे सुखके साधन हैं' इस प्रकारका ममत्व भाव नही रखता। किन्तु सबमे समभाव रखता है। न किसीसे प्रीति करता है और न किसीसे द्वेष करता है ॥१६७९॥

गा०—कवचसे उपकृत हुआ क्षपक संयोगमे रति, वियोगमे अरति, इष्ट वस्तुमे उत्कण्ठा, इष्ट वस्तुके संयोगमे रति तथा हर्ष और इष्ट वस्तुके वियोगमें अरति तथा दीनता नही करता ॥१६८०॥

मित्ते सुयणादीसु य सिस्से साधम्मिए कुले चावि ।
रागं वा दोसं वा पुव्वं जायंपि सो जहइ ॥१६८१॥

'मित्ते सुयणादीसु य' मित्रेषु बन्धुषु वा । शिष्येषु च सधर्मणि कुले वा पूर्वं जातं रागद्वेष वासौ जहाति ॥१६८१॥

भोगेसु देवमाणुस्सगेसु ण करेइ पत्थणं खवओ ।
मग्गो विराधणाए भणिओ विसयाभिलासोत्ति ॥१६८२॥

'भोगेसु देवमाणुस्सगेसु' देवमानवगोचरभोगप्रार्थनां न करोति क्षपको व्यावर्णितकवचोपगृहीत' । विषयाभिलाषो मुक्तिमार्गविराधनाया मूलमिति ज्ञात्वा ॥१६८२॥

इट्ठेसु अणिट्ठेसु य सद्दफरिसरसरूवगंधेसु ।
इहपरलोए जीविदमरणे माणावमाणे च ॥१६८३॥
सव्वत्थ णिव्विसेसो होदि तदो रागरोसरहिदप्पा ।
खवयस्स रागदोसा हु उत्तमट्ठं वि[1]णासंति ॥१६८४॥

स्पष्ट उत्तरगाथाद्वय। ॥१६८३॥१६८४॥

विशेषार्थ—इष्ट वस्तुके मिलनेपर या अनिष्ट वस्तुके बिछुड़नेपर चित्तमें प्रसन्नता होना, अनिष्टका संयोग अथवा इष्टका वियोग होनेपर अरति अर्थात् चित्तका दु:खी होना, इष्ट वस्तुमें उत्कण्ठा होना—यदि मुझे अमुक वस्तु मिल जाये तो अच्छा हो इस प्रकार हृदयमें उत्कण्ठा होना, हर्ष अर्थात् इष्टका संयोग होनेपर रोमांच, मुखकी प्रसन्नता आदिसे आनन्द व्यक्त होना, तथा इष्टका वियोग होनेपर मुखकी विरूपतासे विषाद व्यक्त होना, ये सब कवचसे उपगृहीत क्षपक छोड़ देता है।

गा०—अथवा कवचसे उपगृहीत वह क्षपक मित्रोंमें, बन्धुबान्धवोंमें, शिष्योंमें साधर्मी जनोंमे और कुलमें, पूर्वमें उत्पन्न हुए रागद्वेषको छोड़ देता है अर्थात् समाधि स्वीकार करनेसे पूर्वमें या दीक्षा ग्रहण करनेसे पूर्वमें जो रागद्वेष उत्पन्न हुआ है उसे दूर करता है, साथ ही आगे भी रागद्वेष नही करता ॥१६८१॥

गा०—तथा ऊपर कहे गये कवचसे उपगृहीत क्षपक यह जानकर कि विषयोंकी अभिलाषा मोक्षमार्गकी विराधनाका मूल है, देव और मनुष्य सम्बन्धी भोगोंकी प्रार्थना नहीं करता ॥१६८२॥

गा०-टी०—कवचसे उपगृहीत होनेसे क्षपक इष्ट अनिष्ट शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्धमें, इस लोक और परलोकमें, जीवन और मरणमें, मान और अपमानमें सर्वत्र इष्ट अनिष्ट विकल्पसे मुक्त और रागद्वेषसे रहित होता है। क्योंकि क्षपकके रागद्वेष उत्तमार्थ अर्थात् रत्नत्रय, सम्यक् ध्यान और समाधिमरणको नष्ट कर देते हैं ॥१६८३-१६८४॥

---

१ विराधेंति मु० ।

जदि वि य से चरिमंते समुदीरदि मारणंतियमसायं ।
सो तह वि असंमूढो उवेदि सव्वत्थ समभावं ॥१६८५॥

'**जदि वि य से**' यद्यपि तस्य क्षपकस्य चरमकालान्ते मारणान्तिकं दुःखं भवेत् सो कवचेनोपगृहीतः क्षपकः तथापि असंमूढः समभावं सर्वत्रोपैति ॥१६८५॥

एवं सुभाविदप्पा विहरइ सो जावबीरियं काये ।
उट्ठाणे[1] संवेसणे सयणे वा अपरिदंतो ॥१६८६॥

'**एवं सुभाविदप्पा**' निर्यापकेन सूरिणा गदितोऽर्थ एवमित्युच्यते । तेन सम्यग्भावितचित्तः सन्विहरदि प्रवर्तते अपरिश्रान्तः । '**जावबीरियं काये**' यावच्छरीरे बलमस्ति उत्थाने, शयने आसने वा ॥१६८६॥

जाहे सरीरचेट्ठा विगदत्थामस्स से यदणुभूदा ।
देहादि वि ओसग्गं सव्वत्तो कुणइ णिरवेक्खो ॥१६८७॥

'**जाहे सरीरचेट्ठा**' यदा शरीरचेष्टा विगतबलस्य तस्य स्वल्पा जाता, तदा शरीरादुत्सर्गं करोति सर्वतो मनोवाक्कायैर्निरपेक्षः ॥१६८७॥

तदेवं शरीरादिकं त्याज्यमुत्तरगाथया दर्शयति—

सेज्जा संथारं पाणयं च उवधिं तहा सरीरं च ।
विज्जावच्चकरा वि य वोसरइ समत्तमारूढो ॥१६८८॥

'**सेज्जा**' वसतिं । संस्तरं तृणादिकं, पानं पिच्छं, शरीरं च वैयावृत्यकराश्च व्युत्सृजति । '**समत्तमारूढो**' समाप्तं संपूर्णं रत्नत्रयमारूढः ॥१६८८॥

गा०—यद्यपि उस क्षपकको अन्तिम समयमे मरण प्राप्त होनेतक दुःख होता है तथापि वह कवचसे उपगृहीत क्षपक शरीरसे भी मोह न रखता हुआ सर्वत्र समभाव धारण करता है ॥१६८५॥

गा०—इस प्रकार निर्यापकाचार्यके द्वारा कहे गये पदार्थ स्वरूपसे अपने चित्तको सम्यक् रूपसे भावित करके वह क्षपक जबतक शरीरमे शक्ति रहती है तबतक बिना थके उठने बैठने और सोनेमें स्वयं प्रवृत्ति करता है ॥१६८६॥

गा०—जब शक्तिहीन होनेपर उसकी शारीरिक चेष्टा मन्द पड जाती है तब वह मन वचन कायसे निरपेक्ष होकर शरीरका भी त्याग करता है ॥१६८७॥

आगेकी गाथासे शरीर आदिको त्याज्य बतलाते हैं—

गा०—सम्पूर्ण रत्नत्रयमे आरूढ हुआ वह क्षपक वसति, तृणादि रूप संस्तर, पानक, पिच्छी, शरीर तथा वैयावृत्य करनेवालोंका भी त्याग कर देता है अर्थात् उन सबसे भी निरपेक्ष हो जाता है ॥१६८८॥

---

[1] उट्ठाणे सयणे वा णिसीयणे —आ० मु० ।

अवहट्टु कायजोगे य विप्पओगे य तत्थ सो सव्वे ।
सुद्धे मणप्पओगे होइ णिरुद्धज्झवसियप्पा ॥१६८९॥

'**अवहट्टुकायजोगे**' वाग्योगान्काययोगांश्च सर्वान्निराकृत्य असावत्र मनोयोगे शुद्धे स्थितो भवति । विषयान्तरसंचारान्निरुद्धं अध्यवसितं च आत्मरूपं ज्ञानाख्यं यस्य सः ॥१६८९॥

एवं सव्वत्थेसु वि समभावं उवगओ विसुद्धप्पा ।
मित्ती करुणं मुदिदमुवेक्खं खवओ पुण उवेदि ॥१६९०॥

'**एवं सव्वत्थेसु वि**' एवं सर्ववस्तुषु समतापरिणाममुपगतो विशुद्धचित्तः, मैत्री, करुणा, मुदितामुपेक्षां च पश्चादुपैति क्षपक ॥१६९०॥

मैत्रीप्रभृतीनां चिन्ताना विषयमुपदर्शयति—

जीवेसु मित्तचिंता मेत्ती करुणा य होइ अणुकंपा ।
मुदिदा जदिगुणचिंता सुहदुक्खधियासणमुवेक्खा ॥१६९१॥

'**जीवेसु मित्तचिंता**' अनन्तकालं चतसृषु गतिषु परिभ्रमतो घटीयन्त्रवत्सर्वे प्राणभृतोऽपि बहुशः कृत-महोपकारा इति तेषु मित्रताचिन्ता मैत्री । '**करुणा य होइ अणुकंपा**' शारीरं, आगन्तुकं मानसं स्वाभाविकं च दुःखमसह्यमाप्नुवतो दृष्ट्वा हा वराका मिथ्यादर्शनेनाविरत्या कषायेणाशुभेन योगेन च समुपार्जिताशुभकर्म-पर्यायपुद्गलस्कन्धतदुदयोद्भवा विपदो विवशा प्राप्नुवन्ति इति करुणा अनुकम्पा । मुदिता नाम यतिगुणचिन्ता यतयो हि विनीता, विरागा, विभया, विमाना, विरोषा, विलोभा इत्यादिका । सुखे अरागा दुःखे वा अद्वेषा उपेक्षेत्युच्यते ॥१६९१॥ समता गता ।

गा०—वह सब काययोगों और वचनयोगोंको दूरकर शुद्ध मनोयोगमें स्थिर होता है । क्योंकि वह अपने ज्ञानरूप आत्माको युक्ति और तर्क वितर्कसे निश्चित करके उसे अन्य विषयोंमें जानेसे रोकता है ॥१६८९॥

गा०—इस प्रकार सब वस्तुओमे समताभाव धारण करके वह क्षपक निर्मल चित्त हो जाता है । फिर मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा भावनाको अपनाता है ॥१६९०॥

मैत्री आदि भावनाओंको कहते हैं—

गा०-टी०—अनन्तकाल चारों गतियोंमें भ्रमण करते हुए घटीयंत्रकी तरह सभी प्राणियोंने मेरा बहुत उपकार किया है अतः उनमें मित्रताकी भावना होना मैत्री है । असह्य शारीरिक, आगन्तुक, मानसिक और स्वाभाविक दुःखको भोगते हुए प्राणियोंको देखकर, अरे बेचारे मिथ्या-दर्शन, अविरति, कषाय और अशुभ योगसे उपार्जित अशुभ कर्मरूप पुद्गल स्कन्धोंके उदयसे उत्पन्न हुई विपदाओंको विवश होकर भोगते हैं । इस प्रकारके भावको करुणा या अनुकंपा कहते हैं । यतियोंके गुणोंके चिन्तनको मुदिता कहते हैं । यतिगण विनयी, रागरहित, भयरहित, मान-रहित, रोषरहित और लोभरहित होते हैं इत्यादि चिन्तन मुदिता है । सुखमें राग और दुःखमे द्वेष न करना उपेक्षा है ॥१६९१॥

दंसणणाणचरित्तं तवं च विरियं समाधिजोगं च ।
तिविहेणुवसंपज्जिय सव्वुवरिल्लं कमं कुणइ ॥१६९२॥

'**दंसणणाणचरित्तं तवं विरियं समाधिजोगं च**' तत्त्वश्रद्धान तत्त्वावगम, वीतरागता, अशनत्याग-क्रियां, स्वशक्त्याऽनिगूहनं चित्तैकाग्रयोगं । '**तिविहेणुवसंपज्जिय**' मनोवाक्काये प्रतिपद्य । '**सव्वुवरिल्लं**' सर्वेभ्यः पूर्वप्रवृत्तदर्शनादिपरिणामेभ्योऽतिशयितं **कमं** '**कुणदि**' क्रम दर्शनादिपदन्यासं करोति ॥१६९२॥

शुभध्यानमारुरुक्षतः परिकरमाचष्टे—

जिदरागो जिददोसो जिदिंदिओ जिदभओ जिदकसाओ ।
अरदिरदिमोहमहणो ज्झाणोवगओ सदा होहि ॥१६९३॥

'**जिदरागो**' स्वतो व्यतिरिक्तेषु जीवाजीवद्रव्येषु तेषां पर्यायेषु रूपरसगंधस्पर्शशब्दाख्येषु विचित्रभेदेषु तत्संस्थानादिषु च यो राग स जितो येन सोऽभिधीयते । तथा मनोज्ञेषु याऽप्रीति स दोष उच्यते स च जितो येन स जितदोष ।

"**णेहुत्तुपिदगत्तस्स रेणुओ लग्गदे जहा अंगे ।**
तह रागदोसणेहोल्लिदस्स [1]**कम्मासवो होदि** ॥" [मूलाचार २३६] इति ।

जिनवचनाधिगमाद् दुःखभीरुर्यति सर्वदुःखाना मूलकारणभूतौ रागद्वेषाविति मनसा विनिश्चित्य

गा०-टी०—दर्शन अर्थात् तत्त्वश्रद्धान, तत्त्वज्ञान और चारित्र अर्थात् वीतरागता, तप अर्थात् भोजनका त्याग, वीर्य अर्थात् अपनी शक्तिको न छिपाना, तथा समाधियोग अर्थात् चित्तकी एकाग्रता, इन सबको मन वचन कायसे प्राप्त करके क्षपक पूर्वके दर्शन आदिसे विशिष्ट दर्शन आदिमें पग धरता है ॥१६९२॥

विशेषार्थ—मैत्री आदि भावनाके बलसे व्यवहार मोक्षमार्गको प्राप्त करके क्षपक परमार्थ मुक्तिमार्गपर चलनेका प्रयत्न करता है यह इस गाथाके द्वारा कहा है । यह शुभतम ध्यानके लिये प्रयत्नका प्रारम्भ है ॥१६९२॥

आगे शुभध्यानकी सामग्री कहते हैं—

गा०—जो जितराग, जितद्वेष, जितेन्द्रिय, जितभय, जितकषाय और अरति रति तथा मोहका मथन करता है वह सदा ध्यानमे लीन रहता है ।

टी०—अपनेसे भिन्न जीव अजीव द्रव्योमे, रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द रूप उनकी पर्यायोंमे तथा अनेक भेदवाले उनके आकारादिमे जो रागको जीतता है उसे जितराग कहते है । तथा अमनोज्ञ वस्तुओमे प्रीतिका अभाव दोप है । जिसने उसे जीत लिया वह जितदोष है । 'जैसे जिसका शरीर तेलसे लिप्त होता है उसके शरीरमें धूल लगती है । उसी प्रकार जो राग द्वेष और स्नेहमे लिप्त होता है उसके कर्मोंका आस्रव होता है ।'

इस जिनागमको जानकर दुःखसे भीत यति 'सब दुःखोका मूल कारण रागद्वेष है ऐसा

१. कम्म मुणेयव्व —मूला० ।

यस्तयोर्न विपरिणमते सोऽभिधीयते जितरागद्वेषः इति । तस्योपायो जितेन्द्रियतेत्याचष्टे—'जह जिदिंदिओ' इति वाक्यशेषं कृत्वा सम्बन्धः । 'जिदिंदिओ' इन्द्रियशब्देन रूपाद्यालम्बनोपयोगः परिगृह्यते स जितो येन स उच्यते जितेन्द्रिय इति । कथमसौ मतिज्ञानोपयोगो जेतुं शक्यते इति चेत् श्रुतज्ञानोपयोगे एव वृत्तात्मनः 'सत्यां, युगपदुपयोगद्वयस्यात्मन्येकदा विरोधादप्रवृत्तेः । न च बाह्यद्रव्यालम्बनमुपयोगमन्तरेणास्ति संभवो रागद्वेषयो. । सकल्पपुरोगौ हि ताविति । 'जिदकसाओ' क्षमामार्दवार्जवसंतोषपरिणामनिरस्तकषायपरिणामप्रसरो जितकषाय इत्युच्यते । अरते रतेश्च कर्मण उदये उपजातौ रत्यरतिपरिणामौ, मोहो, मिथ्याज्ञानं च सम्यग्ज्ञानभावनया मथ्नाति य स भण्यते 'अरदिरदिमोहमधणो' । एवं निरस्तध्यानप्रतिपक्षपरिणाम । 'ज्झाणोवगदो होदि' ध्यानाख्य परिणाममाश्रितो भवति । न हि रागादिभिर्व्याकुलीकृतस्य अर्थयाथात्म्यग्राहि भवति विज्ञानं अविचलं च नावतिष्ठते । अविचलमेव वस्तुनिष्ठं ज्ञान ध्यानमिष्यते ॥१६९३॥

धम्मं चदुप्पयारं सुक्कं च चदुव्विधं किलेसहरं ।
संसारदुक्खभीओ दुण्णि वि ज्झाणाणि सो ज्झादि ॥१६९४॥

'धम्मं चदुप्पयारं' धर्मध्यानं चतु.प्रकार । धारयति वस्तुनो वस्तुतामिति धर्म. । स्वभावातिशयादेव चैतन्यादिकाज्जीवादिक वस्तु भवति । स्वभावातिशयभावादेव वस्तु भण्यते न खरविषाणादि, तेन धर्मशब्दो

मनसे निश्चित करके राग दोषरूप परिणमन नही करता । उस यतिको जितराग द्वेष कहते है । उसका उपाय है जितेन्द्रिय होना । यहाँ इन्द्रिय शब्दसे रूपादिका आलम्बन लेकर जो उपयोग होता है उसका ग्रहण किया है । उसे जो जीत लेता है वह जितेन्द्रिय है ।

यह जो मतिज्ञानरूप उपयोग है इसको कैसे जीता जा सकता है ? श्रुतज्ञानरूप उपयोगमे ही मनकी प्रवृत्ति होनेपर मतिज्ञानरूप उपयोग जीता जा सकता है । क्योंकि एक साथ एक आत्मामे दो उपयोगोंका विरोध होनेसे दो उपयोगोकी प्रवृत्ति नही हो सकती । और जबतक उपयोगका आलम्बन बाह्य द्रव्य न हो तबतक रागद्वेष नही हो सकते । क्योकि रागद्वेष सकल्प-पूर्वक होते हैं । तथा जो क्षमा, मार्दव, आर्जव और सन्तोष परिणामसे कषायरूप परिणामोंके प्रसारको निरस्त कर देता है उसे जितकषाय कहते हैं । अरति और रति कर्मका उदय होनेपर उत्पन्न हुए रति और अरतिरूप परिणामोको और मोह अर्थात् मिथ्याज्ञानको जो सम्यग्ज्ञानरूप भावनासे मथता है उसे 'अरतिरति मोहमथन' कहते हैं । इस प्रकार जो ध्यानके विरोधी परिणामों को दूर करता है वह ध्यान नामक परिणामको करता है । जो रागादिसे व्याकुल रहता है उसका ज्ञान न तो अर्थके यथार्थस्वरूपको ही ग्रहण करता है और न निश्चल ही रहता है । और वस्तुनिष्ठ निश्चल ज्ञानको ही ध्यान कहते हैं ॥१६९३॥

गा०—धर्मध्यान चार प्रकारका है और शुक्ल ध्यान भी चार प्रकारका है । ये ही ध्यान कष्टको हरनेवाले हैं । चतुर्गति परावर्तनरूप संसारमें जो दुःख होते हैं उनसे भीत मुनि धर्म और शुक्लध्यानोंको ध्याता है ॥१६९४॥

टी०—जो वस्तुकी वस्तुताको धारण करता है उसे धर्म कहते हैं । चैतन्य आदिरूप स्वभावके अतिशयसे ही जीवादि वस्तु होती है । स्वभावरूप अतिशयके होनेसे ही वस्तु कहलाती

---

१. एव वृत्तमात्मनः सत्यं आ०—योगे आत्मनः प्रवृत्तौ सत्या मु० ।

वस्तुस्वभाववाची । धर्माद्वस्तुस्वभावादनपेतमिति धर्म्यमित्युच्यते । यद्येवमार्तादेरपि धर्मादनपेतत्वमस्ति । सम्प्रयुक्तामनोज्ञवस्तुवियोगं, विप्रयुक्तमनोज्ञवस्तुयोगं, रोगातङ्कादिप्रशमनं, अभिमतप्राप्तिं च धर्ममाश्रित्य प्रवर्तमानत्वाद्धर्मादनपेततेति । नैष दोषः विवक्षितधर्मविशेषवृत्तिर्धर्मशब्दः । अत एव आज्ञापायविपाकसंस्थान-मित्यादिकैर्धर्मैर्ध्येयैरनपेतत्वाद्ध्यानमाज्ञाविचयादिसंज्ञाभिरुच्यते । ध्येयं ज्ञेयवस्तुस्वरूपं तदविनाभावि च ज्ञानं ध्यानमिति संगतार्थं व्याख्येयं । अन्ये तु व्याचक्षते–क्षमामार्दवार्जवादिकाद्धर्मादनपेतत्वाद्धर्म्यं इति । ननु च ध्यानं ध्येयाविनाभावि न च क्षमादयो धर्मा ध्येया येन तदनपेतत्वमुच्यते । अथ क्षमादिको दशविधो धर्मो ध्येयस्तस्मादनपेतस्तस्यान्यत्राप्रवृत्तेः 'आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यमिति सूत्रं न युज्यते' । उत्तम-क्षमादिधर्मपरिणतादात्मनोऽनपेतत्वात् धर्मादनपेततेति धर्म्यमित्युच्यत इति चेत् शुक्लस्यापि धर्मादनपेतत्वा द्धर्म्यध्यानता स्यादत्रोच्यते—रूढिशब्देषु क्वचित्सभाविनी क्रियामाश्रित्य शब्दव्युत्पत्तिमात्रं क्रियते । न सा क्रिया तन्त्रं आशुगमनादश्व इति व्युत्पाद्यमानः स्थिते शयिते च प्रवर्तते न चाशुयायिन्यपि वैनतेयादौ प्रवर्तते । तद्वदिहापि शुक्ले न धर्मशब्दो वर्तते । धर्मादन्यत्राप्याज्ञादौ वर्तते । अथ किं ध्यानं, 'उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्ता-

---

है। इसीसे गधेके सींग नामकी कोई वस्तु नही है। अतः धर्म शब्द वस्तुस्वभावका वाचक है। धर्म अर्थात् वस्तु स्वभावसे जो सहित है उसे धर्म्य कहते है।

शंका—यदि ऐसा है तो आर्तध्यान आदि भी धर्मसे सहित है। क्योकि प्राप्त अनिष्ट वस्तुके वियोग, वियुक्त इष्ट वस्तुके सयोग, रोग आदिकी शान्ति और इष्टकी प्राप्ति आदि धर्मको लेकर आर्तध्यान होता है अत. वह भी धर्मसे युक्त होनेसे धर्मध्यान कहा जाना चाहिये ?

समाधान—यह दोष ठीक नहीं है। यहाँ धर्म शब्द विवक्षित धर्मविशेषको कहता है। अत आज्ञा, अपाय, विपाक, संस्थान आदि धर्म जिसमें ध्येय होते हैं उस ध्यानको आज्ञाविचय आदि नामोंसे कहा जाता है। अन्य कुछ आचार्य क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि धर्मो से युक्त होनेसे धर्म्य कहते हैं।

शंका—ध्यान ध्येयका अविनाभावी है। ध्येयके बिना ध्यान नही होता। किन्तु क्षमा आदि धर्म ध्येय नही है अत उनसे युक्त ध्यानको धर्म्य नही कह सकते। यदि क्षमा आदि दस प्रकारका धर्म ध्येय है और उससे सहित ध्यान धर्म्य है तो वह ध्यान अन्यत्र प्रवृत्त नही हो सकता। तब तत्त्वार्थ सूत्रमें जो कहा है कि आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थानका चिन्तन धर्म्यध्यान है वह नही बनता; क्योकि आत्मा तो उत्तम क्षमा आदि धर्मरूपसे परिणत होनेसे उनसे सहित ही है। वह उनसे हटकर अन्यमे प्रवृत्त होता नहीं। यदि कहोगे कि धर्मसे युक्तताका नाम धर्म्य है तो शुक्लध्यान भी धर्मसे युक्त होनेसे धर्म्यध्यान कहलायेगा।

समाधान—रूढ़िशब्दोंमें कहीपर होनेवाली क्रियाको लेकर शब्दकी मात्र व्युत्पत्ति की जाती है किन्तु वह क्रिया सिद्धान्तरूप नहीं होती। जैसे आशु-शीघ्र गमन करनेसे अश्व शब्द निष्पन्न होता है। किन्तु जब वह घोड़ा बैठा होता है या सोता है तब भी उसे अश्व (घोडा) ही कहते है। तथा गरुड़ वगैरह तेज चलते है किन्तु उन्हे अश्व नही कहते। उसी तरह यहाँ भी धर्म शब्दसे शुक्लध्यान नहीं कहा जाता। तथा उत्तम क्षमा आदि धर्मो से भिन्न आज्ञाविचय आदिको धर्म्य कहा जाता है।

शंका—ध्यान किसे कहते हैं ?

समाधान—तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा है उत्तम संहनन वालेके एकाग्रचिन्ता निरोधको ध्यान

निरोधो ध्यानम्' [त० सू० ९।२७] इति चेत् षट्सु संहननेष्वाद्यं त्रितयं संहननं च वज्रर्षभनाराचसंहननं, वज्रनाराचसंहनन, नाराचसंहननमिति । तेषु त्रिषु एकं संहननं यस्य स उत्तमसंहननस्तस्य एकमग्रं मुखमस्येत्ये-काग्रे यश्चिन्तानिरोधः स ध्यानमित्युच्यते । ननु चिन्तानिरोध. चिन्ताया अभावस्तस्य का एकमुखता, कथं वा कर्मणां भावे अभावे च निमित्तता । आर्तरौद्रयोरशुभकर्मनिमित्ततेष्यते । इतरयोस्तु शुभकर्मणां निमित्तता निर्जरायाश्च हेतुतेष्टा । अत्रोच्यते—न निरोधशब्दोऽत्राभाववाची किंतु रोधवचनो यथा मूत्रनिरोध इति । ननु च परिस्पन्दवतो निरोधो भवति । चिन्तायास्तु को निरोध इत्यत्रोच्यते । '**केचिद्वदन्ति**' नानार्थावलम्बनेन चिन्ता परिस्पदवती तस्या एकस्मिन्नग्रे नियमश्चिन्तानिरोध इति त इदं [2]प्रष्टव्या । नानार्थाश्रया चिन्ता सा कथमेकत्रैव प्रवर्तते ? एकत्रैव चेत् प्रवृत्ता नानार्थावलम्बनं परिस्पन्दं नासादयतीति निरोधवाचो युक्तिरसंगता, '**तस्मादेवमत्र व्याख्यानं [3]चिन्ताशब्देन चैतन्यमुच्यते तच्च चैतन्यमन्यमन्यं वार्थमवगच्छता ज्ञानपर्यायरूपेण वर्तत**' इति परिस्पन्दवत्तस्य निरोधो नाम एकत्रैव विषये प्रवृत्तिस्तथा हि य एकत्रैव वर्तते स तत्र निरुद्ध इति भण्यते । उत्तमसंहननप्रयोगादेवार्त्तरौद्रयोरनुत्तमसंहननेषु तिर्यङ्मानवेषु प्रवृत्तिर्न स्यात् । तेन तद्धयानाव-लम्बनो गतिविभागो न स्यात्तेषामनुभवविरोधश्चेदानीतनानामपि तयोर्वृत्तेः सूत्रान्तरविरोधश्च "**तदविरतदेश-**

कहते है । छह संहननोंमेसे आदिके तीन संहनन वज्रर्षभ नाराच संहनन, वज्रनाराच संहनन और नाराच सहनन उत्तम है । इनमेंसे एक संहनन जिसके हो उसे उत्तम सहनन कहते हैं । उसके एक है अग्र अर्थात् मुख जिसका उस एकाग्रमें जो चिन्ताका निरोध है वह ध्यान है ।

शङ्का—चिन्ता निरोधका अर्थ होता है चिन्ताका अभाव । अभाव एक मुख कैसा ? तथा अभाव कर्मो के भाव या अभावमें निमित्त कैसे हो सकता है ? आगममें आर्तध्यान और रौद्रध्यानको अशुभ कर्मो के आस्रवबन्धमें निमित्त कहा है । तथा धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानको शुभ कार्यो मे निमित्त कहा है तथा निर्जराका भी हेतु कहा है ।

समाधान—चिन्ता निरोधमे निरोध शब्दका अर्थ अभाव नहीं है किन्तु उसका अर्थ है रोकना । जैसे मूत्रनिरोध अर्थात् मूत्रको रोकना ।

शङ्का—जिसमें हलन चलन होता है उसका निरोध होता है चिन्ता का निरोध कैसा ?

समाधान—कुछ आचार्य कहते हैं, नाना अर्थो का अवलम्बन करनेसे चिन्ता हलन चलन रूप होती है । उसको एक विषयमें नियमित करना चिन्ता निरोध है । उनसे यह पूछना है कि जब चिन्ता नाना अर्थो का आश्रय लेनेवाली है तो वह एक ही स्थानमें कैसे रुक सकती है ? यदि वह एक ही स्थानमें रुक सकती है तो नाना अर्थो के अवलम्बन रूप परिस्पन्द वाली नही हो सकती । इसलिये उसका निरोध कहना असंगत है । इसलिये चिन्तानिरोधका अर्थ ऐसा करना चाहिये—चिति धातुसे चिन्ता शब्द बना है उसीसे चैतन्य भी बना है । अत: चिन्ता शब्दसे यहाँ चैतन्य कहा है । वह चैतन्य अन्य-अन्य पदार्थो को जानते हुए ज्ञानपर्याय रूपसे वर्तन करता है अतः वह परिस्पन्द वाला है । उसका निरोध अर्थात् एक ही विषयमे प्रवृत्ति । क्योंकि जो एक ही विषयमें प्रवृत्ति करता है उसे वहीं निरुद्ध कहा जाता है ।

शङ्का—ध्यानके लक्षणमे 'उत्तम संहनन' विशेषणका प्रयोग करनेसे अनुत्तम संहननवाले तिर्यञ्चो और मनुष्योंमें आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान नहीं हो सकेंगे । ऐसा होनेसे उन ध्यानोको लेकर जो गतिका विभाग किया है वह नहीं बनेगा । तथा ऐसा कहना अनुभवसे भी विरुद्ध है

---

१. सर्वार्थसिद्धि ९।२७ । २. द्रष्टव्याः अ०, आ० । ३. चितिशब्देन—अ० ।

विरतप्रमत्तसंयतानां" "**हिंसानृतस्तेयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयो**"रिति [त० सू० ९।३५] गुणस्थान-मात्राश्रयणेनैव **स्वामिनिर्देशकृतत्वात्** ।

अत्र प्रतिविधीयते— निर्जराहेतुतया विकल्पे ध्यानेषु तत्प्रस्तुते युक्त साक्षात् मुक्त्यङ्गं ध्यानं निर्देष्टुमिति मन्यमानेन उत्तमसंहननग्रहणं कृत **सूत्रकारेण** । यद्येव आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानीति सूत्रमुत्तर नोपपद्यते न निर्जरा-हेतुतास्त्यार्तरौद्रयोरिति । अत्रोच्यते '**उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमितीदं सूत्रं**' मुख्यं ध्यानं मुक्त्यङ्गमुद्दिश्य प्रवृत्तमुत्तरं तु सूत्र**मार्तरौद्रधर्म्यशुक्लानीत्येत**देकाग्रचिन्तानिरोधसामान्यान्तर्भूतं अनभिमतमपि ध्यानं निरूपयति । प्रस्तुतस्यैव ध्यानस्य अनभिमतध्यानविविक्तरूपमधिगमयितुमत प्रासगिकयो आर्त-रौद्रयोरुत्तरन्यास इति न दोष । अथवोत्तमसंहननग्रहण वीर्यातिशयवत आत्मन उपलक्षण, उत्तमसंहननस्य वीर्यातिशयवतो आत्मनो यदेकवस्तुनिष्ठं ध्यान तत् ध्यानमिति सूत्रार्थ ॥ '**सुक्कं च चदुविधं**' शुक्ल च ध्यानं चतुर्विधं ध्यान क्लेशहरं ससारदुःखभीरु चतुर्गतिपरावर्तनेन यानि दुःखानि तेभ्यो भीत । '**दोण्णि वि**' द्वे '**झाणाणि**' ध्याने धर्म्यशुक्ले '**सो**' क्षपक '**झादि**' ध्यायति ॥१६९४॥

ण परीसहेहिं संताविदो वि सो झाइ अट्टरुद्दाणि ।
सुट्ठुवहाणे सुद्धं पि अट्टरुद्दा वि णासंति ॥१६९५॥

'**ण परिस्सहेहिं**' स क्षपक '**परिस्सहेहिं**' परीषहै । '**संताविदो वि**' बाधितोऽपि '**अट्टरुद्दाणि**' आर्तं

क्योंकि आजके मनुष्योके भी आर्त और रौद्रध्यान होते है। तथा उक्त कथनका विरोध अन्य सूत्रोसे भी होता है। क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रमे ही गुणस्थान मात्रका आश्रय लेकर आर्त और रौद्रध्यानके स्वामियोका कथन किया है। यथा—आर्तध्यान अविरत, देशविरत और प्रमत्तसयतो के होता है। रौद्रध्यान अविरत और देशविरतके होता है।

समाधान—तत्त्वार्थसूत्रकारने नौवे अध्यायमे निर्जराके कारणोका विवेचन करते हुए जब ध्यानका वर्णन किया तो 'साक्षात् मुक्तिकारण ध्यानका निर्देश करना उचित है' ऐसा मानकर ध्यानके लक्षणमे उत्तम संहननपदका ग्रहण किया है।

शंका—यदि ऐसा है तो 'आर्त रौद्र धर्म और शुक्ल' ये चार ध्यान है ऐसा सूत्र नही कहना चाहिये था क्योकि आर्त रौद्र निर्जराके कारण नही है।

समाधान—'उत्तम सहनन' इत्यादि सूत्र जो मुख्य ध्यान मुक्तिके कारण हैं उनको लक्ष्य करके रचा गया है। आगेका सूत्र, जिसमे ध्यानके चार भेदोके नाम गिनाये हैं, एकाग्र चिन्ता निरोध सामान्यमे अन्तर्भूत सब ध्यानोको बतलाता है। अर्थात् आर्त रौद्रमे भी ध्यान सामान्यका लक्षण घटित होता है इसलिये ध्यानके भेदोंमे उनको गिनाया है। यद्यपि वे मोक्षके कारण नही हैं। अत अनिष्ट ध्यानोसे भिन्न प्रस्तुत धर्म्य शुक्लध्यानोका ही स्वरूप बतलानेके लिये सूत्रकारने आर्त और रौद्रध्यानोका कथन किया है। अथवा उत्तम सहनन पद अतिशय वीर्यशाली आत्माका उपलक्षण है। उत्तमसहनन अर्थात् अतिशय वीर्यसे विशिष्ट आत्माके जो एक वस्तुनिष्ठ ध्यान होता है वही ध्यान है, ऐसा उस सूत्रका अर्थ होता है। संसारसे भीत क्षपक धर्म्य और शुक्ल-ध्यानोको ध्याता है ॥१६९४॥

गा०—वह क्षपक परीषहोंसे पीड़ित होनेपर भी आर्त और रौद्रध्यान नही करता। क्योंकि

रौद्रं च 'ण झाइ' ना ध्याति । 'सुट्ठुवहाणे' सुष्ठु उपधाने । सुद्धमपि 'अट्टरुद्दाणि णासंति' आर्तरौद्रध्याने नाशयतः ॥१६९५॥

अट्टे चउप्पयारे रुद्दे य चउव्विधे य जे भेदा ।
ते सव्वे परिजाणदि संथारगओ तओ खवओ ॥१६९६॥

'अट्टे चदुप्पयारे' आर्ते चतुःप्रकारे, 'जे भेदा रुद्दे य चदुव्विधे' ये भेदाः । 'ते सव्वे परिजाणदि' तान् सर्वान् विजानाति । 'संथारगदो' संस्तरगतः । 'तओ खवगो' असौ क्षपकः । यो यत् परिहरेच्छुस्स कथं तत्स्वतोऽनवबुध्यमानो नियोगतः परिहरेदिच्छेद्[1] वार्थे आर्तरौद्रं परिहरन् तस्मात् ज्ञातव्ये ते इति दर्शयति ॥१६९६॥

अमणुण्णसंपओगे इट्ठविओए परिस्सहणिदाणे ।
अट्टं कसायसहियं झाणं भणियं समासेण ॥१६९७॥
तेणिक्कमोसहिंसारक्खणेसु तह चेव छव्विहारंभे ।
रुद्दं कसायसहियं झाणं भणियं समासेण ॥१६९८॥
अवहट्टु अट्टरुद्दे महाभये सुग्गदीए पच्चूहे ।
धम्मे सुक्के य सदा होदि समण्णागदमदी सो ॥१६९९॥

'अवहट्टु' अपहृत्य । 'अट्टरुद्दे' आर्तरौद्रे । महतो भयस्य हेतुत्वान्महाभये । 'सुग्गदीए पच्चूहे' सुगतेर्विघ्नभूते । 'धम्मे सुक्के वा' धर्म्ये शुक्ले वा ध्यानेऽसौ क्षपकः । 'समण्णागदमदी सो होदि' सम्यगनुपरतमतिर्भवति ॥१६९७॥१६९८॥१६९९॥

आर्त और रौद्र ध्यान सुष्ठु उपधान अर्थात् संक्लेशरहित परिणामोंसे, विशुद्ध अर्थात् कर्मोंको निर्जीर्ण करनेकी शक्तिसहित भी समीचीन ध्यानको नष्ट कर देते हैं ॥१६९५॥

गा०—आर्तध्यानके जो चार भेद हैं और रौद्रध्यानके जो चार भेद है वे सब सस्तरपर आरूढ क्षपक जानता है। जो जिसको त्यागना चाहता है वह उसको यदि यथार्थरूपसे नहीं जानता तो कैसे उसका त्याग कर सकता है। अतः क्षपकको आर्त और रौद्र ध्यानोंका स्वरूप जानना चाहिये। इसलिये उनको भी बतलाते हैं ॥१६९६॥

गा०—अनिष्ट संयोग, इष्टवियोग, परीषह (वेदना) और निदान ये संक्षेपमें कषायसहित आर्तध्यानके चार भेद हैं ॥१६९७॥

गा०—चोरी, झूठ, और हिंसाका रक्षण तथा छह प्रकारके आरम्भको लेकर संक्षेपसे कषाय सहित रौद्रध्यानके चार भेद हैं ॥१६९८॥

गा०—सुगतिमें विघ्न डालनेवाले और महान् भयके कारण होनेसे महाभयरूप रौद्र और आर्तध्यानको त्यागकर वह सम्यक् बुद्धिसम्पन्न क्षपक धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानको ध्याता है ॥१६९९॥

---

1. दिच्छदि वार्य —अ० ।

किमर्थमसौ ध्यानयोः शुभयोर्वर्तत इत्याशङ्कायां ध्यानप्रवृत्तौ कारणमाचष्टे—

इंदियकसायजोगणिरोधं इच्छं च णिज्जरं विउलं ।
चित्तस्स य वसियत्तं मग्गादु अविप्पणासं च ॥१७००॥

'इंदियकसायजोगणिरोधं' स्पर्शादिरूपजात उपयोग इन्द्रियशब्देनोच्यते । कषाया. क्रोधादयस्तै र्योग सम्बन्धस्तस्य निरोधं निवारणामिच्छन्निर्जरां च विपुलामिच्छन्, वस्तुयाथात्म्यसमाहितचित्तस्य नेन्द्रियविषय-जन्योपयोगसंभव., कषायाणां चोत्पत्तिः **'चित्तस्स य वसियत्तं'** चित्तस्य स्ववशत्व इच्छन् स्वेष्टे विषये चित्तमसकृत्स्थापयतोऽनिष्टाच्च व्यावर्तयत स्ववश भवति चित्त । **'मग्गादो अविप्पणासं च'** मार्गाद्रत्नत्रयाद-विप्रणाश च वांछन्, अशुभध्यानप्रवृत्तो रत्नत्रयात्प्रच्युतो भवामीति ध्याने प्रयतते ॥१७००॥

ध्यानपरिकरप्रतिपादनायोत्तरगाथा—

किंचिवि दिट्ठिमुपावत्तइत्तु झाणे णिरुद्धदिट्ठीओ ।
अप्पाणंहि सदिं संधित्ता संसारमोक्खट्ठं ॥१७०१॥

'किंचिवि दिट्ठिमुपावत्तइत्तु' बाह्यद्रव्यालोकात् किंचिच्चक्षुर्व्यावर्तयित्वा । **'झाणे णिरुद्धदिट्ठीओ'** एकविषये परोक्षज्ञाने निरुद्धचैतन्य । [1]दृष्टिनिमित्ते हि चैतन्ये दृष्टिशब्दोऽत्र युक्त । **'अप्पाणंहि'** आत्मनि । **'सदिं'** स्मृतिं । **'संधित्ता'** सधाय । स्मृतिशब्देनात्र श्रुतज्ञानेनावगतस्यार्थस्य स्मरणमुच्यते, **'संसारमोक्खट्ठं'** संसारविमुक्तये ॥१७०१॥

वह क्षपक किसलिये शुभ ध्यान करता है ? इस शंकाके उत्तरमे उसके कारण कहते है—

गा०—इन्द्रिय और कषायोंसे सम्बन्धको रोकने, अत्यधिक निर्जराको चाहने, चित्तको वशमें करने और रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गको नष्ट न होने देनेके लिये क्षपक शुभ ध्यान ही करता है ॥१७००॥

टी०—यहाँ इन्द्रिय शब्दसे स्पर्श आदिसे उत्पन्न हुआ उपयोग कहा है । कषायसे क्रोधादि लिये हैं । जिसका चित्त वस्तुके यथार्थ स्वरूपसे समाधान युक्त होता है उसकी प्रवृत्ति इन्द्रियोंके विषयसे उत्पन्न हुए उपयोगकी ओर नही होती और न कषायोको उत्पत्ति होती है । तथा जो अपने इष्ट विषयमें चित्तको बार-बार स्थापित करता है और अनिष्टसे चित्तको हटाता है उसका चित्त अपने वशमे रहता है । क्षपक जानता है कि यदि मै अशुभ ध्यानमे लगा तो रत्नत्रयसे च्युत हो जाऊँगा । इन कारणोंसे वह शुभ ध्यान करता है ॥१७००॥

आगे ध्यानकी सामग्री कहते हैं—

गा०-टी०—बाह्य द्रव्यको देखनेकी ओरसे आँखोंको किञ्चित् हटाकर अर्थात् नाकके अग्र भागपर दृष्टिको स्थिर करके, एक विषयक परोक्षज्ञानमे चैतन्यको रोककर शुद्ध चिद्रूप अपनी आत्मामे स्मृतिका अनुसन्धान करे । गाथामे 'निरुद्ध दृष्टि' पद है । यहाँ दृष्टिमे निमित्त चैतन्यमें दृष्टि शब्दका प्रयोग किया है । और स्मृति शब्दसे श्रुतज्ञानके द्वारा जाने गये अर्थका स्मरण लिया है । अर्थात् दृष्टिको नाकके अग्रभागमें स्थापित करके किसी एक परोक्ष वस्तु विषयक

१ चैतन्यदृष्टि निमित्ते शब्दोऽत्र युक्त -अ० आ० । -चैतन्य. दृष्टिनिमित्ते चैतन्ये दृष्टिशब्दो मूलारा० ।

पच्चाहरित्तु विसयेहिं इंदियाइं मणं च तेहिंतो ।
अप्पाणम्मि मणं तं जोगं पणिधाय धारेदि ॥१७०२॥

'पच्चाहरित्तु' प्रत्याहृत्य । **'विसयेहिं'** विषयेभ्य । **'इंदियाइं'** इन्द्रियाणि **'मणं च'** मनश्च व्यावर्त्य । **'तेहिंतो'** विषयेभ्य । **'मण तं धारेदि'** तन्मनो धारयति । क्व ? **'अप्पाणंहि'** आत्मनि । **'जोगं'** योगं वीर्यान्तरायक्षयोपशमजवीर्यपरिणाम । **'पणिधाय'** प्रणिधाय स्थाप्य । एतदुक्तं भवति वीर्यपरिणामेन नोइंद्रियमतिं धारयतीति ॥१७०२॥

कृतमनोनिरोध. किं करोतीत्याशङ्कयाह—

एयग्गेण मणं रुंभिऊण धम्मं चउव्विहं झादि ।
अणापायविवागं विचयं संठाणविचयं च ॥१७०३॥

'एयग्गेण' एकध्येयमुखतया । **'मणं रुंभिदूण'** मनो निरुध्य । **'धम्मं'** धर्म्यं वस्तुस्वभाव । **'चदुव्विहं'** चतुर्विध चतुर्विकल्प । **'झादि'** ध्यायति । अभ्यन्तरपरिकरोऽयमुक्त **सूत्रकारेण** । बाह्य परिकर उच्यते । पर्वतगुहायां, गिरिकंदरे, दर्यां, तरुकोटरे, नदीपुलिने, पितृवने, जीर्णोद्याने, शून्यागारे वा व्यालमृगाणां पशूना, पक्षिणा, मनुष्याणां वा ध्यानविघ्नकारिणा सन्निधानशून्ये, तत्रस्थैरागन्तुभिश्च जीवैर्वर्जिते, उष्णशीतातपवातादिविरहिते, निरस्तेन्द्रियमनोविक्षेपहेतौ, शुचावनुकूलस्पर्शे भूभागे मन्द-मन्द प्राणापानप्रचार नाभेरूर्ध्वं हृदि ललाटेऽन्यत्र वा मनोवृत्तिं यथापरिचयं प्रणिदधातीति बाह्यपरिकर । **'आणापायविपाकविचये'** आज्ञा-

---

ज्ञानमे मनको लगाकर श्रुतसे जाने हुए विषयोंका स्मरण करते हुए आत्मामे लीन हो। यह ध्यान ससारसे छूटनेके लिये किया जाता है ॥१७०१॥

गा०—विषयोंसे इन्द्रियोको और मनको हटाकर वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए वीर्य परिणामको स्थापित करके आत्मामे मनको लगाता है। अर्थात् वीर्य परिणामसे अपनी शुद्ध आत्मामे मनको धारण करता है ॥१७०२॥

मनको रोककर क्या करता है, यह कहते हैं—

गा०—एक विषयमे मनको रोककर आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और सस्थानविचय इन चार प्रकारके धर्मध्यानको ध्याता है ॥१७०३॥

टी०—ग्रंथकारने यह ध्यानकी अभ्यन्तर सामग्री कही है। टीकाकारने बाह्य सामग्री इस प्रकार कही है—

पर्वतकी गुफामे, या पहाड़की कन्दरामे, या वृक्षके कोटरमे या नदीके किनारे या स्मशान में या उजडे हुए उद्यानमें या शून्य मकानमे, जहाँ ध्यानमे विघ्न करनेवाले सर्प मृग आदि पशु पक्षी और मनुष्योंका वास न हो, तथा वहाँ रहनेवाले और इधर-उधरसे आनेवाले जीव जन्तु न हों, गर्म या सर्द, घाम और वायु आदिसे रहित हो, जहाँ इन्द्रिय और मनको चंचल करनेके साधन न हों। ऐसे स्थानमें जो जमीनका भाग साफ सुथरा हो, उसका स्पर्श अनुकूल हो, उसपर स्थित होकर धीरे-धीरे श्वास उच्छ्वास लेते हुए नाभिसे ऊपर हृदयमे या मस्तकपर अथवा अन्य स्थानमें अपने मनोव्यापारको रोकता है। यह ध्यानकी बाह्य सामग्री है। ऐसा करके चार प्रकारका धर्मध्यान करता है। उनमेंसे आज्ञाविचय नामक धर्मध्यानका स्वरूप कहते हैं—

विचयमपायविचयं, विपाकविचयं, 'संठाणविचयं च' संस्थानविचयं च । तत्राज्ञाविचयो निरूप्यते—कर्माणि समूलोत्तरप्रकृतीनि तेषां चतुर्विधो बन्धपर्याय उदयफलविकल्प. जीवद्रव्य मुक्त्यवस्थेत्येवमादीनामतीन्द्रियत्वात् श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षाभावात् बुद्धयतिशये असति दुरवबोध यदि नाम वस्तुतत्त्व तथापि सर्वज्ञज्ञान-प्रामाण्यात् आगमविषयतत्त्व तथैव नान्यथेति निश्चय सम्यग्दर्शनस्वभावत्वान्मोक्षहेतुरित्याज्ञाविचारनिश्चय-ज्ञानं आज्ञाविचयाख्यं धर्मध्यान । अन्ये तु वदंति स्वयमधिगतपदार्थतत्त्वस्य पर प्रतिपादयितुं सिद्धान्तनिरू-पितार्थप्रतिपत्तिहेतुभूतयुक्तिगवेषणावहितचिन्ता सर्वज्ञज्ञानप्रकाशनपरा अनया युक्त्या इयं सर्वविदामाज्ञाव-बोधयितु शक्येति प्रवर्तमानत्वादाज्ञाविचय इत्युच्यत इति । अनादौ ससारे स्वैरमनोवाक्कायवृत्तेर्मम अशुभ-मनोवाक्कायेभ्योऽपाय कथं स्यादिति अपाये विचयो मीमासास्मिन्नस्तीत्यपायविचय द्वितीय धर्मध्यानं । जात्यन्धसस्थानीया मिथ्यादृष्टय समीचीनमुक्तिमार्गापरिज्ञानात् दूरमेवापयन्ति मार्गादिति सन्मार्गापाये प्राणिना विचयो विचारो यस्मिंस्तदपायविचय इत्युच्यत इति । मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रेभ्य कथमिमे प्राणिनोऽपेयुरिति स्मृतिसमन्वाहारोऽपायविचय ।। विपाकविचय उच्यते—समूलोत्तरप्रकृतीनां कर्मणामष्टप्रकाराणा चतुर्विध-बन्धपर्यायाणां मधुरकटुकविपाकाना तीव्रमध्यमदपरिणामप्रपञ्चकृतानुभवविशेषाणा द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षाणा एतासु गतिषु योनिषु वा इत्थभूत फलमिति विपाके कर्मफले विचयो विचारोऽस्मिन्निति विपाकविचयः । वेत्रासनझल्लरीमृदगसंस्थानो लोक इति लोकत्रयसस्थाने विचयो विचारोऽस्मिन्निति सस्थानविचयता ।।१७०३।।

मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृतियो सहित कर्म, उनके चार प्रकारके बन्ध, उदय और फलके भेद, जीव द्रव्य, मुक्ति अवस्था ये सब और इसी प्रकारके अन्य पदार्थ अतीन्द्रिय है। तथा श्रुत-ज्ञानावरणके क्षयोपशमका प्रकर्ष न होनेसे विशेष बुद्धि भी नही है। ऐसी अवस्थामे यद्यपि वस्तु तत्त्व समझमे नही आता तथापि सर्वज्ञके ज्ञानके प्रमाण होनेसे आगममे जो तत्त्व जैसा कहा है, वह वैसा ही है, अन्य रूप नही है, इस प्रकारका निश्चय सम्यग्दर्शन रूप होनेसे मोक्षका कारण है। इस प्रकार सर्वज्ञकी आज्ञाके विचारका निश्चयरूप ज्ञान आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान है। अन्य कुछ आचार्य ऐसा कहते है—स्वयको तो पदार्थों और तत्त्वोका सम्यग्ज्ञान है। किन्तु दूसरोको समझानेके लिये सिद्धान्तमे कहे गये अर्थोंका ज्ञान करानेमे हेतुभूत युक्तियोकी खोजमे मनको लगाना कि इस युक्तिके द्वारा सर्वज्ञकी आज्ञाको समझाया जा सकता है, इसे भी सर्वज्ञकी आज्ञाके प्रकाशनमे सलग्न होनेसे आज्ञाविचय धर्मध्यान कहते हैं। इस अनादि संसारमे स्वच्छन्द मन वचन कायकी प्रवृत्तिमेसे मेरा अशुभ मन वचन कायसे अपाय अर्थात् छुटकारा कैसे हो इस प्रकार अपायका विचय अर्थात् विचार जिसमे हो वह अपायविचय नामक दूसरा धर्मध्यान है। जन्मसे अन्धे मनुष्योके समान मिथ्यादृष्टि जीव समीचीन मोक्षमार्गको न जाननेसे मोक्षमार्गसे दूर ही रहते है। इस प्रकार सन्मार्गसे प्राणियोके भटकनेका विचय अर्थात् विचार जिसमे हो उसे अपायविचय कहते हैं। अथवा ससारके ये प्राणी मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रसे कैसे अलग हो, कैसे उसे छोड़ें इस प्रकार बार-बार चिन्तन करना अपायविचय है। विपाक-विचयका स्वरूप कहते हैं—मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृति सहित आठ प्रकारके कर्मोंका और उनके चार प्रकारके बन्धोका तथा द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षासे तीव्र मध्य और मन्द परिणामों के विस्तारसे होनेवाले विपाकका तथा उनके मधुर और कटुक फलोका कि इन गतियोमे अथवा योनियोंमें इस प्रकारका फल होता है। इस तरह विपाक अर्थात् कर्मफलका विचय अर्थात् विचार जिसमे हो वह विपाकविचय धर्मध्यान है। अधोलोकका आकार वेत्रासनके समान है, मध्यलोक-

धर्म्मध्यानस्य लक्षणं निर्दिशति—

धम्मस्स लक्खणं से अज्जवलहुगत्तमद्दवुवदेसा ।
उवदेसणा य सुत्ते णिसग्गजाओ रुचीओ दे ॥१७०४॥

'**धम्मस्स लक्खणं से**' से तस्य । '**धम्मस्स**' धर्मस्य ध्यानस्य । '**लक्खणं**' लक्षण । लक्ष्यते धर्म्यं ध्यानं येन तल्लक्षणं । '**अज्जवलहुगत्तमद्दवमुवदेसा**' आकृष्टाम्लद्वयतन्तुवत् कुटिलताविरह आर्जवं । '**लघुगत्तं**' लघुता निस्संगता जात्याद्यष्टविधाभिमानाभावो मार्दवं । उपेत्य जिनमतं देशनं कथनमुपदेश हितोपदेश इति यावत् । आर्जवादिभि कार्यैर्लक्ष्यते धर्म्मध्यानमिति आर्जवादिकः लक्षणं । न ह्यार्तरौद्रे आर्जवादिकं सपाद-यत' । यदार्जवादिकं परिणाममात्मन. करोति तद्धर्म्यध्यानमिति लक्षणभावः । अथवा आर्जवादिपरिणाम-सद्भाव एव धर्म्यध्यान प्रवर्तते नासत्यार्जवादौ । नहि मानमायालोभकषायाविष्टो धर्मे प्रवर्तते, तेनार्जवादिकं कारण तेन लक्ष्यते धर्म्यमिति लक्षणतार्जवादीनाम् ॥१७०४॥

आलंबणं च वायण पुच्छण परिवट्टणाणुपेहाओ ।
धम्मस्स तेण अविरुद्धाओ सव्वाणुपेहाओ ॥१७०५॥

आलम्बनप्रतिपादनायोत्तरगाथा । '**आलम्बणं च**' आश्रयश्च । कस्स ? '**धम्मस्स**' धर्मध्यानस्य, '**वायण पुच्छण परिवट्टणाणुपेहाओ**' वाचना प्रश्न', परिवर्तनमनुप्रेक्षेति स्वाध्यायविकल्पाः । वाचनादिस्वाध्यायाभावे

का आकार झल्लरी गोल झांझके समान और ऊर्ध्वलोकका आकार मृदंगके समान है । इस प्रकार तीनों लोकोंके सस्थानका विचय अर्थात् विचार जिसमें हो वह संस्थानविचय धर्मध्यान है॥१७०३॥

धर्मध्यानका लक्षण कहते हैं—

गा०—आर्जव, लघुता, मार्दव, उपदेश और जिनागममे स्वाभाविक रुचि ये धर्मध्यानके लक्षण है ॥१७०४॥

टी०—जिससे धर्मध्यानकी पहचान होती है वह उसका लक्षण है । एक धागेको दोनों ओरसे ताननेपर जैसे उसमें कुटिलता नही रहती, सरलता रहती है उसी प्रकारकी सरलताको आर्जव कहते हैं । लघुता अनासक्ति और निर्लोभताको कहते है । जाति आदि आठ बातोका गर्व न करना मार्दव है । 'उप' अर्थात् किसीके पास जाकर 'देश' अर्थात् जिनमतका कथन करना उपदेश है अर्थात् हितोपदेश है । आर्जव आदि कार्यों से धर्मध्यान पहचाना जाता है इसलिये आर्जव आदि धर्मध्यानके लक्षण हैं । आर्त और रौद्रध्यान वालोको आर्जव आदि नहीं होते । जो आत्माके आर्जव आदिरूप परिणाम करता है वह धर्मध्यान है । इस प्रकार आर्जवादि धर्मध्यानके लक्षण हैं । अथवा आर्जव आदि परिणामके होनेपर ही धर्मध्यान होता है, आर्जव आदिके अभावमें नहीं होता । जो मान, माया और लोभसे घिरा रहता है वह धर्ममें प्रवृत्ति नहीं करता । अत: आर्जवादिक धर्मध्यानके कारण हैं उनसे धर्मध्यानकी पहचान होती है । इसीलिये आर्जव आदि धर्मध्यानके लक्षण हैं ॥१७०४॥

आगेकी गाथासे धर्मध्यानके आलम्बन कहते हैं—

गा०—वाचना, पृच्छना, परिवर्तन और अनुप्रेक्षा ये धर्मध्यानके आलम्बन है । तथा सब अनुप्रेक्षा धमध्यानके अविरुद्ध हैं ॥१७०५॥

वस्तुयाथात्म्यज्ञानमेव नास्तीति ध्यानाभाव । स तु स्वाध्यायो भवति ज्ञानमविचलं ध्यानसंज्ञितमित्यालम्बनता स्वाध्यायस्य । **'तेण'** तेन धर्मेण ध्यानेनाविरुद्धा **'सव्वाणुपेहाओ'** सर्वानुप्रेक्षा एकदैकत्राश्रये वृत्तेरविरोध.। अनित्यतादिवस्तुस्वभावानुप्रेक्षणमनुप्रेक्षासाबालम्बन ध्यानमिति । एतेनानुप्रेक्षाया ध्यानेऽन्त.पातित्वमाचक्षाणेनानुप्रेक्षोपन्यासे बीजाधानं कृतम् ॥१७०५॥

पूर्वोक्तान् धर्मस्य चतुरो भेदान् व्याचष्टे चतसृभिर्गाथाभिः । तत्राज्ञाविचय निरूपयति—

पंचेव अत्थिकाया छज्जीवणिकाए दव्वमण्णे य ।
आणागेज्झे भावे आणाविचएण विचिणादि ॥१७०६॥

'पंचेव अत्थिकाया' पञ्चास्तिकाया जीवा पुद्गलधर्मास्तिकाया धर्मास्तिकाया अधर्मास्तिकाया आकाशमिति । तान् **'छज्जीवणिकायो'** षड्जीवनिकायान्[1] **'दव्वं'** कालाख्य द्रव्य **'अण्णे य'** अन्याश्च कर्मबन्धमोक्षादीन् । **'आणागेज्झे भावे'** सर्वज्ञाज्ञयागम्यान्भावान् । **'आणाविचयेण'** आज्ञाविचयाख्येन धर्मध्यानेन **'विचिणादि'** विचारयति । सर्वविद्भिरपास्तरागद्वेषै. परमकारुणिकै[2]यथामी निरूपितास्ते तथैवेति चिन्ताप्रबन्ध आज्ञाविचय इति यावत् । **'आणापायविवागविचये'** इत्यस्मिन्पाठे अपायविचयो नाम धर्मध्यानमिति गाथापूर्वार्धेन व्याचष्टे ॥१७०६॥

कल्लाणपावगाणउपाये विचिणादि जिणमदमुवेच्च ।
विचिणादि वा अवाए जीवाण सुभे य असुभे य ॥१७०७॥

'कल्लाणपावगाण उपाये' तीर्थंकरपददायकाना दर्शनविशुद्ध्यादीनामुपायान् निःशङ्कादीन् विचिनोति

टी०—वाचना, प्रश्न करना, पाठ करना, अर्थका चिन्तन करना ये सब स्वाध्यायके भेद हैं। यदि वाचना आदि स्वाध्याय न किया जाये तो उसके अभावमे वस्तुके यथार्थस्वरूपका ज्ञान ही न होनेसे ध्यानका अभाव प्राप्त होता है। वह स्वाध्याय ज्ञान रूप है और निश्चल ज्ञानका नाम ध्यान है। अत स्वाध्याय ध्यानका आलम्बन है। तथा सब अनुप्रेक्षाएँ एक समयमे एक आश्रयमे रह सकती हैं अत वे भी धर्मध्यानके अनुकूल हैं। वस्तुके अनित्य आदि स्वभावका चिन्तन अनुप्रेक्षा है अत वे भी ध्यानकी आलम्बन है। इस प्रकार ग्रन्थकारने अनुप्रेक्षाओको ध्यानमें अन्तर्भूत कहकर आगे अनुप्रेक्षाओके कथन करनेका बीज बो दिया है ॥१७०५॥

आगे चार गाथाओसे धर्मध्यानके चार भेदोको कहते है। सबसे प्रथम आज्ञाविचयको कहते हैं—

गा०-टी०—पाँच अस्तिकाय हैं—जीव, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश। इन अस्तिकायोंको, तथा पाँच प्रकारके स्थावरकाय और त्रसकाय इन छह जीवनिकायोको, कालद्रव्यको तथा अन्य कर्मबन्ध मोक्ष आदिको जो सर्वज्ञकी आज्ञासे ही गम्य है, आज्ञाविचय नामक धर्मध्यानके द्वारा विचार करता है। परम दयालु और राग-द्वेषसे रहित सर्वज्ञ देवने जिस रूपमे इन्हे कहा है वे उसी रूप है। इस प्रकारके चिन्तनको आज्ञाविचय धर्मध्यान कहते है ॥१७०६॥

गा०—तीर्थङ्कर पदको देनेवाले दर्शनविशुद्धि आदिके उपाय निःशकित आदिका विचार

१. यान् कालदव्व कालाख्य -अ० मु०। २. यथामीति -आ०।

'जिनमतं' जिनकथितं उपदेशं। **'विचिणादि वा अपाये जीवाणं सुभे य असुभे य'** जीवानां शुभाशुभकर्मविषयानपायान् तान्विचारयति। एतदुक्तं भवति शुभाशुभकर्मणः कथमपायो भवति जीवस्य इति चिन्ताप्रवाहोऽपायविचयो नाम। स्पष्टार्थोत्तरगाथा ॥१७०७॥

[1]एयाणेयभवगदं जीवाणं पुण्णपावकम्मफलं।
उदओदीरणसंकमबंधे मोक्खं च विचिणादि ॥१७०८॥
अह तिरियउड्ढलोए विचिणादि सपज्जए ससंठाणे।
एत्थे व अणुगदाओ अणुपेहाओ वि विचिणादि ॥१७०९॥

'अह तिरिय उड्ढलोए' ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकान्। **'विचिणादि'** विचारयति। कीदृग्भूतान्। **'सपज्जए'** सपर्ययान् संस्थानसहितान् सपर्यायत्रिभुवनसंस्थानविचारपरं संस्थानविचयाख्यं धर्मध्यानं। **'एत्थेव'** अत्रैव। **'अणुगदाओ'** अनुगता। **'अणुपेक्खाओ वि'** अनुप्रेक्षा अपि। **'विचिणादि'** विचारयति। अनित्यत्वादिस्वभावविचारं करोति धर्मध्याने इति कथितं भवति ॥१७०८॥१७०९॥

कास्ता अनुप्रेक्षा इत्याशंकायामध्रुवादीननुप्रेक्षान्निरूपयत्युत्तरप्रबन्धेन—

[2]अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णसंसारलोयमसुइत्तं।
आसवसंवरणिज्जर धम्मं बोधिं च चिंतिज्ज ॥१७१०॥

जिनभगवान्के द्वारा कथित उपदेशके अनुसार करता है। अथवा जीवोंके शुभ और अशुभ कर्मविषयक अपायोका विचार करता है। इसका अभिप्राय यह है कि जीव शुभ और अशुभ कर्मो से कैसे छूटे इस प्रकारका सतत चिन्तन अपायविचय है ॥१७०७॥

गा०—जीवोके एक भव या अनेक भव सम्बन्धी पुण्यकर्म और पापकर्मके फलका तथा उदय, उदीरणा, संक्रम, बन्ध और मोक्षका विचार करता है ॥१७०८॥

टी०—कर्मो के फल, उदय, उदीरणा, संक्रम, बन्ध तथा मोक्ष आदिका चिन्तन करना विपाकविचय धर्मध्यान है। क्रमसे कर्मो का अनुभवन होना उदय है और अक्रमसे कर्मो का फल देना उदीरणा है। अर्थात् जो कर्म उदयमे नही आ रहा है उसकी स्थितिको बलपूर्वक घटाकर कर्मका उदयमे लाना उदीरणा है। और एक कर्म प्रकृतिका अपनी सजातीय अन्य प्रकृतिरूप बदलना संक्रम है। इन सबका चिन्तन विपाकविचय धर्मध्यान है ॥१७०९॥

गा०—पर्याय अर्थात् भेद सहित तथा वेत्रासन, झल्लरी और मृदंगके समान आकार सहित ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोकका चिन्तन करना संस्थानविचय धर्मध्यान है। इसी सस्थानविचयमे सम्बद्ध अनुप्रेक्षाओंका भी विचार करता है अर्थात् धर्मध्यानमें ससारके अनित्यत्वादि स्वभावका विचार करता है ॥१७०९॥

आगे अध्रुव आदि अनुप्रेक्षाओका कथन करते हैं—

गा०—अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधि इन बारह अनुप्रेक्षाओंका चिन्तन करना चाहिये ॥१७१०॥

---

१ अ० प्रतौ गाथेयं नास्ति। २. एतां श्रीविजयो नेच्छति।

लोगो विलीयदि इमो फेणोव्व सदेवमाणुसतिरिक्खो ।
रिद्धीओ सव्वाओ सुविणयसंदंसणसमाओ ॥१७११॥

'लोगो विलीयदि इमो' लोको विलयमुपयाति । किमिव ? **'फेणोव्व'** फेनवत् । **'सदेवमाणुसतिरिक्खो'** देवैर्मानुषैस्तिर्यग्भिश्च समन्वितः । इत्यनेन लोकत्रयस्यापि विनाशितामिहिता । **'रिद्धीओ सव्वाओ'** ऋद्धयः सर्वाः । **'सुविणयसंदसणसमाओ'** स्वप्नज्ञानसमाः । ननु **'लोगो विलीयदि इमो'** इत्यनेन सर्वस्यानित्यता व्याख्याता, ऋद्धयावयोऽपि लोकान्तर्भूता इति किमर्थं भेदोपन्यास ? । अत्रोच्यते । समुदायस्यावयवात्मकस्यावयवानित्यतामन्तरेण तदनित्यता न सुखेनावगम्यत इति भिदोपन्यस्यते ॥१७१०॥१७११॥

द्रव्यगतो लोभो महान् प्राणभृतां तन्मूलत्वादिन्द्रियसुखस्य । प्राणानप्यय त्यजति द्रव्यनिमित्तमतस्तदनित्यतामेव प्रागुपदर्शयति निस्संगतामात्मनः संपादयितुं—

विज्जूव चंचलाइं दिट्ठपणट्ठाइं सव्वसोक्खाइं ।
जलबुब्बुदोव्व अधुवाणि हुंति सव्वाणि ठाणाणि ॥१७१२॥

'विज्जूव चंचलाइं' विद्युदिव चञ्चलानि, **'दिट्ठपणट्ठाइं'** दृष्टप्रणष्टानि, **'सव्वसोक्खाइं'** सर्वाणि सुखानि अभिमतरूपादिविषयपञ्चकस्य प्रपञ्चस्य सन्निधानादुपजातानि यानि च मनःसमुत्थानि सर्वेषां वा मानवानां तिरश्चां दिविजानां वा सुखानि सुखलम्पटतया जनः क्लेशाशनिशतनिपातमपि सहते, तानि च नीरभरविन[1]तसंभारगम्भीरधाराराववनीलनी[2]रदोदरपरिस्फुरत्तडिल्लतेव, एतेनानित्यतादोषोत्प्रकटनेन सासारिकसुखपराङ्मुखतोपायो निगदितः । **'जलबुब्बुदोव्व'** जलबुद्बुदवत् । **'अधुवाणि'** अध्रुवाणि । **'होंति'** भवन्ति ।

गा०-टी०—देव, मनुष्य और तिर्यञ्चोंके साथ यह लोक जलके फेनके समान विनाशको प्राप्त होता है। इससे तीनों लोकोंको विनाशशील कहा है। सब ऋद्धियाँ भी स्वप्नज्ञानके समान विनाशीक हैं।

शङ्का—'लोक विनाशशील है' इससे सबको अनित्य कह दिया है। ऋद्धि आदि भी लोकके अन्तर्भूत हैं। फिर अलगसे उनको विनाशी कहनेका क्या प्रयोजन है ?

समाधान—समुदाय अवयवात्मक है। अतः अवयवोंकी अनित्यताके बिना समुदायकी अनित्यताका ज्ञान सुखपूर्वक नहीं होता। इससे ऋद्धियोंको अलगसे अनित्य कहा है ॥१७११॥

प्राणियोंको द्रव्यका लोभ बहुत अधिक होता है, क्योंकि इन्द्रिय सुखका मूल द्रव्य है। इसीसे वह द्रव्यके लिये प्राणों तकको त्याग देता है। अतः आत्माको निःसंग बनानेके लिये प्रथम द्रव्यकी अनित्यता ही दर्शाते हैं—

गा०-टी०—इष्ट रूप आदि पाँच विषयोंके समूहके सम्बन्धसे उत्पन्न तथा मनसे उत्पन्न सब मनुष्यों तिर्यञ्चों और देवोंका सब सुख बिजलीके समान चपल है और देखते-देखते नष्ट होनेवाला है। आशय यह है कि मनुष्य सुखका लम्पटी होनेसे सैकड़ों वज्रपातोंके गिरनेसे होनेवाले कष्टको भी सहता है। किन्तु वे सब सुख जलके भारसे नम्र हुए गम्भीर धीर शब्द करने वाले नीले बादलोंके उदरमें चमकने वाली बिजुलीकी तरह हैं। इस अनित्यता दोषको प्रकट करनेसे सांसारिक सुखसे विमुख होनेका उपाय कहा है। तथा सब स्थान जलके बुलबुलेकी तरह अध्रुव हैं।

---

१. नतभभग —अ० । २. नीरदोषपरि —अ० ।

'ठाणाणि सव्वाणि' सर्वाणि स्थानानि । तिष्ठन्त्येतेषु जीवा इति स्थानानि ग्रामनगरपत्तनादीनि । इदं मदीयं स्थानं अत्राहं वसामीति मा कृथाः संकल्पं । तानि अनित्यानि नित्यबुद्धया परिगृहीतानि विनाशे सङ्क्लेशानानयन्तीति कथितं । अथवा तिष्ठन्त्यस्मिन्स्वकृतविचित्रकर्मोदयात्प्राणभृत इतीन्द्रत्व, चक्रलांछनत्व, गणाधिपतित्व वा एतानि स्थानान्यनित्यानि ॥१७१२॥

णावागदाव बहुगइपधाविदा हुंति सव्वसंबंधी ।
सव्वेसिंआसया वि अणिच्चा जह अब्भसंघाया ॥१७१३॥

'णावागदाव' जलयानपात्रारूढा इव 'बहुगदिपधाविदा हुंति सव्वसंबंधी' विचित्रशुभाशुभपरिणामोपात्तगतिकर्मवशात्दुपनीयमानदेवमानवनारकतिर्यक्त्वाख्यगतिपर्यायग्रहणाय कृतप्रयाणा बन्धवः सर्वेऽपि । एतेन बन्धुताया अनित्यतोक्ता । उपात्तगत्यपरित्यागे बन्धुता स्थिरा भवति, उपात्ता चेत् त्यक्तान्या च गृहीता पितृपुत्रादीना गत्यन्तरमुपगतामपि बन्धुत्वे स्वजनपरजनविवेक एव न स्यादिति मन्यते । 'सव्वेसिं आसया वि' सर्वेषामाश्रया अपि यानाश्रित्य प्राणिनो जीवितुमुत्सहन्ते तेऽप्याश्रया स्वामी भृत्य पुत्रो भ्रातेत्येवमादयोऽनित्या यथा अब्भसंघाया अभ्रसघाता इव ॥१७१३॥

संवासो वि अणिच्चो पहियाणं पिण्डणं व छाहीए ।
पीदी वि अच्छिरागोव्व अणिच्चा सव्वजीवाणं ॥१७१४॥

'संवासो वि' सहावस्थानमपि बन्धुभिर्मित्रैः परिजनैर्वा, 'अणिच्चो' अनित्य । 'पहियाणं पिण्डणं व

जिनमे जीव ठहरते है उन्हे स्थान कहते हैं । वे स्थान है—गाँव, नगर आदि । यह मेरा स्थान है । मै यहाँ रहता हूँ । ऐसा संकल्प तुम मत करो । वे स्थान अनित्य हैं । उन्हे नित्य समझकर ग्रहण करनेपर यदि वे नष्ट होते हैं तो मनमें बड़ा सक्लेश होता है । अथवा अपने किये विचित्र कर्मके उदयसे प्राणी जिनमें रहते हैं वे स्थान है इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद, गणधरपद । ये सब स्थान अनित्य हैं ॥१७१२॥

गा०-टी०—सब सम्बन्धी विचित्र शुभ या अशुभ परिणामोसे बांधे गये गति नामकर्मके वशसे प्राप्त मनुष्यगति, देवगति, नारकगति और तिर्यञ्चगति रूप पर्यायको ग्रहण करनेके लिये जानेवाले है अत वे नावपर सवार यात्रियोंके समान हैं । जैसे नावपर सवार यात्री अपने-अपने स्थानपर चले जाते हैं उसी प्रकार हमारे सम्बन्धी अपने-अपने परिणामोंके अनुसार गति नामकर्मका बन्ध करके मरकर अपनी-अपनी गतिमें चले जाते हैं । इससे बन्धुताको अनित्य कहा है । जो जिस गतिमे है वह उसी गतिमे रहे, उसे छोड़े नहीं तो बन्धुपना स्थिर होता है । जिस गतिमें है उसे छोड अन्य गतिको ग्रहण करे तो नित्य कैसे हुई । जो पिता पुत्र आदि मरकर दूसरी गतिमे चले गये फिर भी यदि वे अपने बन्धु हैं तो अपने और परायेका भेद ही नहीं रहता । तथा जिन आश्रयोंसे प्राणी जीवित रहते हैं वे आश्रय भी, जैसे स्वामी और सेवक, पत्र, भ्राता आदि ये सब मेघपटलके समान अनित्य हैं ॥१७१३॥

गा०-टी०—जैसे नाना दिशाओं और नाना देशोंसे आये हुए और भिन्न-भिन्न स्थानोको

---

१. शशताम्या—मु० । २. प्राणिन इ—आ० मु० ।

छाहीए' नानाविग्देशागतानां पथिकानां भिन्नस्थानयायिना मार्गोपकण्ठस्थितनिविडत[1]रपलाशालंकार-विसतशाखाकरशतनिवारितघर्मरश्मिप्रसरतरुवरशीतलाविरलविपुलछायाया पान्थानां समाज इव । **'पीदीवि'** प्रीतिरपि । **'अच्छि रागोव्व'** प्रणयकलहपांसुपातदूषितप्रियतमालुठत्पाठीनोदरधवललोचनान्तराग इव अनित्या सर्वजीवाना । तथाह्यप्रियाचरणविषकणिकाप्रणयलोचनप्रलय संविदधातीति प्राणभृतामनुभवसिद्धमेव ॥१७१४॥

रत्तिं एगम्मि दुमे सउणाणं पिण्डणं व संजोगो ।
परिवेसोव अणिच्चो इस्सरियाणाधणारोग्गं ॥१७१५॥

'रत्ति' रात्रौ । **'एगम्मि दुमे'** एकस्मिन् द्रुमे । **'सगुणाणं'** पक्षिणा । **'पिण्डणं व'** पिण्डितमिव **'सजोगो'** सयोगो [2]यस्यामस्तद्रुमाभिमुखं तत्र वयं प्राप्स्यामोन्योन्यमित्यकृतसकल्पाना यथाकथंचिदन्योन्यप्राप्तिरल्पकाला तथा प्राणभृतामपि समानकालकालमारुतप्रेरितानामेकस्मि[3]न् कुलविटपिनि कतिपयदिनभावीसंप्रयोग । **'परिवेसो व'** परिवेष इव । **'अणिच्चं'** अनित्य । किं ? **'ईसरियाणाधणारोगं'** ऐश्वर्यं प्रभुता आज्ञा धनं आरोग्य च ॥१७१५॥

इंदियसामग्गी वि अणिच्चा संझाव होइ जीवाणं ।
मज्झण्हं व णराणं जोव्वणमणवट्ठिदं लोए ॥१७१६॥

'इंदियसामग्गीवि' इन्द्रियाणा सामग्र्यपि । **'अणिच्चा'** अनित्या । अंधता बधिरता च दृश्यत एव । **'मज्झण्हं व'** मध्याह्नवत्, **'णराणं जोव्वणमणवट्ठिद लोये'** नराणा यौवनमनवस्थित लोके यौवनोऽहमिति जन

आनेवाले पथिक मार्गके समीपमे स्थित अत्यन्त घने पलाश आदि वृक्षोंके फैले हुए शाखाभारसे सूर्यके तेजको दूर करनेवाले वृक्षोकी शीतल और घनी छायामे अपना समाज बनाकर बैठते हैं और धूप ढलनेपर अपने-अपने स्थानोको चले जाते हैं। उन्हीकी तरह मित्र, बन्धु और परिजनोके साथ सहवास भी अनित्य है। वे भी आयु पूरी होनेपर अपने-अपने स्थानोंको चले जाते है। तथा सब जीवोकी प्रीति भी अनित्य है। जैसे प्रेमकलहके कारण या धूल पड़ जानेसे प्रिय स्त्रीकी क्रीड़ा करती हुई मछलियोके उदर भागके समान श्वेत लोचनोके कोनोंमे ललामी अनित्य है। अप्रिय आचरणरूपी विषकी कनी प्रेमरूपी नेत्रोको नष्ट कर देती है यह बात सब प्राणियोके अनुभवसे सिद्ध है अत. प्रीति भी अनित्य है ॥१७१४॥

गा०—जैसे पक्षी सूर्यके अस्त होनेपर हम अमुक वृक्षपर मिलेगे, ऐसा परस्परमे सकल्प नही करते। फिर भी जिस किसी प्रकार कुछ समयके लिये परस्परमे मिल जाते हैं। उसी प्रकार संसारके प्राणी भी समान कालरूप वायुसे प्रेरित होकर एक कुलरूपी वृक्षपर कुछ दिनोके लिये आ मिलते हैं। तथा ऐश्वर्य, प्रभुता, आज्ञा, धन और आरोग्य भी सूर्यकी परिधिकी तरह अनित्य हैं ॥१७१५॥

गा०-टी०—सन्ध्याकालकी तरह इन्द्रियोकी सामग्री भी अनित्य है। क्योकि लोकमें अन्धे और बहरे मनुष्य देखे जाते है। तथा मध्याह्न कालकी तरह लोकमे मनुष्योका यौवन भी अनव-

---

१ तरखदिरपलाशालंकारविनतशा—आ० मु० । २. योगः सूर्यस्य अस्ते द्रुमा—आ० । ३. मेकैक—आ० ।

श्लाघ्यते, यौवनदर्पविकारादेव बुध्यमानोऽपि धर्मे न प्रयतते तदनित्यं मध्याह्नवत् । क्षिप्रतरं व्यतिवर्तिनि यौवने [१]का यौवनकृतोत्तीर्णमदः स्याच्च मनस्विनाम् ॥१७१६॥

चंदो हीणो व पुणो वड्ढदि एदि य उदू अदीदो वि ।
णदु जोव्वणं णियत्तइ णदीजलमदच्छिदं चेव ॥१७१७॥

'**चंदो हीणोव पुणो वड्ढदि**' नित्यराहुमुखकुहरप्रवेशाद्धानिमुपगतोऽपि निशानाथः कृष्णपक्षे हीयते हीनो भवति । '**पुणो वड्ढदि**' पुनः शुक्लपक्षे वर्द्धते । प्रतिदिनोपचीयमानकालः । '**एदि य उदू अदीदोवि**' हिमशिशिरवसन्तादयोऽतीता अपि ऋतवः पुनरायान्ति '**न दु जोव्वणं णियत्तेदि**' नैव यौवनं निवर्ततेऽतिक्रान्तम् तस्मिन्नेव भवे '**नदीजलमदच्छिदं चेव**' नदीजलमतिक्रान्तमिव न पुनरेति । तद्वदिदं यौवनमित्यनेनानित्यतातिशयो यौवनस्य दर्शितः ॥१७१७॥

धावदि गिरिणदिसोदं व आउगं सव्वजीवलोगम्मि ।
सुकुमालदा वि हायदि लोगे पुव्वण्हछाही व ॥१७१८॥

'**धावदि गिरिणदिसोदंव**' धावति गिरिनदीप्रवाह इव । किं ? '**आउगं**' आयुः । '**सव्वजीवलोगंहि**' सर्वस्मिन् जीवलोके । '**सुकुमालदा वि हीयदि**' सुकुमारतापि हीयते । '**पुव्वण्ह छाही व**' पूर्वाह्णछाया इव । यथा यथोद्गच्छति तामरसबन्धुस्तथा तथोपसंहरति छाया शरीरादीनां ॥१७१८॥

अवरण्हरुक्खछाही व अट्ठिदं वड्ढदे जरा लोगे ।
रूवं पि णासइ लहुं जलेव लिहिदल्लयं रूवं ॥१७१९॥

'**अवरण्हरुक्खछाहीव**' अपराह्णवृक्षच्छायेव । '**अट्ठिदं वड्ढदे**' अस्तित्वं वर्द्धते । क्रियाविशेषणत्वान्नपुंसकता । '**जरा लोगे**' लोके । सौख्यपल्लवदवानलशिखा, सौभाग्यप्रसूनकरकावृष्टिः, युवतिहरिणालीव्याघ्री,

---

स्थित है । मनुष्य 'मै युवा हूं' इस प्रकारसे अपनी प्रशंसा करता है । यौवनके घमण्डसे ही जानते हुए भी धर्ममे प्रयत्नशील नही होता । किन्तु वह यौवन मध्याह्नकालकी तरह अनवस्थित है । इस प्रकार शीघ्र ही जानेवाले यौवनका मनस्वियोको मद कैसा ? अर्थात् यौवनका मद करना उचित नही है ॥१७१६॥

गा०-टी०—प्रतिदिन राहुके मुखरूपी बिलमे प्रवेश करनेसे चन्द्रमा कृष्णपक्षमें घटता है और पुनः शुक्लपक्षमें प्रतिदिन बढ़ता है । तथा हेमन्त, शिशिर, बसन्त आदि ऋतुएँ भी जाकर पुनः लौटती हैं । किन्तु बीता हुआ यौवन उसी भवनमें नही लौटता । जैसे नदीमे गया जल फिर वापिस नही आता । उसी प्रकार यौवन भी जाकर वापिस नही आता । इससे यौवनकी अत्यन्त अनित्यता दिखलाई है ॥१७१७॥

गा०—सर्व जीवलोकमें आयु पहाड़ी नदीके प्रवाहकी तरह दौड़ती है । सुकुमारता भी पूर्वाह्नकी छायाके समान दौड़ती है । जैसे-जैसे सूर्य ऊपर उठता है वैसे-वैसे शरीरादिकी छाया घटती जाती है । उसी तरह ज्यो-ज्यों आयु बढ़ती है त्यों-त्यों सुकुमारता कम होती है ॥१७१८॥

गा०-टी०—जैसे अपराह्न कालमे वृक्षोकी छाया बढ़ती है वैसे ही लोकमे एक बार

---

१. को नृणां मदः स्याच्च —आ० ।

ज्ञानलोचनपांशुवृष्टिस्तपस्तामरसवनस्य हिमानी, दीनताया जननी, परिभवस्य धात्री, मृतेर्दूती, भीते. प्रियसखी या जरा सा वर्द्धते। 'रूवंपि णासदि लहुं' रूपमपि विलासिनीकटाक्षेक्षणशरशततूणीरायमाणं, चेतोवलक्षसूक्ष्मवसनरञ्जने कौसुम्भरसायमानं, प्रीतिलतिकाया मूलं, सौभाग्यतरुफलं, कूलं पूज्यताया यद्रूपं तल्लघु विनश्यति ॥ किमिव ? 'जलेव लिहिदेल्लगं रूवं' जले लिखितरूपमिव ॥१७१९॥

तेओ वि इंदधणुतेजसण्णिहो होइ सव्वजीवाणं ।
दिट्ठपणट्ठा बुद्धी वि होइ उक्काव जीवाणं ॥१७२०॥

'**तेओवि इंदधणुतेजसण्णिहो**' शरीरस्य तेजोपि पौरंदरीप्रियतमचापस्य तेज इव गर्जज्जननयनचेतःप्रमोदावापि क्षणेन क्षयमुपव्रजति । '**दिट्ठपणट्ठा**' दृष्टप्रणष्टा '**बुद्धि वि**' सकलवस्तुयाथात्म्यावकुण्ठ[1]ज्ञाज्ञानतमःपटलपाटनपटीयसी, विचित्रदुःखग्राहकदम्बकाकीर्णकुगतिविशालनिम्नगाप्रवेशनिवारणोद्यता, चारित्रनिधिप्रकटनक्षमादीपवर्तिः, सकलसम्पदाकर्षणविद्या शिवगतिनायिकासखी एवंभूता बुद्धिरप्युल्केवाशु नाशमुपयाति ॥१७२०॥

अदिवडइ बलं खिप्पं रूवं धूलीकदंबरछाए ।
वीचीव अद्धुवं वीरियंपि लोगम्मि जीवाणं ॥१७२१॥

'**अतिवडइ बलं खिप्पं**' क्षिप्रमतिपतति बलं '**रूवं धूलीकदंबरछाए**' रथ्याया पांशुरचितरूपमिव ।

आनेपर बुढापा बढ़ता जाता है। यह बुढापा सुन्दरतारूपी कोमल पत्तोंके लिये वनकी आगकी लपटके समान है। सौभाग्यरूपी पुष्पोंके लिये ओलोकी वर्षाके समान है। तारुण्यरूपी हरिणोंकी पंक्तिके लिये व्याघ्रके समान है। ज्ञानरूपी नेत्रके लिये धूलकी वर्षाके समान है। तपरूपी कमलोंके वनके लिये बर्फ गिरनेके समान है। अर्थात् वृद्धावस्थाके आनेपर सुन्दरता, सुभगता, तारुण्य, ज्ञान और तप सब क्षीण हो जाते है। यह वृद्धावस्था दीनताकी माता है, तिरस्कारकी धाय है, मृत्युकी दूती है और भयकी प्रिय सखी है। तथा जलमे लिखे हुए रूपके समान रूप भी शीघ्र नष्ट हो जाता है। यह रूप सुन्दर स्त्रियोंके कटाक्षरूपी सैकडो बाणोंके लिये तूणीरके समान है अर्थात् पुरुषके रूपको देखकर स्त्रियाँ उसपर कटाक्षबाण चलाती है। चित्तरूपी सूक्ष्मवस्त्रको रंगनेके लिये कुसुम्भके रंगके समान है। प्रीतिरूपी लताका मूल है। सौभाग्यरूपी वृक्षका फल है। पूज्यताका किनारा है। ऐसा रूप भी शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥१७१९॥

गा०-टी०—शरीरका तेज भी इन्द्र धनुषके तेजके समान है। जैसे इन्द्रधनुषकी कान्ति मनुष्योंके नेत्रों और चित्तको आनन्दकारी होती है किन्तु क्षणभरमे नष्ट हो जाती है वही दशा शरीरकी कान्तिकी भी है। जो बुद्धि समस्त वस्तुओके यथार्थस्वरूपको ढाकनेवाले अज्ञानरूपी अन्धकारके पटलको नष्ट करनेमे अतिशय दक्ष है, विचित्र दुःखरूपी मगरमच्छोके समूहसे व्याप्त कुगतिरूपी विशाल नदीमे प्रवेश करनेसे रोकनेमें तत्पर है, चारित्ररूपी निधिको प्रकट करनेमे दीपककी बत्तीके समान है, समस्त सम्पदाओको लानेवाली विद्यातुल्य है और मोक्षगतिरूपी नायिकाकी सखी है, ऐसी बुद्धि भी शीघ्र ही नष्ट हो जाती है ॥१७२०॥

गा०—जैसे मार्गमे धूलीसे रचा गया आकार शीघ्र नष्ट हो जाता है वैसे ही जीवोका

[1] कुठनाज्ञान—आ०।

'वीचीव' चण्डप्रभञ्जनाभिघातोत्थापिततरलतरंगमालेव, 'अद्धुवं' अध्रुव । 'वीरियं' वीर्यमपि । जीवाना शरीरस्य दृढता बल वीर्यमात्मपरिणामः ॥१७२१॥

हिमणिचओ वि व गिहसयणासणभंडाणि होंति अधुवाणि ।
जसकित्ती वि अणिच्चा लोए संज्झब्भरागोव्व ॥१७२२॥

स्पष्टोत्तरगाथा—

किह दा सत्ता कम्मवसत्ता सारदियमेहसरिसमिणं ।
ण मुणंति जगमणिच्चं मरणभयसमुत्थिया संता ॥१७२३॥

'किह' कथ तावत् । 'अणिच्चं जगं ण मुणंति' जगदनित्यं न जानन्ति । के ? [1]'सत्ता' सीदन्ति स्वकृतपापवशात्तासु तासु योनिष्विति सत्त्वाः । 'सारदियमेहसरिसमिणं' शरदृतुसमुद्गतनैकवर्णविचित्र-सस्थानजीमूतमालासदृश । 'मरणभयसमुत्थिया संता' मरण विष [2]वृषतमजीवितस्य सरित्कूलं प्रियवियोगदारकस्य, शोकाशनेर्जलदपटल, अयस्कान्तोपल दुःखलोहाकर्षणे, बन्धुहृदयोपलानां द्रावकमौषधमायतापदामायतन एवभूतमरणभयसमुत्थिता सन्त । एवमनित्यतामशेषवस्तुविषया ध्येयीकृत्य प्रवर्तते धर्म्यं ध्यान । अद्धुव ॥१७२३॥

अशरणताकथनायोत्तरप्रबन्ध. । कर्माण्यात्मपरिणामोपार्जितानि कषायपरिणामोपनीतचिरकालस्थितीनि सन्निहितक्षेत्रकालभावाख्यसहकारिकारणानि यदा फलमशुभं प्रयच्छंति तदा तानि न निवारयितु कश्चित्समर्थोऽस्ति तेनाशरणोऽस्म्यहमिति चिन्ताप्रबन्ध कार्य इत्याचष्टे—

णासदि मदी उदिण्णे कम्मे ण य तस्स दीसदि उवाओ ।
अमदंपि विसं सत्थं तणं पि णीया वि हुंति अरी ॥१७२४॥

बल शीघ्र नष्ट हो जाता है । तथा जीवोका वीर्य भी प्रचण्ड वायुके अभिघातसे उठी हुई चचल तरगमालाके समान अध्रुव है । जीवोके शरीरकी दृढताको बल और जीवोके आत्मपरिणामको वीर्य कहते है । ये दोनो ही शीघ्र नष्ट होनेवाले हैं ॥१७२१॥

गा०—घर, शय्या, आसन, भाण्ड ये सब भी बर्फके समूहकी तरह अध्रुव हैं । तथा लोकमे यशकी कीर्ति भी सन्ध्याके समय आकाशकी लालिमाकी तरह अनित्य है ॥१७२२॥

गा०—मरणके भयसे युक्त होनेपर भी अपने-अपने कामोंमे लीन प्राणी शरत् कालके मेघके समान इस जगत्को अनित्य क्यो नही जानते ॥१७२३॥

टी०—अपने किये हुए पापके वशसे उन-उन योनियोमे जो कष्ट उठाते है उन्हे सत्त्व कहते है । यह जगत् शरद ऋतुमें उठे हुए अनेक रग और अनेक आकार वाले मेघमालाके समान अनित्य है । तथा जिन्हे अपना जीवन प्रिय है उनके लिये मरण विषके समान है । प्रियजनके वियोगरूपी पुत्रके लिये नदीका तट है । शोकरूपी वज्रपातके लिये मेघपटल है । दुःखरूपी लोहको लानेके लिये चुम्बक पत्थर है । बन्धुओंके हृदयरूपी पत्थरको पिघलानेके लिये औषध है । मरने पर कठोर हृदय कुटुम्बियोका भी मन पिघल जाता है । लम्बी विपत्तियोंका घर है । ऐसा मरणके भयको जानते हुए भी लोग जगत्की अनित्यताको नही समझते यह आश्चर्य और खेदकी बात है ॥१७२३॥

---

१. सत्ता विदोति स्व—आ० । २. वृषतमजी—अ० ।

'णस्सदि मदी' नश्यति मति.। 'उदिण्णे कम्मे' उदीर्णे कर्मणि । बुद्धिर्द्विधा स्वाभाविकी आगमभवा च । सा द्वयी यस्यासौ हितमवैति नेतर.। उक्तं च—

द्विधेह बुद्धिं प्रवदन्ति सन्तः स्वाभाविकीमागमसंभवां च ।
बुद्धिर्द्वयी यस्य शरीरिणः स्यादिष्टं हितं सो लभते न चान्यः ॥१॥
स्वाभाविकी यस्य मतिर्विशुद्धा, तीर्थादवाप्तं न तु शास्त्रमस्ति ।
द्रष्टुं हितं धर्ममसौ न शक्तो भाषां [1]विना रूपमिवाप्यनन्धः ॥२॥
तीर्थादवाप्तं श्रुतमस्ति यस्य स्वाभाविकी नास्ति मतिर्विशुद्धा ।
श्रुतस्य नाप्नोति फलं स तस्य दीपस्य हस्तेऽपि सतो यथान्धः ॥३॥
किं दर्पणेनाकृतलोचनस्य [2]विदान भोगस्य धनेन वा किम् ।
शस्त्रेण किं वा युधि भीरुकस्य तथैव किं मन्दमते श्रुतेन ॥४॥

ईदृशी बुद्धिर्नश्यति ज्ञानावरणाख्ये कर्मण्युदयमुपागते । तच्च ज्ञानावरण बध्नाति जन्तुर्ज्ञानिना ज्ञानस्य ज्ञानोपकरणानां च द्वेषान्निह्नवादुपघातात् मात्सर्याद् विघ्नकरणादासादनाद् दूषणात् । ज्ञानादेर्निग्रहकरणाद-

इस प्रकार अध्र ुवभावनाका कथन समाप्त हुआ । आगे अशरणभावनाका कथन करते है—

कर्मबन्ध आत्माके परिणामोंसे होता है । जीवके ही कषायरूप परिणामोका निमित्त पाकर उन कर्मोंकी दीर्घ स्थिति होती है । प्राप्त द्रव्य क्षेत्र काल और भाव उनके सहकारी कारण होते हैं । जब वे कर्म अशुभ फल देते हैं तो उनको कोई रोक नही सकता । अत: मै अशरण हूँ ऐसा विचारना चाहिये, यह कहते है—

गा०–टी०—कर्मका उदय होनेपर बुद्धि नष्ट हो जाती है । बुद्धि दो प्रकारकी होती है एक स्वाभाविक और दूसरी आगमिक । जिसके दोनो प्रकारकी बुद्धि होती है वह अपने हितको जानता है । जिसके वह बुद्धि नही होती वह नही जानता । कहा भी है—

सन्त पुरुष दो प्रकारकी बुद्धि कहते हैं—एक स्वाभाविक, दूसरी आगमसे उत्पन्न हुई । जिस शरीरधारीके ये दोनो बुद्धियाँ होती है वह अपने इष्ट हितको प्राप्त करता है । जिसके दोनो बुद्धिया नही है वह हितको प्राप्त नही कर सकता । जिसके पास स्वाभाविक विशुद्ध बुद्धि तो है किन्तु जिसने शास्त्राभ्यास करके आगमिक बुद्धि प्राप्त नही की है वह हितकारी धर्मको उसी प्रकार नही देख सकता, जैसे दृष्टिसम्पन्न पुरुष रूपको देखते हुए भी भाषाके बिना उसको कह नही सकता । जिसके पास गुरुसे प्राप्त शास्त्र तो है किन्तु उसे समझनेकी स्वाभाविक विशुद्ध बुद्धि नही है वह भी श्रुतका फल नही प्राप्त कर सकता । जैसे अन्धा पुरुष हाथमे दीपक होते हुए भी उसका फल नही पाता । जिसके लोचन मुंदे हैं उसे दर्पणसे क्या लाभ ? जो न दान देता है न भोगता है उसे धनसे क्या लाभ ? जो डरपोक है उसे युद्धमे शस्त्रसे क्या लाभ ? इसी तरह मन्दबुद्धि पुरुषको शास्त्रसे क्या लाभ ? ॥

ज्ञानावरण नामक कर्मका उदय आनेपर इस प्रकारकी बुद्धि नष्ट हो जाती है । ज्ञानियोसे, ज्ञानसे और ज्ञानके उपकरणोसे द्वेष करनेसे, ज्ञानको और ज्ञानके साधनोंको छिपानेसे, प्रशंसनीय ज्ञानमे दूषण लगानेसे, ईर्षावश किसीको ज्ञानदान न करनेसे, किसीके ज्ञानाराधनमे बाधा डालनेसे,

१. ना वाचमिवा –आ० । २. स्यावि –अ० ।

काले पठनात् परेन्द्रियोपघातकारणाच्च[1]दर्जितं अवग्रहेहावायधारणाविकल्पं मतिज्ञानं श्रुतादिकं वा नाशयति । उक्तं च—

अवग्रहीतुं च तथेहितुं च सोऽवेहितुं धारयितुं च सम्यक् ।
नालं भवत्यर्जितवान्पुरा य. कर्माधमं ज्ञानवृतेर्निमित्तम् ॥१॥

अन्धश्च पश्यन् बधिरश्च शृण्वन् जिह्वां विनाऽसौ रसनांस्तथाश्नन् ।
[2]त्वचो विनाशे वरशीतकादि जानन्नसौ कर्मविभावबद्धः ॥२॥

घ्राणं विना गन्धमयं हि जीवो जानाति नित्यं निखिलं जगच्च ।
परन्तु बोधावृतिकर्मनाम्ना प्रोक्तंस्तरां न विषयेषु वेत्ति ॥३॥

एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रियतां भवेषु स त्रीन्द्रियत्वं चतुरिन्द्रियत्वम् ।
तेनावृत. कर्ममहाम्बुदेन प्राप्नोति जीवो विमनस्कतां च ॥४॥

द्रष्टुं हितं श्रोतुमथेहितुं च कर्तुं च दातुं विधिना च भोक्तुम् ।
स्वकर्मणा तेन नरो वृतस्सन् न बुध्यमान. पशुनैति साम्यम् ॥५॥

स्वबुद्धि[3]मात्रामपि शक्यमाप्तुं श्रेयः समीपस्थमि[4]हाप्यविद्वान् ।
सुदूरसंस्थं च [5]श्रुतोऽभिगम्यं स केन विद्यात् परलोकपथ्यम् ॥६॥

प्रशस्त ज्ञानकी प्रशंसा न करनेसे, जीव ज्ञानावरण कर्मका बन्ध करता है। तथा ज्ञानादिका निग्रह करनेसे, अकालमे स्वाध्याय करनेसे, दूसरेकी इन्द्रियोंका घात करनेसे संचित मतिज्ञानका, जिसके अवग्रह ईहा अवाय और धारणा भेद हैं तथा श्रुतज्ञान आदिका नाश हो जाता है। कहा है—

जो पहले ज्ञानको रोकनेमे निमित्त नीच कर्म उपार्जित कर चुका है, वह सम्यक्रूपसे पदार्थको अवग्रहण करनेमे, ईहित करनेमे, अवायरूपसे जाननेमें तथा जाने हुएको धारण करनेमें समर्थ नही होता। अर्थात् उसे पदार्थोंका अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप ज्ञान नही होते। यह जीव आँखोके बिना देखता है। कानोंके बिना सुनता है। जिह्वाके बिना रसोंका स्वाद लेता है। त्वचाके बिना शीत आदिका अनुभव करता है। किन्तु कर्मोसे बद्ध होनेसे ऐसा नही कर सकता। तथा यह जीव बिना नाकके गन्धको जानता है किन्तु ज्ञानावरण नामक कर्मका उदय होनेसे इन्द्रियोंके बिना विषयोंको नहीं जानता। उस ज्ञानावरण नामक कर्मरूपी महामेघसे ढका होनेसे यह जीव एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय और असैनी पञ्चेन्द्रिय होता है। अपने ज्ञानावरण कर्मके उदयसे मनुष्य न हितको देखता है, न सुनता है, न हितको जाननेकी इच्छा करता है, न विधिपूर्वक धन देता है, न उसे भोगता है। इस प्रकार वह पशुके समान हो रहा है। जो अपने समीपवर्ती भी कल्याणको जो कि अपनी बुद्धिमात्रसे प्राप्त करने योग्य है, नही जानता, वह सुदूरवर्ती और शास्त्रके द्वारा जानने योग्य परलोकमें जो हितकर है उसे कैसे जान सकता

---

१ णादर्जि –अ० । २. त्वगीतये सत्यपि विश्वगेव न यो विशेषान् विषयेषु वेत्ति ॥२॥ एकेन्द्रिय –अ०, मु० । ३. द्विसाध्यामपिश –आ० । ४. ह्रास्यति –अ० । ५. च तत्तोऽभिगम्य सेकेन वितेद्या –अ० ।

महागुहा भीमतमः प्रवेशात् सदाप्यगाधाम्भसि मज्जनाच्च ।
चिराच्चिरं चारकरोधनाच्च स्याद्देहिनः कष्टतरोऽज्ञभावः ॥७॥
तमःप्रवेशोऽम्भसि मज्जनं च स्याद्दुःखकृच्चारकरोधनं च ।
जाताविहैकत्र भवांस्त्वनन्तानज्ञानज दुःखमनुप्रयाति ॥८॥
नाल विशालं नयन तृतीयं श्रु तं च मत्या रहितो गृहीतुम् ।
अन्धोऽपि यस्मिन् सति याति मार्गे क्षेमे शिवे मोक्षमहापुरस्य ॥९॥

एवंभूतामज्ञतामापादयति ज्ञानावरण न किञ्चित्तन्निवारणक्षम शरणमस्ति । **'ण तस्स विस्सदि उवाओ'** नैव तस्य कर्मणो निवारणे उपायो दृश्यते । असद्वेदस्य कर्मण उदयात् **'अमदं पि विसं होदि'** अमृतमपि विष भवति । **'तणमपि सत्थं'** तृणमपि शस्त्र भवति । **'णीआ वि होंति अरी'** बन्धवोऽपि शत्रवो भवन्ति ॥१७२४॥

ज्ञानावरणस्य तु क्षयोपशमे किं स्यादित्याह—

मुक्खस्स वि होदि मदी कम्मोवसमे य दीसदि उवाओ ।
णीया अरी वि सत्थं वि तणं अमयं च होदि विसं ॥१७२५॥

'मुक्खस्स वि होदि मदी' मूर्खस्यापि भवति मति । **'कम्मोवसमे य दीसदि उवाओ'** कर्मोपशमे ज्ञानावरणस्य तु क्षयोपशमे सति उपायो दृश्यते सुभगत्वपुण्यकर्मोदयात् । **'णीया अरी वि'** शत्रवोऽपि बन्धवो भवन्ति **'सत्थ पि तणं'** शस्त्रमपि तृण भवति, **'अमदं होदि विसं'** विषमप्यमृत भवति सद्वेद्योदये ॥१७२५॥

पाओदएण अत्थो हत्थं पत्तो वि णस्सदि णरस्स ।
दूरादो वि सपुण्णस्स एदि अत्थो अयत्तेण ॥१७२६॥

'पाओदयेण' लाभान्तरायस्य कर्मण उदयेन, **'अत्थो हत्थं पत्तो वि णस्सदि णरस्स'** हस्तप्राप्तोऽप्यर्थो नश्यति पुस । **'दूरादो वि'** दूरतोऽपि । **'सपुण्णस्स'** पुण्यवत । **'एदि अत्थो'** आयान्त्यर्था । **'अयत्तेण'** अयत्नेन ॥१७२६॥

है । इस प्राणीका अज्ञानभाव महान् गुफाके भीतर भयंकर अन्धकारमे प्रवेश करनेसे, सदा अगाध जलमे डूबे रहनेसे और चिरकाल तक जेलखानेमे पडे रहनेसे भी अधिक कष्टदायी है । अन्धकारमे प्रवेश जलमे डूबना और जेलखानेमे पडे रहना तो एक ही भवमे दु खदायो है किन्तु अज्ञानजन्य दुःख अनन्त भवोमे दु खदायी हैं । श्रुतज्ञान तीसरा विशाल नेत्र है । किन्तु बुद्धिसे रहित प्राणी उसे ग्रहण नही कर सकता । उस श्रुतज्ञानके होनेपर अन्धा मनुष्य भी मोक्षरूपी महानगरके कल्याणकारी मार्ग पर जाता है ।

ज्ञानावरण कर्म इस प्रकारकी अज्ञताको लाता है उसको निवारण करनेमे समर्थ कोई शरण नही है । उसके निवारण का कोई उपाय नही है । असातावेदनीय कर्मके उदयसे अमृत भी विष हो जाता है । तृण भी शस्त्र हो जाता है और बन्धु-बान्धव भी शत्रु हो जाते है ॥१७२४॥

गा०-टी०—ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर क्या होता है, यह कहते है—ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर मूर्खको भी बुद्धि प्राप्त होती है । पुण्यकर्मका उदय होनेसे कर्मोके उपशमका उपाय दृष्टिगोचर होता है तथा सातावेदनीयके उदयमे शत्रु भी बन्धु हो जाते हैं, शस्त्र भी तृण हो जाता है और विष भी अमृत हो जाता है ॥१७२५॥

गा०—पाप अर्थात् लाभान्तराय कर्मके उदयसे मनुष्यके हाथमे आया भी पदार्थ नष्ट हो

पाओदएण सुट्ठु वि चेट्ठंतो को वि पाउणदि दोसं ।
पुण्णोदएण दुट्ठु वि चेट्ठंतो को वि लहदि गुणं ॥१७२७॥

'पाओदएण' अयशस्कीर्तेरुदयेन । 'सुट्ठु वि चेट्ठंतो' सम्यक् चेष्टमानः । 'कोवि पाउणदि दोसं' कश्चित्प्राप्नोति दोषं । 'पुण्णोदयेण' पुण्यकर्मण उदयेन । 'दुट्ठु वि चेट्ठंतो' यत्किंचिदकार्यं कुर्वन्नपि । 'कोवि लभदि गुणं' कश्चिल्लभते गुणम् ॥१७२७॥

पुण्णोदएण कस्सइ गुणे असंते वि होइ जसकित्ती ।
पाओदएण कस्सइ सगुणस्स वि होइ जसघाओ ॥१७२८॥

'पुण्णोदएण' पुण्यस्योदयेन । 'कस्सइ होइ जसकित्ती' कस्यचिद्भवति यशस्कीर्तिश्च । 'पावोदएण' पापस्योदयेन । 'कस्सइ सुगुणस्स वि' कस्यचित् सुगुणवतोऽपि । 'जसघादो होदि' यशोघातो भवति ॥१७२८॥

णिरुवक्कमस्स कम्मस्स फले समुवट्ठिदंमि दुक्खंमि ।
जादिजरामरणरुजाचिंताभयवेदणादीए ॥१७२९॥

'णिरुवक्कमस्स' निःप्रतीकारस्य कर्मणः । 'फले समुवट्ठिदंहि दुक्खंहि' समुपस्थिते दुःखे, 'जादिजरामरणरुजाचिंताभयवेदणादीये' जातौ, जरायां, मरणे, व्याधौ, चिन्तायां, भये, वेदनादौ च समुपस्थिते ॥१७२९॥

जीवाण णत्थि कोई ताणं सरणं च जो हवेज्ज इधं ।
पायालमदिगदो वि य ण मुच्चदि सकम्मउदयम्मि ॥१७३०॥

'जीवाण' जीवस्य । नास्ति कश्चिद्रक्षा शरणं वा । 'जो हवेज्ज' यो भवेत् । 'पायालमदिगदो वि' पाताल प्रविष्टोऽपि । 'ण मुच्चदि' । न मुच्यते दुःखात् । 'सकम्मउदयेहिं' स्वकर्मोदये सति ॥१७३०॥

गिरिकंदरं च अडविं सेलं भूमिं च उदधिं लोगंतं ।
अदिगंतूणं वि जीवो ण मुच्चदि उदिण्णकम्मेण ॥१७३१॥

जाता है। और पुण्यवानको बिना प्रयत्न किये दूरसे भी पदार्थ प्राप्त होता है ॥१७२६॥

गा०—पाप अर्थात् अयशःकीर्ति नामक कर्मके उदयसे सम्यक् चेष्टा करनेवाला भी दोषका भागी होता है। और पुण्य कर्मके उदयसे न करने योग्य भी काम करनेवाला प्रशंसाका पात्र होता है ॥१७२७॥

गा०—पुण्यके उदयसे किसीमें गुण न होते भी उसका यश फैलता है। और पापके उदयसे गुणवानका भी अपयश होता है ॥१७२८॥

गा०—जिसका कोई प्रतीकार नहीं है ऐसे कर्मका उदय आनेपर जन्म, जरा, मरण, रोग, चिन्ता, भय, वेदना आदि दुःख भोगने होते हैं ॥१७२९॥

गा०—ऐसी अवस्थामें जीवका कोई रक्षक नहीं है जिसकी वह शरणमें जाये। अपने कर्मके उदयमें पातालमें प्रवेश करनेपर भी कर्मसे छुटकारा नहीं होता ॥१७३०॥

'गिरिकन्दर च' गिरिकन्दरं अटवी शैलभूमिमुदधिं । लोकान्त प्रविश्यापि जीवो न मुच्यते । उदयागतेन कर्मणा ।।१७३१।।

दुगचदुअणेयपाया परिसप्पादी य जंति भूमीओ ।
मच्छा जलम्मि पक्खी णभम्मि कम्मं तु सव्वत्थ ।।१७३२।।

'दुगचदुअणेगपावा' द्विचतुरुच्चरणादिका । 'परिसप्पावी य जंति भूमीओ' परिसर्प्पादयश्च यान्ति भूमावेव । मत्स्या जले पक्षिणो नभसि यान्ति । कर्म सर्वत्रग ।।१७३२।।

रविचंदवादवेउव्वियाणमगमा वि अत्थि हु पदेसा ।
ण पुणो अत्थि पएसो अगमो कम्मस्स होइ इह ।।१७२३।।

'रविचंदवादवेउव्वियाणं' सूर्येण, चन्द्रेण, वातेन, देवैश्चागम्यास्सन्ति प्रदेशा । न कर्मणामगम्योऽत्र प्रदेशोऽस्ति लोके ।।१७३३।।

विज्जोसहमंतबलं बलवीरिय अस्सहत्थिरहजोहा ।
सामादिउवाया वा ण होंति कम्मोदए सरणं ।।१७३४।।

'विज्जामंतोसधिबलवीरियं' विद्या स्वाहाकारान्ता तद्रहितता मन्त्रस्य । वीर्यमात्मन शक्त्यतिशय । बलमाहारव्यायामज शरीरस्य दार्ढ्य, अनीकबन्ध । सामभेददण्डोपप्रदानाख्याश्च हेतवो न शरण ।।१७३४।।

जह आइच्चमुदिंतं कोई वारंतओ जगे णत्थि ।
तह कम्ममुदीरंतं कोई वारंतओ जगे णत्थि ।।१७३५।।

'जह आइच्चमुदिंतं' यथा दिनमणिमुदयाचलचूडामणितामुपयान्त न निवारयति कश्चित् तथा समधिगतसहकारिकारणं कर्म न निषेद्धुमस्ति समर्थ ।।१७३५।।

गा०—पहाडकी गुफा, अटवी, पर्वत, भूमि, समुद्र, यहाँ तक कि लोकके अन्त तक चले जानेपर भी जीव उदयप्राप्त कर्मसे नही छूटता ।।१७३१।।

गा०—दोपाये, चौपाये और अनेक पैर वाले सर्प आदि तो भूमिपर ही जाते है । मच्छ जलमें जाते हैं । पक्षी आकाशमे जाते हैं किन्तु कर्म सर्वत्र पहुचता है । उसकी गति सर्वत्र है ।।१७३२।।

गा०—लोकमे ऐसे प्रदेश हैं जो सूर्य, चन्द्र, वायु और देवोके द्वारा अगम्य हैं अर्थात् जहाँ ये नहीं जा सकते । किन्तु ऐसा कोई प्रदेश नही है जहाँ कर्मकी गति नही है ।।१७३३।।

गा०—कर्मका उदय होनेपर विद्या, मत्र, औषध, बल, वीर्य, घोड़े, हाथी, रथ, योद्धा, साम, दाम, दण्ड, भेद आदि उपाय शरण नही है ।।१७३४।।

टी०—जिसके अन्तमें स्वाहाकार होता है उसे विद्या कहते हैं । और जिसके अन्तमें स्वाहाकार नही होता उसे मत्र कहते है । वीर्य आत्माकी शक्तिको कहते हैं और बल आहार व्यायामसे उत्पन्न शरीरकी दृढ़ताको कहते हैं ।।१७३४।।

गा०—जैसे सूर्यको उदयाचलके मस्तकपर आनेको जगत्मे कोई नहीं रोक सकता उसी

रोगाणं पडिगारा दिट्ठा कम्मस्स णत्थि पडिगारो ।
कम्मं मलेदि हु जगं हत्थीव णिरंकुसो मत्तो ॥१७३६ ।

'**रोगाणं पडिगारा दिट्ठा**' व्याधीना प्रतीकारा दृष्टा औषधादयः । कर्मणा नास्ति प्रतीकार । जगदशेषं मर्दयति कर्म मदगज इव निरङ्कुशो नलिनीवनं ॥१७३६॥

रोगाणं पडिगारो णत्थि य कम्मे णरस्स समुदिण्णे ।
रोगाणं पडिगारो होदि हु कम्मे उवसमंते ॥१७३७॥

'**रोगाणं पडिगारो**' व्याधीनां प्रतीकारो नास्ति कर्मण्यसद्वेद्ये प्राप्तोदये सति, पथ्यौषधादिभिरुपशमो रोगादीना सोऽपि कर्मण्युपशम गत एव नानुपशान्तेऽत्र ॥१७३७॥

विज्जाहरा य बलदेववासुदेवा य चक्कवट्टी वा ।
देविंदा व ण सरणं कस्सइ कम्मोदए होंति ॥१७३८॥

'**विज्जाहरा य**' विद्याधरादयो महाबलपराक्रमा अपि न शरण भवन्ति कर्मोदय इति गाथार्थ. ॥१७३८॥

वोल्लेज्ज च कमंतो भूमिं उदधिं तरिज्ज पवमाणो ।
ण पुणो तीरदि कम्मस्स फलमुदिण्णस्स वोलेदुं ॥१७३९॥

'**वोल्लेज्ज**' उल्लङ्घयेत् गच्छन् भूमिं, समुद्र तरेत् प्लवमान' । उदीर्णस्य कर्मण फलमुल्लङ्घयितु न वेत्ति कोऽन्यो वा महाबलोऽपि ॥१७३९॥

सीहतिमिंगिलगहिदस्स[1] मगो मच्छो व णत्थि जह सरणं ।
कम्मोदयम्मि जीवस्स णत्थि सरणं तहा कोई ॥१७४०॥

'**सीहतिमिंगिलगहिदस्स**' सिंहेन तिमिंगिलाख्येन महामत्स्येन च गृहीतस्य नैव शरण भवति अन्यो मृगो मत्स्यो वा । तथा कर्मोदये जीवस्य नास्ति कश्चिच्छरणम् ॥१७४०॥

प्रकार सहकारी कारणोके मिलनेपर उदयमे आये कर्मको जगत्मे कोई रोक नही सकता ॥१७३५॥

गा०—रोगोका प्रतीकार औषध आदि हैं किन्तु कर्मका कोई प्रतीकार नही है । जैसे निरकुश मत्त हाथी कमलिनीके वनको उजाड देता है वैसे ही कर्म समस्त जगत्को मसल देता है ॥१७३६॥

गा०—असातावेदनीय कर्मका उदय होनेपर रोगोका प्रतीकार नही है । पथ्य औषध आदिसे जो रोगोंका उपशम होता है वह भी कर्मका उपशम होनेपर ही होता है । कर्मका उपशम न होनेपर औषध आदि भी लाभकारी नहीं होती ॥१७३७॥

गा०—कर्मका उदय होनेपर विद्याधर, बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती अथवा देवेन्द्र जैसे महाबली, महापराक्रमी भी किसीके शरण नही होते । वे भी रक्षा नही कर सकते ॥१७३८॥

गा०—चलता हुआ प्राणी भूमिको लाघ सकता है । तैरता हुआ प्राणी समुद्रको तैर सकता है । किन्तु उदयागत कर्मके फलको उल्लघन कोई महाबली भी नही कर सकता । उसे सबको भोगना पड़ता ही है ॥१७३९॥

गा०—जैसे कोई सिंह किसी मृगको पकड़ ले तो दूसरा मृग उसकी रक्षा नही कर सकता ।

---

१. गिलिदस्स अ० ।

व्यावर्णितानामशरणत्वं मनसावधार्य इदं शरणमिति चिन्तनीयमिति कथयति—

दंसणणाणचरित्तं तवो य ताणं च होइ सरणं च ।
जीवस्स कम्मणासणहेदुं कम्मे उदिण्णम्मि ॥१७४१॥

'**दंसणणाणचरित्तं तवो य**' ज्ञान दर्शन चारित्र तपश्च रक्षा शरण च भवति । जीवस्य कर्मणा नाशहेतु. कर्मण्युदीर्णेऽप्यसद्वेद्यादौ । एवमशरणानुप्रेक्षा गता ॥ असरणा ॥१७४१॥

एकत्वानुप्रेक्षा उत्तरेण प्रबन्धेनोच्यते—

पावं करेदि जीवो बंधवहेदुं सरीरहेदुं च ।
णिरयादिसु तस्स फलं एक्को सो चेव वेदेदि ॥१७४२॥

पाप करोति जीवो बान्धवनिमित्तं शरीरनिमित्त च । बान्धवशरीरपोषणार्थं कृतस्य कर्मण फलं नरकादिष्वेक एवानुभवति ॥१७४२॥

नरकादिगतिषु प्राप्तं दु:खमपश्यतस्तत्रासतो बान्धवा कि कुर्वन्तीति आशका निरस्यति सन्निहिता. पश्यन्तोऽप्यकिंचित्करा इति कथनेन—

रोगादिवेदणाओ वेदयमाणस्स णिययकम्मफलं ।
पेच्छंता वि समक्खं किंचिवि ण करंति से णियया ॥१७४३॥

'**रोगादिवेदणाउ**' रोगादिदु:खानि । '**णिययकम्मफलं**' निजकर्मफल स्वयोगत्रयोपचितस्य कर्मण फल । '**वेदयमाणस्स**' वेदयमानस्य । '**समक्खं पेच्छताबि**' प्रत्यक्ष पश्यन्तोऽपि । '**णियया**' निजका बान्धवा , '**से**' तस्स

या तिमिंगल नामक महामत्स्य किसी मच्छको पकड़ ले तो दूसरा मच्छ उसको नही छुड़ा सकता । उसी प्रकार कर्मका उदय आनेपर जीवका कोई शरण नही होता ॥१७४०॥

आगे कहते हैं कि ऊपर जिनका वर्णन किया है, वे शरण नही है ऐसा मनमे दृढ निश्चय करके आगे कहे पदार्थ शरण है ऐसा विचारना चाहिये—

गा०—जीवके असातावेदनीय आदि कर्मका उदय होनेपर कर्मोंके नाशके कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप ही रक्षक है और शरण है ॥१७४१॥

इस प्रकार अशरणानुप्रेक्षाका कथन हुआ । आगे एकत्वानुप्रेक्षाका कथन करते है—

गा० - जीव बन्धु-बान्धवोंके निमित्त और शरीरके निमित्त पाप करता है । और बान्धवोंके तथा अपने शरीरके पोषणके लिये जो पापकर्म करता है उसका फल नरकादिमें अकेला ही भोगता है ॥१७४२॥

यहाँ कोई कह सकता है कि नरकादि गतियोमे वह जो दु:ख भोगता है उसे उसके बन्धुबान्धव नही देखते क्योंकि वे वहाँ नही है इसीसे वे कुछ कर नही सकते । इसके उत्तरमें कहते हैं कि निकट रहकर देखते हुए भी वे कुछ नही कर सकते—

गा०-टी०—अपने मनोयोग, वचनयोग और काययोगसे संचित कर्मका फल जब यह जीव भोगता है तो प्रत्यक्ष देखते हुए भी उसके बन्धुगण कुछ भी उसका प्रतीकार नही करते । इस

'**किंचिवि य करंति**' किंचिदपि प्रतीकारजालं न कुर्वन्ति । परत्रेह वा जन्मन्येक एवानुभवति जन्तुर्न तदीय-कर्मफलसंविभागकरणे समर्थः कश्चिदिति भावः ॥१७४३॥

तह तथा यथा दुःख स्वकर्मफलमेक एवानुभवति—

तह मरइ एक्कओ चेव तस्स ण विदिज्जगो हवइ कोई ।
भोगे भोत्तुं णियया विदिज्जया ण पुण कम्मफलं ॥१७४४॥

तथा स्वायुर्गलने । '**एक्कगो चेव मरदि**' एक एव प्राणांस्त्यजति । '**ण विदिज्जगो होइ कोई**' न सहायो भवति कश्चित् । तदीय मरणं संविभज्य गृहीत्वा सहायतां न कश्चित्करोतीत्यर्थः । अन्यथा एक एव म्रियते इत्यघटमाने बहूनामप्येकदा मरणात् । '**भोगे**' भुज्यन्तेऽनुभूयन्त इति भोगाः द्रव्याणि अशनवसनमुख-वासादीनि । भोक्तुमनुर्भावतुं निजका बान्धवाः । '**विदिज्जगा**' सहायाः । '**ण पुण**' न पुन. । '**कम्मफलं भोत्तुं णीयगा विदिज्जया**' तदीयकर्मफल भोक्तु न बन्धवस्सहायाः ॥१७४४॥

प्रकारान्तरेणैकत्वभावनामाचष्टे—

णीया अत्था देहादिया य संगा ण कस्स इह होंति ।
परलोगं अण्णेत्ता जदि वि दइज्जंति ते सुट्ठु ॥१७४५॥

'**णीगा अत्था**' बन्धवो धनं शरीरादिकाश्च परिग्रहा. कस्यचिदपि सम्बन्धिनो न यान्ति परलोकं प्रति प्रस्थित । यद्यपि सुष्ठु काम्यन्ते परिग्रहा. । गृहीत्वा तान्यदि नामास्य गन्तुमुत्कण्ठा तथापि ते नानुगच्छन्त्येक एव यातीत्येकत्वभावना ॥१७४५॥

इहलोगबंधवा ते णियया परस्स होंति लोगस्स ।
तह चेव धणं देहो संगा सयणासणादी य ॥१७४६॥

लोक और परलोकमें जीव अकेला ही भोगता है । उसके कर्मफलका बटवारा करनेमे समर्थ कोई भी नही है । यह इसका अभिप्राय है ॥१७४३॥

गा०-टी०—जैसे यह जीव अपने कर्मफलको स्वय ही भोगता है उसी प्रकार अपनी आयु समाप्त होनेपर अकेला ही प्राणोंको त्यागता है । दूसरा कोई भी उसका सहायक नही है । अर्थात् उसके मरणका भागीदार बनकर कोई भी उसकी सहायता नही करता । यदि एक ही मरता है ऐसा न हो तो एकके साथ बहुतोको मरण प्राप्त होता है । जो भोगे जाते हैं उन्हे भोग कहते हैं । भोजन, वस्त्र, मुखको सुवासित करनेवाले द्रव्य भोग हैं । भोगोको भोगनेमें तो अपने बन्धु-बान्धव सहायक होते हैं । किन्तु उसके कर्मोंका फल भोगनेमें कोई सहायक नही होता ॥१७४४॥

प्रकारान्तरसे एकत्व भावनाको कहते हैं—

गा०-टी०—बन्धु-बान्धव, धन और शरीर आदि परिग्रह किसीके नहीं होते । जब यह जीव परलोक जाता है तो उसके साथ नहीं जाते । यद्यपि मनुष्य परिग्रहोंसे बहुत अनुराग रखता है । वह यदि उनको पकड़कर साथ ले जाना चाहे तो भी वे उसके साथ नहीं जाते । जीव अकेला ही जाता है । यह एकत्व भावना है ॥१७४५॥

'इहलोगबन्धवा' अस्मिन्नेव जन्मनि बान्धवा । 'परस्स लोगस्स ण जियवा होंति' अन्यस्य जन्मनो न बन्धवो भवन्ति । 'तह चेव बंधवा इव धणं देहो संगा सयणासणादी य' धन शरीर शयनासनादयश्च परिग्रहा इह लोके एव न परजन्मनि उपकारका भवन्ति । एव हि ते बान्धवा परिग्रहाश्च सहाया इति ग्रहीतुं शक्यन्ते यद्यनपायितया उपकारिण स्यु । इह जन्मन्येव ये प्रयान्ति ते परलोक गच्छन्तमनुसरन्तीति का प्रत्याशा ॥१७४६॥

यद्येते बान्धवादयो न सहायाः कस्तर्हि सहाय इत्याशङ्कायामाचष्ट—

जो पुण धम्मो जीवेण कदो सम्मत्तचरणसुदमइओ ।
सो परलोए जीवस्स होइ गुणकारकसहाओ ॥१७४७॥

'जो पुण' य पुन. । 'जीवेण कदो धम्मो' जीवेन कृतो धर्म , 'सम्मत्तचरणसुदमइगो' रत्नत्रयरूपो दुर्गतिप्रस्थित जीव धारयति धत्ते वा शुभे स्थाने इति रत्नत्रय धर्म इत्युच्यते । 'सो' स व्यावर्णितो धर्म । 'जीवस्स' जीवस्य । 'परलोगे' परजन्मनि । गुणकारक सहायो भवति अभ्युदयनिश्रेयससुखप्रदानात् । तथा चोक्तं—

दत्त्वा द्यावापृथिव्योर्भयविषयरति शोकभीशुग्विषादां
कृत्वा लोकत्रयेश्य सुरनरपतिभिः प्राप्य पूजां विशिष्टाम् ।
मृत्युव्याधिप्रसूतिप्रियविगमजरारोगशोकप्रहीणे
मोक्षे नित्योरुसौख्ये क्षिपति निरुपमे यस्स नोऽव्यात्सुधर्मः ॥ इति ॥१७४७॥

ननु च [1]असहायत्वभावनाधिकारे सहायनिरूपणा कथमुपयुज्यते । नैष दोष यो [2]येन जन्तुना सहाय-

गा०–टी०—जो इस जन्ममे बान्धव है वे परलोकमे बान्धव नही होते । बान्धवोकी ही तरह धन, शरीर, शयन, आसन आदि परिग्रह भी इसी लोकमे काम आते है परलोकमे नही । यदि वे बान्धव और परिग्रह सदा रहनेवाले हो तो उन्हे सहायक कहा जा सकता है । जब वे इसी जन्ममे नष्ट हो जाते है तो वे परलोकमे जानेपर साथमे जायेगे, इसकी आशा कैसी ? ॥१७४६॥

यदि ये बन्धु आदि सहायक नही है तो कौन सहायक है ? इसका उत्तर देते है—

गा०–टी०—जीवने सम्यक्त्वचारित्र ज्ञानरूप अर्थात् रत्नत्रयरूप धर्म किया है जो दुर्गतिमे जानेवाले जीवका धारण करता है उसे शुभ स्थानमे धरता है वह धर्म है इस तरह रत्नत्रयको धर्म कहते हैं । वह धर्म परलोकमे जीवका गुणकारक सहायक होता है । क्योकि उससे सासारिक और पारमार्थिक सुख मिलता है । कहा है—

वह धर्म हमारी रक्षा करे जो मर्त्यलोक और स्वर्गलोकके भय, शोक और विषादसे रहित विषय सुखको देकर देवेन्द्रो और राजेन्द्रोमे विशिष्ट रूपसे पूजित तीन लोकोका स्वामी तीर्थङ्कर पद प्रदान करता है तथा अन्तमे मृत्यु, रोग, जन्म, प्रियवियोग, जरा, व्याधि और शोकसे रहित नित्य उत्कृष्ट और अनुपम सुखवाले मोक्षमे ले जाता है ।

शङ्का—यह अधिकार असहाय भावनाका है कि जीवका कोई सहाय नही है । इसमे सहायका कथन करना कैसे उचित है ?

१. असहायवचनाधिकारे –आ० । २ योऽनेन बन्धुना –आ० ।

त्वेनाध्यवसितो बान्धवादिरसौ सहायो न भवतीति न तत्रादरः कार्यः। सम्यक्त्वज्ञानचारित्रात्मकस्तु धर्मः। धर्मोऽपि जीवपरिणाम उपकारि सहाय इति। तत्रादरो क्रियते सूरिणा[1]। अतिशयितधर्मस्य सहा[2]यानिरूपणेन ज्ञातिधनादीनां तथाभूतसहायताभावात् प्रस्तुतैव सहायता समर्थिता भविष्यति। अत्रोच्यते। सम्यक्त्वादयः शुभपरिणामा प्रशस्तगतिजातिगोत्रसंघातसंहननायु सद्वेद्यादिकमात्मनि निधाय नश्यन्ति तेन देवो मानवः पञ्चेन्द्रियः पर्याप्तकः कुलीनः शुभनीरोगशरीरश्चिरजीवी सुखी भविष्यति। धर्मानुबन्धिनः पुण्यस्योदयात् दीक्षाभिमुखा बुद्धिर्निरतिचाररत्नत्रयसम्पत्तिश्च भविष्यतीति सम्भवत्युपकारसहायता धर्मस्य। ननु च ज्ञानपूर्वकत्वाच्चरणस्य 'सम्मत्तचरणसुदमइगो' इति कथमुपन्यस्तं? अयमस्याभिप्रायः सत्यपि श्रुतज्ञाने असंयतसम्यग्दृष्टेश्चारित्राभावान्न महान्तौ संवरनिर्जरे मुख्यगुणे भवतः। तस्मान्मुख्यार्थिनश्चारित्रं प्रधानं किंच तज्ज्ञानमुपायश्चारित्रमुपेयं अतः परार्थत्वाज्ज्ञानमप्रधानं उपेयत्वाच्चरणं प्रधानमिति। 'जो पुण धम्मो जीवेण कदो' इत्यनेन धर्मस्य सर्वथा नित्यत्वं प्रतिषिद्धं फलवैचित्र्यमनुभवसिद्धं, सर्वदैकरूपत्वं धर्मस्य विरुध्यते। सुखसाधनानां स्त्रीवस्त्रगन्धमाल्यादीनां वैचित्र्यात् तत्कार्यसुखस्याऽपि वैश्वरूप्यं नित्यत्वेऽपि धर्मस्य घटयेदिति चेत् अत्रोच्यते। अतिशयितानतिशयितसुखसाधनता तस्य धर्महेतुता न वेत्यत्र विकल्पद्वये धर्महेतुत्वाभ्युपगमे

समाधान—यह दोष उचित नही है क्योंकि जिस जीवने यहाँ जिस बन्धु आदिको अपना सहायक रूपसे माना हुआ है वह सहायक नही है इसलिये उसमे आदरभाव नहीं करना चाहिये। सम्यक्त्व ज्ञान चारित्ररूप धर्म जीवका परिणाम होनेसे उसका उपकारी सहायक है। इसलिये आचार्य उसमे आदर कराते है।

शङ्का—सातिशय धर्मके सहाय होनेका कथन न करके भी जाति बन्धु धन आदि उस प्रकारके सहायक नहो होनेसे प्रस्तुत धर्मादिके ही सहायक होनेका समर्थन होता है।

समाधान—सम्यक्त्व आदि शुभपरिणाम आत्मामे उत्तम गति, उत्तम जाति, उत्तम गोत्र, उत्तम संहनन, आयु, सातावेदनीय आदि कर्मो को उत्पन्न करके नष्ट हो जाते हैं। उन कर्मोंके उदयसे जीव, देव अथवा पचेन्द्रिय पर्याप्तक कुलीन, शुभ नीरोग शरीर वाला चिरजीवी और सुखी होता है तथा धर्मानुबन्धि पुण्यके उदयसे बुद्धि मुनिदीक्षाके अभिमुखी होती है और निरतिचार रत्नत्रयरूप सम्पत्ति होती है। अत धर्म सहायक और उपकारी है।

शङ्का—चारित्र ज्ञानपूर्वक होता है अत. ग्रन्थकारने 'सम्यक्त्वचारित्र श्रुतमतिक' कैसे कहा? यहाँ चारित्रके पश्चात् ज्ञानका निर्देश किया है?

समाधान—इसका अभिप्राय यह है कि असंयत सम्यग्दृष्टिके श्रुतज्ञान होनेपर भी चारित्रका अभाव होनेसे बहुत अधिक सवर और निर्जरा ये दोनो मुख्य गुण नहीं होते। इसलिये जो सवर और निर्जराके अर्थी हैं उनके लिये चारित्रकी प्रधानता है। तथा ज्ञान उपाय है और चारित्र उपेय है अतः परार्थ होनेसे ज्ञान अप्रधान है तथा उपेय—उपाय द्वारा प्राप्य होनेसे चारित्र प्रधान है। 'जो धर्म जीवने किया' ऐसा कहनेसे धर्मके सर्वथा नित्य होनेका निषेध किया है। धर्मके फलकी विचित्रता अनुभवसे सिद्ध है। अत धर्मकी सर्वदा एकरूपता आगम विरुद्ध है।

शङ्का—सुखके साधन स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला आदि अनेक हैं अतः उनका कार्य सुख भी अनेक रूप है। इस तरह धर्मको नित्य मानने पर भी फल की विचित्रता बन जाती है।

समाधान—कुछ साधन सातिशय सुखदायक होते हैं और कुछ साधारण सुखदायक होते

१. सहायनि—अ० मु०। २ वास—अ०।

कथं न वैचित्र्यं धर्मस्य। अथ न धर्मो हेतु [1]स्वहेतुसामान्यायत्तता[2]सुखसाधनानां सातिशयनिरतिशयत-याथत्त: फलविभाग इति धर्मस्यानर्थक्यमापद्यते। ततो न धर्मस्य सर्वथा नित्यता ॥१७४७॥

शरीरद्रविणादीनां असहायताभावनां तद्गोचरानुरागनिवर्तनमुखेन स्थिरयत्युत्तरगाथा—

बद्धस्स बंधणेण व ण रागो देहम्मि होइ णाणिस्स।
विससरिसेसु ण रागो अत्थेसु महाभयेसु तहा ॥१७४८॥

'**बद्धस्स बंधणेण व ण रागो**' रज्जुशृङ्खलादिभिर्बद्धस्य बन्धनक्रियासाधकतमे रज्ज्वादौ दु:खहेतौ यथा न राग.। तथा '**देहम्मि होदि णाणिस्स**' सुखदु:खसाधनविवेकज्ञस्य दु:खहेतावसारेऽस्थिरेऽशुचिनि काये न रागो भवति। गुणपक्षपातिनो हि प्राज्ञा.। '**विससरिसेसु**' विषसदृशेष्वपि '**ण रागो णाणिस्स**' ज्ञानिनो नैव राग। केषु ? '**अत्थेसु सव्वेसु**'। कथमर्थानां विषसदृशतेति चेत्। यथा विष दु:खदायि प्राणान्वियोजयति च तथार्थोऽप्यर्जनरक्षादिषु व्यापृत दु:खेन योजयति, प्राणाना च विनाशे निमित्त भवति। तथाहि। प्राणिनोऽर्थार्थं एव परस्पर प्रघाते प्रयतन्ते अतएव महाभयहेतुत्वान्महाभयतार्थाना सूत्रकारेणोक्ता। '**अत्थेसु महाभयेसु**' इति। यद्धि यस्यानुपकारि तस्य तस्मिन्न विवेकिन सहायबुद्धिर्यथा विषकण्टकादौ, अपकारि शरीरद्रविणादिकमिति पुन पुनरभ्यस्यतो नेतर सहायोऽयमिति चिन्ताप्रबन्ध प्रवर्तते ॥ एकत्त ॥१७४८॥

है। इसमें धर्म भी कारण है या नही ? यदि धर्म भी कारण है तो धर्ममें वैचित्र्य क्यो नही हुआ। यदि कहोगे कि धर्म कारण नहीं है, सुखके साधन अपने सामान्य कारणोके अधीन है और उनका जो सातिशय तथा निरतिशय फलभेद पाया जाता है वह भी उन्हीके अधीन है तो धर्म निरर्थक सिद्ध होता है। अत: धर्म सर्वथा नित्य नही है ॥१७४७॥

विशेषार्थ—यहाँ टीकाकारका धर्मसे अभिप्राय शुभ परिणामोंसे है। शुभ परिणामोकी हीनाधिकताके अनुसार पुण्यबन्धमें विचित्रता होती है और तदनुसार फलमे विचित्रता होती है ॥१७४७॥

शरीर धन आदिमे असहायताकी भावनाको उनके विषयमे जो अनुराग है उस अनुरागको हटानेके द्वारा स्थिर करते हैं—

गा०-टी०—जैसे पुरुष रस्सी साकल आदिसे बँधा है उसे बन्धन क्रियामे साधकतम रस्सी आदिमे राग नही होता क्योकि वे उसके दु:खमें हेतु हैं, उसी प्रकार जो अपने सुख और दु.खके साधनोंमे भेदको जानता है उसे दु:खके हेतु, असार, अस्थिर अशुचि शरीरमे राग नही होता। विद्वान्‌जन गुणोके पक्षपाती होते हैं। अत: विषके समान सब अर्थो मे ज्ञानीका राग नही होता।

शंका—सब अर्थ विषके समान कैसे हैं ?

समाधान—जैसे विष दु:खदायीहै, प्राण हरण कर लेता है वैसे ही अर्थ भी जो उसके उपार्जन और रक्षणमे लगता है उसे दु.ख देता है। तथा प्राणोके विनाशमे निमित्त होता है। इसका खुलासा इस प्रकार है—प्राणीगण अर्थके लिये ही परस्परमे घात करनेमे लगते हैं। इसीलिये ग्रथकारने महाभयका कारण होनेसे अर्थोको महाभयरूप कहा है। जो जिसका उपकार नही करता, बल्कि अनुपकार करता है विवेकी पुरुष उसे अपना सहायक नही मानते। जैसे विषकण्टक

---

१. सहेतु –अ० मु०। २. यत्तसु –अ० मु०।

अन्यत्वभावनानिरूपणार्थमुत्तर प्रबन्धः—

किहदा जीवो अण्णो अण्णं सोयदि हु दुक्खियं णीयं।
ण य बहुदुक्खपुरक्कडमप्पाणं सोयदि अबुद्धी ॥१७४९॥

'**किहदा अण्णो जीवो अण्णं णीगं किह सोयदिति**' पदघटना। अन्यो जीवो नीगं स्वस्मादन्यं ज्ञातिवर्गं। '**दुक्खिदं**' दुःखेनाभिभूतं, कथ तावच्छोचति। '**ण य सोयदि**' नैव शोचते। क? '**अप्पाणं**' आत्मानं? कीदृग्भूत '**बहुदुक्खपुरक्कड**' शारीरैरागंतुकै., मानसै, स्वाभाविकैश्च बहुभिर्दुःखैः पुरस्कृत। '**अबुद्धि**' मयाऽतीते काले चतसृषु गतिषु विचित्रासद्वेद्योदयात् द्रव्यक्षेत्रकालभावसहकारिकारणसान्निध्यापेक्षयानुपरतमापद प्राप्ताः पुनरप्यागमिष्यंति मां खलीकर्तुं। न हि कारणाभ्यासस्थितसहकारिप्रत्यये सति कार्यस्यानुद्भवो नामास्ति, यो यद्भावेपि नासादयेदुदयं स कथमिव तद्धेतुक? यथा सत्यपि यवबीजेऽनुपजायमानश्चूताङ्कुरः। तथा सत्यसद्वेद्योदये यदि न स्युर्भवन्ति च। तस्मादात्मप्रदेशावस्थितस्य दुःखबीजस्य केनोपायेनापायो भविष्यतीत्यकृतबुद्धितया अबुद्धि। एतदुक्तं भवति परस्य दुःखं आत्मन एव दुःखमिति मत्वा शोकमयमुपैति, तद्विनाशे च सततं प्रयत्न करोति। तथा च प्रवर्तमानस्य स्वदुःखनिवृत्तये न प्रारम्भोऽस्ति। ततोयं दुःखं भोज भोज पर्यटति। न च परो दुःखात्त्रातुं शक्यते। तेन हि सञ्चितानि कर्माणि कथं फलं न प्रयच्छन्ति। न हि परस्य शोक फलदायिना कर्मणा प्रतिबन्धक, तथा चान्यथापि—

आदिको कोई अपना सहायक नही मानता। उसी प्रकार शरीर धन वगैरह भी अपकार करनेवाले है। इस प्रकार बार-बार अभ्यास करनेसे 'मेरा कोई अन्य सहाय नही है। ऐसा सतत् चिन्तन चलता है ॥१७४८॥

आगे अन्यत्व भावनाका कथन करते हैं—

गा०–टी०—अन्य जीव अपनेसे अन्य सम्बन्धी जनोंको दुःखसे पीड़ित देखकर कैसे शोक करता है? किन्तु यह अज्ञानी शारीरिक, आगन्तुक, मानसिक और स्वाभाविक अनेक दुःखोंसे घिरे हुए अपने आत्माकी चिन्ता नही करता है कि अतीतकालमें मैंने चारो गतियोंमे अनेक प्रकारके असातावेदनीयके उदयसे तथा द्रव्य क्षेत्र काल और भावरूप सहकारी कारणोंके मिलनेसे निरन्तर आपदाएँ भोगी और वे आपदाएँ पुनः मुझे परेशान करनेके लिये भविष्यमें आयेंगी। सहकारी कारणोंके साथ कारणके रहते हुए कार्य अवश्य उत्पन्न होता है। जो जिसके रहते हुए भी उत्पन्न नहीं होता वह उसका कारण कैसे हो सकता है? जैसे जौ बोनेपर आमका अंकुर पैदा नही होता अतः आमके अंकुरका कारण जौके बीज नहीं हैं। उसी प्रकार असातावेदनीयका उदय होते हुए भी यदि दुःख नहीं होता तो असातावेदनीय दुःखका कारण नही हो सकता। किन्तु असातावेदनीयके उदयमें दुःख अवश्य होता है। अतः आत्माके प्रदेशोंमें जो दुःखके कारण उपस्थित हैं उनका विनाश किस उपायसे होगा, ऐसा विचार न करनेसे उसे अबुद्धि कहा है। कहनेका अभिप्राय यह है कि यह अज्ञानी जीव दूसरेके दुःखको अपना ही दुःख मानकर शोक करता है और उसके विनाशका निरन्तर प्रयत्न करता है। और ऐसा करनेसे अपने दुःखको दूर करनेका प्रारम्भ भी नही कर पाता। इससे दुःख भोगते-भोगते भ्रमण करता है। दूसरेको दुःखसे बचाना शक्य नही है। उसने जो कर्मबन्ध किया है वह उसे फल क्यों नहीं देगा? दूसरेके शोक करनेसे फल देनेवाले कर्म रुक नहीं जाते। कहा भी है—

प्रीति पूर्वं कृतं कर्म मनोवाक्कायकर्मभि ।
न निवारयितुं शक्यं ¹संहृतत्रिदशैरपि ॥ इति ॥

तेनान्यदुःखापेक्षः शोकोऽस्य व्यर्थः । अन्यशब्देन च स्वदु.खात्पृथक्त्वं परदु खस्योच्यते । अन्यत्र परदुःखागतस्यानुप्रेक्षणमन्यत्वानुप्रेक्षा एव परदु खस्यान्य²तामर प्रेक्षमाण. परदु खस्योपहनन कर्तुं न शक्यत इति न शोचति [परदु.खं], स्वदु.खोन्मूलने प्रयतत इति भावोऽस्य सूरे ॥१७४९॥

सर्वस्य जीवराशेरात्मनोऽन्यत्वस्यैवानुप्रेक्षणमन्यत्वानुप्रेक्षेति कथयत्युत्तरगाथा—

संसारम्मि अणंते सगेण कम्मेण हीरमाणाणं ।
को कस्स होइ सयणो सज्जइ मोहा जणम्मि जणो ॥१७५०॥

'संसारम्मि अणंते' अन्तातीते पञ्चविधे ससारे परिवर्तने । **'सगेण कम्मेण'** आत्मीयमिथ्यादर्शनादि परिणामोत्पादितकर्मपर्यायेण पुद्गलस्कन्धेन **'हीरमाणाण'** आकृष्यमाणाना बहुविधा गति प्रति । **'को कस्स होदि सयणो'** नैव कश्चित् कस्यचित्स्वजनो नाम प्रतिनियतोऽस्ति । युज्यतेऽय विवेक स्वजनोऽय परजनोऽयमिति यदि यो यस्य स्वजनत्वेनाभिमतस्स तस्यैव स्वजन सर्वदा भवेत् । परजनो वा स्वजनता नोपेयात् । न चायमस्ति प्रतिनियम' स्वकर्म परतन्त्राणामतो न कश्चित् स्वो जन परो वा ममास्ति । सर्वो जीवराशिमिथ्यात्वादिगुणविकल्पोपनीतनानात्वोऽन्य एवेति कृतव्यवसायस्य क्वचिदेव दया प्रीतिर्वा क्वचिन्निर्दयता द्वेषोऽसमानतारूपो न प्रादुर्भवति ततो विरागद्वेषस्य चारित्रमविकल्प भवति । **'सज्जदि जणंमि जणो'** आसक्ति

'पूर्वमे मन, वचन, कायसे जो कर्म किये हैं। सब इन्द्र भी मिलकर उनका निवारण नही कर सकते'।

इसलिये दूसरेके दु:खको देखकर इसका शोक करना व्यर्थ है। अन्य शब्दसे परके दु:खको अपने दु:खसे भिन्न कहा है। परके आगत दु खको अपनेसे भिन्न चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार परके दु:खको अपनेसे भिन्न विचार करता हुआ जानता है कि परके दु.खका विनाश करना शक्य नही है इसलिये वह उसका शोक नही करता। और अपने दु खके विनाशमे प्रयत्नशील रहता है। यह आचार्यका अभिप्राय है ॥१७४९॥

आगे कहते हैं कि समस्त जीवराशि अपनेसे अन्य है ऐसा चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है—

गा०-टी०—पचपरावर्तन रूप संसारके अनन्त होते हुए अपने मिथ्यादर्शन आदि परिणामोंसे उत्पन्न हुए पुद्गल स्कन्धरूप कर्म पर्यायके द्वारा अनेक गतियोमे भ्रमण करते हुए जीवका कौन किसका स्वजन है? यह स्वजन है और यह परजन है यह भेद हो सकता था यदि जो जिसका स्वजन है वह उसीका स्वजन सदा रहता और परजन कभी भी स्वजन न होता। किन्तु अपने-अपने कर्मोंके अधीन जीवोंका यह नियम नही हो सकता। अत न कोई मेरा स्वजन है और न कोई परजन है। मिथ्यात्व आदि गुणस्थानोके भेदसे नाना भेदरूप हुई समस्त जीवराशि मुझसे भिन्न ही है ऐसा जिसने निश्चय किया है उसका किसीमे ही दया और प्रीति और किसीमे निर्दयता और द्वेष यह असामनतारूप व्यवहार नही बनता। इसलिये जो राग-द्वेषसे रहित है

१. सहितैस्त्रिदशै –आ० । स्यानित्यतापेक्षमाण –आ० ।

करोति जन हि जनो ममायं भ्राता पिता पुत्रो भागिनेयो दासः स्वामीति[1], वा मोहाद्वस्तुतत्त्वस्य अन्यतामात्ररूपस्य निरस्तस्वजनत्वस्य[2] [3]परिज्ञानात् ॥१७५०॥

प्रकारांतरेण स्वजनपरजनविवेकाभाव दर्शयत्युत्तरगाथा—

सव्वो वि जणो सयणो सव्वस्स वि आसि तीदकालम्मि ।
एंते य तहाकाले होहिदि सजणो जणस्स जणो ॥१७५१॥

'**सव्वो वि जणो सजणो**' निरवशेषो जन्तुरनन्तः स्वजनः । '**सव्वस्स वि**' सर्वस्यापि प्राणभृत । '**तीदकालम्मि**' अतीते काले '**आसि**' आसीत् । '**एंते य तहा काले**' भविष्यति तथा काले । '**होहिदि**' भविष्यति । '**सजणो जणस्स जणो**' स्वजनो जनस्य जनः । एतदनेनाख्यायते अतीते भविष्यति च काले सर्वस्य सर्व. स्वजन असीद्भविष्यति च । ततस्सर्वसाधारणत्वे स्वजनत्वस्य सति ममायं स्वजन इति मिथ्यासंकल्प । [4]तेऽन्यस्मे ममाप्य[5]न्यस्तस्य इत्येतदेव तत्त्वमित्यन्यत्वस्य स्वपरविषयस्यानुप्रेक्षणमन्यत्वानुप्रेक्षा ॥१७५१॥

रत्तिं रत्तिं रुक्खे रुक्खे जह सउणयाण संगमणं ।
जादीए जादीए जणस्स तह संगमो होई ॥१७५२॥

'**रत्ति रत्ति**' रात्रौ रात्रौ । '**रुक्खे रुक्खे**' वृक्षे वृक्षे । '**जह सउणयाण संगमणं**' यथा पक्षिणां संगमन । '**जादीए जादीए**' जन्मनि जन्मनि । '**जणस्स**' जनस्य । '**तहा**' तथा । '**संगमो होदि**' संगमो भवति । यथा रात्रावाश्रयमन्तरेण स्थातुमसमर्थाः पक्षिणो योग्यं वृक्षमन्विष्य ढौकते । तद्वत्प्राणिनोपि निरवशेषगलितायु. पुद्गलस्कन्धा परित्यक्तप्राक्तनशरीरा शरीरांतरग्रहणार्थिनः शरीरग्रहणयोग्यदेश योनिसञ्ज्ञितमास्कन्दन्ति ।

उसका चारित्र सर्वत्र एकरूप होता है। यह मेरा भाई, पिता, पुत्र, भानेज, दास या स्वामी है इस प्रकार आसक्ति मनुष्य मोहवश करता है। वस्तुतत्त्व तो अन्यतामात्र रूप है उसमें कोई स्वजन नही है ॥१७५०॥

प्रकारान्तरसे स्वजन और परजनके भेदका अभाव कहते हैं—

गा०—अतीतकालमे सब प्राणियोंके समस्त अनन्त जीव स्वजन थे। तथा भविष्यत् कालमे सब प्राणियोंके सब जीव स्वजन होगे ॥१७५१॥

टी०—इस गाथासे यह कहा गया है कि अतीत कालमें सबके सब जीव स्वजन थे और भविष्यमे सबके सब जीव स्वजन होगे। इस प्रकार जब सभी जीव स्वजन हैं तो यह मेरा स्वजन है इस प्रकारका संकल्प मिथ्या है। वे मुझसे अन्य हैं और मै उनसे अन्य हूँ, इस स्वपरविषयक अन्यत्व तत्त्वका चिन्तन अन्यत्वानुप्रेक्षा है ॥१७५१॥

गा०—जैसे प्रत्येक रात्रिमें प्रत्येक वृक्षपर पक्षियोंका संगम होता है उसी प्रकार जन्म-जन्ममें मनुष्योंका संगम होता है ॥१७५२॥

टी०—जैसे रात्रिमें आश्रयके बिना रहनेमें असमर्थ पक्षी योग्य वृक्षको खोजकर उसपर बसेरा लेते हैं। उन्हींकी तरह संसारके प्राणी भी जब उनके आयुकर्मके पुद्गल स्कन्ध पूर्णरूपसे

---

१. ति श्यामो० –आ० । २. जनपरि –आ० । ३ अपरिज्ञानात् इति प्रतिभाति । ४ तेनान्यो ममाप्यनस्तेभ्य इत्यन्यदेव –आ० । ५ न्यस्त्यत्य इ –अ० ।

तत्र यथो. शुक्रशोणितमयमाश्रितोऽशुचितम तौ पितराविति सकल्पयति । तथाभूतयारेव शुक्रशोणितयोरुपात्त-देहा भ्रातर इति । अन्ये त एवभूताश्च स्वजनिनोतिसुलभा । कातारे पक्षिणा निवासवृक्षा इवेति भाव. ॥१७५२॥

पहिया उवासये जह तहिं तहिं अल्लियंति ते य पुणो ।
छंडित्ता जंति णरा तह णीयसमागमा सव्वे ॥१७५३॥

'**पहिया**' पथिका: । '**उवासये**' उपाश्रये कस्मिश्चित । '**जह**' यथा । '**तहि तहि**' तस्मिस्तस्मिन् ग्राम-नगरादौ । '**अल्लियंति**' अन्योन्य ढौकन्ते । '**ते य**' ते च सगता पथिका । '**पुणो**' पश्चात् । '**छंडित्ता**' त्यक्त्वा । '**जंति**' याति स्वाभिमतं देशं । '**तह णीयसमागमा सव्वे**' तथा बन्धुसमागमा सर्वेऽपि च । एतेन बन्धु-समागमस्यानित्यता व्याख्याता ॥१७५३॥

भिण्णपयडिम्मि लोए को कस्स सभावदो पिओ होज्ज ।
कज्ज पडि संबंधं वालुयमुट्ठीव जगमिणमो ॥१७५४॥

'**भिण्णपयडिम्मि लोगे**' नानास्वभावे लोके । '**को कस्स सभावदो पिओ होज्ज**' क कस्य स्वभावेन प्रियो भवेत् । समानशीलताया हि सख्यं भवति । न च सर्वबन्धव समानशीला कथ तर्हि तेषा वा स बान्धव । '**कज्जं पडि संबंधो**' कार्यमेवोद्दिश्य सम्बन्ध नासति कार्येऽस्ति सम्बन्ध । '**वालुगमुट्ठीव**' बालुका-मुष्टिरिव । '**जगमिणमो**' लोकोय । यथा बालुकानां भिन्नप्रकृतीना द्रवद्रव्यमतरेण न स्वाभाविक सम्बन्धो येन सगता मुष्टिमुपेयु । उदकादिद्रव्योपनीतैव सगतिस्तासा, एव कार्योपनीतैव सगति स्वजनाना ॥१७५४॥

गल जाते है, और वे पूर्व शरीरको छोड नवीन शरीर ग्रहण करना चाहते है, तो वे शरीर ग्रहण करनेके योग्य देशमे, जिसे योनि कहते है, जाते है। वहाँ उन्हे जिनके अत्यन्त अपवित्र रजवीर्य रूपका आश्रय प्राप्त होता है उन दोनोमे माता-पिताका सकल्प करते है। उसी प्रकारके रजवीर्यसे जिनके शरीर बनते हैं वे भाई होते है। वनमे पक्षियोके रहनेके वृक्षोंकी तरह इस प्रकारके स्वजनवास सुलभ है। यह उक्त गाथाका अभिप्राय है ॥१७५२॥

गा०—जैसे किसी उपाश्रयमे पथिक विभिन्न ग्राम नगर आदिमे परस्परमे मिलते है। पीछे वे सब उस उपाश्रयको छोडकर अपने-अपने देशको चले जाते है। उसी प्रकार सब बन्धु-बान्धवोका समागम है। इससे बन्धुसमागमको भी अनित्य कहा है ॥१७५३॥

गा०-टी०—लोगोंके अलग-अलग स्वभाव होते है। ऐसे नाना स्वभाववाले लोकमे कौन किसको स्वभावसे प्रिय हो सकता है। समानशील वालोंमे ही मित्रता होती है। किन्तु सब बन्धु-बान्धव तो समान शीलवाले नहीं होते। तब कैसे वह उनका बन्धु हो सकता है। कार्यको लेकर ही सम्बन्ध होता है। कार्यके न रहनेपर सम्बन्ध नही रहता। जैसे रेतका प्रत्येक कण अपना भिन्न स्वभाव रखता है। किसी मिलानेवाले द्रव्यके बिना उनका परस्परमे कोई स्वाभाविक सम्बन्ध नही है। पानी आदिके सम्बन्धसे ही वे परस्परमे मिलते है। अन्यथा मुट्ठीमे अलग-अलग ही रहते हैं। इसी प्रकार स्वजन भी कार्यवश ही परस्परमे मिलते है ॥१७५४॥

---

१ अन्यत्र ए-आ० । २. स्वजातयाति –आ० ।

त च कार्यकृतं सम्बन्धं स्पष्टयत्युत्तरगाथा—

माया पोसेइ सुयं आधारो मे भविस्सदि इमोत्ति ।
पोसेदि सुदो मादं गब्भे धरिओ इमाएत्ति ॥१७५५॥

'**माया पोसेवि सुवं**' माता पोषयति सुतं । '**आधारो मे भविस्सवि इमोत्ति**' अयं ममाधारो भविष्यतीति । '**पोसेवि सुदो मावं**' पोषयति सुतो मातरं । '**गब्भे धरिवो इमाएत्ति**' गर्भे धारितोऽनयेति ॥१७५५॥

उपकारापकारयोः प्रतिबन्धात् शत्रुता मित्रता वेति तत् कथयति—

होउण अरी वि पुणो मित्तं उवकारकारणा होइ ।
पुत्तो वि खणेण अरी जायदि अवयारकरणेण ॥१७५६॥

'**होऊण अरी वि**' शत्रुरपि भूत्वा । '**पुणो**' पुनः । '**मित्तो होदि**' सुहृद्भवति । स एवारिः । कुतः ? '**उपकारकरणा**' उपकारकरणेन । '**पुत्तोवि खणेण अरी जायदि**' पुत्रोऽपि क्षणेन शत्रुर्भवति, केन ? अपकारकरणेन, निर्भर्त्सनताडनाद्यपकरणक्रियायाः । यस्मादेवं ॥१७५६॥

तम्हा ण कोइ कस्सइ सयणो व जणो व अत्थि संसारे ।
कज्जं पडि हुंति जगे णीया व अरी व जीवाणं ॥१७५७॥

'**तम्हा**' तस्मात् । '**ण कोइ कस्सइ सयणो व जणो व अत्थि संसारे**' नैव कश्चित्कस्यचित्स्वजनः परजनो वा विद्यते । '**कज्ज पडि होदि णीगा व अरी व जन**' कार्यमेवोपकारापकारलक्षणं प्रति बन्धवः शत्रवश्च भवति । न स्वाभाविकी बन्धुता शत्रुता वा जीवानामस्ति उपकारापकारक्रिययोरनवस्थितत्वात्सम्भूतोऽरिमित्रभावोऽप्यनवस्थित इति न रागद्वेषौ क्वचिदपि कार्यौ । मत्तोऽन्ये सर्व एव प्राणभृत इति कार्यान्यत्वानुप्रेक्षेति प्रस्तुताधिकारेणाभिसम्बन्धः ॥१७५७॥

आगे उस कार्यवश हुए सम्बन्धको दृढ करते हैं—

गा०—यह मेरा बुढ़ापेमें आधार होगा इस भावनासे माता पुत्रका पालन करती है और पुत्र माताका पालन करता है कि इसने मुझे गर्भमें धारण किया था ॥१७५५॥

आगे कहते हैं कि शत्रुता और मित्रता उपकार और अपकारसे बँधे है—

गा०—शत्रु होकर भी उपकार करनेसे मित्र हो जाता है । अपकार करनेसे पुत्र भी क्षणभरमे शत्रु हो जाता है । अर्थात् यदि पुत्र माता पिताका तिरस्कार करता है उन्हे मारता है तो वह शत्रु ही प्रतीत होता है ॥१७५६॥

गा०—इसलिये संसारमें कोई किसीका न स्वजन है और न परजन है । उपकार और अपकार रूप कार्यको लेकर ही जीवोंके मित्र या शत्रु बनते हैं ॥१७५७॥

टी०—जीवोमे न तो स्वाभाविक शत्रुता है और न स्वाभाविक बन्धुता है । उपकार और अपकाररूप क्रिया भी स्थायी नही है इसलिये उपकार मूलक मित्रता और अपकारमूलक शत्रुता भी स्थायी नही है । अतः न किसीसे राग करना चाहिये और न किसीसे द्वेष करना चाहिये । सभी प्राणी मुझसे अन्य है इस प्रकार अन्यत्वानुप्रेक्षा करना चाहिये ॥१७५७॥

शत्रुमित्रयोर्लक्षणमाचष्टे—

जो जस्स वट्टदि हिदे पुरिसो सो तस्स बंधवो होदि ।
जो जस्स कुणदि अहिदं सो तस्स रिवुत्ति णायव्वो ॥१७५८॥

'जो जस्स वट्टदि हिदे' यो यस्य उपकारे वर्तते । **'पुरिसो'** पुरुष । **'सो तस्स बंधवो होदि'** स तस्य बन्धुर्भवति । **'जो जस्स कुणदि अहिदं'** यो यस्य करोत्यहित । **'सो तस्स रिउत्ति णायव्वो'** स तस्य रिपुरिति ज्ञातव्य: ॥१७५८॥

शत्रुलक्षणं बन्धुषु दर्शयति—

णीया करंति विग्घं मोक्खब्भुदयावहस्स धम्मस्स ।
कारिंति य अइबहुगं असंजमं तिव्वदुक्खकरं ॥१७५९॥

'णीया करंति विग्घं' बन्धव कुर्वन्ति विघ्नं । कस्य ? **'धम्मस्स'** धर्मस्य, **'कीदृश'** ? **'मोक्खब्भुदयावहस्स'** निरवशेषदु खकारिकर्मापाय सासारिकमतिशयवत् सुख च सपादयतो रत्नत्रयस्य । **'कारंति य'** कारयन्ति च । किं ? **'असंयमं'** हिंसानृतस्तेयादिक, **'अदिबहुगं'** अतीव महान्त । **'तिव्वदुक्खकरं'** दु सह-नरकादिदु खोत्थापनोद्यत । हितस्य विघ्नकरणादहिते च प्रवर्तनात् दर्शिता शत्रुता बन्धूनामेतेन । अन्येषा बान्धवाद्यभिमताना शत्रुत्वेनानुप्रेक्षण अन्यत्वानुप्रेक्षेति कथित भवति ॥१७५९॥

इदानीमन्यशब्देन साधवो भण्यते तेषामुपकारकत्वरूपेणानुप्रेक्षेति चेतसि कृत्वा व्याचष्टे—

णीया सत्तू पुरिसस्स हुंति जदिधम्मविग्घकरणेण ।
कारेंति य अतिबहुगं असंजमं तिव्वदु:खयरं ॥१७६०॥

शत्रु और मित्रका लक्षण कहते है—

गा०—जो पुरुष जिसका उपकार करता है वह उसका बान्धव होता है। और जो जिसका अहित करता है वह उसका शत्रु होता है। यह मित्र और शत्रुका लक्षण जानना ॥१७५८॥

आगे बन्धुओमे शत्रुका लक्षण दिखलाते है—

गा०-टी०—बन्धुगण दु:ख देनेवाले सब कर्मोंका पूर्णरूपसे विनाश और ससारका सातिशय दु:ख देनेवाले रत्नत्रयरूप धर्ममे विघ्न करते हैं। और दु सह नरकादिके दु:खोको लानेमें तत्पर हिंसा, झूठ, चोरी आदि असंयम कराते हैं। अर्थात् यदि कोई जिनदीक्षा आदि लेकर आत्म-कल्याणमें लगना चाहता है तो परिवारके लोग उसे रोकते है तथा अपने पोषणके लिये मनुष्यको बुरे कर्म करनेकी प्रेरणा करते है। तो हितसाधनमे विघ्न करनेसे और अहितमे लगानेसे बन्धु शत्रु है, यह इससे दिखलाया है। इसका अभिप्राय यह है कि जो अन्य बान्धव आदि रूपसे इष्ट है उन्हें भी शत्रु रूपसे विचारना कि ये मेरे मित्र नही हैं, शत्रु है, अन्यत्वानुप्रेक्षा है ॥१७५९॥

अब अन्य शब्दसे साधुओंको लेते हैं। उन्हे उपकारी रूपसे विचारना अन्यत्वानुप्रेक्षा है, यह कहते हैं—

गा०—पुरुषके यति धर्म स्वीकार करनेमे विघ्न करनेसे बन्धुगण शत्रु होते हैं तथा वे

[1]अन्यथा यतीनां बन्धुत्वं कथं [2]प्रस्तुतायां अन्यत्वानुप्रेक्षायामुपयुज्यते ॥१७६०॥

पुरिसस्स पुणो साधू उज्जोवं संजणंति जदिधम्मे ।
तध[3] तिव्वदुक्खकरणं असंजमं परिहरावेंति ॥१७६१॥

'**पुरिसस्स**' पुरुषस्य । '**पुणो साधू**' साधवः पुन. '**उज्जोवं संजणंति**' उद्योगं सम्यग्जनयन्ति । '**जदिधम्मे**' सर्वारंभपरिग्रहत्यागलक्षणे यतिधर्मे, '**तध असंजमं परिहरावेंति**' तथा असंयम परिहारयन्ति । कीदृग्भूतं ? '**तिव्वदुक्खयरं**' तीव्राणां दुःखानामुत्पादकं ॥१७६१॥

उपसंहरति प्रस्तुतमर्थं—

तम्हा णीया पुरिसस्स होंति साहू अणेयसुहहेदु ।
संसारमदीणंता णीया य णरस्स होंति अरी ॥१७६२॥

'**तम्हा**' तस्मात् । हिते प्रवर्त्तनात् अहिते निवर्तनात् । '**णीया पुरिसस्स**' बन्धवःपुरुषस्य । के ? '**साधू**' साधव । '**अणेगसुखहेदू**' इन्द्रिया[4]तीन्द्रियसकलसुखहेतव । '**संसारमदीणंता**' संसारमपारनेकदुःखसंकुलमवतारयन्त. । '**णीया य णरस्स होंति अरी**' शत्रवो भवन्ति मनुष्यस्य बन्धव । एतेन सूत्रेण अन्येषां यतीनां बन्धूना मित्रत्वशत्रुत्वानुप्रेक्षणं अन्यत्वानुप्रेक्षेति कथ्यते । एवमनुप्रेक्षमाणस्य धर्मे तदुपदेशक.रिणि च यतिजने महानादरो भवति । अभिमत सकलं सुखमुपस्थापयतो धर्मस्य विघ्नं सम्पादयत्सु चतुर्गतिघटीयन्त्रे[5] दुखतार-[6]आरोहयत्सु नितरामनादरो भवति ॥१७६२॥ अण्णत्तं ।

संसारानुप्रेक्षा कथ्यते प्रबन्धेनोत्तरेण—

मिच्छत्तमोहिदमदी संसारमहाडवी तदोदीदि ।
जिणवयणविप्पणट्ठो महाडवीविप्पणट्ठो वा ॥१७६३॥

अत्यन्त दु सह दु खदायी असयम कराते हैं इसलिये भी वे शत्रु हैं ॥१७६०॥

गा०—किन्तु साधु सर्व आरम्भ और सर्व परिग्रहके त्यागरूप मुनिधर्ममें पुरुषको तत्पर करते हैं और तीव्र दु खदायी असंयमका त्याग कराते हैं ॥१७६१॥

प्रस्तुत कथनका उपसंहार करते हैं—

गा०-टी०—अत हितमे लगाने और अहितसे रोकनेके कारण साधुगण बन्धु हैं। वे इन्द्रियजन्य और अतीन्द्रिय सुखके कारण हैं तथा अनेक दुःखोंसे भरे अपार संसारसे पार उतारते हैं। इस गाथाके द्वारा अपनेसे अन्य साधुगणोंका मित्ररूपसे और बन्धुगणोंका शत्रुरूपसे चिन्तन करनेको अन्यत्वानुप्रेक्षा कहा है। ऐसा चिन्तन करनेसे धर्ममें और धर्मका उपदेश करनेवाले साधुगणमे महान आदर होता है। और सर्व इष्ट सुखको देनेवाले धर्ममें विघ्न करनेवालोंमें और जिसपरसे उतरना दुष्कर है उस चार गतिरूपी घटीयंत्रपर चढ़ाने वालोमें अत्यन्त अनादर होता है ॥१७६२॥

---

१. अन्येषां —आ० मु० । २. कथमप्र —आ० मु० । ३. असंजमं परिहरावेंति तिव्वदुक्खपर —आ० । ४, यानिन्द्रि —आ० मु० । ५. यन्त्रे दु खभारे आ —आ० मु० । ६. आरोहत्सु —अ० मु० ।

'मिच्छत्तमोहिदमदी' वस्तुयाथात्म्याश्रद्धानं दर्शनमोहोदयज मिथ्यात्व तेन मिथ्यात्वेन हेतुना मोहमुपगता मतिर्यस्यासौ । 'संसारमहाडवीं' ससारो महाटवी [1]दुरुत्तरत्वादनेकदुःखावहत्वाद्विनाशयितु-मुद्यतत्वाच्च तां ससारमहाटवीं । 'तवो' तस्मात् मिथ्यात्वमूढमतित्वात् । 'अवीदि' प्रविशति । ननु च मिथ्या-त्वासयमकषाययोगाश्चत्वारोऽपि संसारस्य निमित्तभूता तत्र किमुच्यते मिथ्यात्वमूढमतिः ससारमहाटवी प्रविशतीति । अत्रोच्यते—उपलक्षण मिथ्यात्वग्रहणं असयमादीना । 'जिणवयणविप्पणट्ठो' द्रव्यभावकर्मा-रातिजयात् जिनास्तेषा वचन जीवाद्यर्थयाथात्म्यप्रकाशनपटु प्रत्यक्षादिप्रमाणातराविरोधि ततो विप्रनष्टस्तदर्था-परिज्ञानात् यस्तत्वाश्रद्धानं तन्निरूपितेन मार्गेणानाचरणाच्च महाटवीं महतीमटवी प्रविशति । 'विप्पणट्ठो वा' मार्गाद्विप्रनष्ट इव । 'ससारमहोवधिमविगम्म जीवपोतो भमदि' ससारमहासमुद्र प्रविश्य जीवयानपात्र भ्रमति । कीदृग्भूतं संसारमहोदधि ॥१७६३॥

बहुतिव्वदुक्खसलिलं अणंतकायप्पवेसपादालं ।
चदुपरिवट्टावत्तं चदुगदिबहुपट्टमणंतं ॥१७६४॥

'बहुतिव्वदुक्खसलिलं' बहूनि तीव्राणि दु खानि सलिलानि यस्मिन्संसारमहोदधौ तं । 'अणंतकायप्पवेस पादालं' अनंताना जीवाना काय शरीरमनतकाय अनन्तकाय [2]प्रवेशास्ते पातालसंस्थानीया यस्य त । अथवा न विद्यते अन्तो निश्चयोऽस्यैव जीवस्येद शरीरमिति बहूना साधारणत्वात् यस्मिन् काये सोऽनत कायोऽस्य

आगे संसार अनुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

गा०-टी०—दर्शनमोहके उदयसे जो वस्तुके यथार्थस्वरूपका अश्रद्धान है उसे मिथ्यात्व कहते हैं। उस मिथ्यात्वके कारण जिसको मति मोहित है वह मिथ्यात्वसे मोहितमति होनेसे ससाररूपी महा अटवीमे प्रवेश करता है। महाअटवीके समान ही ससारको पार करना कठिन है वह अनेक दु:खोसे भरा है तथा प्राणीका विनाश करनेवाला है इसलिये ससारको महाटवी कहा है।

शंका—मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग ये चारों भी ससारके हेतु है। तब यह क्यो कहा कि मिथ्यात्वसे जिसकी मति मूढ है वह संसार महाटवीमे प्रवेश करता है।

समाधान—मिथ्यात्वका ग्रहण असंयम आदिका उपलक्षण है अत मिथ्यात्वके ग्रहणसे असयम आदिका ग्रहण हो जाता है। द्रव्यकर्म और भावकर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेसे जो जिन कहे जाते है उनके वचन जीवादि पदार्थोके यथार्थ स्वरूपको प्रकाशनमे दक्ष है तथा वे प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाणोसे अविरुद्ध है। उन वचनोका अर्थ न जाननेसे जो तत्त्वोका अश्रद्धान है उससे तथा उसमे कहे गये मार्गके अनुसार आचरण न करनेसे ससाररूपी महाअटवीमे प्रवेश करता है। तथा मार्गसे भ्रष्ट होकर जीवरूपी जहाज ससाररूपी महासमुद्रमे प्रवेश करके भटकता है ॥१७६३॥

संसाररूपी महासमुद्र कैसा है, यह बतलाते हैं—

गा०-टी०—जिस ससाररूपी महासमुद्रमें तीव्र दु:खरूपी जल भरा है और अनन्त जीवोके काय अर्थात् शरीरको अनन्तकाय कहते हैं। अनन्तकायमें प्रवेश ही जिस संसार समुद्रमे पाताल हैं। अथवा 'यह शरीर इसी जीवका है' ऐसा अन्त अर्थात् निश्चय जहाँ नही वह काय अनन्त है

---

१. दुस्तरत्वाद् बहुत्वा –आ० मु० । २. कायस्य प्र०, आ० ।

जीवस्येत्यनन्तकाय । अन्तरेणापि भावप्रधानो निर्देशः । तेनायमर्थः अनन्तकायत्वस्य प्रवेश अनन्तकाय-प्रवेशः स पातालं यस्य तं । 'चदुपरिवट्टावत्तं' चत्वारः द्रव्यक्षेत्रकालभावाख्या परिवर्ता आवर्ता यस्मिस्तं । 'चदुगदिबहुपट्टणं' चतस्रो गतयो बहूनि महान्ति पत्तनानि यस्मिस्तं । 'अणंतं' अनन्त ॥१७६४॥

हिंसादिदोसमगरादिसावदं दुविहजीवबहुमच्छं ।
जाइजरामरणोदयमणेयजादीसदुम्मीयं ॥१७६५॥

'हिंसादिदोसमगरादिसावदं' हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहा हिंसादिदोषास्ते मकरादय श्वापदा यस्मिस्तं । 'दुविहजीवबहुमच्छं' द्विविधा स्थावरजङ्गमविकल्पा जीवा इति द्विविधा जीवास्ते बहवो मत्स्या यस्मिस्तं । 'जादिजरामरणोदयं' जातिरभिनवशरीरग्रहणं, जरा नाम गृहीतस्य शरीरस्य तेजोबलादिभिरूनता, मरणं शरीरादपगम एतानि जातिजरामरणानि उदयं उद्गतिर्यस्मिस्तं । 'अणेयजादीसदुम्मीयं' अनेकानि जातिशतानि ऊर्मयो यस्मिस्त । एकद्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियजातयः प्रत्येकमवान्तरभेदापेक्षया पृथिवीकायिका, अप्कायिकास्तेजस्कायिकवनस्पतिकायिका इति । एकेन्द्रियजातिरनेकप्रकारा । षड्त्रिंशद्विकल्पा पृथिवी । आपोऽपि वर्षहिमहिमानीकरकादिभेदभिन्ना । अग्निरपि प्रदीपोल्मुकमर्चिरित्यनेकभेदः । वायुरपि गुञ्जामण्डलिकादिविकल्पः । वनस्पतयोऽपि तरुगुल्मवल्लीलतातृणादिभेदास्ततो जातिशतानीत्युक्तं ॥१७६५॥

क्योकि एक शरीरमे बहुतसे जीव समानरूपसे रहते हैं। वह अनन्तकाय जिस जीवकी है वह अनन्तकाय है । 'भाव प्रत्ययके बिना भी निर्देश भावप्रधान होता है' इस नियमके अनुसार अर्थ होता है अनन्त कायत्वका प्रवेश अनन्तकाय प्रवेश । वही जिसमें पाताल है । तथा द्रव्य क्षेत्र काल और भाव परिवर्तन रूप जिसमें चार भँवर हैं । और चारगतिरूप महान् द्वीप हैं तथा जो अनन्त है ॥१७६४॥

विशेषार्थ—संसारको महासमुद्रकी उपमा दी है । समुद्रमें जल होता है ससारमें दुःख ही जल है । जैसे जलका आरपार नही हैं वैसे ही संसारके दुःखका भी आदि अन्त नहीं है । समुद्रमें पाताल होते हैं जिनमे प्रवेश करके निकलना कठिन है । संसारमे जो अनन्तकाय निगोद हैं वही पाताल है उसमे प्रवेश करके निकलना कठिन है । समुद्रमें भँवर होते है । संसारमे परिवर्तनरूप भँवर हैं । समुद्रमे द्वीप होते हैं जहाँ कुछ समय ठहर सकते हैं । ससारमें चार गतियाँ ही द्वीप हैं । इसी प्रकार समुद्र भी अनन्त है और संसार भी ॥१७६४॥

गा०-टी०—उस संसाररूपी समुद्रमें हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहरूपी मगर आदि क्रूर जन्तु रहते हैं । स्थावर और जंगम जीवरूप बहुतसे मच्छ हैं । जाति अर्थात् नया शरीर धारण करना, जरा अर्थात् वर्तमान शरीरके तेज बल आदिमें कमी होना, मरण अर्थात् शरीरका त्याग । ये जाति जरा और मरण उसके उठाव हैं तथा सैकडो जातियाँरूपी उसमे तरंगें हैं । एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये पाँच जातियाँ हैं । इसमेंसे प्रत्येकके अनेक अवान्तर भेद हैं । जैसे एकेन्द्रिय जातिके पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वनस्पतिकायिक आदि अनेक भेद हैं । उनमेंसे भी पृथिवीके छत्तीस भेद है । जलके भी वर्षा, हिम, ओले आदि भेद हैं । आगके भी दीपक, अंगार, लपट आदि अनेक भेद है । वायुके भी गुंजा, माण्डलिक आदि भेद हैं । वनस्पतिके भी वृक्ष, झाड़ी, बेल, लता, तृण आदि भेद हैं । इसीसे सैकड़ों जातियाँ कही हैं ॥१७६५॥

दुविहपरिणामवादं संसारमहोदधिं परमभीमं ।
अदिगम्म जीवपोदो भमइ चिरं कम्मभण्डभरो ॥१७६६॥

'दुविहपरिणामवादं' द्विविधा शुभाशुभपरिणामा वाता यस्मिंस्त । **'परमभीमं'** अतिभयंकरं । **'अदिगम्म'** प्रविश्य । **'जीवपोदो'** जीवपोत । **'भमइ चिरं'** चिरकालं भ्रमति । **'कम्मभण्डभरो'** कर्मद्रविणभार । त्रिभिः सम्बन्धः ॥१७६६॥

भवसंसारं निरूपयति—

एगविगतिगचउपंचिंदियाण जाओ हवंति जोणीओ ।
सव्वाओ ताओ पत्तो अणंतखुत्तो इमो जीवो ॥१७६७॥

'एगविगतिगचउपंचिंदियाण' नामकर्म गतिजात्यादिविचित्रभेद । तत्र जातिकर्म पञ्चविकल्पं एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियजातिविकल्पेन तासां जातीनामुदयात् । एकेन्द्रियतादिपर्यायभाजो जीवा एकेन्द्रियादिशब्देनोच्यन्ते । तेषामेकेन्द्रियादीना योनय आश्रया बादरसूक्ष्मपर्याप्तकापर्याप्तकाख्या जीवद्रव्याणामिहाश्रयत्वेन विवक्षिता । **'सचित्तशीतसंवृता सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनय'** [त० सू० २।३२] इति सूत्रे ये निर्दिष्टाश्चतुरशीतिशतसहस्रविकल्पास्त इह न गृह्यन्ते । यत सूत्रान्तरे देवत्वनारकत्वमनुष्यत्वतिर्यक्त्वाख्या भवपर्यायपरावृत्तिर्भवसंसार इत्युक्त ।

णिरयादिजहण्णादिसु जाव दु उवरिल्लया दु गेवज्जा ।
मिच्छत्तसंसिदेण दु भवट्ठिदी भज्जिदा बहुसो ॥ इति वचनात् ॥

योनयो न भवशब्दवाच्या । जीवपर्यायो हि भवस्तत्र भव संसारस्त्रिशद्विध —पृथिव्यप्तेजोवायुवन-

---

गा०- कर्मरूपी भाण्डसे भरा हुआ जीवरूपी जहाज शुभ अशुभ परिणामरूप वायुसे युक्त अतिभयकर ससार महासागरमे प्रवेश करके चिरकाल तक भ्रमण करता है ॥१७६६॥

अब भवसंसारका कथन करते है—

गा०-टी०—नामकर्मके गतिनामकर्म जातिनामकर्म आदि अनेक भेद है । उनमेसे जातिनामकर्मके पाँच भेद है—एकेन्द्रिय जातिनाम, दोइन्द्रिय जातिनाम, त्रीन्द्रिय जातिनाम, चतुरिन्द्रिय जातिनाम और पञ्चेन्द्रिय जातिनाम । उन जातिनाम कर्मो के उदयसे एकेन्द्रिय आदि पर्यायमे जन्म लेनेवाले जीव एकेन्द्रिय आदि शब्दसे कहे जाते हैं । उन एकेन्द्रिय आदिकी बादर सूक्ष्म पर्याप्त और अपर्याप्त योनियोंको यहाँ जीवद्रव्यका आश्रय कहा है । तत्त्वार्थ सूत्रके 'सचित्तशीतसंवृता:' इत्यादि सूत्रमे जो चौरासी लाख योनियाँ कही हैं, यहाँ उनका ग्रहण नही किया है । क्योंकि उसी तत्त्वार्थसूत्रके 'ससारिणो मुक्ताश्च' सूत्रकी सर्वार्थसिद्धि टीकामे देव, नारकी, मनुष्य और तिर्यञ्च नामक भवपर्यायके परावर्तनको भवससार कहा है । कहा है—'इस जीवने नरकगति आदिकी जघन्य स्थितिसे लेकर उपरिम ग्रैवेयक पर्यन्त अनेक भवस्थितियोंको मिथ्यात्वके ससर्गसे भोगा है ।'

अत. भवशब्दसे योनियाँ नहीं कही जाती । जीवकी पर्यायको भव कहते हैं । भवसंसार तीस प्रकारका है—पृथिवीकाय, जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकायमेंसे प्रत्येकके

स्पतिकाया: प्रत्येकं बादरसूक्ष्मपर्याप्तकापर्याप्तविकल्पाद्विंशतिविधा: । द्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञासंज्ञिविकल्पा: पञ्चेन्द्रियाश्च पर्याप्तापर्याप्तकविकल्पा दशविधा । अन्ये तु भवपरिवर्तनमेवं [1]वदन्ति । नरकगतौ सर्वजघन्य-मायुर्दशवर्षसहस्राणि । तेनायुषा तत्रोत्पन्न पुन. परिभ्रम्य तेनैवायुषा तत्र जायते । एवं दशवर्ष-सहस्राणां यावन्त समयास्तावत्कृत्वा तत्रैव जातो मृत: । पुनरेकसमयाधिकभावेन त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमापितानि । तत प्रच्युत्य तिर्यग्गतौ अन्तर्मुहूर्तायु:समुत्पन्न: । पूर्वोक्तेन क्रमेण त्रीणि पल्योपमानि परि-समापितानि । तत: प्रच्युत्य एवं मनुष्यगतौ । देवगतौ नारकवत् । अयं तु विशेष, एकत्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमापितानि यावत्तावद्भवपरिवर्तना सर्वास्ता भवन्ति इति । अनन्तवारमयं प्राप्तो जीव: ॥१७६७॥

द्रव्यपरिवर्तनमुच्यते—

अण्णं गिण्हदि देहं तं पुण मुत्तूण गिण्हदे अण्णं ।
घडिजंतं व य जीवो भमदि इमो दव्वसंसारे ॥१७६८॥

'**अण्णं गेण्हदि देहं**' अन्यच्छरीरं गृह्णाति । '**तं पुण मुत्तूण**' तच्छरीरं मुक्त्वा पुनरन्यद् गृह्णाति । '**घटीयंत्रमिव जीवो**' घटीयन्त्रवज्जीव । यथा घटीयन्त्र अन्यज्जलं गृह्णाति तत त्यक्त्वा पुनरन्यदादत्ते एवमयं शरीराणि गृह्णन् मुञ्चश्च भ्रमति । शरीराणि विचित्राणि द्रव्यशब्देनोच्यन्ते तत्स्वात्मन: परिवर्तन

बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त चार भेद होनेसे बीस भेद होते है । तथा दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, असञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रिय और संज्ञीपञ्चेन्द्रियके पर्याप्तक और अपर्याप्तक भेद होनेसे दसभेद होते है ।

अन्य आचार्य भवपरिवर्तनका स्वरूप इस प्रकार कहते हैं—

नरकगतिमें सबसे जघन्य आयु दस हजार वर्षकी है । कोई जीव उस आयुको लेकर नरकमें उत्पन्न हुआ । पुन परिभ्रमण करके उतनी ही आयुको लेकर नरकमें उत्पन्न हुआ । इस प्रकार दस हजार वर्षोंके जितने समय होते है उतनी बार दस हजार वर्षकी आयु लेकर नरकमे उत्पन्न हुआ और मरा । पुन दस हजार वर्षकी आयुमे एक-एक समय बढ़ाकर नरकमें उत्पन्न होते हुए वहाँकी उत्कृष्ट आयु तेंतीस सागर पूर्ण की । नरककी आयु पूर्ण करनेके पश्चात् तिर्यञ्च-गतिमें एक अन्तर्मुहूर्तकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ और मरा । नरकगतिमें कहे क्रमानुसार तिर्यञ्चगतिकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्य पूर्ण की । तिर्यञ्चगतिके समान मनुष्यगतिकी आयु पूर्ण की और नरकगतिके समान देवगतिकी आयु पूर्ण की । किन्तु इतना विशेष है कि उपरिम ग्रैवेयककी उत्कृष्ट आयु इकतीस सागर पूर्ण होने पर समस्त भवपरिवर्तन हो जाते हैं । ऐसे भवपरिवर्तन इस जीवने अनन्तवार किये हैं ॥१७६७॥

द्रव्यपरिवर्तनको कहते हैं—

गा०-टी०—घटीयन्त्रकी तरह जीव अन्य शरीरको छोडकर अन्य शरीरको ग्रहण करता है । उसे भी छोड़कर अन्य शरीरको ग्रहण करता है । जैसे घटीयन्त्र नया जल ग्रहण करता है उसे निकालकर फिर नया जल ग्रहण करता है । उसी प्रकार यह जीव शरीरोंको ग्रहण करता और छोडता हुआ भ्रमण करता है । द्रव्यशब्दसे विचित्र शरीर कहे है । आत्माके शरीरोंका

---

१. सर्वार्थसि० २।१० ।

द्रव्यसंसार इति सूत्रकारस्यास्य व्याख्या स्थूलबुद्धीनुद्दिश्य । एवं तु द्रव्यपरिवर्तनं ग्राह्यं । द्रव्यपरिवर्तनं द्विविधं—नोकर्मपरिवर्तनं कर्मपरिवर्तनं चेति । तत्र नोकर्मपरिवर्तनं नाम त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्या ये पुद्गला एकेन जीवेन एकस्मिन्समये गृहीता स्निग्धरूक्षवर्णगन्धादिभिस्तीव्रमन्दमध्यमभावेन च यथावस्थिता द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णा अगृहीताननन्तवारानतीत्य, मिश्रकाश्च अनन्तवारानतीत्य मध्ये गृहीतागृहीतांश्च अनन्तवारानतीत्य त एव तेनैव प्रकारेण तस्यैव जीवस्य नोकर्मभावमापद्यन्ते यावत्तावत्स-मुदितं नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनं । कर्मद्रव्यपरिवर्तनमुच्यते—एकस्मिन्समये एकेन जीवेन अष्टविधकर्मभावेन ये च गृहीता. समयाधिकावलिकामतीत्य द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णा. पूर्वोक्तेनैव क्रमेण त एव तेनैव प्रकारेण तस्य जीवस्य कर्मभावमापद्यन्ते यावत्तावत्कर्मद्रव्यपरिवर्तनं ॥१७६८॥

रंगगदणडो व इमो बहुविहसंठाणवण्णरूवाणि ।
गिण्हदि मुञ्चदि य ठिदं जीवो संसारमावण्णो ॥१७६९॥

'**रंगगदणडो व**' रंगप्रविष्टनट इव । '**इमो**' अयं '**बहुविहसंठाणवण्णरूवाणि**' बहुविधसंस्थानवर्णस्वभा-वान् । '**गिण्हदि य [1]मुञ्चदि य अठिदं**' गृह्णाति मुञ्चति च [2]अस्थितं । क्रियाविशेषणमेतत् । '**जीवो संसार-मावण्णो**' जीवो द्रव्यसंसारमापन्न. ॥१७६९॥

क्षेत्रसंसारं निरूपयति—

जत्थ ण जादो ण मदो हवेज्ज जीवो अणंतसो चेव ।
काले तदम्मि इमो ण सो पदेसो जए अत्थि ॥१७७०॥

परिवर्तन द्रव्यसंसार है । ग्रन्थकारने स्थूलबुद्धि वालोको लक्ष करके द्रव्यसंसारका यह स्वरूप कहा है, किन्तु द्रव्यपरिवर्तन इस प्रकार लेना ।

द्रव्यपरिवर्तनके दो भेद है—नोकर्म परिवर्तन और कर्म परिवर्तन । उनमेसे नोकर्म परि-वर्तन इस प्रकार है—तीन शरीर और छह पर्याप्तियोके योग्य जो पुद्गल एक जीवने एक समयमे ग्रहण किये, उनमे जैसा स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण रहा हो और तीव्र, मन्द या मध्यम भावसे वे ग्रहण किये गये हो, दूसरे आदि समयोमे उन्हे भोगकर छोड दिया । उसके पश्चात् अनन्तवार अगृहीत-को ग्रहण करके, अनन्तवार मिश्रको ग्रहण करके, मध्यमे गृहीत और अगृहीतको अनन्तवार ग्रहण करके वे ही पुद्गल उसी जीवके उसी प्रकारसे जब नोकर्म रूपको प्राप्त होते है, उस सबको नोकर्म परिवर्तन कहते है । अब कर्मद्रव्य परिवर्तन कहते हैं—एक समयमे एक जीवने आठ कर्म-रूपसे जो पुद्गल ग्रहण किये और एक समय अधिक एक आवली कालके पश्चात् द्वितीय आदि समयोमे उन्हे भोगकर छोड़ दिया । नोकर्म परिवर्तनमे कहे क्रमके अनुसार वे ही कर्मपुद्गल उसी जीवके उसी प्रकारसे जब कर्मरूपसे आते है उस सबको कर्मद्रव्य परिवर्तन कहते है ॥१७६८॥

गा०—जैसे रंगभूमिमे प्रविष्ट हुआ नट अनेक रूपोको धारण करता है उसी प्रकार द्रव्य-संसारमे भ्रमण करता हुआ जीव निरन्तर अनेक आकार, रूप, स्वभाव आदिको ग्रहण करता और छोड़ता है ॥१७६९॥

---

१. दि य ठिद आ० । २. अवस्थित —आ० मु० ।

'जत्थ ण जादो ण मदो हवेज्ज' यत्र क्षेत्रे जातो मृतो वा न भवेज्जीव । **'अणंतसो चेव'** अनन्त-वारान् । **'कालेतीदम्मि इमो'** अतीते कालेऽयं । **'ण सो पदेसो जगे अत्थि'** नासौ प्रदेशो जगति विद्यते । अन्ये तु क्षेत्रपरिवर्तनं—जगति सूक्ष्मनिगोदजीवो पर्याप्तकः सर्वजघन्यप्रदेशशरीरो लोकस्याष्टमध्यप्रदेशान् स्वशरीर-मध्यप्रदेशान् कृत्वोत्पन्न , क्षुद्रभवग्रहणं जीवित्वा मृत., स एव पुनस्तेनैवावगाहेन द्विरुत्पन्नस्तथा त्रिश्चतुरिति । एवं यावन्तोऽङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमिताकाशप्रदेशास्तावत्कृत्वा तत्रैव जनित्वा पुनरेकैकप्रदेशाधिकभावेन सर्वलोक आत्मनो जन्मक्षेत्रभावमुपनीतो भवति यावत्तावत् क्षेत्रपरिवर्तनं । उक्त च—

> **सव्वम्हि लोगखेत्ते कमसो तं णत्थि जण्ण उप्पण्णं ।**
> **ओगाहणा य बहुसो परिभमिदो खेत्तसंसारे ॥ [बा० अणु० २६]॥१७७०॥**

कालपरिवर्तनमुच्यते—

> **तक्कालतदाकालसमएसु जीवो अणंतसो चेव ।**
> **जादो मदो य सव्वेसु इमो तीदम्मि कालम्मि ॥१७७१॥**

'तक्कालतदाकालसमयेसु' उत्सर्पिण्यवसर्पिणीसंज्ञितयो कालयोर्ये समयास्तेषु । **'जीवो अणंतसो चेव'** जीवोऽनन्तवारान् । **'जादो मदो य सव्वेसु'** जातो मृतश्च सर्वेषु समयेषु । **'इमो तीदम्मि कालम्मि'** अयम-तीते काले । इयमस्या गाथाया प्रपञ्चव्याख्या—उत्सर्पिण्या प्रथमसमये जात. कश्चिज्जीव. स्वायुष परिस-माप्तौ मृत , स एव पुनर्द्वितीयाया उत्सर्पिण्या द्वितीयसमये जात स्वायुष क्षयान्मृत । स एव पुनस्तृतीयाया-

---

अब क्षेत्रससारको कहते हैं—

गा०—जगत्मे ऐसा कोई प्रदेश नही है जहाँ यह जीव अतीत कालमे अनन्तवार जन्मा और मरा न हो ॥१७७०॥

टी०—अन्य आचार्य क्षेत्रपरिवर्तनका स्वरूप इस प्रकार कहते हैं—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव सबसे जघन्य प्रदेशवाला शरीर लेकर लोकके आठ मध्यप्रदेशोंको अपने शरीरके मध्य प्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ और क्षुद्रभव ग्रहण करके एक श्वासके अठारहवें भाग समय तक जिया और मरा। वही जीव पुन उसी अवगाहनाको लेकर उसी स्थानमें दुबारा उत्पन्न हुआ, तिबारा उत्पन्न हुआ, चौथी बार उत्पन्न हुआ। इस तरह अगुलके असख्यातवें भाग प्रमाण आकाशमे जितने प्रदेश होते हैं उतनी बार वही उत्पन्न हुआ। पुनः एक-एक प्रदेश बढ़ाते-बढ़ाते सर्वलोकको अपना जन्मक्षेत्र बनाया। इस सबको क्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं। कहा भी है—

सर्व लोकक्षेत्रमे ऐसा कोई स्थान नही है जहाँ यह क्रमसे उत्पन्न नहीं हुआ। अनेक अव-गाहनाके साथ इस जीवने क्षेत्र संसारमे परिभ्रमण किया ॥१७७०॥

कालपरिवर्तनको कहते हैं—

गा०—यह जीव अतीत कालमे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके सब समयोमें अनन्त बार उत्पन्न हुआ और अनन्तबार मरा ॥१७७१॥

टी०—इस गाथाकी विस्तृत व्याख्या इस प्रकार है—उत्सर्पिणी कालके प्रथम समयमे उत्पन्न हुआ कोई जीव अपनी आयुके समाप्त होनेपर मरा। वही जीव पुनः दूसरी उत्सर्पिणीके

उत्सर्पिण्यास्तृतीयसमये जात' । एवमनेन क्रमेण उत्सर्पिणी परिसमाप्ता तथा चावसर्पिणी । एव जन्मनैरन्तर्य-मुक्तं । मरणस्यापि नैरन्तर्यं तथैव ग्राह्यमेवं तावत्कालपरिवर्तनं । उक्तं च—

'उवसप्पिणिअवसप्पिणिसमयावलिगासु णिरवसेसासु ।
जावो मदो य बहुसो भमणेण दु कालसंसारे ॥' [बा०, अणु० २७] ॥१७७१॥

स्पन्दनससार निरूपयत्युत्तरगाथा—

अट्ठपदेसे मुत्तूण इमो सेसेसु सगपदेसेसु ।
तत्तमिव अद्धरणं उव्वत्तपरत्तणं कुणदि ॥१७७३॥

'अट्ठपदेसे मुत्तूण' अष्टौ प्रदेशान्रुचकाकारान् मुक्त्वा । **'इमो'** अय जीव । **'सेसेसु सगपदेसेसु'** शेषेषु स्वप्रदेशेषु **'तत्तमिव अद्दहण'** तप्तजलमध्यस्थतन्दुलवत् । **'उव्वत्त परत्तणं कुणदि'** उद्वर्तन परावर्तन करोति । एतया गाथया स्वप्रदेशेषु ससारनामात्मन. क्षेत्रससारत्वेनोच्यते ॥१७७३॥

भावसंसारोत्तरप्रतिपादनार्थं गाथा—

लोगागासपएसा असंखगुणिदा हवंति जावदिया ।
तावदियाणि हु अज्झवसाणाणि इमस्स जीवस्स ॥१७७४॥

'लोगागासपदेसा' लोकाकाशस्य प्रदेशा । **'असंखगुणिदा'** असख्यगुणिता । **'हवंति जावदिया'** यावन्तो भवन्ति । **'तावदियाणि हु अज्झवसाणाणि'** तावदध्यवसायस्थानानि भवन्ति । **'इमस्स जीवस्स'** अस्य जीवस्य । जीवस्य असख्यातलोकप्रमाणेष्वध्यवसायसज्ञितेषु भावेषु परावृत्तिभविससार ॥१७७४॥

दूसरे समयमे उत्पन्न हुआ और अपनी आयुके समाप्त होने पर मरा। वह जीव पुन तीसरी उत्सर्पिणीके तीसरे समयमे उत्पन्न हुआ। इस क्रमसे उसने उत्सर्पिणी समाप्त की और इसी क्रमसे अवसर्पिणी समाप्त की। अर्थात् उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके सब समयोमे क्रमसे जन्मा। तथा इसी प्रकार उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके सब समयोमे मरा भी। इस सबको काल परिवर्तन कहते है। कहा भी है—

कालससारमे भ्रमण करनेसे यह जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके सब समयोंमे अनेक बार जन्मा और अनेक बार मरा ॥१७७१॥

आगे क्षेत्रसंसाररूप स्पन्दन संसारको कहते हैं—

गा०—लोकके मध्यमे स्थित गौके स्तनके आकार आठ प्रदेशोको छोड़कर यह जीव अपने शेष प्रदेशोमे तप्त जलके मध्यमे स्थित चावलोकी तरह उद्वर्तन परावर्तन किया करता है। अर्थात् जैसे आग पर रखे गर्म जलमें पड़े हुए चावल ऊपर नीचे हुआ करते है उसी प्रकार आठ मध्य प्रदेशोको छोड़कर जीवके शेष प्रदेश चल रहते है ॥१७७३॥

भाव संसारका कथन करते हैं—

गा०—लोककाशके प्रदेशोंको असख्यातसे गुणा करनेपर जितनी राशि होती है उतने ही इस जीवके अध्यवसाय स्थान होते हैं। इन असंख्यात लोक प्रमाण अध्यवसाय नामक भावोंमें जीवके परावर्तनको भाव संसार कहते हैं ॥१७७४॥

अज्झवसाणट्ठाणंतराणि जीवो विकुव्वइ इमो दु ।
णिच्चं पि जहा सरडो गिण्हदि णाणाविहे वण्णे ॥१७७५॥

'**अज्झवसाणट्ठाणंतराणि जीवो विकुव्वइ इमो दु**' अध्यवसायस्थानान्तराणि जीवः परिणमत्ययं । '**णिच्चंपि**' नित्यमपि, '**जधा सरडो णाणाविहे वण्णे**' यथा गोधा नानाविधान्वर्णानुपादत्ते । एवं संसार' ॥१७७५॥

तस्य भयमुपदर्शयति—

आगासम्मि वि पक्खी जले वि मच्छा थले वि थलचारी ।
हिंसंति एक्कमेक्कं सव्वत्थ भयं खु संसारे ॥१७७६॥

'**आयासम्मि वि पक्खी**' आकाशे संचरन्त परकीयपक्षिणोऽपि बाधन्ते । '**जले वि मच्छा**' जलेऽपि मत्स्या । '**थले वि थलचारी**' भूमावपि भूमिचारिण । '**हिंसंति**' बाधन्ते । '**एक्कमेक्कं**' अन्योन्य । '**सव्वत्थ भय खु संसारे**' सर्वत्र भयं ससारे ॥१६७६॥

गा०—जैसे गिरगिट नित्य ही नाना प्रकारके रंग बदलता है वैसे ही यह जीव अध्यवसाय स्थानोको धारण करता हुआ परिणमन करता है ॥१७७५॥

विशेषार्थ—भावपरिवर्तनका विस्तृत स्वरूप इस प्रकार है—पञ्चेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि कोई जीव सबसे जघन्य अपने योग्य ज्ञानावरण कर्मका अन्त कोटिकोटी सागर प्रमाण स्थितिबन्ध करता है। उस जीवके उस स्थितिबन्धके योग्य असंख्यात लोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थान होते है। उनमेंसे सबसे जघन्य कषायाध्यवसायस्थानमें निमित्त असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थान होते है। इस प्रकार सबसे जघन्य स्थिति, सबसे जघन्य कषायाध्यवसाय स्थान, सबसे जघन्य ही अनुभागबन्ध स्थानको प्राप्त उस जीवके उसके योग्य सबसे जघन्य एक योगस्थान होता है। फिर उसी स्थिति, उसी कषाय स्थान और उसी अनुभागस्थानको प्राप्त उस जीवके दूसरा योगस्थान होता है जो पहलेसे असंख्यात भागवृद्धियुक्त होता है। इस प्रकार श्रेणिके असंख्यातवे भागप्रमाण योगस्थानोके समाप्त होनेपर पुन वही स्थिति और उसी कषायाध्यवसायस्थानको प्राप्त उसी जीवके दूसरा अनुभागाध्यवसायस्थान होता है। उसके भी योगस्थान पूर्ववत् जानना चाहिये। इस प्रकार तीसरे आदि असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थानोके समाप्त होनेपर उसी स्थितिको प्राप्त उसी जीवके दूसरा कषायाध्यवसायस्थान होता है। उसके भी अनुभागाध्यवसायस्थान पूर्ववत् जानना। इस प्रकार तीसरे आदि कषायाध्यवसायस्थानोके समाप्त होनेपर वही जीव एक समय अधिक जघन्यस्थितिको बाँधता है। उसके भी कषायादि स्थान पूर्ववत् जानना। इसी प्रकार एक-एक समय अधिकके क्रमसे ज्ञानावरण कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोडी सागर पूर्ववत् बाधता है। इसी प्रकार सब मूलकर्मों और उनकी उत्तर प्रकृतियोंकी सब स्थितियोंको उक्त प्रकारसे बांधता है। इस सबको भावपरिवर्तन कहते हैं ॥१७७५॥

संसारसे भय दर्शाते हैं—

गा०—आकाशमें विचरण करते हुए पक्षियोंको दूसरे पक्षी बाधा देते हैं। जलमें मच्छ बाधा करते हैं। थलमें थलचारी बाधा करते हैं। इस प्रकार सर्वत्र एक दूसरेकी हिंसा करते हैं। अतः संसारमें सर्वत्र भय है ॥१७७६॥

ससगो वाहपरद्धो बिलत्ति णाऊण अजगरस्स मुहं ।
सरणत्ति मण्णमाणो मच्चुस्स मुहं जह अदीदि ॥१७७७॥

'ससगो वाहपरद्धो' शशो व्याधेनोपद्रुत, **'बिलत्तिणाऊण अजगरस्य मुहं'** बिलमिति ज्ञात्वा अजगरस्य मुखं । **'सरणत्ति मण्णमाणो'** शरणमिति मन्यमान । **'मच्चुस्स मुहं जह अदीदि'** मृत्योर्मुखं यथा प्रविशति ॥१७७७॥

तह अण्णाणी जीवा परिद्धमाणच्छुहादिवाहेहिं ।
अदिगच्छंति महादुहहेदुं संसारसप्पमुहं ॥१७७८॥

'तह अण्णाणी जीवा' तथा अज्ञानिनो जीवा । **'परिद्धमाणच्छुहादिवाहेहिं'** [1]अनुबाध्यमाना क्षुदादिभि. व्याधै । **'अदिगच्छंति'** प्रविशन्ति । **'महादुहहेदुं'** महतो दु खस्य निमित्त । **'संसारसप्पमुहं'** संसारसर्पमुखं ॥१७७८॥

जावदियाइं सुहाइं होंति लोगम्मि सव्वजोणीसु ।
ताइंपि बहुविधाइं अणंतखुत्तो इमो पत्तो ॥१७७९॥

'जावदियाइं' यावन्ति । **'सुहाणि होंति लोगम्मि'** सुखानि भवन्ति लोके । **'सव्वजोणीसु'** सर्वासु योनिषु । **'ताइंपि बहुविधाइं'** तान्यपि बहुविधानि । **'अणंतखुत्तो इमो पत्तो'** अनन्तवारमय जीवः प्राप्त ॥१७७९॥

दुक्खं अणंतखुत्तो पावेत्तु सुहंपि पावदि कहिं वि ।
तह वि य अणंतखुत्तो सव्वाणि सुहाणि पत्ताणि ॥१७८०॥

'दुक्खं अणंतखुत्तो पावेत्तु सुहंपि पावदि कहिंवि' दु खमपि अनन्तवार प्राप्य सुखमपि प्राप्नोति कथचित् । **'तह वि य अणंतखुत्तो'** तथाप्यनन्तवारं **'सव्वाणि सुहाणि पत्ताणि'** सर्वाणि सुखानि प्राप्तानि गणभृता चक्रवर्तिनां पञ्चानुत्तरविमानवासिनां लौकान्तिकानामहमिन्द्राणां च सुखानि मुक्त्वा ॥१७८०॥

गा०—जैसे खरगोश व्याधसे सताया जानेपर बिल समझकर अजगरके मुखमें प्रवेश करता है । वह उसे अपना शरण मानकर मृत्युके मुखमे प्रवेश करता है ॥१७७७॥

गा०—उसी प्रकार अज्ञानी जीव भूख प्यास आदि व्याधोके द्वारा पीडित होनेपर महान् दुःखमें निमित्त संसाररूपी सर्पके मुखमे प्रवेश करते है ॥१७७८॥

गा०—लोकमे सब योनियोंमें जितने प्रकारके सुख होते हैं उन सब अनेक प्रकारके सुखोंको भी इस जीवने अनन्तबार भोगा है ॥१७७९॥

गा०—अनन्तबार दु खोंको प्राप्त करके कदाचित् सुखको भी प्राप्त करता है । तथापि अनन्तबार इस जीवने सब सुखोंको प्राप्त किया है ॥१७८०॥

टी०—किन्तु गणधर, चक्रवर्ती, पांच अनुत्तर विमानबासी, लौकान्तिक और अनुदिश विमानवासी देवोंका सुख इस जीवने प्राप्त नही किया, क्योकि ये चक्रवर्तीको छोड़कर शेष सब नियमसे सम्यग्दृष्टि होनेसे मोक्षगामी होते हैं । और चक्रवर्ती पद बार-बार प्राप्त नही होता है ॥१७८०॥

---

१. अनुभाव्यमाना क्षुदादिभिर्व्याधैः व्याधैश्च –आ० मु० ।

करणेहिं होदि विगलो बहुसो चिरवचिसोदणियोहिं ।
घाणेण य जिब्भाए चिट्ठाबलविरियजोगेहिं ॥१७८१॥

'करणेहिं होदि विगलो' विकलेन्द्रियः क्वचिद्भवति । 'बहुसो' बहुशः । 'चिरवचिसोदणियोहिं' मनसा वचसा श्रोत्रेण नेत्रेण करणेन हीनः । स्पर्शनेन्द्रियवैकल्यासंभवात् तदनुपन्यासः । 'घाणेण य' घ्राणेन च । 'जिब्भाए' जिह्वया । 'चेट्ठाबलविरियजोगेहिं' चेष्टया बलेन वीर्येण च ॥१७८१॥

जच्चंधबहिरमूओ छादो तिसिओ वणे व एयाई ।
भमइ सुचिरंपि जीवो जम्मवणे णट्ठसिद्धिपहो ॥१७८२॥

'जच्चंधबधिरमूगो' जात्यन्धो, बधिरो, मूक. । 'छादो' क्षुधा पीडितः, 'तिसिदो' तृषाभिभूतः । 'वणे व एगागी भवदि' असहायो यथा वने भ्रमति । तथा 'सुचिरंपि' चिरकालमपि । जीवो 'जम्मवणे' जन्मवने भ्रमति । 'णट्ठसिद्धिपहो' नष्टसिद्धिमार्गः । उक्तं च—

कलुषचरितैर्नष्टज्ञानस्सुसंचितकर्मभि[1], करणविकलः कर्मोद्भूतो भवार्णवपाततः ।
सुचिरमवशो दुःखार्तो [2]निमीलितलोचनो, भ्रमति कुपथी नष्टत्राणः शुभेतरकर्मकृत् ।
श्रवणविकलो वाग्घीनोऽन्धो क्षुधावृतलोचनः, तृषितमलिनो नष्टोऽरण्यां चरेदसहायकः ।
असकृदसकृत् गृह्णन् मुञ्चंश्चराचरदेहतां, भ्रमति सुचिरं जन्माटव्यां तथायमदेशकः ॥इति॥१७८२॥

एइंदियेसु पंचविधेसु वि उत्थाणवीरियविहूणो ।
भमदि अणंतं कालं दुक्खसहस्साणि पावेंतो ॥१७८३॥

'एगिंदियेसु पंचविधेसु वि' एकेन्द्रियेषु पञ्च प्रकारेष्वपि । पृथ्व्यप्तेजोवायुवनस्पतिशरीरधारिषु ।

गा०—यह जीव बहुत बार मन, वचन, श्रोत्र, नेत्र, घ्राण और जिह्वा इन्द्रिय तथा चेष्टा बल और वीर्यसे हीन विकलेन्द्रिय होता है ।

टी०—किसी प्राणीका स्पर्शन इन्द्रियसे हीन होना तो असंभव है अतः उसका कथन नहीं किया है ॥१७८१॥

गा०-टी०—कभी यह जीव जन्मसे ही अन्धा, बहिरा, गूँगा होता है और भूख तथा प्यास से पीड़ित होकर जैसे कोई मार्ग भूलकर वनमे अकेला भटकता है उसी प्रकार मोक्षमार्गसे भ्रष्ट होकर जन्मरूपी वनमें अकेला भ्रमण करता है । कहा भी है—अपने बुरे आचरणोंसे संचित किये कर्मोके द्वारा अपना ज्ञान खोकर यह जीव विकलेन्द्रिय होता है तथा कर्मोसे प्रेरित हो संसाररूपी समुद्रमें गिरकर चिरकाल तक पराधीन हो, आंख बन्द करके भ्रमण करता है । उसका कोई रक्षक नहीं होता । जैसे कोई बहरा, गूँगा अन्धा मूर्ख प्राणी प्याससे व्याकुल हो, मार्ग भूलकर अकेला वनमें भटकता है । उसी प्रकार यह संसारी प्राणी मार्गदर्शकके बिना बार-बार त्रसस्थावर पर्यायको ग्रहण करता और छोड़ता हुआ चिरकाल तक जन्मरूपी वनमे भ्रमण करता है ॥१७८२॥

गा०—पृथिवी, जल, तेज, वायु और वनस्पतिका शरीर धारण करनेवाले पाँच प्रकारके

---

१. कर्मोद्भूतभ —आ० । २. तौन्धं नि —मु० ।

'उत्थाणवीरियविहीणो' पृथिव्याविकायान् परित्यज्य त्रसकायप्राप्तिनिमित्तोत्थानवीर्यरहित । 'भमदि अणतं कालं' भ्रमति अनन्तकालं । 'दुक्खसहस्साणि पावेंतो' दु:खसहस्राणि प्राप्नुवन् ॥१७८३॥

बहुदुक्खावत्ताए संसारणदीए पावकलुसाए ।
भमइ वरागो जीवो अण्णाणनिमीलिदो सुचिरं ॥१७८४॥

'बहुदुक्खावत्ताए' बहुदु:खावर्तायां । 'संसारणदीए' संसृतिनद्यां । 'पावकलुसाए' पापकलकसहितायां । 'वरागो जीवो भमदि' दीनो जीवो भ्रमति । 'सुचिरं अण्णाणनिमीलिदो' अज्ञानेन निमीलित. ॥१७८४॥

विसयामिसारगाढं कुजोणिणेमि सुहदुक्खदढखीलं ।
अण्णाणतुंबधरिदं कसायदढपट्टियाबंधं ॥१७८५॥

'विसयामिसारगाढं' विषयाभिलाषारैर्गाढं स्तब्ध । 'कुजोणिणेमि सुहदुक्खदढखील' कुत्सितयोनि-नेमिकं सुखदु:खदृढकील । 'अण्णाणतुंबधरिदं' अज्ञानतुबधारित । 'कसायदढपट्टिगाबद्ध' कषायदृढ-पट्टिकाबन्धं ॥१७८५॥

बहुजम्मसहस्सविसालवत्तणिं मोहवेगमहिचवलं ।
संसारचक्कमारुहिय भमदि जीवो अणप्पवसो ॥१७८६॥

'बहुजम्मसहस्सविसालवत्तणिं' अनेकजन्मसहस्रविशालमार्गं । 'मोहवेगं' मोहवेग । 'संसारचक्कमारु-हिय' एवंभूत संसारचक्रमारुह्य । 'अणप्पवसो जीवो भमदि' अनात्मवशो जीवो भ्रमति ॥१७८६॥

भारं णरो वहंतो कहिंचि विस्समदि ओरुहिय भारं ।
देहभरवाहिणो पुण ण लहंति खणं पि विस्समिदु ॥१७८७॥

'भारं णरो वहंतो' भार वहन्नर. । 'कहचि भारमोरुहिय' कस्मिश्चिद्देशे काले च भारमवतार्य । 'विस्समदि' विश्राम्यति । 'देहभरवाहिणो पुण' देहभारोद्वाहिनो जीवा पुन. । 'न लभंति खणं पि विस्समिदुं' न लभन्ते क्षणमपि विश्राम कर्तुं । औदारिकवैक्रियिकयोर्विनष्टयोरपि कार्माणतैजसयोरवस्थानात् ॥१७८७॥

एकेन्द्रियोमें यह जीव हजारो कष्ट भोगता हुआ अनन्तकाल तक भ्रमण करता है । उसमे इतनी भी शक्ति नही होती कि पृथिवी आदि कायोका त्याग करके त्रसकायकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न कर सके ॥१७८३॥

गा०—अज्ञानमे पडा हुआ यह बेचारा जीव पापरूपी मैले पानीसे भरी और बहुत दु:ख-रूपी भँवरोसे युक्त ससाररूपी नदीमे चिरकाल भ्रमण करता है ॥१७८४॥

गा०—यह ससाररूपी चक्र (पहिया) विषयोंकी अभिलाषारूपी आरोसे जकड़ा हुआ है, कुयोनिरूपी नेमि—हाल उसपर चढी हुई है। उसमे सुख दु.खरूपी मजबूत कीले लगी हैं। अज्ञानरूपी तुम्बपर वह स्थित है, कषायरूपी दृढ पहियोसे कसा हुआ है। अनेक हजार जन्मरूपी उसका विशाल मार्ग है। उसपर वह ससार चक्र चलता है। मोहरूपी वेगसे अतिशीघ्र चलता है। ऐसे संसाररूपी चक्रपर सवार होकर यह पराधीन जीव भ्रमण करता है ॥१७८५-८६॥

गा०-टी०—भारवाही मनुष्य तो किसी देश और कालमे अपना भार उतारकर विश्राम कर लेता है। किन्तु शरीरके भारको ढोनेवाले जीव एक क्षणके लिये भी विश्राम नही पाते। औदारिक

कम्माणुभावदुहिदो एवं मोहंधयारगहणम्मि ।
अंधो व दुग्गमग्गे भमदि हु संसारकंतारे ॥१७८८॥

'कम्माणुभावदुहिदो' असद्वेद्यादिपापकर्ममाहात्म्यजनितदुःख. । **'एव'**मुक्तेन क्रमेण । **'संसारकंतारे भमदि'** संसारकान्तारे भ्रमति । कीदृशे ? **'मोहंधयारगहणम्मि'** मोहान्धकारगहने । **'अंधो व दुग्गमग्गे'** अध इव दुर्गमार्गे ॥१७८८॥

दुक्खस्स पडिगरेंतो सुहमिच्छंतो य तह इमो जीवो ।
पाणवधादीदोसे करेइ मोहेण संछण्णो ॥१७८९॥

'दुक्खस्स पडिगरेंतो' दुःखस्य प्रतीकारं कुर्वन् । **'सुहमिच्छंतो य'** इन्द्रियसुखमभिलषन् । **'इमो जीवो'** अय जीव. । **'पाणवधादीदोसे'** हिंसादिदोषान् । **'करेदि मोहेण संछण्णो'** करोति मोहेन सछन्न । एतदुक्त[1]भवति—दु खभीरुर्निरवशेषदुःखापायस्योपायं न वेत्ति । दुःखनिराकरणार्थ्यपि दु.खहेतूनेव हिंसादीन् प्रवर्तयति । इन्द्रियसुखलम्पटोऽपि तेष्वेव हिंसादिषु दु खहेतुषु प्रवर्तते । ततोऽस्य सकलो व्यापारो दु खस्यैव मूलमिति ॥१७८९॥

दोसेहिं तेहिं बहुगं कम्मं बंधदि तदो णवं जीवो ।
अध तेण पच्चइ पुणो पविसित्तु व अग्गिमग्गीदो ॥१७९०॥

'दोसेहिं तेहिं' प्राणिवधादिकैर्दोषै । **'बहुगं कम्मं बंधदि'** महत्कर्म बध्नाति । **'णवं'** प्रत्यग्र । **'तदो'** पश्चात् । **'अध'** कर्मबन्धानन्तर । **'तेण पच्चदि'** तेन बन्धनेन कर्मणा पच्यते । **'पविसित्तु व'** प्रविश्येव । कि ? **'अग्गि'** अग्नि । **'अग्गीदो'** अग्ने. । अग्नेरागत्य अग्नि प्रविश्य यथा बाध्यते एव पूर्वे कर्मभिर्बाधित. पुन प्रत्यग्रक[2]र्मानलेन दह्यते इति ॥१७९०॥

और वैक्रियिक शरीरोंके छूट जानेपर भी कार्मण और तैजस शरीर बराबर बने रहते है ॥१७८७॥

गा०—इस प्रकार असातावेदनीय आदि पापकर्मोंके प्रभावसे दुःखी जीव मोहरूपी अन्धकारसे गहन ससाररूपी बनमें उसी प्रकार भ्रमण करता है जैसे अन्धा व्यक्ति दुर्गम मार्गमे भटकता है ॥१७८८॥

गा०-टी०—मोहसे आच्छादित यह जीव दु खसे बचनेका उपाय करता है और इन्द्रिय सुखकी अभिलाषा रखता है और उसके लिये हिंसा आदि दोषोको करता है । आशय यह है कि दु खसे डरता है किन्तु समस्त दुःखोके विनाशका उपाय नही जानता । यद्यपि दु खोंको दूर करना चाहता है किन्तु हिंसा आदि पापोमे प्रवृत्त होता है जो दुःखके हेतु है । इन्द्रिय सुखका लम्पटी होते हुए उन्ही हिसा आदि पापोमे लगा रहता है जो दु खके कारण है । इसलिये उसका सब काम दुःखका ही मूल होता है ॥१७८९॥

गा०—उन हिसा आदि दोषोको करनेसे जीव बहुत-सा नया कर्म बाँधता है । कर्मबन्धके पश्चात् उस कर्मका फल भोगता है । इस प्रकार जैसे कोई एक आगसे निकलकर दूसरी आगमे प्रवेश करके कष्ट उठाता है, वैसे ही पूर्वबद्ध कर्मोंको भोगकर पुनः नवीन कर्मरूपी आगमे जलता है ॥१७९०॥

---

१. भीरुनरो विशेषदुःखापायस्यापाय –आ० मु० । निःशेषदुःखापायोपायं—मूलारा० ।

२. कर्मनिबन्धेन –आ० ।

बंधंतो मुच्चंतो एवं कम्मं पुणो पुणो जीवो ।
सुहकामो बहुदुक्खं संसारमणादियं भमइ ।।१७९१।।

'**बंधंतो मुच्चंतो**' बध्नन् मुञ्चन् । '**एव कम्मं पुणो पुणो जीवो**' कर्म पुन' पुनर्जीव' दत्तफलानि मुञ्चति, कर्मफलानुभवकालोपजातरागद्वेषादिपरिणामैरभिनवानि कर्माणि बध्नाति । '**सुहकामो**' सुखाभिलाषवान् । '**बहुदुक्खं**' विचित्रदु.खं । '**संसारमणादियं भमदि**' अनादिकं ससार भ्रमति । ससारचिन्ता ।।१७९१।।

लोकानुप्रेक्षा निरूप्यते । नामस्थापनाद्रव्यादिविकल्पेन यद्यप्यनेकप्रकारो लोकस्तथापीह लोकशब्देन जीवद्रव्यलोक एवोच्यते । कथ ? सूत्रेण जीवधर्मप्रवृत्तिक्रमनिरूपणात्—

आहिंडयपुरिसस्स व इमस्स णीया तहिं तहिं होंति ।
सव्वे वि इमो पत्तो संबंधे सव्वजीवेहिं ।।१७९२।।

'**आहिंडगपुरिसस्स व**' देशान्तर भ्रमत पुस इव । '**इमस्स णीया तहिं तहिं होंति**' अस्य बान्धवस्तत्र तत्र भवन्ति । '**सव्वेवि इमो पत्तो**' सर्वानियं प्राप्त । '**संबंधे**' सबन्धान् । '**सव्वजीवेहिं**' सर्वजीव. सह ।।१७९२।।

माया वि होइ भज्जा भज्जा मायत्तणं पुणमुवेदि ।
इय संसारे सव्वे परियट्टंते हु संबंधा ।।१७९३।।

'**माया य होदि भज्जा**' माता भार्या भवति । भार्या मातृता पुनरुपैति । एव संसारे सर्वे सम्बन्धा परिवर्तन्ते इति गाथार्थ' ।।१७९३।।

जणणी वसंततिलया भगिणी कमला य आसि भज्जाओ ।
धणदेवस्स य एक्कम्मि भवे संसारवासम्मि ।।१७९४।।

'**जणणी वसंततिलया**' धनदेवस्य जननी वसंततिलका । कमला भगिनी । ते उभे भार्ये जाते

गा०—इस प्रकार जीव जो कर्म फल दे लेते हैं उन्हे छोड देता है और कर्मोका फल भोगते समय होनेवाले राग-द्वेष रूप परिणामोसे नवीन कर्मोंका बन्ध करता है । सुखकी अभिलाषा रखकर बहुत दुःखोसे भरे अनादि ससारमे भ्रमण करता है ।।१७९१।। ससार अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ ।

अब लोकानुप्रेक्षाका कथन करते है । यद्यपि नाम, स्थापना, द्रव्य आदिके भेदसे लोकके अनेक भेद हैं । तथापि यहाँ लोक शब्दसे जीव द्रव्यलोक ही कहा है क्योंकि गाथामे जीवके प्रवृत्ति क्रमका कथन किया है—

गा०—जैसे देशान्तरमे भ्रमण करनेवाले पुरुषको सर्वत्र इष्ट-मित्र मिलते है उसी प्रकार इस जीवके भी जहाँ-जहाँ यह जन्म लेता है वही-वही बन्धु-बान्धव होते हैं । इस तरह इसने सब जीवोके साथ सब सम्बन्ध प्राप्त किये है ।।१७९२।।

गा०—जो इस जन्म माता है वही दूसरे जन्ममे पत्नी होती है और पत्नी होकर पुनः माता बन जाती है । इस प्रकार ससारमे सब सम्बन्ध परिवर्तनशील है ।।१७९३।।

गा०-टी०—दूसरे भवोंमें सम्बन्ध बदलनेकी तो बात ही क्या है । किन्तु धनदेवकी माता वसन्ततिलका और बहन कमला, ये दोनो उसी भवमें धनदेवकी पत्नी हुईं । कहा भी है—

धनदेवस्य तस्मिन्नेव भवे । भवान्तरेषु संबन्धान्यथाभावो किमस्ति वाच्यं ? उक्तं च—

> यद्येकदेहवहने बहुलोकवादं दुःखं ततो मनस्तापमुग्रकं च पापम् ।
> नानाशरीरवहनेषु कथं न दुःखं प्राप्नोति [1]को न विषयार्जितपापकर्मा ॥
> कुर्वन्ति तन्मदनगोद्धतहस्तवेगः खड्गो विमुक्तबलपाणिविसृष्टधारः ।
> कुर्वन्ति दुःखमधिकं विषया यथाऽमी, तस्मात्त्यजन्ति विषयान् परिबुद्धतत्त्वाः ॥

एवमय कष्टो लोकधर्म. ॥१७९४॥

राया वि होइ दासो दासो रायत्तणं पुणमुवेदि ।
इय संसारे परिवट्टंते ठाणाणि सव्वाणि ॥१७९५॥

'राया वि होइ दासो' राजा दासो भवति, नीचैर्गोत्रार्जनात्, दासो राजतां पुनरुपैति उच्चैर्गोत्र-कर्मण उदयात् । एव ससारे परिवर्तन्ते सर्वाणि स्थानानि ॥१७९५॥

कुलरूवतेयभोगाधिभो वि राया विदेहदेसवदी ।
वच्चघरम्मि सुभोगो जाओ कीडो सकम्मेहि ॥१७९६॥

'कुलरूवतेयभोगाधिओ वि' कुलेन रूपेण तेजसा भोगेनाधिकोऽपि । विदेहजनपदाधिपती राजा सुभोग-सञ्ज्ञ सुवर्चोगृहे कीटो जात' स्वैः कर्मभिः प्रेरित. । उक्त च—

> दृष्टाः क्वचित्सुरमनुष्यगणप्रधानाः सर्वर्द्धिदीप्तवपुषः शशिकान्तरूपा ।
> भ्रष्टास्त एव पुनरन्य[2]गतं प्रपन्ना दीना भवन्ति कुलरूपधनप्रतापैः ॥१७९६॥

यदि एक शरीर धारण करनेपर जीव अनेक अपवादो और दुःखोको पाता है और उससे मनोवेदना और उग्र पापको बाधता है तब विषय सेवनके द्वारा पापकर्मका उपार्जन करनेवाला कौन पुरुष नाना शरीर धारण करनेपर कैसे दुःख नही पाता है अर्थात् अवश्य दुःख पाता है।

मदसे मत्त हाथीके द्वारा वेगपूर्वक किया गया प्रहार तथा बलशाली हाथसे छोड़ी गयी तीक्ष्ण तलवार दुःख नहीं देते। उससे भी अधिक दुःख विषय देते हैं। इसलिये तत्त्वज्ञानी जन विषयोको त्याग देते हैं। इस प्रकार यह लोकधर्म दुःखदायक है ॥१७९४॥

गा०—नीच गोत्रका बन्ध करनेसे राजा मरकर दास होता है और उच्च गोत्रका बन्ध करनेसे दास राजा हो जाता है। इस प्रकार संसारमें सब स्थान परिवर्तनशील हैं ॥१७९५॥

गा०—विदेह देशका राजा सुभोग कुल, रूप, तेज और भोगमें अधिक होते हुए भी अपने कर्मोंसे प्रेरित होकर विष्टाघरमें कीट हुआ, कहा भी है—जो देव और मनुष्योंमें प्रधान थे, जिनका शरीर सब ऋद्धियोंसे दीप्तिमान था, जिनका रूप चन्द्रमाकी तरह मनोहर था, वे भी अन्य गतिमें कुल, रूप, धन और प्रतापसे भ्रष्ट होकर दीन होते हैं ॥१७९६॥

---

१ केन अ०, मु० । २. न्यगतिप्रपु —आ० । —गतिं प्रपन्ना —मु० ।

होउण महड्ढीओ देवो सुभवण्णगंधरूवधरो ।
कुणिमम्मि वसदि गब्भे धिगत्थु संसारवासस्स ॥१७९७॥

'होऊण महड्ढीओ देवो' महर्द्धिको देवो भूत्वा । 'सुभवण्णगंधरूवधरो' प्रशस्ततेजोगन्धरूपान्वित ।

इन्द्रचापतडिदम्बुधराणां यद्वदाशु गगने सहसैव ।
जन्म संभवति तद्वदमीषां जन्म देवमशुचिप्रविमुक्तम् ॥
वातपित्तकफजै: परिमुक्तं व्याधिभिर्विगतखेदमनिद्रम् ।
अद्भुतं परमयौवनयुक्तं सर्वतोऽविकलमुत्तमकान्ति ॥
सर्वतश्च विमलाम्बरवर्णस्पर्शगन्धवरवाङ्मितहासं ।
सद्विलासगतिचेष्टित[1]लोलं ते शरीरमरमत्र लभन्ते ॥
गीतवाद्यततितूर्यनिनादैस्तांस्तदाथ समुपेत्य सहर्षाः ।
देवदेव[2]वनिताः प्रणिपत्य कुर्वतेऽत्र समुपासनमेषां ॥
फुल्लपङ्कजसमैरथ हस्तैर्दक्षिणैः प्रवरलक्षणकीर्णैः ।
चारुचन्द्रवदना नतिमेषां स्निग्धदृष्टिहसिताः प्रतिगृह्य ॥
मृगपासनमस्तकोपविष्टान् मृगपानगतानिवाचलानां ।
अथ तानभिषेकमापयंति मुदितास्तत्र [3]सुराः सुवर्णकुम्भैः ॥
प्रविकाशय वक्त्रपङ्कजानि सुरनाथार्कगुणांशुभिः सुराणां ।
[4]कुरुतः सुचिरं स्वमाधिपत्यमिति ताम्वाग्भिरभिष्टुवन्ति चैव ॥

गा०-टी०—शुभरूप, शुभगन्ध, और प्रशस्त तेजधारी महती ऋद्धिका धारक देव भी होकर गन्दे गर्भस्थानमे वास करता है।

देवोंमें उत्पत्तिका वर्णन करते हुए कहा है—

जैसे आकाशमें सहसा ही शीघ्रतासे इन्द्रधनुष, बिजली और मेघ प्रकट होते है उसी प्रकार देवोका जन्म होता है। उनका शरीर अपवित्र वस्तुओसे रहित होता है, वात, पित्त और कफसे उत्पन्न होनेवाले रोगोसे रहित होता है। खेद और नीदसे रहित होता है। उत्कृष्ट यौवनसे युक्त होता है, सब रूपसे परिपूर्ण होता है, उत्तम कान्तिसे युक्त होता है। उत्तम रूप, रस गन्धसे युक्त है। वचन-विलास, हास-विलास, गति चेष्टासे लीला सहित होता है। वे देव ऐसा शरीर तत्काल प्राप्त कर लेते है। उसके पश्चात् गीत वाद्योकी पक्ति तथा भेरोके शब्दोके साथ देव-देवागना बड़े हर्षके साथ उनके पास जा, नमस्कार करके उनकी सेवा करते हैं। हास सहित स्निग्ध दृष्टिसे युक्त सुन्दर चन्द्रमुखी देवागनाएँ खिले हुए कमलके समान तथा उत्तम लक्षणोंसे युक्त दक्षिण हाथोसे उनका नमस्कार स्वीकार करती है।

पर्वतोंके अग्रभाग पर बैठे हुए सिंहके समान सिहासनके मस्तक पर बैठे हुए उन देवोंका वे देव प्रसन्नतापूर्वक सुवर्ण कलशोंसे अभिषेक करते है। हे देवेन्द्ररूपी सूर्य! अपने गुणरूपी किरणोंसे देवोंके मुखरूपी कमलोंको विकसित करो और चिरकाल तक हमारे स्वामी रहो, इस

१. धीला आ० । २ दिव्यव -आ० । ३. तत्र सुवर्णरत्नकु -आ० । ४ कुरुत -आ० ।

आदाय नैदाघरविं शिरःसु न्यस्तैरिवैतैर्मुकुटानि भूत्वा ।
विभूषिताश्चाभरणैरनर्घैर्हारार्धहाराङ्गदकुण्डलाद्यैः ॥
ज्योतिर्विभूषान् गगनप्रदेशान्, विद्युद्विनद्धान् रुचिराम्बुवाहान् ।
रत्नार्चितान् हेममहागिरींश्च विशेषयन्तो[1]ऽभ्यधिकं विभान्ति ॥
दिव्यवीर्यबलविक्रमायुषो दिव्यदीप्तवपुषो दिशो दश ।
भासयंति विमलाम्ब[2]रार्कवद्दिव्यसौम्यवपुषः शशाङ्कवत् ॥
दूरमभ्युत्पतन्ति लाघवात् गौरवाद् गिरिसमा भवन्ति च ।
आणवादतिविशन्ति मेदिनीं पार्थिवांश्च महतोऽपि रुन्धते ॥
काष्ठमग्निमनिलं जलं महीं संप्रविश्य च तनूः शरीरिणां ।
निर्विशेषगुणकाः सहासितुं ते भवन्ति[3] सुचिरं सुशक्तयः ॥
पावकाचलपुरन् वनावनीसागरांश्च सहसा निमज्य ते ।
स्थानमीप्सिततमं श्रमाद्विना यान्ति चाप्रतिहु[4]ताः समीरवत् ॥
उत्क्षिपेयुरवनीं [5]महाबलात् पातयेयुरपि मन्दरान्करैः ।
मन्दराग्रशिखरं धरास्थितास्ते स्पृशेयुरपि यद्यभीप्सितं ॥
ईशितुं सुरनृणामयत्नतः कर्तुमात्मवशगान्नृपानपि ।
रूपमात्ममनसां समीप्सितं [6]स्रष्टुमप्यलमथो [7]सहस्रशः ॥

प्रकार वे देव अपने वचनोंसे उनकी स्तुति करते है ॥ उनके मस्तक पर मुकुट शोभित होते हैं जो मानों ग्रीष्म कालके सूर्यको ही पकड़ कर सिरों पर रख लिया है ऐसे प्रतीत होते हैं। उन मुकुटोसे तथा हार, अर्द्धहार, बाजूबन्द, कुण्डल आदि बहुमूल्य आभरणोंसे भूषित होकर वे देव सूर्यचन्द्रसे सुशोभित आकाशसे, बिजलीसे सम्बद्ध सुन्दर मेघोंसे और रत्नोंसे खचित स्वर्णमयी पर्वतोसे भी अधिक सुशोभित होते है। दिव्य वीर्य, बल, विक्रम और आयुवाले तथा दिव्य चमकदार शरीरवाले वे देव निर्मल आकाशमे स्थित सूर्य और दिव्य सौम्य शरीरवाले चन्द्रमाकी तरह दसो दिशाओको प्रकाशित करते हैं। वे लाघवसे सुदूर तक ऊपर उठे हुए हैं और गौरवसे पर्वतके समान होते हैं। सूक्ष्म होनेसे पृथिवीमे प्रवेश करते हैं और महान् होनेसे बड़ों-बड़ोको रोकते हैं। अर्थात् अणिमा, महिमा, लघिमा और गरिमा सिद्धिके धारी होते हैं। वे काष्ठ, अग्नि, वायु, जल और पृथ्वीमे तथा प्राणियोंके शरीरमे प्रवेश करके उन्हींके समान हो जाते हैं। ऐसी उनमे शक्ति होती है ॥ वे आग, पर्वत, पृथ्वी और सागरमे, सहसा प्रवेश करके श्रमके बिना बेरोक-टोक वायुकी तरह इच्छित स्थानको चले जाते हैं। वे महान् बलसे पृथ्वीको ऊपर उठा सकते हैं। अपने हाथोसे मन्दराचलको गिरा सकते हैं। वे पृथ्वी पर रहकर यदि चाहें तो सुमेरु-की चोटीके अग्रभागको छू सकते हैं अर्थात् प्राप्ति और प्राकाम्य सिद्धिसे सम्पन्न होते हैं ॥

वे बिना प्रयत्नके देवों और मनुष्योंका स्वामित्व कर सकते हैं। नृपोंको भी अपने वशमें कर सकते हैं और हजारों इच्छित रूप बना सकते हैं। अर्थात् ईशित्व और वशित्व सिद्धिसे सम्पन्न होते हैं ॥ अपनी सुगन्धसे और मिष्ट वचनोंसे दिशाओंको पूरित करके सन्तान आदिके

---

१. तोऽत्यधि –आ० । २ बरा क्वचिद् –आ० । ३. ति विभवात् सु–आ० । ४. ता शरीर–अ० । ५ महाबलात् –अ० मु० । ६. स्पष्टुम –अ० । ७. सहःस्रशः –आ० ।

संपूर्णाशाः स्वसुरभिगन्धैर्[1]वासितभृंगैः कुसुमकुसुमैश्च ।
संततमाल्यैर्विरचितमाला नित्याम्लानाः परिवहमानाः ॥
माल्यैर्गन्धैः सुखमनुलिप्ता [2]वस्त्रैर्वस्त्राण्यतिविरजांसि ।
रंरम्यंते रतिनिपुणाभिस्स्वाभिः सार्द्धं वरवनिताभिः ॥
[3]सुखेनैवं जीवन्तो यान्ति वियोगकृतं परितापं ।
तत्र महर्द्धियुता अपि देवाः स्त्रीपुरुषा विषमायुष एव ॥
प्राणभृतामिह मध्यमलोकैः तीव्रतराविकषायचतुष्कं ।
स्यात्सुरसंततयः समकालाः, तन्न भवंति हि कर्मवशेन ॥
अब्ध्युपमानितजीवितदैवे, स्त्री चिरजीवितवत्यपि तस्मा. ।
पल्यमितं बत जीवितकालं तेन वियोगमितः सुरलोकः ॥
मृत्युकृतं च विचिन्त्य सुदुःखं भावि सुराः परिभीतमनस्काः ।
तत्र भजन्ति मृगा इव बद्धा व्याघ्रसमीपमुपेत्य सभीकाः ॥
गर्भकृतामपि ते दुरवस्थां संपरिचिन्त्य पुन. समवाप्य ।
शोकभये विपुले परियान्ति चारकरोध इवाभ्युपयाते ॥
मूत्रपथादशुचेरतिदु.ख निर्गमनं स्मरतां च शुचीनां ।
जन्मतयेति भयं दिविजानां, स्यादधिकं तदवाप्य सुखं तत् ॥
तानपि चासु पतेत् क्षुदनिष्टा पन्नग सर्पवधूरिव कष्टा ।
वर्षसहस्रमितीह पतेऽपि कालवशे न जहात्यहमिन्द्रं ॥
उच्छ्वसनं श्रमजं नृपतेपि-पक्षमितैर्दिवसैर्यदि यान्ति ।
कान्यसुरेषु कथा बत लोके ह्री सभयो जननार्णववास. ॥

सुन्दर फूलोंसे रचित माला धारण करते हैं जो कभी मुरझाती नहीं है ॥ सुखपूर्वक माला और गन्धसे विलिप्त वे देव अत्यन्त स्वच्छ वस्त्र धारण करते हैं और रतिमे निपुण अपनी देवांगनाओं-के साथ रमण करते हैं ॥ इस प्रकार सुखपूर्वक जीवन यापन करते हुए वियोगजन्य सन्तापको सहते हैं। क्योंकि स्वर्गोंमें महर्द्धिक भी देव-देवांगना समान आयुवाले नहीं होते। आगे-पीछे मरते हैं ॥ मध्यलोकसे यहाँके प्राणियोंकी कषाय तीव्रतर होती है। अतः कर्मवश देव-देवांगनाओंकी आयु समान नहीं होती ॥ देवकी आयु सागरप्रमाण होती है और देवांगना चिरकाल तक भी जीवित रहे तो उसकी आयु पल्यप्रमाण ही होती है इसलिये देवलोकमे वियोगजन्य सन्ताप होता है। भविष्यमें होनेवाले मृत्यु जन्य दु.खका विचार करके देव डर जाते हैं और वहाँ ऐसे भयभीत रहते हैं जैसे व्याघ्रके समीपमें बाँधे गये मृग। स्वर्गलोकसे च्युत होनेपर गर्भमे होनेवाली दुरवस्थाका भी विचार करके वे महान् शोक और भयसे युक्त होते हैं जैसे कोई जेलखानेसे डरता है। पवित्र देवोंको देवलोकमें जितना सुख होता है उससे भी अधिक भय स्त्रीके अपवित्र मूत्रमार्ग-से जन्म लेनेका स्मरण करके जन्मसे ही होता है। यहाँ स्वर्गोंमें तो हजार वर्ष बीतनेपर भी भूख नहीं सताती थी। किन्तु मनुष्य पर्यायमें जन्म लेनेपर सर्पिणीकी तरह भूख सताती है, यह भय अहमिन्द्रदेवको भी नहीं छोड़ता। स्वर्गमें तो पन्द्रह दिनमें एक बार श्वास लेनेका श्रम उठाना होता

१. र्वामृष्टै –आ० मु० । २. सा वस्त्राच –आ० । ३ तत्र सुखं तोऽपि यांति –आ० ।

रोगजराविकलत्वविहीनास्तत्र सुरास्तु भवन्त्यसुखातात् ।
तत्सहितं प्रसमीक्ष्य पुरस्तात् प्राप्यमवश्यमतश्च्युतमात्रे ॥
अन्यवशावशा विलपन्तो देशमिवान्यमुपद्रवयुक्तं ।
संप्रतिपत्स्यत उग्रभयं ते शोकवशा बहुशोऽपि भवन्ति ॥
यत्सुरसौख्यमवाप्य विमाने भूलगतो जगतीरपि यान्ति ।
तत्परिचिन्तयतां कुशलानां केन सुरेषु भवेद्बहुमानं ॥
तेऽवधिना विधिना बहुतत्त्वं दूरगतान्यपि जानत एव ।
तेन भयान्यनुभूय पुरस्तादश्नुवते [1]च्यवनमपश्चात् ॥
यः सहसा भयमभ्युपयाति पूर्वतरं न भयं स उपैति ।
प्राग्विदितस्ववधस्तु नरः प्राक् प्राप्य भयं वधमेति हि पश्चात् ॥
अतो न सौख्यं तदिहास्ति किंचन विमृश्यमानं मनसा भवार्णवे ।
सुखे प्रसक्तो विपुले [2]पुमानयं भजेत दुःखेन विनाणुनापि यत् ॥
यथाणुकेशोपहतेऽपि भोजने न तं नरो रोचयते कुलोचितः ।
तथाल्पदो[3]षेऽप्यसुखे सुखे सति न तद्बुधो रोचयते कदाचन ॥
[4]प्रपीयमानेऽम्बुनि पातितो यथा लवोऽपि मूत्रस्य तदंबु दूषयेत् ।
तथा लवांशोऽप्यसुखस्य सत्सुखे करोति सर्वस्य सुखस्य दूषणं ॥

किन्तु मनुष्यगतिमें तो सतत श्वास लेना होता है। हा, जन्मरूपी समुद्रका वास भयकारक है। यहाँ देवगतिमे तो रोग, बुढापा आदि नही है। किन्तु मनुष्योंमें तो ये सब हैं। यहाँसे च्युत होने पर ये सब अवश्य प्राप्त होंगे। ऐसा देख वे देव दुःखी होते हैं। जैसे कोई परवश होकर उपद्रवसे युक्त अन्य देशमें जानेपर विलाप करता है वैसे ही देव स्वाधीन होते हुए भी परवश होकर देवगतिसे मनुष्यगतिमे जानेका बहुत शोक करते हैं। स्वर्गके विमानोंमे देवोका सुख प्राप्त करके भी जीवोंको पुनः इसी मनुष्यलोकमें जन्म लेना होता है ऐसा विचार करनेवाले बुद्धिमानोंको देवोके प्रति बहुमान कैसे हो सकता है। वे देव अवधिज्ञानके द्वारा दूरवर्ती तत्त्वोंको भी जानते ही हैं। इससे पहले ही भयका अनुभव करते हैं।

जो भय अचानक उपस्थित होता है उसका भय पहलेसे नहीं होता। किन्तु जिस मनुष्यको पहलेसे यह ज्ञात हो जाता है कि मेरा वध होगा वह पहले भयभीत होता है, पीछे मारा जाता है। अर्थात् मनुष्यगतिमें तो मृत्युका बोध पहलेसे नही होता। किन्तु देवगतिमे तो मृत्युसे छह मास पूर्व माला मुरझा जाती है। अत मृत्यु पीछे होती है और उसका भय पहले आ जाता है। अतः विचार करनेपर इस संसाररूपी समुद्रमें कुछ भी सुख नही है। बहुत सुखमे आसक्त मनुष्य भी एक परमाणु प्रमाण दुःखके बिना सुख नहीं भोग सकता। अर्थात् संसारके सुखमें दुःखका मिश्रण रहता ही है। जैसे कुलीन मनुष्यको यदि भोजनमें जरा सा भी बाल आदि गिर जाये तो भोजन नहीं रुचता उसी प्रकार ज्ञानीको बहुतसे सुखमें थोडा सा भी दुःख मिला हो तो वह सुख नहीं रुचता। जैसे पीनेके पानीमें मूत्रकी एक बूंद भी गिरनेपर वह पानी दूषित

१. भयमप्यय पश्चात् –आ० । २. पुमानय –आ० मु० । ३. दोषोऽप्य–अ० मु० । ४. प्रदीपमाने –अ० प्रा० ।

पुत्रैरनेकैरपि संयुतां स्त्रियं कुलाच्चारां सकृदप्यनिर्धृन्य ।
नरो जहात्येव यथा तथा बुधो न बृष्टिदोषादिव सोऽनुमिच्छति (?)

'कुथिमम्मि वसति गब्भे' कुथितगर्मे वसति । 'धिगत्थु संसारवासस्स' धिगस्तु ससारवासस्य । उक्तं च—

त्यागाङ्गोगादेव १समुत्थं मनुजेषु गर्भस्मृत्या गर्भनिपात च समीक्ष्य ।
त्रस्तादेव २देहाशुचीनपि निरीक्ष्य गर्भक्लिष्टा दुःखमिवान्तेऽनुभवन्ति ॥१७९७॥

इय किं परलोगे वा सत्तू पुरिसस्स हुंति णीया वि ।
इहई परत्त वा खाइ पुत्तमंसं णियमादा ॥१७९८॥

'इत्थ किं परलोगे वा' इहलोके परलोके वा, **'पुरिसस्स णीया वि सत्तू होंति'** बान्धवोऽपि शत्रवो भवति पुरुषस्य । **'इहई परत्त वा खाइ'** इह वा परत्र वा अस्ति, **'पुत्तमंसं णियमावा'** पुत्रस्य मास आत्मीया जननी अस्ति किमत पर कष्ट ॥१७९८॥

होऊण रिऊ बहुदुक्खकारओ बंधवो पुणो होदि ।
इय परिवत्तइ णीयत्तणं च सत्तुत्तणं च जये ॥१७९९॥

'होऊण रिऊ' रिपुर्भूत्वा पूर्वं । **'बहुदुक्खकरो'** विचित्रदु.खकारी । स एव पुणो पश्चादपि । **'पिय बन्धवो होदि'** प्रियबांधवो भवति । **'इय परिवत्तदि'** एव परिवर्तते । **'णीगत्तण च सत्तुत्तणं च'** बन्धुत्व च शत्रुत्वं च । **'जगे'** जीवलोके ॥१७९९॥

विमलाहेदुं वंकेण मारिओ णियमारियागब्भे ।
जाओ जाओ जार्दिभरो सुदिट्ठी सकम्मेहिं ॥१८००॥

'विमलाहेदुं' विमलानिमित्त । **'वंकेण मारिवो'** वक्राख्येन भृतकेन मारित । क ? **'सुविट्ठी'** सुदृष्टि-

---

हो जाता है उसी प्रकार दुःखका जरा सा भी अंश सब सुखको दूषित कर देता है। जैसे अनेक गुणोंसे युक्त स्त्री यदि एक बार भी व्यभिचार दोषसे दूषित हो जाये तो दयालु भी मनुष्य उसे त्याग देता है। उसी प्रकार ज्ञानी मनुष्य भी दु.खसे मिश्रित सुखको त्याग देता है।

अतः कहा है—मनुष्योमे गर्भका स्मरण करके तथा गर्भपातको देखकर और मनुष्योंके अपवित्र शरीरको देखकर देव दुःखी होते है और मरण होनेपर गर्भमे प्रवेश करके दुःख भोगते हैं ॥१७९७॥

गा०—इस लोक अथवा परलोकमे बन्धु भी मनुष्यके शत्रु हो जाते हैं। इस लोक तथा परलोकमे माता भी अपने पुत्रके मासको खाती है इससे अधिक कष्टकी बात और क्या है ? ॥१७९८॥

गा०—बहुत दुःख देनेवाला शत्रु भी पुनः प्रिय बन्धु हो जाता है। इस प्रकार जगत्मे बन्धुता और शत्रुता परिवर्तनशील है ॥१७९९॥

गा०—सुदृष्टि नामक रत्नपारखी मैथुन करते समय अपनी पत्नी विमलाके निमित्तसे

---

१. समुत्थान् अ० । २. त्रस्ता देहचशुनीवि -अ० ।

नामधेय. । 'सकम्मेहि' आत्मीयैः कर्मभिः । 'जादो' उत्पन्नः । क्व 'णियगभारियागब्भे' निजभार्यागर्भे । 'जाईसरो जादो' जातिस्मरश्च जात ॥१८००॥

होऊण बंभणो सोत्तिओ खु पावं करित्तु माणेण ।
सुणगो व सूगरो वा पाणो वा होइ परलोए ॥१८०१॥

'होऊण बंभणो सोत्तिओ' श्रोत्रियो ब्राह्मणो भूत्वा । 'माणेण' जातिमदेन । गुणिजननिन्दावमानाभ्यां 'पावं करित्तु' पाप कृत्वा नीचैर्गोत्रमुपचित्य । 'सुणगो व सूगरो वा पाणो वा होदि परलोए' श्वा शूकरश्चाण्डालो वा भवति परजन्मनि ॥१८०१॥

दारिद्दं अड्ढत्तं णिंदं च थुदिं च वसणमब्भुदयं ।
पावदि बहुसो जीवो पुरिसित्थिणवुंसयत्तं च ॥१८०२॥

'दारिद्द' दारिद्रय । 'बहुसो जीवो पावदि' बहुश जीव प्राप्नोति लाभान्तरायोदयात् । 'अड्ढत्त' आढ्यता पूर्ववदेव सम्बन्ध । 'पावदि बहुसो इमो' इत्यनेन । लाभान्तरायक्षयोपशमादीप्सितानि द्रव्याणि लभते, लब्धानि च नश्यन्ति तत आढ्यता । 'णिंदा' श्वपाकश्चण्डाल. कुण काणो दुर्भगो मूर्ख कृपण इत्यादिका । 'थुदिं च' स्तुतिं च कुलीनो रूपवान् वाग्मी आढ्य प्राज्ञ इत्यादिका यशस्कीर्तेरुदयात् । 'एव वसणं' दुःख असद्वेद्योदयात् । 'अब्भुदय' देवमनुजभवजं सुख सद्वेद्योदयात् । 'पुरिसित्थिणवुंसयत्तं च' पुरुषत्व च स्त्रीत्वं च नपुंसकत्वं च बहुश. प्राप्नोति ॥१८०२॥

कारी होइ अकारी अप्पडिभोगो जणो हु लोगम्मि ।
कारी वि जणसमक्खं होइ अकारी सपडिभोगो ॥१८०३॥

'अकारी अपि' दोषमकुर्वन्नपि कारी भवति, 'अप्पडिभोगो जणो' पुण्यरहितो जन. । 'कारीवि' कुर्व-

---

अपने सेवक बकके द्वारा मारा गया और मरकर अपनी पत्नी विमलाके गर्भसे उत्पन्न हुआ । उत्पन्न होनेपर उसे पूर्वजन्मका स्मरण हो आया ॥१८००॥

विशेषार्थ—वृहत्कथाकोशमे १५३वे नम्बर पर इसकी कथा है ।

गा०—श्रोत्रिय ब्राह्मण होकर यह जीव अपनी जातिका अभिमान करके गुणी जनोकी निन्दा और अपमानके द्वारा नीच गोत्रका बन्ध करता है और मरकर परलोकमे कुत्ता, सूकर या चण्डाल होता है ॥१८०१॥

गा०-टी०—यह जीव लाभान्तरायका उदय होनेसे अनेक बार दरिद्र अवस्था पाता है । लाभान्तरायका क्षयोपशम होनेसे अनेक बार इच्छित धन पाता है । इस प्रकार अनेक बार धनीसे दरिद्र और दरिद्रसे धनी होता है । अयशस्कीर्तिका उदय होनेसे चण्डाल, काना, अभागा, मूर्ख, कंजूस आदि निन्दाका पात्र होता है । यशःकीर्तिका उदय होनेसे कुलीन, रूपवान, धनी, पण्डित इत्यादि स्तुतिका पात्र होता है । असातावेदनीयका उदय होनेसे दुःख उठाता है और सातावेदनीयका उदय होनेसे देव और मनुष्य भवका सुख भोगता है । इसी प्रकार अनेक बार स्त्री, पुरुष और नपुसक होता है ॥१८०२॥

गा०—पुण्यहीन मनुष्य लोकमें दोष नहीं करनेपर भी दोषका भागी होता है । और पुण्यवान अनाचार करके भी लोगोंके सन्मुख दुराचारी सिद्ध नहीं होता ॥१८०३॥

न्यम्यलाचारं, 'जणसमक्खं' जनानां प्रत्यक्ष 'अकारी होदि' दुराचारो न भवति। 'सर्वाङ्गभाग पुण्यवान् ॥१८०३॥

सरिसीए चंदिगाए कालो वेस्सो पिओ जहा जोण्हो।
सरिसे वि तहाचारे कोई वेस्सो पिओ कोई ॥१८०४॥

'सरिसीए चंदिगाए' चंद्रिकायां समानायामपि। **'कालो वेस्सो'** कालपक्षो द्वेष्य। **'पिओ जहा जोण्हो'** शुक्लपक्षो यथा प्रिय। **'सरिसे वि तहाचारे'** सदृशेऽप्याचारे द्वयो पुंसो। **'कोई वेस्सो पिओ कोई'** कश्चित् द्वेष्य कश्चित् प्रिय ॥१८०४॥

इय एस लोगधम्मो चिंतिज्जंतो करेइ णिव्वेदं।
धण्णा ते भयवंता जे मुक्का लोगधम्मादो ॥१८०५॥

'इय एस लोगधम्मो' अयमेष प्राणिधर्म। **'चिंतिज्जंतो'** चिन्त्यमानो। **'करेइ णिव्वेद'** निर्वेद करोति। **'धण्णा ते भयवंता'** पुण्यवन्तस्ते यतय। **'जे मुक्का लोगधम्मादो'** ये मुक्ता प्राणिधर्माद् व्यावर्णितात् ॥१८०५॥

विज्जू व चंचलं फेणदुब्बलं वाधिमहियमच्चुहदं।
णाणी किह पेच्छंतो रमेज्ज दुक्खुद्धुदं लोगं ॥१८०६॥

'विज्जू व चंचलं' विद्युदिव चचल, **'फेणदुब्बलं'** फेनमिव दुर्बल। **'वाधिमहियमच्चुहदं'** व्याधिभिमथित मृत्युना हतं। **'लोगं पेच्छंतो'** लोक पश्यन्। **'णाणी किध रमेज्ज'** ज्ञानी कथ तत्र रतिं कुर्यात्। लोगधम्मचिन्ता ॥१८०६॥

अशुभत्वानुप्रेक्षा प्रक्रम्यते—

असुहा अत्था कामा य हुंति देहो य सव्वमणुयाणं।
एओ चेव सुभो णवरि सव्वसोक्खायरो धम्मो ॥१८०७॥

'असुहा अत्था कामा य हुंति' अशुभा अर्था कामाश्च भवन्ति। **'देहो य सव्वमणुयाणं'** देहश्च सर्व

गा०—जैसे चाँदकी चाँदनीके समान होनेपर भी लोग कृष्णपक्षसे द्वेष करते है और शुक्लपक्षसे प्रेम करते है। वैसे ही समान आचार होते हुए भी कोई मनुष्य लोगोको प्रिय होता है और कोई अप्रिय होता है ॥१८०४॥

गा०—इस प्रकार लोकदशाका चिन्तन करनेसे वैराग्य उत्पन्न होता है। वे पुण्यवान यतिजन धन्य है जो इस ऊपर कही संसारकी दशासे मुक्त हो गये है ॥१८०५॥

गा०—बिजलीकी तरह चचल, फेनकी तरह दुर्बल, रोगोसे ग्रस्त और मृत्युसे पीड़ित इस लोकको देखकर ज्ञानी इसमे कैसे अनुराग कर सकता है ॥१८०६॥

इस प्रकार लोकानुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ।

अब अशुभत्व अनुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

गा०—अर्थ, काम और सब मनुष्योंकी देह अशुभ है। एक सब सुखोकी खान धर्म ही शुभ है। शेष सब अशुभ है ॥१८०७॥

सर्वेषानाम् । 'एक्को चेव सुभो' एक एव शुभः पुनः । 'सव्वसुक्खायरो धम्मो' सर्वेषां सौख्यानामाकरो धर्म. ॥१८०७॥

अर्थस्याशुभता व्याचष्टे—

इहलोगियपरलोगियदोसे पुरिसस्स आवहइ णिच्चं ।
अत्थो अणत्थमूलं महाभयं सुत्तिपडिपंथो ॥१८०८॥

'इहलोगियपरलोगियदोसे' ऐहिकान् पारलौकिकांश्च दोषान् । 'पुरिसस्स आवहइ णिच्चं' पुरुषस्य आवहति नित्यं । 'अत्थो अणत्थमूलं' अर्थोऽनर्थानां मूलं, 'महाभयं' महतो भयस्य मूलत्वान्महाभयं । 'मुत्ति-पडिपंथो' मुक्तेरर्गलीभूत ॥१८०८॥

कामस्याशुभत्वमाचष्टे—

कुणिमकुडिभवा लहुगत्तकारया अप्पकालिया कामा ।
उवधो लोए दुक्खावहा य ण य हुंति ते सुलहा ॥१८०९॥

'कुणिमकुडिभवा लहुगत्तकारया' अशुचिकुटिभवा. लघुत्वकारिण । 'अप्पकालिया कामा' अल्पकालेषु भवा कामा । 'उवधो लोए' लोकद्वये दु.खावहाश्च । 'ण य होंति ते सुलभा' नैव ते सुलभा भवन्ति ॥१८०९॥

कामाशुभत्वमाख्याति—

अट्ठिदलिया छिरावक्कवद्धिया मंसमट्टियालित्ता ।
बहुकुणिमभण्डभरिदा विहिंसणिज्जा खु कुणिमकुडी ॥१८१०॥

'अट्ठिदलिया' अस्थिदलनिष्पन्ना । 'छिरावक्कवद्धिया' शिरावल्कलबद्धा । 'मंसमट्टियालित्ता' मांस

अर्थकी अशुभता बतलाते हैं—

गा०-टी०—धन सब अनर्थोंकी जड है । यह पुरुषमे इस लोक और परलोक सम्बन्धी दोष लाता है अर्थात् धन पाकर मनुष्य व्यसनोमे फँस जाता है और उससे वह इस लोकमें भी निन्दाका पात्र होता है और परलोकमें भी कष्ट उठाता है । मृत्यु आदि महान् भयोका मूल होनेसे धन महाभय रूप है । और मोक्षमार्गके लिये तो अर्गला है । धनमें मस्त मनुष्य मोक्षकी बात भी सुनना नही चाहता ॥१८०८॥

अब कामकी अशुभता बतलाते हैं—

गा०—यह कामभोग अपवित्र अपने और परके शरीरके संयोगसे पैदा होता है । यह मनुष्यको गिराता है, उसे लोगोंकी दृष्टिमें लघु करता है । यह अल्पकालके लिये होता है तथा दोनो ही लोकोमे दुःखदायी है । तथा सुलभ भी नहीं है ॥१८०९॥

अब शरीरकी अशुचिता कहते हैं—

गा०—यह शरीर रूपी कुटी हड्डी रूपी पत्तोंसे बनी है । सिराएँ रूपी वल्कल (छाल) से

मृत्तिकालिप्ता । 'असुकुणिमभंडभरिदा' अनेकाशुचिद्रव्यपूर्णा । 'विहिंसणिज्जा खु कुणिमकुडी' जुगुप्सनीया अशुचिकुटी ॥१८१०॥

इंगालो धुव्वंतो ण सुद्धिमुवयादि जह जलादीहिं ।
तह देहो धोव्वंतो ण जाइ सुद्धिं जलादीहिं ॥१८११॥

'इंगालो धोव्वंतो' प्रक्षाल्यमाना मषो न शुद्धमुपयाति न शुक्लतामुपयाति । 'जह' यथा । 'जलादी-हिं' जलादिभिः । 'तह देहो धोव्वंतो' तथा शरीरं प्रक्षाल्यमानं । 'ण जादि सुद्धिं जलादीहिं' न याति शुद्धि जलादिभिः ॥१८११॥

सलिलादीणि अमेज्झं कुणइ अमेज्झाणि ण दु जलादीणि ।
मेज्झममेज्झं कुव्वंति सयमवि मेज्झाणि संताणि ॥१८१२॥

'सलिलादीणि' सलिलादीनि द्रव्याणि शुचीनि । 'अमेज्झं कुणदि' अमेध्यं करोति । 'अमेज्झाणि' अशुचीनि । 'ण दु जलादीणि मेज्झं कुणदि' नैव जलादीनि शुचितामापादयन्तीति । 'अमेज्झाणि' अशुचीनि 'सयममेज्झाणि संताणि' अमेध्ययोगात् स्वयमशुचीनि सन्ति ॥१८१२॥

तारिसयममेज्झमयं सरीरयं किह जलादिजोगेण ।
मेज्झं हवेज्ज मेज्झं ण हु होदि अमेज्झमयघडओ ॥१८१३॥

'तारिसयममेज्झमयं' शुचीनामशुचिताकरणसमर्थाशुचिमय शरीरक । 'किह' कथ । 'जलादिजोगेण' जलादिसम्बन्धेन । 'मेज्झं हवेज्ज' शुचिर्भवेत् । 'अमेज्झमय घडगो' अमेध्यमयो घट । 'न खु मेज्झो होदि' नैव शुचिर्भवति । यथा जलादियोगेन ॥१८१३॥

यदि शरीरमशुचि कि तर्हि शुचीत्यत्राह—

णवरि हु धम्मो मेज्झो धम्मत्थस्स वि णमंति देवा वि ।
धम्मेण चेव[1] जादि खु साहू जल्लोसधादीया ॥१८१४॥

बाँधी हुई है । मासरूपी मिट्टीसे लीपी गई है तथा अनेक अपवित्र वस्तुओसे भरी हुई है । इस तरह यह शरीररूपी कुटिया घृणास्पद है ॥१८१०॥

गा०—जसे कोयलोको जलादिसे धोनेपर भी वे सफेद नही होते । उसी प्रकार जलादिसे धोनेपर भी शरीरकी शुद्धि नही होती ॥१८११॥

गा०—अपवित्र शरीर जलादिको भी अपवित्र कर देता है । अर्थात् शरीरके सम्बन्धसे निर्मल जल मैला हो जाता है । जल स्वय मैला नही है, स्वय तो निर्मल ही है किन्तु जल शरीरको पवित्र नहीं बनाता । बल्कि शरीरके संयोगसे जल ही अपवित्र हो जाता है ॥१८१२॥

गा०—निर्मलको मलीन करनेवाला अपवित्र शरीर जलादिके सम्बन्धसे कैसे पवित्र हो सकता है । क्या मलसे भरा घडा पानीसे धोनेसे पवित्र हो सकता है ॥१८१३॥

यह शरीर अपवित्र है तो पवित्र कौन है, इसका उत्तर देते है—

गा०—किन्तु धर्म पवित्र है क्योंकि रत्नत्रयात्मक धर्ममें स्थितको देव भी नमस्कार करते

---

१ चेव हुति हु साहू —अ० ।

'जवरि हु धम्मो मेज्झो' धर्मः पुनः शुचिः। कस्मात् शुचयो यस्मादित्यर्थे वर्तते। 'धम्मम्मि ठियस्स वि णमंति देवा वि' यस्माद्धर्मे रत्नत्रयात्मके स्थितस्य देवा अपि नमस्कार कुर्वन्ति। धर्मेण शुचिना योगात्मापि शुचिरिति। 'धम्मेण चेव जादि हु साधू' धर्मेणैव प्राप्नुवन्ति साधवः। किं ? 'जल्लोसधादीया' जल्लौषध्यादिकमृद्धयतिशयम् ॥१८१४॥ अशुभत्वं।

आस्रवानुप्रेक्षा निरूप्यते—

जम्मसमुद्दे बहुदोसवीचिए दुक्खजलयराइण्णे।
जीवस्स दु परिब्भमणम्मि कारणं आसवो होदि ॥१८१५॥

'जम्मसमुद्दे' जन्मसमुद्रे। 'बहुदोसवीचिए' विचित्रदोषतरङ्गे। 'दुक्खजलयराकिण्णे' दुःखजलचरैराकीर्णे। 'जीवस्स परिब्भमणम्मि' जीवस्य परिभ्रमणे यत् कारण तत् 'आसवो' आस्रवो भवति। ननु च कर्माणि कारणानि नत्वास्रवः। अत्रोच्यते। कर्मणा परिभ्रमणकारणानां कारणत्वादास्रव कारणमित्युक्त ॥१८१५॥

संसारसागरे से कम्मजलमसंवुडस्स आसवदि।
आसवणीए णावाए जह सलिलं उदधिमज्झम्मि ॥१८१६॥

'संसारसागरे' संसारसमुद्रे। 'से' तस्य। 'असंवुडस्स' संवररहितस्य सम्यक्त्वसयमक्षमामार्दवार्जवसंतोषपरिणामरहितस्य। 'कम्मजलमासवदि' ज्ञानावरणादिकर्मजलमास्रवत्यागच्छति। 'आसवणीए णावाए' आस्रवणशीलाया नावि यथा सलिल प्रविशति। 'उदधिमज्झे' समुद्रमध्ये ॥१८१६॥

धूली णेहुत्तुप्पिदगत्ते लग्गा मलो जहा होदि।
मिच्छत्तादिसिणेहोल्लिदस्स कम्मं तहा होदि ॥१७१७॥

हैं। पवित्र धर्मके सम्बन्धसे आत्मा भी पवित्र है। धर्मसे ही साधु भी जल्लौषधी आदि ऋद्धियोंको प्राप्त करते हैं। अर्थात् रत्नत्रयरूप धर्मका साधन करनेसे साधुओंके शरीरका मल भी औषधीरूप हो जाता है ॥१८१४॥

आगे आस्रवानुप्रेक्षाको कहते हैं—

गा०-टी०—यह जन्ममरणरूपी समुद्र विविध दोषरूपी लहरोंसे युक्त है तथा दुःखरूपी जलचर जीवोंसे भरा है। इस समुद्रमें परिभ्रमणका कारण आस्रव है।

शंका—ससार समुद्रमे परिभ्रमणका कारण तो कर्म है, आस्रव नहीं है।

समाधान—परिभ्रमणका कारण कर्म हैं यह ठीक है। किन्तु उन कर्मोंका कारण आस्रव है। अत. आस्रवको परिभ्रमणका कारण कहा है ॥१८१५॥

गा०—जैसे समुद्रके मध्यमे छेदयुक्त नावमें जल प्रवेश करता है वैसे ही संसाररूपी समुद्रमें जो जीव संवरसे रहित है अर्थात् सम्यक्त्व, संयम, क्षमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोष आदि रूप परिणामोंसे रहित है उसके ज्ञानावरण आदि कर्मरूप जलका आस्रव होता है ॥१८१६॥

गा०—जैसे तेलसे लिप्त शरीरमें लगी हुई धूल मलरूप हो जाती है वैसे ही जो आत्मा

'धूली णेहुत्तुप्पिदगत्ते लग्गा' धूली स्नेहाभ्यक्तशरीरलग्ना । **'जहा मलो होदू'** यथा मलं भवति । **'मिच्छत्तादिसिणेहोल्लिदस्स'** मिथ्यात्वासंयमकषायपरिणामस्नेहाभ्यक्तस्यात्मन प्रदेशेष्ववस्थितं कर्मप्रायोग्यं द्रव्यं । **'तहा'** तथा । **'कम्मं होदि'** कर्म भवति । एतदुक्तं भवति-आत्मपरिणामान्मिथ्यात्वादिकात् विशिष्ट पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन परिणमयतीति कर्मत्वपर्यायहेतुरात्मन' परिणाम आस्रव इत्यर्थ ॥१८१७॥

ओगाढगाढणिचिदो पुग्गलदव्वेहिं सव्वदो लोगो ।
सुहमेहिं बादरेहिं य दिस्सादिस्सेहिं य तहेव ॥१८१८॥

'ओगाढगाढणिचिदो' अनुप्रवेशगाढं निचितः । **'पुग्गलदव्वेहिं'** पुद्गलद्रव्यै. **'सव्वदो लोगो'** कात्स्न्र्येन लोक' । **'सुहमेहि बादरेहि य'** सूक्ष्मै स्थूलैश्च । **'दिस्सादिस्सेहिं'** चक्षुषा दृश्यैरदृश्यैश्च । **'तहेव'** तथैव । एतया गाथया कर्मत्वपर्याययोग्यानां पुद्गलद्रव्याणा सर्वत्र लोकाकाशे बहूनामस्तित्वमाख्यातम् ॥१८१८॥

के ते आस्रवा इत्यत्राह—

मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोगा य आसवा होंति ।
अरहंतवुत्तअत्थेसु विमोहो होइ मिच्छत्तं ॥१८१९॥

'मिच्छत्तं अविरमण कसायजोगा य आसवा होंति' मिथ्यात्वमसंयम कषाययोगाश्च आस्रवा भवन्ति । आस्रवत्यागच्छन्ति कर्मत्वपर्याय पुद्गला एभि कारणभूतैरिति मिथ्यात्वादय आस्रवशब्दवाच्या तेष्वास्रवेषु । मिथ्यात्वस्वरूप कथयति । **'अरहंतवुत्त अत्थेसु'** अर्हदुक्तेषु अनन्तद्रव्यपर्यायात्मकेषु अर्थेषु **'विमोहो मिच्छत्त होदि'** अश्रद्धानं मिथ्यात्वं भवति ॥१८१९॥

असंयममाचष्टे—

अविरमणं हिंसादी पंच वि दोसा हवंति णायव्वा ।
कोधादीया चत्तारि कसाया रागदोसमया ॥१८२०॥

मिथ्यात्व, असयम और कषायपरिणामरूप तैलसे लिप्त होता है उस आत्माके प्रदेशोमें स्थित कर्मरूप होनेके योग्य पुद्गलस्कन्ध कर्मरूप हो जाते है। इसका आशय यह है, मिथ्यात्व आदि रूप आत्माके परिणामोंसे विशिष्ट पुद्गलद्रव्य कर्मरूपसे परिणमन करता है इसलिये कर्मरूप परिणमनमें कारण आत्माके परिणाम ही आस्रव हैं ॥१८१७॥

गा०—यह लोक सर्वत्र पुद्गल द्रव्योंसे ठसाठस भरा हुआ है। वे पुद्गल सूक्ष्म भी है और बादर भी हैं। चक्षुके द्वारा दिखाई देने योग्य भी हैं और न दिखाई देने योग्य भो हैं।

टी०—इस गाथाके द्वारा कर्मरूप होनेके योग्य पुद्गल द्रव्योंका सर्वत्र लोकाकाशमे अस्तित्व बतलाया है ॥१८१८॥

वे आस्रव कौन हैं यह बतलाते है—

गा०—मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योग ये आस्रव है। जिन कारणोंसे पुद्गल कर्म-रूप होकर आते हैं उन मिथ्यात्व आदिको आस्रव कहते है। उनमेंसे मिथ्यात्वका स्वरूप कहते हैं—अर्हन्त भगवान्के द्वारा कहे गये अनन्त द्रव्य पर्यायात्मक पदार्थों में अश्रद्धान करना मिथ्यात्व है ॥१८१९॥

'अविरमणं' अविरमणं नाम। 'हिंसादि पंच वि दोसा' हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाख्याः पञ्चापि दोषाः। 'हवंति णादव्वा' अविरमणं भवन्तीति ज्ञातव्याः। प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं, असदभिधानं, अदत्तादानं, मैथुनकर्म विशेष, मूर्छा चेति एते परिणामा अविरमणशब्देनोच्यन्ते। विरमणं हि निवृत्तिस्ततोऽन्यत्वात्। प्रवृत्तिरूपा हिंसादयः अविरमणं इत्युच्यते। 'कोधादीया' क्रोधमानमायालोभा। 'चत्तारि' चत्वारः। 'कसाया' कषाया इत्युच्यन्ते। 'रागदोसमया' रागद्वेषात्मकाः ॥१८२०॥

रागद्वेषयोर्माहात्म्यं दर्शयति—

किहदा राओ रंजेदि णरं कुणिमे वि आणुगं देहे।
किहदा दोसो वेसं खणेण णीयंपि कुणइ णरं ॥१८२१॥

'किहदा राओ रंजेदि णरं' कथं तावद्रागो रञ्जयति नरं। 'कुणिमे वि देहे' अशुचावपि देहे, अनुरागस्यायोग्ये। 'आणुगं' शरीराशुचित्वं जानन्तं अपि रंजयति। सारे वस्तुनि नरं रञ्जयतीति न तच्चित्रं ज्ञातारमशुचिन्यसारे शरीरे रञ्जयतीत्येतदद्भुतमिति भावः। 'दोसो' दोष, 'किहदा वेसं कुणदि' कथं तावद्द्वेष्यं करोति। 'खणेण' क्षणमात्रेण। 'णीयंपि णरं' बान्धवमपि नरं। अनेनापि द्वेषमाहात्म्यमाख्यायते। रागाश्रयानपि बंधून् द्वेष्यान् करोतीति ॥१८२१॥

सम्मादिट्ठी वि णरो जेसिं दोसेण कुणइ पावाणि।
धिगेसि गारविंदियसण्णाभयरागदोसाणं ॥१८२२॥

'सम्मादिट्ठी वि णरो' तत्त्वज्ञानश्रद्धानसमन्वितोऽपि नरः। 'जेसिं दोसेण कुणदि पावाणि' येषां दोषेण करोति पापानि। 'धिगेसिं गारवेंदियसण्णाभयरागदोसाणं' धिगस्त्वेतान् गौरवमिन्द्रियाणि संज्ञामदान् रागद्वेषाश्च ॥१८२२॥

असंयमका स्वरूप कहते हैं—

गा०—हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इन पाँच दोषोंको असंयम कहते हैं। कषाययुक्त आत्मपरिणामके योगसे प्राणोंके घातको हिंसा कहते हैं। प्राणि पीड़ाकारक अप्रशस्त वचन बोलनेको असत्य कहते हैं। बिना दी हुई वस्तुके ग्रहणको चोरी कहते हैं। मैथुन कर्मको अब्रह्म कहते हैं और ममत्व भावको परिग्रह कहते हैं। ये सब परिणाम असंयम कहे जाते है। इन सबसे निवृत्तिको संयम कहते हैं। और प्रवृत्तिरूप हिंसादि परिणाम असंयम हैं। तथा राग-द्वेषमय चार कषाय हैं। अर्थात् हिंसादिरूप परिणाम असंयम है और क्रोधादि कषाय हैं इनमेंसे क्रोध और मान द्वेषरूप हैं और माया, लोभ रागरूप हैं ॥१८२०॥

राग और द्वेषका माहात्म्य बतलाते हैं—

गा०-टी०—यह शरीर अशुचि है। रागके अयोग्य है। यह राग शरीरकी अशुचिताको जाननेवाले अज्ञानीको उसमें अनुरक्त करता है सारवान् वस्तुमें मनुष्यको अनुरक्त नहीं करता। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। आश्चर्य इसमें है कि यह जाननेवालेको भी असार शरीरमें अनुरक्त करता है। तथा द्वेष क्षणमात्रमें बन्धु मनुष्यको भी द्वेषका पात्र बनाता है। इससे द्वेषका माहात्म्य कहते हैं कि जो बन्धु राग करने योग्य हैं उन्हें भी यह द्वेषका पात्र बनाता है ॥१८२१॥

गा०—तत्त्वोंके ज्ञान और श्रद्धानसे युक्त मनुष्य भी अर्थात् सम्यग्दृष्टी मनुष्य भी जिनके

जो अभिलासो विसएसु तेण ण य पावए सुहं पुरिसो ।
पावदि य कम्मबंधं पुरिसो विसयाभिलासेण ॥१८२३॥

'**जो अभिलासो विसएसु**' यो अभिलाषो विषयेषु स्पर्शादिषु । '**तेण विषयाभिलाषेण ण य पावदे सुहं पुरिसो**' प्राप्नोति नैव सुखं पुरुष । '**पावदि य कम्मबंधं**' प्राप्नोति च कर्मबन्ध, '**पुरिसो विसयाभिलासेण**' पुरुषो विषयाभिलाषेण निमित्तेन । एतेन विषयाभिलाषपरिणामस्य प्राणिनामसकृत् प्रवर्तमानस्याहितता निवेदिता, सुखं न प्रयच्छति कर्मबन्धकारण तु भवतीति विषयाभिलाषस्यास्रवस्य स्वरूपं कथितं ॥१८२३॥

विषयाभिलाषस्य दुष्टतां प्रकारान्तरेणाचष्टे—

कोई डहिज्ज जह चंदणं णरो दारुगं च बहुमोल्लं ।
णासेइ मणुस्सभवं पुरिसो तह विसयलोहेण ॥१८२४॥

'**कोई डहिज्ज जह चंदणं**' कश्चिद्यथा दहेच्चन्दन । '**बहुमोल्ल**' महामूल्यं । '**दारुगं च**' अगुर्वादिदारु च, यथा दहति भस्मादिक स्वल्पं समुद्दिश्य । '**तहा णासेदि मणुस्सभवं**' तथा नाशयति मानुषभवं अतीन्द्रियानन्त-सुखकारणं । '**पुरिसो तह विसयलोभेण**' अतितुच्छविषयगार्ध्येन ॥१८२४॥ उक्त च—

विषया जनितेन्द्रियोत्सवा बहुभिश्चापि समन्विता रसैः ।
विषगर्भसुसंस्कृतान्नवत् परिभुक्ताः परिणामदारुणाः ॥
विषयसुखमतिबद्धलोलचित्तो विषयनिमित्तमनिष्टकर्म कृत्वा ।
विषयसुखविहीनजातिजातो विषयसुखं लभते न ना विपुण्यः ॥

दोषसे पाप करता है उन गारवोको, इन्द्रियोको, संज्ञामदोको और राग द्वेषको धिक्कार हो ॥१८२२॥

गा०—विषयोमें जो अभिलाषा है उसके कारण पुरुष सुख नहीं पाता विषयोंकी चाहके निमित्तसे पुरुष कर्मबन्ध करता है ॥१८२३॥

टी०—इससे प्राणियोंमें निरन्तर प्रवर्तमान विषयोंकी चाहरूप परिणामको अहितकारी बतलाया है। उससे सुख तो नहीं होता, किन्तु कर्मबन्ध होता है। अतः विषयोंकी अभिलाषाको आस्रवरूप कहा है ॥१८२३॥

गा०-टी०—अन्य प्रकारसे विषयोंकी अभिलाषाकी दुष्टता बतलाते हैं—जैसे कोई मनुष्य राख आदिके लिये बहुमूल्य चन्दनकी लकडीको जला देता है। वैसे ही मनुष्य अति तुच्छ विषयो-के लोभसे उस मनुष्य भवको नष्ट कर देता है जिसके द्वारा अतीन्द्रिय अनन्त सुख प्राप्त हो सकता है। कहा भी है—ये विषय इन्द्रियोंके लिये आनन्द उत्पन्न करते हैं तो बहुतसे रस उन विषयोंमें रहते हैं। किन्तु विषसे संस्कार किये गये अन्नकी तरह उनको भोगनेपर अत्यन्त भयंकर परिणाम होता है। जिसका चंचल चित्त विषय सुखमें अत्यासक्त होता है वह विषयोंकी प्राप्तिके लिये अनिष्ट कार्य करके ऐसी पर्यायमें जन्म लेता है जहाँ उसे विषयसुख मिलता ही नहीं। ठीक ही है, पुण्यहीन मनुष्य विषयसुखको नहीं पाता ॥१८२४॥

छड्डिय रयणाणि जहा रयणद्दीवा हरेज्ज कट्ठाणि ।
माणुसभवे वि छड्डिय धम्मं भोगे भिलसदि तहा ॥१८२५॥

'छड्डिय रयणाणि जहा' रत्नानि त्यक्त्वा यथा, 'रयणद्दीवा हरेज्ज कट्ठाणि' रत्नद्वीपात्काष्ठान्याहरति । 'तहा माणुसभवे वि' मनुष्यभवेऽपि, 'छड्डिय धम्मं' धर्मं विहाय । 'भोगे भिलसदि' भोगानाकाङ्क्षति । एतदुक्तं भवति—अनेकसाररत्नास्पदं रत्नद्वीपं सुदुर्लभं प्राप्य मुधा लभ्यान्यपि रत्नान्यनुपादाय असारमिन्धनं सुलभं सारबुद्ध्या यथा कश्चिदाहरति जडः । तथानेकगुणरत्नाकरं मनुष्यभवं दुरवापमवाप्य अतर्पकं पराधीनं अल्पकालिकं विषयसुखमभिलषति ॥१८२५॥

गंतूण णंदणवणं अमयं छंडिय विसं जह पियइ ।
माणुसभवे वि छड्डिय धम्मं भोगे भिलसदि तहा ॥१८२६॥

'गंतूण णंदणवणं' गत्वा नन्दनवनं । 'अमयं छड्डिय' अमृतं त्यक्त्वा । 'विसं जहा पियइ' विषं यथा पिबति कश्चित् । 'माणुसभवे वि छड्डिय' मनुष्यभवेऽपि त्यक्त्वा । 'धम्मं' धर्मं । 'भोगेभिलसदि तहा' भोगानाभिलषति तथा ॥१८२६॥

योगशब्दार्थमाचष्टे—

पावपओगा मणवचिकाया कम्मासवं पकुव्वंति ।
भुज्जंतो दुब्भत्तं वणम्मि जह आसवं कुणइ ॥१८२७॥

'पावपओगा' पाप प्रयुज्यते प्रवर्त्यते एभिरिति पापप्रयोगाः । 'मणवचिकाया' मनोवाक्कायाः, 'कम्मासवं पकुव्वंति' कर्मत्वपर्यायागमं पुद्गलानां कुर्वन्ति । 'भुंजंतो दुब्भत्तं' भुञ्जमानो दुराहारं । 'वणंमि जह आसवं कुणदि' व्रणे यथा आस्रवं स्रुतिं पूतीनां करोति ॥१८२७॥

गा०-टी०—जैसे कोई मनुष्य रत्नद्वीपमें जाकर रत्नोंको छोड़ लकड़ी बीनता है वैसे ही मनुष्यभवमें धर्मको छोड़ भोगोंकी अभिलाषा करता है। इसका अभिप्राय यह है कि जैसे कोई मूर्ख अनेक बहुमूल्य रत्नोसे भरे तथा अतिदुर्लभ रत्नद्वीपमें जाकर बिना प्रयत्नके ही प्राप्त भी रत्नोको ग्रहण न करके असार और सुलभ ईंधनको ही सारभूत मानकर ग्रहण करता है, उसी प्रकार जो मनुष्यभव अनेक गुणरूपी रत्नोंकी खान है, जिसका मिलना बहुत कठिन है उसे प्राप्त करके भी अज्ञानी ऐसे विषयसुखकी अभिलाषा करता है जो तृप्ति प्रदान नहीं करता तथा पराधीन है और अल्प काल ही रहता है ॥१८२५॥

गा०—जैसे कोई पुरुष नन्दन वनमें जाकर भी अमृतको छोड़ विष पीता है। वैसे ही मनुष्यभवको पाकर भी मनुष्य धर्मको छोड़ भोगोंकी अभिलाषा करता है ॥१८२६॥

योगशब्दका अर्थ कहते हैं—

गा०—जिनके द्वारा पापमें प्रवृत्ति की जाती है वे मन, वचन, काय, पुद्गलोंको कर्मरूपसे परिणमाते हैं। जैसे अपथ्य सेवन करनेवाला अपने घावमें पीब पैदा करता है। अर्थात् जैसे अपथ्य सेवन करनेसे घावमें पीब आता है वैसे ही मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिसे कर्मोंका आस्रव होता है ॥१८२७॥

कर्माणि शुभाशुभरूपाणि द्विविधानि, तत्र कस्य कर्मणः क आस्रव इत्यत्राह—

अणुकंपासुद्धुवओगो वि य पुण्णस्स आसवदुवारं ।
तं विवरीदं आसवदारं पावस्स कम्मस्स ॥१८२८॥

'अणुकंपा' अनुकम्पा । 'सुद्धुवओगो' शुद्धश्च प्रयोगः परिणाम, 'पुण्णस्स आसवदुवारं' पुद्गलानां पुण्यत्वपर्यायागमनमुखं सद्वेद्यं सम्यक्त्वं रतिहास्यपुंवेदाः शुभे नामगोत्रे शुभं चायुः पुण्यं एतेभ्योऽन्यानि पापानि । अनुकम्पा त्रिप्रकारा । धर्मानुकम्पा मिश्रानुकम्पा सर्वानुकम्पा चेति । तत्र धर्मानुकम्पा नाम परित्यक्तासंयमेषु मानावमानसुखदुःखलाभालाभतृणसुवर्णादिषु समानचित्तेषु दान्तेन्द्रियान्तःकरणेषु [1]जननीमिव मुक्तिमाश्रितेषु परिहृतोग्रकषायविषयेषु दिव्येषु भोगेषु दोषान्विचिन्त्य विरागतामुपगतेषु संसारमहासमुद्राद्भयेन निशास्वप्यल्पनिद्रेषु, अङ्गीकृतनिस्सङ्गत्वेषु, क्षमादिदशविधधर्मपरिणतेषु यानुकम्पा सा धर्मानुकम्पा, यया प्रयुक्तो जनो विवेकी तद्योग्यान्नपानावसथौषधादिकं संयमसाधनं यतिभ्यः प्रयच्छति । स्वामविनिगुह्य शक्तिं उपसर्गदोषानपसारयति आज्ञाप्यतामिति सेवां करोति भ्रष्टमार्गाणां पन्थानमुपदर्शयति । तैः प्रसंयोगमवाप्य अहो सपुण्या वयमिति हृष्यति, सभासु तेषां गुणानुत्कीर्तयति[2], तान् गुरुमिव पश्यति । तेषां गुणानामाभीक्ष्ण्येन स्मरति, महात्मभिः कदा नु मम समागम इति । तैः संयोगं समीप्सति, तदीयान् गुणान् परैरभिवर्ण्यमानान्निशम्य तुष्यति । इत्थमनुकम्पापरः साधुगुणानुमननानुकारी भवति । त्रिधा च सन्तो बन्धमुपविशन्ति, स्वयं कृतेः, कारणायाः, परैः कृतस्यानुमतेश्च । ततो महागुणराशिगतहर्षात् महान् पुण्यास्रवः ।

कर्म शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकारके हैं। किससे किस कर्मका आस्रव होता है यह कहते हैं—

गा०—अनुकम्पा और शुद्ध उपयोग पुण्य कर्मके आस्रवके द्वार हैं। और अनुकम्पा तथा शुद्ध उपयोगसे विपरीत परिणाम पाप कर्मके आस्रवके द्वार है ॥१८२८॥

टी०—अनुकम्पाके तीन भेद हैं—धर्मानुकम्पा, मिश्रानुकम्पा, सर्वानुकम्पा। जिन्होंने असंयमका त्याग कर दिया है, मान, अपमान, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ तथा तृण-सुवर्ण आदिमे जिनका समभाव है, इन्द्रिय और मनका जिन्होंने दमन किया है, जो माताके समान मुक्तिके आश्रित हैं, जिन्होंने उग्र कषाय विषयोंका परित्याग किया है, दिव्य भोगोंमें दोषोंका विचार करके विरागताको अपनाया है, संसाररूपी महासमुद्रके भयसे रात्रिमें भी जो अल्प निद्रा लेते हैं, जिन्होंने निःसंगताको स्वीकार किया है और जो उत्तम क्षमा आदि दस प्रकारके धर्मोंमें लीन हैं उनमें जो अनुकम्पा है उसे धर्मानुकम्पा कहते हैं। उस धर्मानुकम्पासे प्रेरित होकर विवेकी जन उन मुनियोंके योग्य अन्नपान, वसतिका आदि संयमके साधन प्रदान करते हैं। अपनी शक्तिको न छिपाकर उपसर्ग और दोषोंको दूर करते हैं। 'हमे आज्ञा कीजिये' इस प्रकार निवेदन करके सेवा करते हैं। जो मार्गसे भ्रष्ट हो जाते है उन्हें सन्मार्ग दिखलाते हैं। उन मुनियोंका संयोग प्राप्त होनेपर 'अहो हम बड़े पुण्यशाली हैं।' इस प्रकार विचार कर प्रसन्न होते हैं। सभाओंमें उनके गुणोंका बखान करते हैं। उनको गुरुके समान मानते हैं। उनके गुणोंका सदा स्मरण करते हैं कि कब उनका समागम हो। उनके संयोगकी अभिलाषा रखते हैं। दूसरे द्वारा उनके गुणोंकी प्रशंसा सुनकर सन्तुष्ट होते हैं। इस प्रकार अनुकम्पामे तत्पर साधु गुणोंकी अनुमोदना करनेवाला

---

१. मातरमिव –आ० मु०। २ ति स्वान्ते मु–आ० मु०।

मिश्रानुकम्पोच्यते—पृथुपापकर्ममूलेभ्यो हिंसादिभ्यो व्यावृत्ताः संतोषवैराग्यपरतया विनीताः दिग्विरतिं, देशविरतिं, अनर्थदण्डविरतिं चोपगतास्तीव्रदोषात् भोगोपभोगान्निवृत्य शेषे च भोगे कृतप्रमाणाः पापात्परिभीतचित्ताः, विशिष्टदेशे काले च विवर्जितसर्वसावद्याः पर्वस्वारम्भयोगं सकलं विमुच्य उपवासं ये कुर्वन्ति तेषु संयतासंयतेषु क्रियमाणानुकम्पा मिश्रानुकम्पेत्युच्यते। जीवासि जीवेषु दयां च कृत्वा कृत्स्नामबुध्यमानाः जिनसूत्राद्‌बाह्या येऽन्यपाखण्डरताविनीताः कष्टानि तपांसि कुर्वन्ति, तेषु क्रियमाणानुकम्पा तया सर्वोऽपि कर्मपुण्यं प्रचिनोति।

> देश प्रवृत्तिर्गृहिणामकृत्स्नात् मिथ्यात्वदोषेण युतोऽन्यधर्मः।
> इत्येषु मिश्रो भवतीति धर्मो [illegible]॥
> सदृष्टयो वापि कुदृष्टयो वा स्वभावतो मार्दवसंप्रयुक्ताः।
> यां कुर्वते सर्वशरीरवर्गे सर्वानुकम्पेत्यभिधीयते सा॥

छिन्नान् बद्धान् रुद्धान् प्रहृतान् विलुप्यमानांश्च मर्त्यान्, सहैनसो निरैनसो वा परिदृश्य मृगान्विहगान् सरीसृपान् पशूंश्च मांसादिनिमित्तं प्रहन्यमानान् परलोकैः परस्परं वा तान् हिंसतो भक्षयतश्च दृष्ट्वा सूक्ष्माननेकान् कुन्थुपिपीलिकाप्रमृति प्राणभृतो मनुजकरभखरशरभकरितुरगादिभि संमृद्यमानानभिवीक्ष्य असाध्यरोगोरगदशनात् परितप्यमानान् मृतोऽस्मि नष्टोऽस्म्यभिधावतोति रोगानुभूयमानान्, गुरुपुत्रकलत्रादिभिर-

---

होता है। पूर्व ज्ञानियोंने बन्धको तीन प्रकारसे कहा है। स्वयं करनेसे, दूसरोंसे करानेसे और दूसरोंके करने पर उसकी अनुमोदना करनेसे। अतः महागुणशाली मुनियोंको देखकर हर्ष प्रकट करनेसे महान् पुण्यास्रव होता है।

अब मिश्रानुकम्पा कहते हैं। जो महान् पाप कर्मके मूल हिंसा आदिसे निवृत्त हैं, सन्तोष और वैराग्यमें तत्पर हैं, विनीत हैं, दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदण्डविरतिको धारण किये हुए हैं, तीव्र दोषवाले भोग उपभोगोंका त्याग करके शेष भोगोंका जिन्होंने परिमाण कर लिया है, जिनका चित्त पापसे भीत रहता है, जो विशिष्ट देश और कालमें सर्व सावद्यका त्याग करते हैं अर्थात् त्रिकाल सामायिक करते हैं, पर्वके दिनोंमें समस्त आरम्भको त्याग उपवास करते हैं उन संयमासयमियोंमें जो अनुकम्पा की जाती है वह मिश्रानुकम्पा है। मैं जिलाता हूं ऐसा मान जो जीवोंपर दया तो करते हैं किन्तु पूर्णरूपसे दयाको नहीं जानते। ऐसे जो जिनागमसे बाह्य अन्य धर्मोको माननेवाले विनयी तपस्वी हैं कष्टदायक तपस्या करते हैं उनमें अनुकम्पा भी मिश्रानुकम्पा है। उससे सब जीव पुण्य कर्मका संचय करते हैं। कहा भी है—

गृहस्थ एकदेशमें प्रवृत्तिशील होनेसे पूर्ण संयमका पालक नहीं होता। तथा मिथ्यात्वके दोषसे सदोष अन्य धर्मवालोंमें अनुकम्पा मिश्रानुकम्पा है। सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जो स्वभावसे ही मार्दव भावसे युक्त हैं वे जो समस्त प्राणियोंमें अनुकम्पा करते हैं उसे सर्वानुकम्पा कहते हैं। जिनके अवयव कट गये हैं, जो बांधे गये हैं, रोके गये हैं, पीटे गये हैं, लौटे गये हैं ऐसे निरपराधी अथवा अपराधी मनुष्योंको देखकर तथा मृगों, पक्षियों, सरीसृपों और पशुओंको मांस के लिये दूसरे लोगोंके द्वारा मारा जाता अथवा उन्हें परस्परमें ही एक दूसरेकी हिंसा करते और एक दूसरेका भक्षण करते देखकर, तथा कुंथु चींटी आदि अनेक छोटे जन्तुओंको मनुष्य, ऊँट, गधा, शरभ, हाथी, घोड़े आदिके द्वारा कुचले जाते देखकर, तथा असाध्य रोगरूपी सर्पके द्वारा

---

१. 'पासवगच्छतज अ०।

प्राप्तकालान् सहसा वियुज्य बन्धुभुजान् विक्रोशतः, स्वाङ्गानि घ्नतश्च शोकेन, उपार्जितद्रविणैर्वियुज्यमानान् कृपणान् प्रनष्टबन्धून् धैर्यशिल्पविद्याव्यवसायहीनान् या नु प्रशाप्रशमत्या वराकान् निरीक्ष्य तद् दुःखमात्मस्थमिव विचिन्त्य स्वास्थ्यमुपनयनमनुकम्पा ।

> सुदुर्लभं मानुषजन्म लब्ध्वा मा क्लेशपात्राणि वृथैव भूत ।
> धर्मे शुभे भूतहिते यतध्वमित्येवमाद्यैरपि चोपदेशैः ॥

कृतकरिष्यमाणोपकारानपेक्षैरनुकम्पा कार्या भवति ।

> पुण्यास्रवं सा त्रिविधानुकम्पा करोति पुत्रं जननी शुभेव ।
> स्वेतानुकम्पा प्रभवाद्धि पुण्यात्पाके मृता अभ्युपयान्ति देवाः ॥

शुद्धप्रयोगो निरूप्यते स च द्विप्रकार. यतिगृहिगोचरभेदेन । यते शुद्धोपयोग इत्थम्भूत —

> जीवान्न हन्यां न मृषा वदेयं चौर्यं न कुर्यान्न भजेय भोगान् ।
> धनं न सेवेय न च क्षपासु भुञ्जीय कृच्छ्रेऽपि शरीरतापे ॥१॥
> रोषेण मानेन च मायया च लोभेन चाहं बहुदोषकेन ।
> युञ्जेय नारम्भपरिग्रहैश्च दीक्षां शुभामभ्युपगम्य भूय. ॥२॥
> यथा न भाजायतमौलिमालो भिक्षां चरन्कामुकबाणपाणिः ।
> तथा न भाया यदि दीक्षितः सन् वहेय दोषानपहाय लज्जाम् ॥३॥

इसे जानेसे पीड़ित मै मर गया, मैं नष्ट हो गया इत्यादि चिल्लानेवाले रोगियोंको देख तथा जिनकी अवस्था अभी मरनेकी नही है ऐसे गुरु, पुत्र, स्त्री आदिका सहसा वियोग हो जानेसे चिल्लाते हुए, अपने अगोंको शोकसे पीटते हुए, कमाये हुए धनके नष्ट हो जानेसे दीन हुए तथा धैर्य, शिल्प, विद्या और व्यवसायसे रहित गरीब प्राणियोंको देख उनके दु:खको अपना ही दु:ख मानकर उसको शान्त करना अनुकम्पा है। 'अति दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर वृथा ही क्लेशके पात्र मत बनो। प्राणियोंके लिये कल्याणकारी धर्ममे मन लगाओ' इत्यादि उपदेशोंके द्वारा किये गये अथवा भविष्यमें किये जानेवाले उपकारकी अपेक्षाके बिना अनुकम्पा करना चाहिये।

ये तीनों प्रकारकी अनुकम्पा पुण्य कर्मका आस्रव करती है। वह जैसे माता पुत्रके लिये शुभ होती है उसी प्रकार शुभ है। उस अनुकम्पासे हुए पुण्यके विपाकसे मरकर स्वर्गमे देव होते हैं।

अब शुद्ध प्रयोगका स्वरूप कहते हैं—उसके दो भेद है-एक यति सम्बन्धी शुद्धसप्रयोग और दूसरा गृहस्थ सम्बन्धी शुद्ध संप्रयोग। यतिका शुद्ध प्रयोग इस प्रकार है—मैं जीवोंका घात नहीं करूँगा। झूठ नही बोलूंगा। चोरी नहीं करूँगा। भोगोको नही भोगूँगा। धनका सेवन नही करूँगा। शरीरमें अत्यन्त कष्ट होनेपर भी रात्रिमे भोजन नहीं करूँगा। शुभ दीक्षा लेकर बहुदोषपूर्ण क्रोध माना माया लोभसे आरम्भ और परिग्रहसे सम्बन्ध नही रखूँगा। जैसे कोई मनुष्य सिरपर मुकुटमाला धारण करके और हाथमें धनुष बाण लेकर भिक्षा मांगे तो शोभा नहीं देता। उसी प्रकार यदि मैं दीक्षा लेकर लज्जा त्याग दोषोंको वहन करूँ तो शोभा नही देता। महान्

१. म वा प्रजा प्रसत्तापकरं नि —आ०।

लिङ्गं गृहीत्वा महतामृषीणां, अङ्गं च बिभ्रत्स्नानादिहीनम् ।
सङ्गं व्रतभङ्गमविचिन्त्य कथं सहेयं कथं कामगुणेषु कुर्याम् ॥४॥
चर्यामनार्यचरितामथेयां धैर्येण हीनः कृपणत्वमेत्य ।
कथं वृथामुण्डशिराश्चरेयं लिङ्गीभवन्नङ्गविकारयुक्तः ॥५॥
इत्येवमादिः शुभकर्मचिन्ता सिद्धार्हदाचार्यबहुश्रुतेषु ।
चैत्येषु संघे जिनशासने च भक्तिर्विरागित्वमनुरागिता च ॥

विनीतता संयमो अप्रमत्तता, मृदुता, क्षमा, आर्जवः, संतोषः, संज्ञाशल्यगौरवविजयः, उपसर्ग-परीषहजयः, सम्यग्दर्शनं, तत्त्वज्ञानं, सरागसंयमं, दशविधधर्मध्यानं, जिनेन्द्रपूजा, पूजोपदेशः निःशंकित्वा-दिगुणाष्टक, प्रशस्तरागसमेता तपोभावना, पञ्चसमितयः, तिस्रो गुप्तय इत्येवमादयः शुद्धप्रयोगाः । गृहिणां शुद्धोपयोग उच्यते—गृहीतव्रतानां धारणपालनयोरिच्छा क्षणमपि व्रतभङ्गोऽनिष्टः, अभीक्ष्णं यतिसंप्रयोगः अन्नादिदान श्रद्धादिविधिपुरस्सर श्रमनोदनाय भोगान् भुक्त्वापि स्वगित सक्तिविगर्हणं, सदा गृहप्रमोक्षप्रार्थना, धर्मश्रवणोपलम्भात्मनसोऽतितुष्टि', भक्त्या पञ्चगुरुस्तवनप्रणमने तत्पूजा, परेषां च स्थिरीकरणमुपबृंहणं, वात्सल्य, जिनेन्द्रभक्तानामुपकारकरणं, जिनेन्द्रशास्त्राभिगम, जिनशासनप्रभावना इत्यादिक । 'तव्विवरीदं' अनुकम्पाशुद्धप्रयोगाख्या विपरीतः परिणामः । 'आसवदारं' आस्रवद्वारं, 'पापस्स कम्मस्स' अशुभस्य कर्मण' । आस्रव । ॥१८२८॥

ऋषियोंका लिंग स्वीकार करके और स्नान आदिके बिना शरीर धारण करके व्रतोंके भंगका विचार न करते हुए काम सेवन आदिका संसर्ग मैं कैसे कर सकता हूँ। मैं धैर्य खो, दीन बनकर अनार्योंके द्वारा आचरण करने योग्य चर्या कैसे कर सकता हूँ। शरीरमें विकार युक्त होकर घूमने पर साधु होकर सिर मुड़ाना व्यर्थ है। इत्यादि प्रकारसे शुभ कर्मकी चिन्ता करना, सिद्ध, अर्हन्त, आचार्य, उपाध्याय, प्रतिमा, संघ और जिनशासनमें भक्ति, वैराग्य, गुणोंमें अनुराग, विनययुक्त प्रवृत्ति, संयम, अप्रमादीपना, परिणामोंमें कोमलता, क्षमा, आर्जव, सन्तोष, आहारादि संज्ञा मिथ्यात्व आदि शल्य और ऋद्धि आदिके मदको जीतना, उपसर्ग और परीषहको जीतना, सम्य-ग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सरागसंयम, दस प्रकारका धर्मध्यान, जिनपूजा, जिनपूजाका उपदेश, निःशंकित आदि आठ गुण, प्रशस्तराग, तपोभावना, पाँच समिति, तीन गुप्ति इत्यादि शुद्ध प्रयोग हैं।

अब गृहस्थोंका शुद्ध प्रयोग कहते हैं—ग्रहण किये हुए व्रतोंके धारण और पालनकी इच्छा, एक क्षणके लिये भी व्रतभंगको इष्ट न मानना, निरन्तर यतियोंको दान देना, श्रद्धा आदि विधि-पूर्वक अन्न आदि देना, भोगोंको भोगकर भी थकान दूर करनेके लिये अपनी भोगासक्तिकी निन्दा करना, सदा घर छोड़नेकी भावना करना, धर्मका श्रवण करनेको मिले तो मनका अतितुष्ट होना, भक्तिपूर्वक पंचपरमेष्ठीका स्तवन और प्रणाम करना, उनकी पूजा करना, दूसरोंको धर्ममें स्थिर करना, धर्मका बढ़ाना, साधर्मीवात्सल्य, जिनेन्द्रदेवके भक्तोंका उपकार करना, जिन शास्त्रोंका अभ्यास करना, जिनशासनकी प्रभावना करना आदि श्रावकोंका शुद्ध प्रयोग है। अनुकम्पा और शुद्ध प्रयोगसे विपरीत परिणाम अशुभ कर्मके आस्रवके द्वार हैं ॥१८२८॥

१. तथाचिचिन्त्य —अ० मु० ।

संवरानुप्रेक्षा कथ्यते । संव्रियन्ते निरुध्यन्तेऽभिनवाः कर्मपर्यायाः पुद्गलानां येन जीवपरिणामेन । मिथ्यात्वादिपरिणामो वा निरुध्यते स संवरः । तत्राद्यं सूरिर्मिथ्यात्वादिपरिणामसंवरात् सम्यक्त्वादीनां संवरतामाचष्टे—

मिच्छत्तासवद्दारं रुंभइ सम्मत्तदिढकवाडेण ।
हिंसादिदुवाराणि वि दढवदफलहेहिं रुंभंति ॥१८२९॥

'मिच्छत्तासवदारं' तत्त्वाश्रद्धानमास्रवद्वारं । 'रुंभंति' रुध्यते, 'सम्मत्तदिढकवाडेण' तत्त्वश्रद्धानकवाटेन । 'हिंसादिदुवाराणि वि' हिंसादिद्वाराण्यपि, 'दढवदफलहेहिं रुंभंति' दृढव्रतपरिघैः स्थगयन्ति ॥१८२९॥

उवसमदयादमाउहकरेण रक्खा कसायचोरेहिं ।
सक्का काउं आउहकरेण रक्खाव चोराणं ॥१८३०॥

'उवसमदयादमाउहकरेण' उपशमः कषायवेदनीयस्य कर्मणस्तिरोभवनं, दया सर्वप्राणिविषया, दमः कषायदोषभावनया चित्तनिग्रहः । एते त्रय आयुधा. करे यस्य तेन । 'कसायचोरेहिं' कषायचोरेभ्य । 'रक्खा सक्का काउं' रक्षा शक्या कर्तुं, 'आयुधकरेण रक्खाव चोरेहिं' आयुधहस्तेन चोरेभ्यो रक्षेव, कषायदोषपरिज्ञानेनासकृत् प्रवृत्तेन क्रोधादिनिमित्तवस्तुपरिहारेण तत्प्रतिपक्षक्षमादिपरिणामेन च कषायनिवारणं । उक्तं च—

जयेत्सदा क्रोधमुपाश्रितः क्षमां जयेच्च मानं समुपेत्य मार्दवं ।
तथैव मायामपि चार्जवाज्जयेत्, जयेच्च संतोषबलेन लुब्धतां ॥
जिताः कषाया यदि किन्न तैर्जितं कषायमूलं सकलं हि बन्धनमिति ॥१८३०॥

मिथ्यात्वसंवरं कषायसंवरं च निरूप्य इन्द्रियसंवरं व्याचष्टे—

इंदियदुद्दंतस्सा णिग्घिप्पंति दमणाणखलिणेहिं ।
उप्पहगामी णिग्घिप्पंति हु खलिणेहिं जह तुरया ॥१८३१॥

अब संवर अनुप्रेक्षा कहते हैं । जिस जीव परिणामसे पुद्गलोंके नवीन कर्म पर्यायें अथवा मिथ्यात्वादि परिणाम रुकते हैं उसे संवर कहते हैं । उनमेसे ग्रन्थकार मिथ्यात्व आदि परिणामोंका संवर करनेसे सम्यक्त्व आदिको संवर कहते हैं—

गा०—मिथ्यात्व अर्थात् तत्त्वके अश्रद्धानरूप आस्रवका द्वार सम्यक्त्व अर्थात् तत्त्वके श्रद्धान रूप दृढ़ कपाटोंके द्वारा रोका जाता है और हिंसा आदि आस्रव द्वारोंको दृढ़ व्रतरूपी अर्गलाओंसे रोका जाता है ॥१८२९॥

गा०-टी०—कषायवेदनीय कर्मके तिरोभाव अर्थात् उदय अवस्थाको प्राप्त न होनेको उपशम कहते हैं । सब प्राणियोंपर दयाभाव होना दया है । कषायोंके दोषोंका विचार करके चित्तका निग्रह करना दम है । ये तीन अस्त्र जिसके पास हैं वह कषायरूप चोरोसे अपनी रक्षा कर सकता है । जैसे जिसके हाथमें अस्त्र होता है वह चोरोंसे अपनी रक्षा कर सकता है उसी प्रकार कषायके दोषोंको जाननेसे, क्रोध आदिमे निमित्त वस्तुसे बचनेसे और कषायोंके विरोधी क्षमा आदि परिणामोंसे कषायको दूर किया जा सकता है । कहा भी है—सदा क्षमाकी उपासना करके क्रोधको जीतना चाहिये । मार्दवको धारण करके मानको जीतना चाहिये । तथा आर्जवभावसे मायाको जीतना चाहिये और सन्तोषसे लोभको जीतना चाहिये । जिसने कषायोंको जीत लिया उन्होंने क्या नहीं जीता । अर्थात् सबको जीत लिया । क्योंकि सब बन्धनका मूल कषाय है॥१८३०॥

'**इंदियदुद्दंतस्सा**' इन्द्रियदुर्दान्ताश्वाः । '**णिगिण्हंति**' निगृह्यन्ते निरुध्यन्ते । केन ? '**दमणाणखलिणेहिं**' दमप्रधानानि दमज्ञानानि, तान्येव खलिनानि तैः । शब्दादिषु वर्तमानानि इन्द्रियज्ञानानि रागद्वेषमूलानि तानी-हेन्द्रियशब्देनोच्यन्ते । तेषां चास्रवाणां निरोधस्तत्त्वज्ञानभावनया भवति । द्वयो रूपयोर्युगपदेकस्मिन्नात्मन्य-प्रवृत्तेः । '**उप्पहगामी**' उन्मार्गयायिनः । '**जह तुरगा णिगिण्हंति**' यथाश्वा निगृह्यन्ते । '**खलिणेहिं**' खरैः खलिनैः ॥१८३१॥

अणिहुदमणसा इंदियसप्पाणि णिगेण्हिदुं ण तीरंति ।
विज्जामंतोसधहीणेण व आसीविसा सप्पा ॥१८३२॥

'**अणिहुदमणसा**' ज्ञानेन अनिभृतचेतसा । '**इंदियसप्पाइं**' इन्द्रियसर्पाः । '**णिगिण्हेदुं**' निग्रहीतुं । '**ण तीरंति**' न शक्यन्ते । '**विज्जामंतोसहीहीणेण व**' विद्यया मन्त्रेण औषधेन वा हीनेन, '**आसीविसा सप्पा**' आशीविषा सर्पा यथा न गृह्यन्ते ॥१८३२॥

प्रमादसंवरं कथयत्युत्तरगाथा—

पावपयोगासवदारणिरोधो अप्पमादफलिगेण ।
कीरइ फलिगेण जहा णावाए जलासवणिरोधो ॥१८३३॥

'**पावपयोगासवदारणिरोधो**' अशुभपरिणामास्रवद्वारनिरोधः । विकथादयः पञ्चदशप्रमादपरिणामाः '**पावपयोगा**' इत्युच्यन्ते । तेषां निरोधः '**अप्पमादफलगेण**' अप्रमादफलकेन । केन फलकेन कः [1]प्रमाद उच्यते सत्यासत्यमृषाभाषा विकथां निरुणद्धि, स्वाध्यायो ध्यानं एकाग्रतेति चेति एते प्रमादविकथाप्रतिपक्षभूताः ।

मिथ्यात्व और कषायके संवरका कथन करके इन्द्रिय संवर कहते हैं—

गा०-टी०—जैसे कुमार्गमे जानेवाले दुष्ट घोड़ोंको कठोर लगामके द्वारा वशमें किया जाता है। वैसे ही दमप्रधान ज्ञानके द्वारा इन्द्रियरूपी दुर्दान्त घोड़ोंको वशमें किया जाता है। यहाँ इन्द्रिय शब्दसे शब्द आदि विषयोंमे प्रवर्तमान इन्द्रिय ज्ञानको कहा है जिसका मूल राग और द्वेष है। उनसे होनेवाले आस्रवोंका निरोध तत्त्वज्ञानकी भावनासे होता है क्योंकि एक आत्मामें एक साथ दो रूप—तत्त्वज्ञान भी और इन्द्रिय विषयोंमें प्रवृत्ति भी नहीं हो सकते ॥१८३१॥

गा०—जैसे जिसके पास विद्या, मंत्र और औषध नहीं है वह सर्पोंको वशमे नहीं कर सकता। उसी प्रकार जिसका मन चंचल है वह इन्द्रियरूपी सर्पोंको वशमे नही कर सकता ॥१८३२॥

आगे प्रमादके संवरको कहते हैं—

गा०—जैसे लकड़ीके पाटिये से नावमें जलका आना रोका जाता है। वैसे ही अप्रमादरूपी पाटियेसे अशुभ परिणामोंरूपी आस्रव द्वारको रोका जाता है ॥१८३३॥

टी०—किस पाटियेसे किस प्रमादको रोका जाता है यह कहते हैं—सत्य और अनुभयरूप वचन विकथा नामक प्रमादको रोकते हैं। स्वाध्याय, ध्यान, एकाग्रता ये विकथा नामक प्रमादके प्रतिपक्षी हैं। इनमें लगे रहनेसे खोटी कथाका अवसर ही नहीं मिलता। क्षमा, मार्दव, आर्जव

---

१. दो रूप्यत इत्याह —आ० मु० ।

क्षमामार्दवार्जवसंतोषाः, कषायप्रमादस्य प्रत्यनीकभूता । ज्ञानभावना, रागद्वेषेन्द्रियविषयविविक्तदेशाव-स्थानं ज्ञानेन मनःप्रणिधानं, इन्द्रियविषयरागद्वेषजदोषाणामनुस्मरणं, विषयोपलब्धावनादरश्चेति एते इन्द्रिय-प्रमादप्रतिपक्षाः । तथा चोक्तं—

वराङ्गनाङ्गानि च रागचोदितो यदृच्छया वा न निरीक्ष्य रज्यति ।
तथैव रूपाण्यशुभानि वीक्षितुं, न नेच्छति द्वेषवशप्रचोदितः ॥१॥
निरीक्ष्य न द्वेष्टि यदृच्छयापि च भवेत्स जेता पुरुषः स्वचक्षुषः ।
सुगीतवादित्ररवान्मनोहरान् स्वरान्मनोज्ञान्युवतीरितानपि ॥२॥
न वाञ्छति श्रोतुमिहादरेण यो यदृच्छया वा न निशम्य रज्यति ।
स्वराननेकानमनोहरानपि न नेच्छति द्वेषवशेन सेवितुं ॥३॥
निशम्य न द्वेष्टि यदृच्छयापि च भवेत्स जेता श्रवणेन्द्रियस्य च ।
तुरुष्ककालागुरुकुष्ठकुङ्कुमान् तमालपत्रोत्पलचम्पकादिकान् ॥४॥
शुभं न जिघ्रासति गन्धमादरात् यदृच्छयाघ्राय न चापि रज्यति ।
तथैव गन्धानशुभानपीह यो न नेच्छति घ्रातुमसूनतद्विषान् ॥५॥
निषेव्य न द्वेष्टि यदृच्छयापि च भवेत्स नासेन्द्रियजिन्नरोत्तमः ।
न यो महामृष्टविशिष्टभोजनं प्रि[1]याणलेह्यपि मनोहरान् रसान् ॥६॥
निषेवितुं रागवशेन काङ्क्षति यदृच्छया वा न निषेव्य रज्यति ।
रसाननेकानमनोहरानपि न नेच्छति द्वेषवशेन सेवितुं ॥७॥
निषेव्य न द्वेष्टि यदृच्छयापि च भवेत्स जेता रसनेन्द्रियस्य च ।

कषायनामक प्रमादके विरोधी हैं। ज्ञानकी भावना, रागद्वेषके कारण इन्द्रिय विषयोंसे रहित देशमें रहना, ज्ञानके द्वारा मनको एकाग्र करना, इन्द्रियोंके विषयोंमें रागद्वेषसे उत्पन्न हुए दोषोंका स्मरण करना, और विषयोंकी उपलब्धिमें आदरभाव न होना, ये इन्द्रिय नामक प्रमादके विरोधी हैं। कहा भी है—

रागसे प्रेरित होकर अथवा स्वेच्छासे सुन्दर स्त्रीके अंगोंको देखकर राग नहीं करता। तथा द्वेषसे प्रेरित होकर अशुभ रूपोंको देखनेकी इच्छा नहीं करता। जो यदृच्छासे देखकर भी द्वेष नहीं करता वह पुरुष अपनी आँखोंका विजेता है। अच्छे गीत, और वादित्रोंके मनोहर स्वरोंको तथा युवती स्त्रियोंके द्वारा कहे गये शब्दोंको भी जो आदरपूर्वक सुनना नहीं चाहता और अचानक सुनकर भी उनमें अनुराग नहीं करता। तथा द्वेषवश अनेक अमनोहर स्वरोंको भी सुननेकी इच्छा नहीं करता। अचानक अमनोज्ञ स्वर सुनाई पड़ जाये तो उससे द्वेष नहीं करता, वह श्रवणेन्द्रियका जेता है। लोबान, काला अगर, कुष्ठ, कुंकुम, तमालपत्र, कमल, चम्पक आदिकी सुगन्धको आदरभावसे जो नहीं सूँघता, और अचानक सूँघनेमें आ जाये तो उसमें राग नहीं करता। उसी प्रकार जो अशुभ गन्धको भी सूँघनेसे द्वेष नहीं करता। और अचानक दुर्गन्ध सूँघ ले तो उससे द्वेष नहीं करता वह श्रेष्ठ पुरुष नासा इन्द्रियको जीतनेवाला है। जो अत्यन्त मीठे विशिष्ट भोजनको और मनोहर रसोंको रागवश सेवन करना नहीं चाहता, अचानक सेवनमें आ जाये तो उसमें राग नहीं करता। तथा द्वेषवश अनेक अमनोहर रसोंको भी सेवन

1. प्रियः प्रलेह्यादिमनो मनोहरान् —आ० ।

मनोज्ञशय्यासनकान्तयोषि[1]तो, शुभांश्च यः स्पर्शविधीन् मनोहरान् ॥८॥
न सेवितुं रागवशेन वाञ्छति यदृच्छया वा न निषेव्य रज्यति ।
प्रमर्द्दनाच्छादनमार्जनानि वा विलेपनाभ्यञ्जन[2]मज्जनानि च ॥९॥
शरीरसौख्याय न यश्च सेवते विवृद्धवैराग्ययुतो महायतिः ।
हिमोष्णभूशैलशिलातृणादिजानशोभनान् स्पर्शविधींश्च सर्वदा ॥१०॥
न चेच्छति द्वेष्टि न चाभ्युपागतान् स्पर्शेन्द्रियस्यैव भवेद्विजिष्णुतो ।
रणे रिपूणामिव निर्भयो जयेत् यथेन्द्रियाणां जयमाश्रितो यतिरिति ॥११॥

निद्राया प्रतिपक्षभूतोऽप्रमादः, अनशनमवमोदर्यं, रसपरित्यागः, संसाराद्भीतिर्निद्रादोषचिन्ता रत्नत्रयेऽनुरागः स्वदुश्चरितानां स्मरणेन शोक इत्येवमादिकः । स्नेहप्रमादप्रतिपक्षभावनोच्यते—बन्धुताया अनवस्थितत्वभावना, तदर्थानेकारम्भपरिग्रहप्रवृत्तिचिन्ता, धर्मविघ्नता, दोषापेक्षणमित्यादिकः । एवंभूतेनाप्रमादफलकेन प्रवर्तता निरुध्यते । 'कीरदि फलगेण जहा' क्रियते फलकेन यथा । 'णावाए जलासवणिरोधो' नाव जलास्रवनिरोधः ॥१८३३॥

गुत्तिपरिखाइ हि गुत्तं संजमणयरं ण कम्मरिउसेणा ।
बंधेइ[3] सत्तुसेणा पुरं व परिखादिहिं सुगुत्तं ॥१८३४॥

'गुत्तिपरिखाहिगुत्तं' गुप्तिपरिखाभिर्गुप्तं, संयमनगरं कर्मरिपुसेना न भंक्तु शक्नोति । परिखादिभिर्गुप्तं शत्रुसेनेवेति । गुप्तेः संवरताख्याता ॥१८३४॥

न करनेकी इच्छा नही करता । और अचानक सेवनमें आ जाय तो द्वेष नहीं करता, वह रसना इन्द्रियका जेता होता है । जो मनोज्ञ शय्या, मनोज्ञ आसन, सुन्दर स्त्री, तथा मनोहर शुभ स्पर्शवाली वस्तुओको रागके वशीभूत हो सेवन करनेकी इच्छा नहीं करता । अचानक सेवनमें आनेपर उनसे राग नहीं करता । तथा जो बढे हुए वैराग्यसे शोभित महायती शारीरिक सुखके लिये शरीरका दबाना, आच्छादन, मार्जन, लेपन, तेल, स्नान आदिका सेवन नहीं करता । तथा सर्वदा अतिशीतल या अतिउष्ण पृथ्वी, पहाड़, पत्थर, तृण आदि अन्य अप्रिय स्पर्शोंको सेवन न करनेकी इच्छा नही करता और ऐसे अप्रिय स्पर्श प्राप्त होनेपर उनसे द्वेष नही करता वह स्पर्शन इन्द्रियका जीतनेवाला होता है । जैसे युद्धमे निर्भय व्यक्ति शत्रुओंको जीतता है । उसी प्रकार वह यति इन्द्रियोंको जीतता है । निद्राका विरोधी है अप्रमाद, अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग, संसारसे भय, निद्राके दोषोका चिन्तन, रत्नत्रयमें अनुराग, अपने बुरे आचरणोंका स्मरण करके शोक करना आदि । स्नेह नामक प्रमादकी विरोधी भावना कहते है—बन्धुता अस्थिर है ऐसा विचारना जिनके प्रति स्नेह होता है उनके लिये अनेक आरम्भ परिग्रह आदिकी चिन्ता करना होती है । धर्म साधनमें विघ्न होता है । इत्यादि दोषोंका चिन्तन स्नेहका प्रतिपक्षी है । इस प्रकारके अप्रमादरूप पाटियेसे प्रमादजन्य आस्रवका संवर होता है ॥१८३३॥

गा०—जैसे शत्रुकी सेना परिखा आदिसे सुरक्षित नगरको नष्ट नहीं कर सकती । वैसे ही कर्मरूपी शत्रुकी सेना गुप्तिरूपी परिखा आदिसे युक्त संयमरूपी नगरको नष्ट नही कर सकती ॥१८३४॥

---

१. योषितः शुभांश्च —आ० । २. मार्जनानि अ० मु० । ३. भंजेदि—मूलारा० ।

गुप्तीनां संवरतामाख्याति—

समिदिदिढणावमारुहिय अप्पमत्तो भवोदधिं तरदि।
छज्जीवणिकायवधादिपावमगरेहिं अच्छित्तो ॥१८३५॥

'समिदिदिढणावमारुहिय' समितिसंज्ञितां दृढनावमारुह्य। **'अप्पमत्तो'** अप्रमत्तो भवोदधिं तरति षड्जीवनिकायवधादिपापमकरैरस्पृष्टः। एतेन समितेः संवरताख्याता ॥१८३५॥

दारेव दारवालो हिदये सुप्पणिहिदा सदी जस्स।
दोसा धंसंति ण तं पुरं सुगुत्तं जहा सत्तू ॥१८३६॥

'दारेव दारवालो' द्वारे द्वारपाल इव। हृदये सम्यक्प्रणिहिता वस्तुतत्त्वानां स्मृतिर्यस्य तं दोषा नाऽभिभवन्ति पुरं सुगुप्तं शत्रव इव ॥१८३६॥

जो हु सदिविप्पहूणो सो दोसरिऊण गेज्झओ होइ।
अंधलगो व चरंतो [1]अरीणमविदिज्जओ चेव ॥१८३७॥

'जो हु सदिविप्पहूणो' यः स्मृतिहीनः। **'सो दोसरिऊण गेज्झओ होइ'** असौ दोषरिपुभिर्ग्राह्यो भवति। अरीणां मध्ये असहायोऽन्धः शत्रुग्राह्यो यथा ॥१८३७॥

अमु[2]यंतो सम्मत्तं परीसहचमुक्करे उदीरंतो।
णेव सदी मोत्तव्वा एत्थ दु आराधणा भणिया ॥१८३८॥

'अमुयंतेण' अमुञ्चता। **'सम्मत्तं'** रत्नत्रयं। **'परीसहसमोयरे'** परीषहप्रकरे अभिभवत्यपि नैव स्मृतिर्मोक्तव्या। अत्राराधना कथिता। संवरः ॥१८३८॥

इससे गुप्तिको संवरका कारण कहा है—

गा०—प्रमादरहित साधु समितिरूपी दृढ नावपर आरूढ होकर छह कायके जीवोंके घातसे होनेवाले पापरूपी मगरमच्छोसे अछूता रहकर संसार समुद्रको पार करता है ॥१८३५॥

इससे समितिको संवरका कारण कहा है—

गा०—जैसे सुरक्षित नगरका शत्रु ध्वंस नही कर सकते, उसी प्रकार द्वारपर खडे द्वारपालकी तरह जिसके हृदयमे वस्तु तत्त्वोकी स्मृति बनी रहती है, दोष उसका अनिष्ट नही कर सकते ॥१८३६॥

गा०—जैसे शत्रुओके मध्यमे असहाय अन्धा व्यक्ति शत्रुओके द्वारा पकडा जाता है। वैसे ही जिसे वस्तु तत्त्वोका सतत स्मरण नही रहता, वह दोषरूपी शत्रुओसे पकडा जाता है ॥१८३७॥

गा०—परीषहोके समूहसे पीड़ित होते हुए भी साधुको रत्नत्रयको न छोड़ते हुए तत्त्वोका स्मरण नहीं छोड़ना चाहिये। सदा तत्त्वका स्मरण करते रहना चाहिये। इसीको यहाँ आराधना कहा है ॥१८३८॥

संवर अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ।

---

१. अडवीमवि -अ० आ०। २ अमुयंतेण आ०।

निर्जरानुप्रेक्षोच्यते—

इय सव्वत्थवि संवरसंवुडकम्मासवो भवित्तु मुणी ।
कुव्वंति तवं विविहं सुत्तुत्तं णिज्जराहेदुं ॥१८३९॥

'इय' एवं । 'सव्वत्थवि' उक्तैः संवरप्रकारैः । 'संवुडकम्मासवो भवित्तु मुणी' संवृतकर्मास्रवो भूत्वा मुनिः करोति विविधं तपः सूत्रोक्तं निर्जराहेतु ॥१८३९॥

तवसा विणा ण मोक्खो संवरमित्तेण होइ कम्मस्स ।
उवभोगादीहिं विणा धणं ण हु खीयदि सुगुत्तं ॥१८४०॥

'तवसा विणा' तपसोऽन्तरेण न कर्ममोक्षो भवति संवरमात्रेण । सुरक्षितमपि धनं नैव हीयते उपभोगमन्तरेण तथा । तस्मात् तपोऽनुष्ठातव्यं निर्जरार्थं । का सा निर्जरा नाम ? पूर्वकृतकर्मशातनं तु निर्जरा ॥१८४०॥

पुव्वकदकम्मसडणं तु णिज्जरा सा पुणो हवे दुविहा ।
पढमा विवागजादा विदिया अविवागजाया य ॥१८४१॥

'पुव्वगदकम्मसडणं' पूर्वकृतकर्मपुद्गलस्कन्धावृतानामवयवानां जीवप्रदेशेभ्योऽपगमनं निर्जरा । तथा चोक्तं 'एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरेति' । निर्जरा द्विविधा द्रव्यनिर्जरा भावनिर्जरा चेति । द्रव्यनिर्जरा नाम गृहीतानामशनपानादिद्रव्याणां एकदेशापगमनं वमनादिव । भावनिर्जरा नाम कर्मत्वपर्यायविगमः पुद्गलानां । सा पुनर्द्विविधा, आद्या विपाकजाता दत्तफलानां कर्मणां गलनं विपाकजा निर्जरा । द्वितीयाऽविपाकजाता ॥१८४१॥

अब निर्जरा अनुप्रेक्षाको कहते हैं—

गा०—इस प्रकार संवरके उक्त भेदोंके द्वारा मुनि कर्मोंका आस्रव रोककर आगममें कहे अनेक प्रकारके तपोंको करता है जो निर्जराके कारण है ॥१८३९॥

गा०—जैसे सुरक्षित भी धन उपभोग किये बिना नहीं घटता, उसी प्रकार तपके बिना कर्मोंके संवरमात्रसे कर्मोंका क्षय नहीं होता । अतः निर्जराके लिये तप करना चाहिये । पूर्वमें बद्ध कर्मोंके क्रमसे क्षयको निर्जरा कहते है ॥१८४०॥

गा०-टी०—पूर्वमें बांधे हुए पौद्गलिक कर्मस्कन्धोंके अवयवोंका जीवके प्रदेशोंसे अलग होना निर्जरा है । कहा भी है—'कर्मोंके एकदेशका क्षय निर्जराका लक्षण है । निर्जराके दो भेद हैं—द्रव्यनिर्जरा और भावनिर्जरा । खाये हुए भोजन पान आदि द्रव्योंके एकदेशका वमन आदिके द्वारा बाहर निकलना द्रव्यनिर्जरा है । और पुद्गलोंका कर्मरूप पर्यायको त्यागना भावनिर्जरा है । भावनिर्जराके भी दो भेद है—सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा । जो कर्म अपना फल दे चुके हैं उनकी निर्जरा सविपाक निर्जरा है और जिन कर्मोंका विपाक काल नहीं आया है उन्हें तप आदिके द्वारा बलात् उदयमें लाकर खेरना अविपाक निर्जरा है ॥१८४१॥

विशेषार्थ—द्रव्यसंग्रह आदिमें भी निर्जराके उक्त भेदोंका कथन है किन्तु उनमें फल दे चुकने वाले कर्म पुद्गलोंका जीवसे पृथक् होना द्रव्यनिर्जरा है और जीवके जिस भावसे यह द्रव्यनिर्जरा होती है उस भावको भावनिर्जरा कहा है ॥१८४१॥

अत्र दृष्टान्तमाचष्टे द्विविधां निर्जरामवगमयितुं—

कालेण उवायेण य पच्चंति जहा वणप्फदिफलाइं ।
तह कालेण तवेण य पच्चंति कदाणि कम्माणि ॥१८४२॥

'कालेण उवाएण य' यथा कालेनोपायेन च वनस्पतीना फलानि पच्यन्ते तथा कालेन तपसा पच्यन्ते कृतानि कर्माणि ॥१८४२॥

तयोर्निर्जरयोः का कस्य भवतीत्यांशङ्कायामाचष्टे—

सव्वेसिं उदयसमागदस्स कम्मस्स णिज्जरा होइ ।
कम्मस्स तवेण पुणो सव्वस्स वि णिज्जरा होइ ॥१८४३॥

'सव्वेसिमुदयसमागदस्स' सर्वेषां समयपूर्वके तपसि वृत्ताना अवृत्ताना च अथवा मिथ्यादृष्टयादीनां सम्यग्दृष्टयादीना वा उदयावलिकाप्रविष्टस्य दत्तस्य फलस्य कर्मणो निर्जरा भवति । एतेन विपाकनिर्जरा स्वल्पेस्याख्यातं भवति । कथं न सर्वाणि कर्माणि गलन्तीति चेदुच्यते—सर्वाणि कर्माणि भिन्नस्थितिकानि सहकारिकारणाना द्रव्यक्षेत्रादीना [2]युगपदसान्निध्यादुदय सर्वस्य नोपव्रजन्ति, ततो यदुदयप्राप्त तदेवागच्छति नेतरदिति । **'तवेण पुणो'** तपसा पुन । **'कम्मस्स सव्वस्स वि'** कर्मण सर्वस्यापि निर्जरा भवति ॥१८४३॥

ण हु कम्मस्स अवेदिदफलस्स कस्सइ हवेज्ज परिमोक्खो ।
होज्ज व तस्स विणासो तवग्गिणा डज्झमाणस्स ॥१८४४॥

दोनों प्रकारकी निर्जराको समझानेके लिये दृष्टान्त कहते हैं—

गा०—जैसे वनस्पतियोंके फल अपने समयपर भी पकते हैं और उपाय करनेसे समयसे पहले भी पक जाते हैं, उसी प्रकार पूर्वबद्ध कर्म भी अपनी स्थिति पूरी होनेपर अपना फल देते है और तपके द्वारा स्थिति पूरी होनेसे पूर्व ही फल देकर चले जाते है ॥१८४२॥

उक्त दोनों निर्जराओंमेसे किसके कौन निर्जरा होती है, यह कहते हैं—

गा०-टी०—सभी जीवोंके जो तप करते है या तप नही करते, अथवा सम्यग्दृष्टी हों या मिथ्यादृष्टी हों उन सब जीवोके उदयावलीमे प्रवेश करके अपना फल देनेवाले कर्मोंकी निर्जरा होती है अर्थात् सविपाक निर्जरा तो सभी जीवोके सदा हुआ करती है क्योकि सभी जीव सदा कर्म करते हैं और सदा उनका फल भोगते हैं। इससे सविपाक निर्जरा थोड़े ही कर्मकी होती है यह सूचित होता है।

शंका—सब कर्मोंकी निर्जरा क्यो नही होती ?

समाधान—सब कर्मोंकी स्थिति भिन्न-भिन्न होती है। तथा सबके सहकारी कारण द्रव्य क्षेत्र आदि एक साथ नही मिलते अतः सब कर्म एक साथ उदयमे नही आते। अत जिस कर्मका उदय होता है उसीकी निर्जरा होती है। शेषकी निर्जरा नहीं होती। किन्तु तप करनेसे सब कर्मोंकी निर्जरा होती है ॥१८४३॥

---

१. यसमयाप —आ० । २. दुदयमुपव्रजंति —अ० ।

'कम्मस्स ण हु हवेज्ज परिमोक्खो' अननुभूतफलस्य कर्मणो नैव कस्यचित् मोक्षो भवति इति। ततः फलं प्रदायापयाति। एतेन विपाकनिर्जरोक्ता **'होज्ज व तस्स कम्मस्स विणासो'** भवेद्वा तस्य कर्मणो विनाशः। **'तवग्गिणा डज्झमाणस्स'** तपोऽग्निना दह्यमानस्य। एतेन कृतं कर्म तत्फलमदत्वा न निवर्तत इत्येतन्निरस्तं ॥१८४४॥

डहिऊण जहा अग्गी विद्धंसदि सुबहुगंपि तणरासी।
विद्धंसेदि तवग्गी तह कम्मतणं सुबहुगंपि ॥१८४५॥

'डहिऊण जहा अग्गी' यथाग्निर्दग्ध्वा नाशयति महांतमपि तृणराशिं तथा तपोग्निः सुमहदपि कर्मतृण विनाशयति ॥१८४५॥

तपसः कर्मविनाशनक्रममुपवर्णयत्युत्तरगाथा—

कम्मं पि परिणमिज्जइ सिणेहपरिसोसएण सुतवेण।
तो तं सिणेहमुक्कं कम्मं परिसडदि धूलिव्व ॥१८४६॥

'कम्मं पि परिणमिज्जदि' [1]कर्माण्यपि अभावं नीयन्ते, केन ? **'सुतवेण'** ज्ञानदर्शनचरणसहभाविना तपसा। **'सिणेहपरिसोसगेण'** कर्मपुद्गलगतस्नेहपरिणामविशोषणकारिणा। **'तो'** पश्चात्। स्नेहपरिणामविनाशोत्तरकालं। **'कम्म परिसडदि'** कर्म परितोऽपयाति, **'सिणेहमुक्कं'** स्नेहमुक्तं धूलीव। दृश्यते हि स्नेहाद्बन्धमुपागताना तत्क्षते परस्परतो वियोग यथा जलेनैव पिण्डतामताना सिकताना शुष्के जले वियोगमापद्यमानता ॥१८४६॥

गा०-टी०—जिस कर्मका फल नहीं भोगा गया है उसका विनाश नही होता। अत कर्म फल देकर जाता है। इससे सविपाक निर्जराका स्वरूप कहा। सविपाक निर्जरा उन्ही कर्मोंकी होती है जो अपना फल दे चुकते हैं। किन्तु तपकी अग्निमें जलकर ऐसे कर्मों का भी विनाश होता है जिन्होंने फल नही दिया है। इससे जो मत ऐसा म.नते है कि किया हुआ कर्म बिना फल दिये नही जाता, उनका खण्डन होता है ॥१८४४॥

गा०—जैसे आग महान् भी तृणराशिको जलाकर खाक कर देती है। उसी प्रकार तपरूपी आग महान् भी कर्मरूपी तृणोंके ढेरको जलाकर नष्ट कर देती है ॥१८४५॥

आगे तपसे कर्मों के विनाशका क्रम दिखलाते हैं—

गा०-टी०—ज्ञान, दर्शन और चारित्रके साथ होनेवाला तप कर्म-पुद्गलोंमें रहनेवाले स्नेह परिणामको सोख लेता है। अतः उससे कर्मों का अभाव होता है। क्योंकि कर्मों में रहनेवाले स्नेहपरिणामका विनाश होनेके पश्चात् स्नेहरहित धूलकी तरह कर्म नष्ट हो जाते हैं। देखा जाता है जो वस्तुएँ चिक्कणता गुणके कारण परस्परमें बँधी होती हैं, उनकी चिक्कणता नष्ट होनेपर वे परस्परमें अलग हो जाती हैं जैसे जलके संयोगसे धूल बँध जाती है और जलके सूखने पर अलग-अलग हो जाती है। इसी प्रकार कषाय आदि रूप स्नेहके कारण जो कर्मपुद्गल जीवके साथ एकरूप होते है, तपके द्वारा कषायके चले जानेपर वे जीवसे पृथक् हो जाते हैं ॥१८४६॥

---

१. कर्मापि सुतवेण शोषणेन तपसाऽन्यथाभावं नीयन्ते। केन ? ज्ञान आ०।

धादुगदं जह कणयं सुज्झइ धम्मंतमग्गिणा महदा ।
सुज्झइ तवग्गिधंतो तह जीवो कम्मधादुगदो ॥१८४७॥

'**धादुगदं**' यथा सुवर्णपाषाणगत कनक महताग्निना दह्यमान शुध्यति, मलात् पृथग्भवति तथा जीव' कर्मधातुगतस्तपोऽग्निना दह्यमान शुध्यति ॥१८४७॥

यद्येवं तप एवानुष्ठातव्य किं संवरेणेति शङ्का निराकरोति—

तवसा चेव ण मोक्खो संवरहीणस्स होइ जिणवयणे ।
ण हु सोत्ते पविसंते किसिणं परिसुस्सदि तलायं ॥१८४८॥

'**तवसा चेव ण मोक्खो**' तपसैव न सर्वकर्मापायो भवति, संवरहीनस्य जिनवचने । स्रोतसि प्रविशति न जलाविक कृत्स्न परिशुष्यति ॥१८४८॥

एवं पिणद्धसंवरवम्मो सम्मत्तवाहणारूढो ।
सुदणाणमहाधणुगो झाणादितवोमयसरेहिं ॥१८४९॥

'**एवं पिणद्धसंवरवम्मो**' एवं पिनद्धसंवरकवच , सम्यक्त्ववाहनारूढ , श्रुतज्ञानचापधर , ध्यानादितपोमयशरै' ॥१८४९॥

संजमरणभूमीए कम्मारिचमू पराजिणिय सव्वं ।
पावदि संजमजोहो अणोवमं मोक्खरज्जसिरिं ॥१८५०॥

'**संजमरणभूमीए**' संयमयुद्धाङ्गणे कर्मारिचमू सर्वामभिभूय प्राप्नोति संयतयोध' अनुपमा मोक्षराज्यश्रियं । निर्जरा ॥१८५०॥

गा०—जैसे सुवर्ण पाषाणको महान् अग्निसे फूँकने पर उसमेंसे सोना अलग हो जाता है। उसी प्रकार तपरूपी आगसे तपानेपर कर्मरूपी धातुसे घिरा हुआ जीव शुद्ध हो जाता है ॥१८४७॥

इस परसे कोई शंका करता है कि यदि तपसे जीव शुद्ध होता है तो तप ही करना चाहिए, संवरकी क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—जिनागममें संवरके बिना केवल तपसे ही सब कर्मोंका विनाश नहीं कहा है। क्योंकि यदि तालाबमे जल आता रहता है तो तालाबको पूर्णरूपसे सुखाया नहीं जा सकता ॥१८४८॥

गा०—अत. जिसने संवररूप कवच धारण किया है, जो सम्यक्त्वरूपी रथपर सवार है, और श्रुतज्ञानरूपी धनुष लिये हुए है वह संयमरूपी योद्धा संयमरूपी रणभूमिमें ध्यान आदि तपोमय बाणोंके द्वारा समस्त कर्मरूपी शत्रुओंकी सेनाको पराजित करके मोक्षरूपी अनुपम राज्यलक्ष्मीको प्राप्त करता है ॥१८५०॥

निर्जरानुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ।

---

१. धम्मो तह –अ० आ० ।

धर्मगुणानुप्रेक्षणायोच्यते—

जीवो मोक्खपुरक्कडकल्लाणपरंपरस्स जो भागी।
भावेणुववज्जदि सो धम्मं तं तारिसमुदारं ॥१८५१॥

'जीवो मोक्खपुरक्कडकल्लाणपरंपरस्स जो भागी' यो जीवः मोक्षावसानकल्याणपरंपराया भाजनभूतः। स धर्मं भावेन प्रतिपद्यते, त तादृशमुदारं सकलसुखसंपादनक्षमं महान्तं धर्मं ॥१८५१॥

धम्मेण होदि पुज्जो विस्ससणिज्जो पिओ जसंसी य।
सुहसज्झो य णराणं धम्मो मणणिव्वुदिकरो य ॥१८५२॥

'धम्मेण होदि पुज्जो' धर्मेण पूज्यो भवति। विश्वसनीय प्रियो यशस्वी च भवति, सुखेन च साध्यो नराणा धर्मः। उक्तं च—दृष्टे श्रुते च विदिते स्मृते च धर्मे फलागमो भवतीति, मनसो निर्वृत्तिं च करोति ॥१८५२॥

जावदियाइं कल्लाणाइं[1] माणुस्स-देवलोगे य।
आवहदि ताण सव्वाणि मोक्खं सोक्खं च वरधम्मो ॥१८५३॥

'जावदियाइं कल्लाणाइं' यावन्ति कल्याणानि स्वर्गे मनुष्यलोके च तानि सर्वाण्याकर्षति धर्मो मोक्ष सुखं च ॥१८५३॥

ते धण्णा जिणधम्मं जिणदिट्ठं सव्वदुक्खणासयरं।
पडिवण्णा दिढधिदिया विसुद्धमणसा णिरावेक्खा ॥१८५४॥

'ते धण्णा' पुण्यवन्तः। जिनदृष्टं धर्मं सर्वदुःखनाशकरं प्रतिपन्नाः शुद्धेन मनसा दृढधृतिका, निर्व्याकुला ॥१८५४॥

अब धर्मानुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

गा०—जो जीव सुदेवत्व सुमानुषत्व आदि कल्याण परम्पराके साथ अन्तमें मोक्षको प्राप्त करता है वही समस्त सुख सम्पादनमें समर्थ महान् धर्मको भावपूर्वक धारण करता है। अर्थात् भावपूर्वक धर्मका पालन करनेसे सांसारिक सुखके साथ मोक्षसुख प्राप्त होता है ॥१८५१॥

गा०—धर्मसे मनुष्य पूज्य होता है, सबका विश्वासपात्र होता है, सबका प्रिय और यशस्वी होता है। मनुष्य धर्मको सुखपूर्वक पालन कर सकते हैं। कहा भी है—धर्मकी श्रद्धा करनेपर, धर्मको सुननेपर, धर्मको जानने और धर्मका स्मरण करनेपर फलकी प्राप्ति होती है। तथा धर्मसे मनको शान्ति मिलती है ॥१८५२॥

गा०—मनुष्यलोक और देवलोकमें जितने कल्याण हैं उन सबको उत्तमधर्म लाता है और अन्तमें मोक्षसुखको भी लाता है ॥१८५३॥

गा०—जिन्होंने जिन भगवान्‌के द्वारा कहे गये और सब दुःखोंका नाश करनेवाले जिन धर्मको दृढ धैर्यके साथ निर्मल मनसे और बिना किसी प्रकारकी अपेक्षाके धारण किया वे पुण्य-शाली हैं ॥१८५४॥

---

१. इं सग्गे य मणुअलोगे य—मु०।

विसयाडवीए उम्मग्गविहरिदा सुचिरमिंदियस्सेहिं ।
जिणदिट्ठणिव्वुदिपहं धण्णा ओदरिय गच्छंति ॥१८५५॥

'विसयाडवीए' विषयाटव्यां उन्मार्गविहारिण सुचिरमिन्द्रियाश्वैर्बलान्नीता सन्तः ये च जिनदृष्ट-निर्वृतिमार्गं गच्छन्ति ते धन्या इन्द्रियाश्वेभ्योऽवरुह्य ॥१८५५॥

रागेण य दोसेण य जगे रमंतम्मि वीदरागम्मि ।
धम्मम्मि णिरासादम्मि रदी अदिदुल्लहा होइ ॥१८५६॥

'रागेण य दोसेण य जगे रमंतम्मि' रागद्वेषाभ्यां सह जगति क्रीडति । वीतरागे धर्मे निरास्वादे रति-रतीव दुर्लभा भवति । उक्तं च—

> कुलं च रूपं च यशश्च कीर्तिर्धनं च विद्या च सुखं च लक्ष्मीः ।
> आरोग्यमाज्ञेप्सितसम्प्रयोगो द्वेष्यैर्वियोगोऽपि च दीर्घमायुः ॥
> स्वर्गश्च मोक्षश्च मयोपदिष्टा भावा इमेऽन्ये च जगत्प्रशस्ताः ।
> धर्मेण शक्या जगतीह लब्धुं, हिताय तं कर्तुमतोऽर्हसि त्वं' ॥ [॥१८५६॥]

सहलं माणुसजम्मं तस्स हवदि जस्स चरणमणवज्जं ।
संसारदुक्खकारयकम्मागमदारसंरोधं ॥१८५७॥

'सहलं माणुसजम्मं' तस्य मनुष्यस्य जन्म सफलं भवति यस्य चरणमनवद्य । कीदृश ? ससारदुःख-संपादनोद्यतकर्मागमद्वारनिरोधकारी । अनेन चारित्रमिह शब्दो धर्मत्वेनोच्यत इत्याख्यातं भवति ॥१८५७॥

जह जह णिव्वेदसमं वेरग्गदयादमा पवड्ढंति ।
तह तह अब्भासयरं णिव्वाणं होइ पुरिसस्स ॥१८५८॥

गा०—जो विषयरूपी वनमें इन्द्रियरूपी घोड़ोके द्वारा बलपूर्वक ले जाये जाकर चिरकालसे कुमार्गमे विहार करते हैं और एक दिन उन इन्द्रियरूपी घोड़ेसे उतरकर जिन भगवान्के द्वारा कहे मोक्षमार्गमे चलने लगते हैं वे धन्य हैं ॥१८५५॥

गा०-टी०—जो राग और द्वेषपूर्वक ससारके भोगोंमे फँसे हैं, स्वादरहित वीतराग धर्ममे उनकी रुचि होना अतिदुर्लभ है। कहा भी है—जिनेन्द्रदेवने कुल, रूप, यश, कीर्ति, धन, विद्या, सुख, लक्ष्मी, आरोग्य, इष्टसंयोग, अनिष्ठ वियोग, दीर्घ आयु, स्वर्ग, मोक्ष तथा अन्य भी जगत्में प्रशस्त भाव कहे हैं। इस जगत्मे उन्हे धर्मके द्वारा प्राप्त करना शक्य है। अतः तुम अपने हितके लिये धर्माचरण करो ॥१८५६॥

गा०—संसारके दुःखोंको करनेमे समर्थ कर्मोंके आनेके द्वारको रोकनेवाला चारित्र जिसका निर्दोष है उसका मनुष्य जन्म सफल है। यहाँ धर्म शब्दसे चारित्र कहा है, इससे यह प्रकट होता है ॥१८५७॥

गा०—जैसे-जैसे मनुष्यमें वैराग्य, निर्वेद, उपशम, दया और चित्तका निग्रह बढ़ता है वैसे-वैसे मोक्ष निकट आता है ॥१८५८॥

यथा यथा निर्वेद उपशमो वैराग्यं दया चित्तनिग्रहश्च प्रवर्तते तथा तथा समीपतरं भवति निर्वाणं पुरुषस्य ॥१८५८॥

धर्मं स्तौति—

सम्मद्दंसणतुंबं दुवालसंगारयं जिणिंदाणं ।
वयणेमियं जगे जयइ धम्मचक्कं तवोधारं ॥१८५९॥

'सम्मद्दंसणतुंबं' सम्यग्दर्शनतुम्बं द्वादशाङ्गारकं व्रतनेमिकं तपोधारं जिनेन्द्राणां धर्मचक्रं जगति जयति ॥१८५९॥ धम्मं ।

बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा कथ्यते—

दंसणसुदतवचरणमइयम्मि धम्मम्मि दुल्लहा बोही ।
जीवस्स कम्मसत्तस्स संसरंतस्स संसारे ॥१८६०॥

'दंसणसुदतवचरणमइयम्मि' दर्शनश्रुततपश्चरणमये धर्मे दुर्लभा बोधिर्जीवस्य कर्मसक्तस्य संसारे संसरतः ॥१८६०॥

तस्या दुर्लभतां प्रकटयत्युत्तरप्रबन्धेन—

संसारम्मि अणंते जीवाणं दुल्लहं मणुस्सत्तं ।
जुगसमिलासंजोगो जह लवणजले समुद्दम्मि ॥१८६१॥

'संसारम्मि अणंते' अनन्तसंसारे जीवानां मनुष्यत्वं दुर्लभं पूर्वापरसमुद्रनिक्षिप्तयुगतत्संबंधिकाष्ठ-संयोग इव ॥१८६१॥

गा०—जिनेन्द्रका धर्मचक्र जगत्में जयशील होता है। सम्यग्दर्शन उसकी नाभि है, द्वादशांग उसके अर है, व्रत नेमि है और तप धारा अर्थात् दूसरी नेमि है ॥१८५८॥

विशेषार्थ—जैसे गाड़ीके चक्केमे अर होते हैं, बीचमे उसकी नाभि होती है। उसी प्रकार जिनेन्द्रके धर्मचक्रकी नाभि सम्यग्दर्शन है। द्वादशांगवाणी या बारह तप उसके डण्डे हैं। और व्रत नेमि है। इनके आधारपर वह धर्मचक्र गतिशील होता है ॥१८५९॥

धर्मानुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ।

अब बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

गा०—संसारमें भटकते हुए कर्मलिप्त जीवके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् तपश्चरणमयी धर्ममें बोधि अर्थात् रत्नत्रयकी प्राप्ति दुर्लभ है ॥१८६०॥

आगे उसकी दुर्लभता बतलाते हैं—

गा०—जैसे लवणसमुद्रके पूर्व भागमें जुआ और पश्चिम भागमें उसकी लकड़ी डाल देनेपर दोनोंका संयोग दुर्लभ है। उसी प्रकार अनन्त संसारमें मनुष्य भवका पाना दुर्लभ है ॥१८६१॥

मनुजताया दुर्लभत्वे कारणमाह—

असुहपरिणामबहुलत्तणं च लोगस्स अदिमहल्लत्तं ।
जोणिबहुत्तं च कुणदि सुदुल्लहं माणुसं जोणी ॥१८६२॥

'**असुहपरिणामबहुलत्तणं च**' अशुभपरिणामाना मिथ्यात्वासंयमकषायप्रमादाना परिणामाना बहुत्व मनुजयोनिदुर्लभता करोति । मनुजरहितलोकस्यातिमहत्त्वं च तत् दुर्लभता करोति । असंख्येया हि द्वीपसमुद्रका नारकावासा, स्वर्गपटलानि, इतरच्च लोकाकाशमतिमहत् । योनीना बहुत्व चेतरासा निबन्धनं तद्दुर्लभ-ताया ॥१८६२॥

अपरामपि दुर्लभतापरम्परा दर्शयत्युत्तरगाथा—

[1]देसकुलरूवमारोग्गमाउगं बुद्धिसवणगहणाणि ।
लद्धे वि माणुसत्ते ण हुंति सुलभाणि जीवस्स ॥१८६३॥

'**देसकुलरूवमारोग्गं**' देशकुलरूपमारोग्य । आयुगमायुष्क । '**बुद्धिसवणगहणाणि**' बुद्धिश्रवणग्रहणानि । लब्धेऽपि मनुष्यत्वे मनुष्यगतिनामकर्मोदयात्, जिनप्रणीतधर्मप्रगल्भमानवबहुलो देशो दुर्लभ । अन्तर्द्वीपाना शकयवनकिरातबर्बरपारसीकसिंहलादिदेशाना धर्मज्ञमानवरहितानामतिबहुलत्वात् । लब्धेऽपि देशे सुजनावासे

मनुष्य पर्यायकी दुर्लभताका कारण कहते है—

गा०-टी०—मिथ्यात्व, असयम, कषाय और प्रमादरूप अशुभ परिणामोकी बहुतायतके कारण मनुष्य योनि दुर्लभ है । तथा मनुष्य रहित लोक अतिमहान् है इससे भी मनुष्ययोनि दुर्लभ हो क्योंकि असंख्यात द्वीप समुद्रो तक तो नरकावास है, ऊपर स्वर्गपटल । शेष लोकाकाश भी महान् है । तथा जीवोकी योनिया बहुत है । इससे भी मनुष्य योनि दुर्लभ है ॥१८६२॥

विशेषार्थ—लोकके मध्यमे पैतालीस लाख योजन प्रमाण क्षेत्र ही मनुष्य लोक है । अढाई द्वीपकेबाहर सब तिर्यञ्च ही रहते हैं । नारकी रहते है । ऊपर देव रहते हैं । तथा जीवोका योनियाँ भी बहुत हैं इसके साथ ही अशुभ परिणामोंकी भी बहुलता है । शुभ परिणाम होनसे ही मनुष्यगतिमे अच्छा क्षेत्र, जाति, कुल आदि उपलब्ध होते हैं तभी तो मनुष्य होकर धर्मलाभ हो सकता है । मनुष्य पर्याय भी पाई किन्तु देश, कुल, जाति ठीक नही मिले तो मनुष्य पर्याय पाकर भी क्या लाभ हुआ । अत: धर्मसाधनके योग्य मनुष्य पर्याय दुर्लभ है ॥१८६२॥

आगे और भी दुर्लभताके कारण कहते है

गा०—जीवके मनुष्य पर्याय प्राप्त करने पर भी देश, कुल, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि, श्रवण, ग्रहण सुलभ नही है ॥१८६३॥

टी०—मनुष्यगति नाम कर्मके उदयसे मनुष्यपर्याय पानेपर भी जिन भगवान्के द्वारा कहे गये धर्ममें दक्ष मनुष्योसे भरा हुआ देश प्राप्त होना दुर्लभ है । क्योंकि धर्मके ज्ञाता मनुष्योंसे रहित अन्तर्द्वीप तथा शक, यवन, किरात, बर्बर, पारसीक और सिंहल आदि देश अनेक हैं ।

---

१. 'देसकुल जाइ रूव, आरोग्ग आउग च पुण्ण च ।
बुद्धिसवणगहणाणि लद्धे णरत्तेहिं दुल्लह होई ॥' —आ० ।

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यादिकं कुलं दुरधिगमनीयं सुकुलानामल्पत्वात् असकृन्नीचैर्गोत्रबन्धनात्। मिथ्यात्वोदयात् प्रायेण प्राणिनो गुणान् गुणिजनं च निन्दन्त्याक्रोशन्ति, निर्गुणोऽपि कुलाभिमानमतिमहदुद्वहति, तेन नीचैर्गोत्रमुपविनोति, गुणे गुणिजने चानुराग कुलाभिमानतिरस्करणं वा कदाचिदेव भवति इति शोभनं कुलं कदाचिदेव लभ्यते। चारित्रमोहोदयात् षड्जीवनिकायबाधाकरणे सततमुद्यतः तदीयरूपशोभोन्मूलनसंपादनेनोपार्जितेनाशुभरूपनामकर्मणा विरूपो बहुशो भवति। जीवदयां कदाचिदेव क्वचिदेव करोति। प्रशस्तरूपनामकर्मलभ्य सौरूप्यमपि क्लेशेन लभ्यते। परजीवसंतापकरणे कृतोत्साहः सर्वदैवेति रोगी भवति बहुशः, परसंतापपरिहारं वैयावृत्यं च कदाचिदेव करोति। इति नीरोगतापि कादाचित्की दुर्लभा। परेषां प्रायेणायुर्निहन्तीति स्वल्पायुरेवायं जनो जायते। कदाचिदेवाहिंसाव्रतपरिपालनाच्चिरजीविता सदा न लभ्यते। समीचीनज्ञानिजनदूषणात् तन्मात्सर्यात् तद्विघ्नकरणात्तदासादनाच्चक्षुरादीन्द्रियोपघातकरणाच्च मतिश्रुतज्ञानावरणं वराको बध्नातीति दुर्मेधा भवति। बहुषु जन्मशतसहस्रेषु मतिश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमात् शुभपरिणामोपनीतात् कदाचिदेव विवेककारिणी बुद्धिर्भवति। सत्यामपि बुद्धौ हिताहितविचारणक्षमं धर्मश्रवणमतिदुर्लभं, यतीनां विरागद्वेषाणां, समीचीनज्ञानप्रकाशनोन्मूलितदुर्भेद्यमोहान्धतानां, अशेषजीवनिकायदयाक्रियोद्यतानां असौलभ्यात्, तीव्रमिथ्यादर्शनोपनीतगुणिजनद्वेषेण मिथ्याज्ञानलवलाभदुर्विदग्धतया स्वगृहीततत्त्वपरवशतया आलस्येन वा यतीनां

धर्मज्ञजनोसे बसा हुआ देश मिलनेपर भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि कुल मिलना कठिन है क्योकि अच्छे कुल बहुत कम हैं। और इसका कारण यह है कि जीवोंके निरन्तर नीच गोत्रका बन्ध हुआ करता है। मिथ्यात्वके उदयसे प्रायः प्राणी गुणो और गुणीजनोकी निन्दा करते हैं, उनके सम्बन्धमे बका करते हैं। गुणहीन भी अपने कुलका नव अभिमान रखते है। उससे वे नीच गोत्रका बन्ध करते है। गुणोमे और गुणोजनोमे अनुराग तथा कुलके अभिमानका तिरस्कार कम ही देखा जाता है। इसलिये जीवोको अच्छा कुल कम ही मिलता है। चारित्रमोहके उदयसे जीव छह कायके जीवोको बाधा देनेमे निरन्तर लगे रहते हैं वे उनके रूपकी शोभाको विनष्ट करते है। उससे उपार्जित अशुभ नामकर्मसे जीव अधिकतर विरूप होते हैं। जीवोपर दया कम ही लोग करते हैं। अत प्रशस्त रूपनामकर्मके द्वारा प्राप्य सुन्दर रूप भी बडे कष्टसे प्राप्त होता है। प्राणी सर्वदा दूसरे जीवोको सताप देनेका उत्साह रखते है। इसलिये अधिकतर रोगी होते हैं। दूसरोका कष्ट दूर करनेवाली वैयावृत्य कम ही करते है। इसलिये नीरोगता भी दुर्लभ है। प्राणी प्रायः दूसरोंकी आयुका घात करते है उन्हे मार देते है। इससे वे अल्प आयुवाले होते है। कदाचित् ही अहिंसाव्रतका पालन करनेसे चिरजीवि होते है, सदा चिरजीवी नहीं होते। सच्चे ज्ञानिजनोको दूषण लगानेसे, उनसे डाह करनेसे, उनके ज्ञानाराधनमे विघ्न डालनेसे, उनकी आसादना करनेसे तथा चक्षु आदि इन्द्रियोका घात करनेसे प्राणी मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्मोंका बन्ध करनेसे बुद्धिहीन होते है। लाखों जन्मोंमेसे कुछ ही जन्मोंमें शुभपरिणामवश मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेसे विवेकशील बुद्धि प्राप्त होती है। बुद्धि प्राप्त होनेपर भी हित अहितके विचारमे समर्थ धर्मका सुनना दुर्लभ है। क्योंकि रागद्वेषसे रहित, सच्चे ज्ञानके प्रकाशनसे दुर्भेद्य मोहान्धकारका उन्मूलन करनेवाले और समस्त जीवोपर दया करनेवाले मुनिगण दुर्लभ हैं। तथा तीव्र मिथ्यादर्शनके कारण गुणीजनोंसे द्वेष करनेवाले या थोड़ा-सा मिथ्याज्ञान प्राप्त करके अपनेको बड़ा विद्वान् माननेवाले या अपने जाने हुए तत्त्वके

---

१ नामसुलभत्वात् —आ०।

स्वपरोद्धरणप्रवीणतापरिज्ञानाच्च न ढौकते यतिजनमिति धर्मश्रवणस्य दुर्लभता। कदाचिदेव पापोपशमाद्यति-जनानु[1]ढौकनेऽपि नयपुरस्सरे संप्रश्ने प्रशस्तवागनुयायिनि गुरुजने चाभिमुखे सति श्रवणं भवतीति दुर्लभता श्रवणस्य। किञ्च यतिजननिकेतनमुपगतोऽपि यदृच्छया निद्राति, स्वयं परेषां यत्किंचिदसारं वदति, मुग्धानां वा वचनं शृणोति न विनयेन ढौकत इति वा दुर्लभं श्रवणं। श्रुतेऽपि धर्मे तत्परिज्ञानमतिदुर्लभं श्रुतज्ञाना-वरणोदयात्। दुःकरत्वं मनःप्रणिधानस्य कदाचिदप्यश्रुतपूर्वत्वात्, सूक्ष्मत्वाच्च जीवादितत्त्वस्य। श्रुतज्ञाना-विकरणे क्षयोपशमे मनःप्रणिधानं वक्तुर्वचनसौष्ठवं चेति सकलमिदमसुलभमिति धर्मज्ञानं दुर्लभं। ज्ञातेऽपि धर्मे अस्ति धर्मो जीवपरिणामसम्यक्त्वज्ञानचरणतपोदानपूजात्मकोऽभ्युदयनिःश्रेयसफलदायी जिनैर्व्यावर्णितरूप-इति श्रद्धानं न सुखेन लभ्यते, दर्शनमोहोदयात्। उपदेशकालकरणलब्धयश्च कादाचित्का इति ॥१८६३॥

लद्धेसु वि तेसु पुणो बोधी जिणसासणम्मि ण हु सुलहा।
कुपधाकुलो य लोगो जं बलिया रागदोसा य ॥१८६४॥

'**लद्धेसु वि तेसु पुणो**' लब्धेष्वपि तेषु मनुजभवादिषु बोधिर्दीक्षाभिमुखा बुद्धिर्न सुलभा प्रबलत्वात्सं-यमघातिकर्मणः। कुमार्गाकुलत्वात् लोकस्य बहूनामाचरणमेव प्रमाणयन् यत्किंचनाचरति, बलवन्तश्च रागद्वेषा ज्ञानश्रद्धानोपेतमपि न सन्मार्गं ढौकितुं ददति ॥१८६४॥

परवश मनुष्योंके कारण या यतिगणके आलस्यसे अथवा अपना और दूसरोंका उद्धार करनेमें दक्ष न होनेसे यतिजन भी नहीं आते है इससे भी धर्मश्रवणकी दुर्लभता है। कदाचित् पापका उपशम होनेसे यतिजनके पधारनेपर भी विनयपूर्वक प्रश्न करनेपर और प्रशस्त वचन बोलनेवाले गुरुके सन्मुख होनेपर धर्म सुननेको मिलता है इसलिये धर्मश्रवणकी दुर्लभता है। अथवा मुनिगणके वास स्थानपर जाकर भी सोता है स्वयं जो कुछ असार वचन बोलता है या मूर्खो के वचन सुनता है, विनय पूर्वक बर्ताव नहीं करता। इससे भी धर्म श्रवण दुर्लभ है।

धर्म सुननेपर भी श्रुतज्ञानावरणका उदय होनेसे उसको समझना अतिदुर्लभ है। तथा समझनेपर भी उसमें मन लगाना दुष्कर है क्योंकि पहले कभी नहीं सुना था। तथा जीवादि तत्त्व भी सूक्ष्म है। श्रुतज्ञानका क्षयोपशम, मनका लगना, वक्ताका वचन सौष्ठव ये सब दुर्लभ होनेसे धर्मज्ञान दुर्लभ है, धर्मका ज्ञान होनेपर भी 'जिन भगवान्के द्वारा कहा हुआ स्वर्ग और मोक्षरूप फलको देनेवाला, जीवके सम्यक्त्व, ज्ञान चारित्र तप दान पूजा भावरूप धर्म है' ऐसा श्रद्धान दुर्लभ है क्योंकि जीवोंके दर्शनमोहका उदय रहता है। उपदेशलब्धि, काललब्धि और करणलब्धि भी सदा नहीं होती, कदाचित् ही होती हैं ॥१८६३॥

गा०—टी०—मनुष्यभव आदिके प्राप्त होनेपर भी 'बोधि' अर्थात् जिन दीक्षाकी ओर अभिमुख बुद्धिका होना सुलभ नहीं है क्योंकि जीवोंके संयमको घातनेवाला कर्म प्रबल होता है। तथा यह लोक मिथ्यामतोंसे भरा है। अतः बहुत लोग जिस धर्मका आचरण करते हैं उसे ही प्रमाण मानकर जो कुछ मनमें आता है, करते हैं। रागद्वेषके बलवान होनेसे ज्ञान और श्रद्धानसे युक्त भी मनुष्य सन्मार्गपर नहीं चलता ॥१८६४॥

१. नुपढौकते विनय —आ०।

इय दुल्लहाए बोहीए जो पमाइज्ज कह वि लद्धाए ।
सो उल्लट्टइ दुक्खेण रदणगिरिसिहरमारुहिय ॥१८६५॥

'इय दुल्लहाए बोहीए' उक्तेन क्रमेण दुर्लभायां दीक्षाभिमुखायां बुद्धौ लब्धायामपि यः प्रमाद्यत्यसौ रत्नगिरिशिखरमारुह्य ततः पतति प्रमादी ॥१८६५॥

फिडिदा संती बोधी ण य सुलहा होइ संसरंतस्स ।
पडिदं समुद्दमज्झे रदणं व तमंधयारम्मि ॥१८६६॥

'फिडिदा संती' बोधिर्विनष्टा सती दीक्षाभिमुखा बुद्धिः पुनर्न सुलभा भवति संसरतः । अन्धकारे समुद्रमध्ये पतित रत्नमिव ॥१८६६॥

ते धण्णा जे जिणवरदिट्ठे धम्मम्मि होंति संबुद्धा ।
जे य पवण्णा धम्मं भावेण उवट्ठिदमदीया ॥१८६७॥

स्पष्टोत्तरा गाथा । बोधित्ति ॥१८६७॥

प्रस्तुतमर्थमुपसंहरति—

इय आलंबणमणुपेहाओ धम्मस्स होंति ज्झाणस्स ।
ज्झायंतो ण वि णस्सदि ज्झाणे आलंबणेहिं मुणी ॥१८६८॥

'इय आलंबणं' एवमालम्बनं भवन्त्यनुप्रेक्षा धर्मध्यानस्य । ध्याने प्रवृत्तो न विप्रणश्यति ध्याननिमित्तालम्बनेभ्यो यति । यो हि यद्वस्तुस्वरूपे प्रणिहितचित्तः सततं वस्तुयाथात्म्यान्न प्रच्यवते तस्याविस्मरणात् ॥१८६८॥

गा०—इस प्रकार उक्त क्रमानुसार दीक्षाके अभिमुख दुर्लभ बुद्धि प्राप्त होनेपर भी जो प्रमाद करता है वह प्रमादी सुमेरुके शिखरपर चढ़कर भी उससे गिरता है ॥१८६५॥

गा०—जैसे अन्धकारमें समुद्रके मध्यमें गिरा रत्न पाना दुर्लभ है वैसे ही एक बार प्राप्त होकर नष्ट हुई दीक्षाभिमुख बुद्धिरूप बोधि संसारमे भ्रमण करनेवाले जीवको प्राप्त होना दुर्लभ है ॥१८६६॥

गा०—जो जिन भगवान्के द्वारा उपदिष्ट धर्ममे प्रबुद्ध होते हैं वे धन्य हैं । तथा जो दीक्षाभिमुख बुद्धिको प्राप्त करके भावपूर्वक धर्मको अपनाते हैं वे तो महाधन्य हैं ॥१८६७॥

बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ ।

प्रस्तुत चर्चाका उपसंहार करते हैं—

गा०—इस प्रकार अनुप्रेक्षा धर्मध्यानका आलम्बन होती है । ध्यान करनेवाला साधु ध्यानमे निमित्त आलम्बनोंका आश्रय लेनेसे ध्यानसे च्युत नहीं होता । जो जिस वस्तुके स्वरूपमें अपने मनको लगाता है वह उस वस्तुके यथार्थस्वरूपसे च्युत नहीं होता, क्योंकि वह उसे भूलता नहीं है ॥१८६८॥

ध्यातुरालम्बनबाहुल्यं दर्शयत्युत्तरा गाथा—

आलंबणं च वायण पुच्छणपरिवट्टणाणुपेहाओ ।
धम्मस्स तेण अविरुद्धाओ सव्वाणुपेहाओ ॥१८६९॥
आलंबणेहिं भरिदो लोगो झाइदुमणस्स खवयस्स ।
जं जं मणसा पिच्छदि तं तं आलंबणं हवइ ॥१८७०॥

'**धम्मस्स आलंबणेहिं भरिदो**' ध्यानस्यालम्बनै पूर्णो लोको ध्यातुकामस्य क्षपकस्य यद्यन्मनसा पश्यति तत्तदालम्बन भवति ॥१८६९॥१८७०॥

धर्मध्यान व्याख्याय ध्यानान्तरं व्याख्यातुमुत्तरप्रबन्ध —

इच्चेवमदिक्कंतो धम्मज्झाणं जदा हवइ खवओ ।
सुक्कज्झाणं झायदि तत्तो सुविसुद्धलेस्साओ ॥१८७१॥

'**इच्चेवमदिक्कंतो**' धर्मध्यानमेव व्यावर्णितरूपमतिक्रान्तो यदा भवेत् क्षपक शुक्लध्यानमसौ ध्याति सुविशुद्धलेश्यासमन्वित । परिणामश्रेण्या हि उत्तरोत्तरानुगुणतया स्थिस क्रमेणैव प्रवर्तते । न हि प्रथमे सोपानेऽस्थापितचरण द्वितीयादिक सोपानमारोढु प्रभवति । एवमप्रमत्तो धर्मध्याने प्रवृत्त एव शुक्लध्यान-मर्हतीति सूत्रेणानेन ज्ञापितं ॥१८७१॥

चतुर्विधशुक्लध्यानं नामतो दर्शयति गाथाद्वयम्—

ज्झाणं पुधत्तसवितक्कसवीचारं हवे पढमसुक्कं ।
सवितक्केक्कत्तावीचारं ज्झाणं विदियसुक्कं ॥१८७२॥

आगेकी गाथासे ध्यान करनेवालेके अनेक आलम्बन बतलाते हैं—

गा०—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना तथा अनुप्रेक्षाएँ नामक स्वाध्याय धर्मध्यानके आल-म्बन है। अत सब अनुप्रेक्षा धर्मध्यानके अनुकूल आलम्बन हैं अर्थात् उनको लेकर धर्मध्यान किया जाता है ॥१८६९॥

ध्यान करनेके इच्छुक क्षपणके लिये यह लोक आलम्बनोसे भरा हुआ है। वह मनको जिस ओर लगाता है वही आलम्बन हो जाता है ॥१८७०॥

धर्मध्यानका कथन करके शुक्लध्यानका कथन करते हैं—

गा०-टी०—इस प्रकार ऊपर कहे धर्मध्यानको जब क्षपक पूर्ण कर लेता है तब वह अति विशुद्ध लेश्याके साथ शुक्लध्यानको ध्याता है। क्योकि परिणामोकी पंक्ति उत्तरोत्तर निर्मलताको लिये हुए स्थित है अत वह क्रमसे ही होती है। जिसने पहली सीढीपर पैर नही रखा वह दूसरी सीढीपर नही चढ़ सकता। अत धर्मध्यानमें परिपूर्ण हुआ अप्रमत्त संयमी ही शुक्लध्यान करनेमें समर्थ होता है, यह बात इस गाथाके द्वारा कही है ॥१८७१॥

आगे दो गाथाओके द्वारा चार प्रकारके शुक्लध्यानोके नाम कहते है—

गा०—पहला शुक्लध्यान पृथक्त्व सवितर्क सविचार नामक है। दूसरा शुक्लध्यान सवितर्क एकत्व अविचार नामक है ॥१८७२॥

'झाणं पुधत्तसवितक्कसवीचारं' ध्यानं पृथक्त्वसवितर्कसवीचारं प्रथमशुक्लं भवति । **'सवितक्केक्कत्ता-वीचारं'** सवितर्कैकत्वावीचारं द्वितीय शुक्लध्यान ॥१८७२॥

सुहुमकिरियं तु तदियं सुक्कज्झाणं जिणेहिं पण्णत्तं ।
वेंति चउत्थं सुक्कं जिणा समुच्छिण्णकिरियं तु ॥१८७३॥

'सुहुमकिरियं तु तदियं' तृतीय शुक्लध्यानं जिनैः प्रज्ञप्तं सूक्ष्मक्रियमिति । **'वेंति चउत्थं सुक्कं'** ब्रुवते चतुर्थं शुक्लं जिना समुच्छिन्नक्रिय ॥१८७३॥

पृथक्त्वसवितर्कसवीचार व्याचष्टे गाथात्रयेण—

दव्वाइं अणेयाइं तीहिं वि जोगेहिं जेण ज्झायंति ।
उवसंतमोहणिज्जा तेण पुधत्तं त्ति तं भणिया ॥१८७४॥

'दव्वाइं अणेयाइं तीहिं वि जोएहिं जेण ज्झायंति' द्रव्याण्यनेकानि त्रिभिर्योगैः परावर्तमाना येन चिन्तयन्त्युपशान्तमोहनीयास्तेन पृथक्त्वमिति प्रथमध्यानमुक्तम्, एतदर्थं कथयति—अन्यदन्यद्द्रव्यमवलम्ब्य प्रवृत्तेनान्येनान्येन योगेन प्रवृत्तस्यात्मनो भवतीति पृथक्त्वव्यपदेशो ध्यानस्येति ॥१८७४॥

जम्हा सुदं वितक्कं जम्हा पुव्वगदअत्थकुसलो य ।
ज्झायदि ज्झाणं एदं सवितक्कं तेण तं झाणं ॥१८७५॥

'जम्हा सुदं वितक्कं' यस्मात् श्रुतं वितर्कं यस्मात् पूर्वगतार्थकुशलो ध्यानमेतत्प्रवर्तयति । तेन तत् ध्यान सवितर्कं । चतुर्दशपूर्वाणां श्रुतत्वात्तदुपदिष्टोऽर्थः साहचर्यात् वितर्कशब्देनोच्यते । तेन वितर्केणार्थश्रुतेन

गा०—जिन भगवान्‌ने तीसरा शुक्लध्यान सूक्ष्मक्रिय कहा है और चतुर्थ शुक्ल समुच्छिन्न-क्रिय कहा है ॥१८७३॥

आगे तीन गाथाओसे पृथक्त्व सवितर्क सविचारका कथन करते हैं—

गा०—उपशान्त मोहनीय गुणस्थानवाले यतः तीन योगोके द्वारा अनेक द्रव्योको बदल बदलकर ध्यान करते हैं इससे इसे पृथक्त्व कहते हैं ॥१८७४॥

विशेषार्थ—प्रथम शुक्लध्यानका नाम पृथक्त्व है क्योंकि इसमे योगपरिवर्तनके साथ ध्येयका भी परिवर्तन होता रहता है इसलिये इसको पृथक्त्व कहते हैं। धर्मध्यान और शुक्लध्यानके स्वामियोंको लेकर मतभेद पाया जाता है। तत्त्वार्थसूत्रमे श्रेणीसे नीचे धर्मध्यान और श्रेणीमें शुक्लध्यान कहा है। श्रेणि आठवें गुणस्थानसे प्रारम्भ होती है। अतः आठवेंसे ही पृथक्त्व शुक्ल-ध्यान कहा है। किन्तु यहाँ ग्यारहवें गुणस्थानमें पृथक्त्व शुक्लध्यान कहा है। श्वेताम्बर परम्परा-में भी ऐसा ही माना गया है। वीरसेन स्वामीने धवला टीका (१३, पृ० ७४) में भी ऐसा ही लिखा है। उनका कथन है कि कषायसहित जीवोंके धर्मध्यान होता है और कषायरहित जीवोंके शुक्लध्यान होता है। क्योंकि कषायका अभाव होनेसे ही उसका नाम शुक्लध्यान है। इस प्रथम शुक्लध्यानमें योगका और ध्येयका परिवर्तन होते रहनेसे इसे पृथक्त्व नाम दिया है ॥१८७४॥

गा०-टी०—यतः श्रुतज्ञानको वितर्क कहते है और यतः चौदह पूर्वोंमे आये अर्थमें कुशल

र्थेन सह वर्तते इति श्रुतज्ञानमेवावलम्ब्य सवितर्कमित्युच्यते। अथवा वितर्कशब्द: श्रुतं तद्धेतुत्वात्। श्रुतज्ञानं ध्यानसंज्ञितं सह कारणेन श्रुतेन वर्तते इति सवितर्क: ॥१८७५॥

अत्थाण वंजणाण य जोगाण य संकमो हु वीचारो।
तस्स य भावेण तयं सुत्ते उत्तं सवीचारं ॥१८७६॥

'**अत्थाण वंजणाण य जोगाण य संकमो हु वीचारो**' अर्थानां ये व्यञ्जना शब्दास्तेषामिति, वैयधिकरण्येन सम्बन्ध:, न पुनरर्थानां व्यञ्जनानां चेति समुच्चय। अर्थपृथक्त्वस्य पृथक्त्वशब्देनोपादानात्। योगानां च संक्रमो वीचार: '**तस्स य भावेण**' वीचारस्य सद्भावेन। '**तयं**' तद्धि शुक्लध्यानं सूत्रे सवीचारमित्युक्तं। '**अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला**' इत्येवमा[1]दिपरिमितानेकद्रव्यप्रत्यय[2]परमश्रुतवाक्योद्भूत ध्यानमिति पृथग्भूतद्रव्यालम्बनत्वेन रूपेण एकद्रव्यालम्बनात् एकत्ववितर्काद्भिद्यते योगत्रयसहायत्वादेकयोगादविचाराद्द्वितीयध्यानाद्भिद्यते। उपशान्तमोहनीयस्वामिकत्वात् क्षीणकषायस्वामिकाद्ध्यानाद्भिद्यते। सवितर्कत्वेन अवितर्काभ्यां तृतीयचतुर्थाभ्यां विलक्षणं। अत एव नामनिर्देशेनैव ध्यानान्तरविलक्षण पृथक्त्वसवितर्कसवीचारमिति लक्षणमुक्त ॥१८७६॥

अर्थात् चौदह पूर्वों का ज्ञाता साधु ही इस शुक्लध्यानको ध्याता है इससे इस प्रथम शुक्लध्यानको सवितर्क कहते हैं। अर्थात् चौदह पूर्व श्रुतरूप होनेसे उनमे जो वस्तुविवेचन है उसको भी वितर्क शब्दसे कहते है। प्रथम शुक्लध्यानमें उस अर्थश्रुतरूप वितर्कका ध्यान किया जाता है इससे उसे सवितर्क कहते हैं। अथवा श्रुतका कारण होनेसे वितर्क शब्दका अर्थ श्रुत है। ध्यान श्रुतज्ञानकी सज्ञा है उसका कारण श्रुत है। सो अपने कारण श्रुतके साथ रहनेसे उसे सवितर्क कहते हैं।॥१८७५॥

गा०-टी०—तथा अर्थोके वाचक जो शब्द हैं उनके सक्रम अर्थात् परावर्तन को और योगोंके परिवर्तनको विचार कहते हैं। 'अत्थाण वंजणाण य' का अर्थ अर्थो के और व्यंजनोंके परिवर्तनको वीचार कहते है इस प्रकारसे समुच्चयरूप नही लेना चाहिये क्योकि पृथक्त्व शब्दसे अर्थका पृथक्त्व ग्रहण किया है। इस वीचारके होनेसे इस शुक्लध्यानको आगममे सवीचार कहा है।

'अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला:' इत्यादि परिमित अनेक द्रव्योंका ज्ञान करानेमें समर्थ श्रुतके वचनोसे उत्पन्न हुआ यह ध्यान भिन्न-भिन्न द्रव्योंका आलम्बन करता है अत: एक ही द्रव्यका आलम्बन करनेवाले एकत्व वितर्क शुक्लध्यानसे भिन्न होता है। तथा पृथक्त्व वितर्क शुक्लध्यान तीनो योगोकी सहायतासे होता है और एकत्ववितर्क एक ही योगकी सहायतासे होता है। इससे भी वह इससे भिन्न पड़ता है। पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यानका स्वामी उपशान्तमोह नामक ग्यारहवे गुणस्थानवर्ती होता है और एकत्ववितर्कका स्वामी क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती होता है। इससे भी वह इससे भिन्न है। पृथक्त्ववितर्क वितर्क सहित होता है और तीसरा तथा चतुर्थ शुक्लध्यान वितर्क रहित होते हैं। अत: वह तीसरे और चतुर्थ शुक्लध्यानसे विलक्षण है। अत: पृथक्त्ववितर्क सवीचार नामसे ही अन्य ध्यानोसे इसकी विलक्षणता प्रकट होती है। इस प्रकार प्रथम शुक्लध्यानका लक्षण कहा है ॥१८७६॥

---

१. मात्रपरि –आ०। २. यमपरश्रु –अ० मु०। –मादिपरिमितानेकद्रव्य प्रत्यायनपरश्रुत–मूलारा०।

जेणेगमेव दव्वं जोगेणेगेण अण्णदरगेण ।
खीणकसाओ ज्झायदि तेणेगत्तं तयं भणियं ॥१८७७॥

'**जेणेगमेव दव्वं जोगेणेगेण अण्णदरगेण**' येनैकमेव द्रव्यं अन्यतरेण योगेनैकेन सह वृत्तः, क्षीणकषायो ध्यायति तेनैकत्व तद्भणितं एकद्रव्यालम्बनत्वात् । अन्यतरयोगवृत्तेरेवास्मन उत्पत्तेरेकत्वं ध्यान क्षीणकषाय-स्वामिकं भवेत् ॥१८७७॥

जम्हा सुदं वितक्कं जम्हा पुव्वगदअत्थकुसलो य ।
ज्झायदि ज्झाणं एवं सवितक्कं तेण तं ज्झाणं ॥१७७८॥
अत्थाण वंजणाण य जोगाणं संकमो हु वीचारो ।
तस्स अभावेण तयं झाणं अविचारमिति वुत्तं ॥१८७९॥

एकद्रव्यालम्बनत्वेन [1]परिमितानेकसर्वपर्यायद्रव्यालम्बनात् प्रथमध्यानात्समस्तवस्तुविषयाभ्या तृतीय-चतुर्थाभ्या च विलक्षणता द्वितीयस्यानया गाथया निवेदिता । क्षीणकषायग्रहणेन उपशान्तमोहस्वामिक-त्वात् । सयोग्ययोगकेवलिस्वामिकाभ्या च भेद. । सवितर्कता पूर्ववदेव । पूर्वव्यावर्णितवीचाराभावाद-वीचारत्व ॥१८७८–७९॥

विशेषार्थ—महापुराणके इक्कीसवें पर्वमे ध्यानका वर्णन करते हुए कहा है—अनेकपनेको पृथक्त्व कहते है और श्रुतको वितर्क कहते हैं। तथा अर्थ, व्यंजन और योगोंके परिवर्तनको वीचार कहते है। इन्द्रियोंको वशमे करनेवाला मुनि एक अर्थसे दूसरे अर्थको, एक वाक्यसे दूसरे वाक्यको और एक योगसे दूसरे योगको प्राप्त होता हुआ इस ध्यानको ध्याता है। यत तीनों योगोके धारक और चौदह पूर्वो के ज्ञाता मुनिराज इस ध्यानको करते हैं अत: प्रथम शुक्लध्यान सवितर्क और सवीचार होता है। श्रुतस्कन्धरूपी समुद्रमें जितना वचन और अर्थका विस्तार है वह इस शुक्लध्यान में ध्येय होता है और इसका फल मोहनीय कर्मका उपशम या क्षय है। यह ध्यान उपशान्त मोह और क्षीणमोह गुणस्थानमें तथा उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणिके शेष गुण-स्थानोंमें माना गया है ॥१८७६॥

गा०-टी०—दूसरे शुक्लध्यानका नाम एकत्ववितर्क है क्योंकि इसमें एक ही योगका अवलम्बन लेकर एक ही द्रव्यका ध्यान किया जाता है। अत: एक द्रव्यका अवलम्बन लेनेसे इसे एकत्व कहते हैं। यह ध्यान किसी एक योगमें स्थित आत्माके ही होता है। इसका स्वामी क्षीण कषाय गुणस्थानवर्ती मुनि होता है ॥१८७७॥

विशेषार्थ—यहाँ एक शब्दका अर्थ है 'प्रधान' और समस्त छह द्रव्योंमें प्रधान एक आत्मा ही है। सोमदेव उपासकाध्ययन (श्लोक ६२३) मे कहा है—मनमें किसी विचारके न होते हुए जब आत्मा आत्मामे लीन होता है उसे निर्बीजध्यान कहते हैं। यह निर्बीजध्यान एकत्ववितर्क ही है। अत: एक द्रव्य और एक योगका अवलम्बन करनेसे प्रथम शुक्लध्यानसे भिन्न है ॥१८७७॥

गा०—यत: श्रुतको वितर्क कहते हैं और यत: चौदह पूर्वगत अर्थमें कुशल मुनि ही इस ध्यानका ध्याता है। इससे दूसरा शुक्लध्यान सवितर्क है। तथा अर्थ, व्यंजन और योगोंके परि-

---

१. नाप –आ० ।

तृतीयध्यानमाचष्टे—

अवितक्कमवीचारं सुहुमकिरियबंधणं तदियसुक्कं।
सुहमम्मि कायजोगे भणिदं तं सव्वभावगदं ॥१८८०॥

'**अवितक्कमवीचारं**' श्रुतानालम्बनत्वादवितर्कं स्वय श्रुतज्ञान भवतीति वा अवितर्कं। पूर्वमालम्बीकृतादर्थादर्थान्तरालम्बनत्वं नाम वीचारो नास्तीत्यविचार। '**सुहुमकिरियबंधण**' सूक्ष्मक्रियास्येति सूक्ष्मक्रिय आत्मसम्बन्धनमाश्रयोऽस्येति सूक्ष्मक्रियाबन्धन तृतीयशुक्ल। '**सुहुमम्मि काययोगे**' सूक्ष्मकाययोगे सति प्रवृत्ते भणितं सूक्ष्मक्रियमिति। '**तं सव्वभावगदं**' तृतीय शुक्लध्यानं त्रिकालगोचरानन्तसामान्यविशेषात्मकद्रव्यषट्कयुगपत्प्रकाशनस्वरूपं, द्रव्यषट्कसमस्तस्वरूपयुगपत्प्रकाशनमेकमग्रं मुखमस्येति एकमुखतापि विद्यत इति ध्यानशब्दस्यार्थोऽभिमुखे विद्यते। '**एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमित्यत्र**' सूत्रे चिंताशब्दो ज्ञानसामान्यवचन। तेन श्रुतज्ञान क्वचिद्ध्यानमित्युच्यते, क्वचित्केवलज्ञान क्वचिच्छ्रुतज्ञान क्वचिन्मतिज्ञान मत्यज्ञान वा, यतोऽविचलत्वमेव ध्यानं, ज्ञानस्य तस्याविचलत्व साधारण सर्वज्ञानोपयोगाना ॥१८८०॥

वर्तनको वीचार कहते हैं। उसके न होनेसे दूसरा शुक्लध्यान अवीचार कहा है ॥१८७८-७९॥

विशेषार्थ—प्रथम शुक्लध्यान परिमित अनेक द्रव्यो और पर्यायोका अवलम्बन लेता है और दूसरा शुक्लध्यान एक ही द्रव्यका अवलम्बन लेता है। तथा तीसरे और चतुर्थ शुक्लध्यानोंका विषय समस्त वस्तु है क्योंकि केवलज्ञानका विषय सब द्रव्य और सब पर्याय है। अत दूसरा शुक्लध्यान शेष तीनोसे विलक्षण है। प्रथम शुक्लध्यानका स्वामी उपशान्तमोह होता है और दूसरेका क्षीणकषाय होता है तथा तीसरेका स्वामी सयोग केवली और चतुर्थका स्वामी अयोग केवली होता है। अत स्वामीकी अपेक्षा भी दूसरा शुक्लध्यान शेष तीनोस भिन्न है। किन्तु प्रथम शुक्लध्यानकी तरह दूसरा भी सवितर्क है। और पूर्व कथित वीचारका अभाव होनेसे अवीचार है ॥१८७८-७९॥

अब तीसरे शुक्लध्यानका स्वरूप कहते हैं—

गा०-टी०—तीसरे शुक्लध्यानका आलम्बन श्रुत नही है अथवा वह स्वय श्रुतज्ञानरूप होता है इसलिये वितर्कसे रहित होता है। पूर्वमे आलम्बन किये हुए अर्थको छोडकर अर्थान्तरके आलम्बन करनेको वीचार कहते है। वह भी इसमे नही होता। अत यह अवीचार है। इसमे श्वासोच्छ्वासादिक्रिया सूक्ष्म हो जाती है। तथा यह सूक्ष्मकाययोगके होनेपर होता है इसलिये इसे सूक्ष्मक्रिय कहते हैं। यह तीसरा शुक्लध्यान त्रिकालवर्ती अनन्त सामान्यविशेषात्मक धर्मो से युक्त छह द्रव्योको एक साथ प्रकाशन करता है अत. सर्वगत है। एक साथ समस्त छह द्रव्योंके समस्त स्वरूपको प्रकाशन करना ही इसका एकमात्र मुख होनेसे ध्यानका लक्षण 'एकाग्रचिन्ता निरोध' इसमें रहता है। एकाग्रचिन्तानिरोधमें चिन्ता शब्द ज्ञान सामान्यका वाचक है। अत: कहीं श्रुतज्ञानको ध्यान कहते हैं, कही केवलज्ञानको ध्यान कहते है, कही श्रुतअज्ञानको ध्यान कहते हैं, कही मतिज्ञान या मतिअज्ञानको ध्यान कहते है। क्योकि निश्चलताका ही नाम ध्यान है। अत. ज्ञानकी निश्चलता सब ज्ञानोपयोगोमे साधारण है। आशय यह है कि ज्ञानकी निश्चलताका ही नाम ध्यान है। अत: ध्यानका यह लक्षण सब निश्चल ज्ञानोपयोगोमे घटित होता है। केवलीका ध्यान केवल ज्ञान मूलक होता है। अत: वह तो सर्वथा निश्चल ही होता है। इससे सूक्ष्मक्रिय नामक ध्यानमे भी ध्यानका लक्षण घटित होता है ॥१८८०॥

सुहुमम्मि कायजोगे वट्टंतो केवली तदियसुक्कं ।
झायदि णिरुंभिदुं जे सुहुमत्तं कायजोगंपि ॥१८८१॥

'सुहुमम्मि कायजोगे' सूक्ष्मे काययोगे प्रवर्तमान' केवली तृतीयं शुक्लं ध्याति निरोद्धु तमपि सूक्ष्मं वा काययोगं ॥१८८१॥

अवियक्कमवीचारं अणियट्टिमकिरियं च सीलेसिं ।
ज्झाणं णिरुद्धयोगं अपच्छिमं उत्तमं सुक्कं ॥१८८२॥

'अवियक्कमवीचारं' पूर्वोक्तवितर्कवीचाररहितत्वात् अवितर्कमवीचारं, 'अणियट्टि' सकलकर्मसातनमकृत्वा न निवर्तत इत्यनिवर्ति। 'अकिरियं' समुच्छिन्नप्राणापानप्रचारसर्वकायवाङ्मनोयोगपरिस्पन्दनक्रियाव्यापारत्वात् अक्रिय। 'सीलेसिं' शीलानामीश शीलेश यथाख्यातचारित्र। शीलेशस्य भावः शैलेश्य, तत्सहचारि ध्यानमपि शैलेश्य। 'णिरुद्धयोगं'। अपश्चिमं न विद्यते पश्चाद्भाविध्यानमस्मादित्यपश्चिम। 'उत्तमं सुक्कं' परमं शुक्ल ॥१८८२॥

तं पुण णिरुद्धजोगो सरीरतियणासणं करेमाणो ।
सवण्हु अपडिवादी ज्झायदि ज्झाणं चरिमसुक्कं ॥१८८३॥

'तं पुण' तच्चतुर्थं शुक्लध्यान। निरुद्धयोग. सर्वज्ञ अप्रतिपातिध्यानं ध्याति [1]शरीरत्रिकनाशं कुर्वन्,

---

गा०—अत सूक्ष्मकाययोगमे स्थित केवली उस सूक्ष्म भी काययोगको रोकनेके लिये तीसरा शुक्लध्यान ध्याता है ॥१८८१॥

गा०-टी०—यह तीसरा शुक्लध्यान पूर्वोक्त वितर्क और बीचारसे रहित होनेसे अवितर्क और अवीचार होता है। समस्त कर्मों को नष्ट किये बिना समाप्त नही होता इसलिये अनिवर्ति है। इसमे प्राण अपान श्वास उच्छ्वासका प्रचार, समस्त काययोग मनोयोग वचन योगरूप हलन-चलन क्रियाका व्यापार नष्ट हो जाता है। इसलिये यह अक्रिय है। शीलोके स्वामीको शीलेश कहते है। उसके भावको शैलेशीभाव कहते है वह है यथाख्यात चारित्र। उसके साथ होनेवाले ध्यानको भी शैलेशी कहा है। उससे सब कर्मो का आस्रव रुक जाता है अत: उसे निरुद्धयोग कहा है। इसके अनन्तर कोई ध्यान नही होता इससे इसे अपश्चिम कहा है। तथा यह परम शुक्लध्यान है ॥१८८२॥

विशेषार्थ—शैलेशीभाव से यथाख्यात चारित्र लिया है किन्तु यथाख्यात चारित्र तो ग्यारहवें बारहवें गुणस्थानमे भी होता है किन्तु उसे शैलेशी नही कहा। क्योंकि शैलेशीपना तीसरे शुक्लध्यानकी अवस्थासे पहले नही होता, इसका कारण है कर्मोका आस्रव होना। तथा तीसरेके पश्चात् भी चतुर्थ शुक्लध्यान होता है फिर भी तीसरेको विवक्षा भेदसे अपश्चिम कहा है ॥१८८२॥

गा०—काययोगका निरोध करके अयोग केवली औदारिक तैजस और कार्मण शरीरों

---

१. रक्रियमा —आ०।

अयोगात्मपरिणामः केवलज्ञानं चतुर्थशुक्लं, तृतीयं तु सूक्ष्मकाययोगात्मपरिणाम केवलमिति भेदस्तृतीय-चतुर्थयोः ॥१८८३॥

इय सो खवओ ज्झाणं एयग्गमणो स[1]मस्सिदो सम्मं ।
विउलाए णिज्जराए वट्टदि गुणसेढिमारूढो ॥१८८४॥

'**इय सो खवओ**' एवमसौ क्षपकः, एकाग्रचित्त सम्यग्ध्यान समाश्रित्य विपुलाया कर्मनिर्जरायां वर्तते. '**गुणसेढिमारूढो**' गुणश्रेणीमारूढः उपशान्तकषायादिकां ॥१८८४॥

ध्यानमहात्म्यस्तवनार्थं उत्तरप्रबन्ध —

सुचिरं वि संकिलिट्ठं विहरंतं झाणसंवरविहूणं ।
ज्झाणेण संवुडप्पा जिणदि अंतोमुहुत्तेण ॥१८८५॥

'**सुचिरमवि संकिलिट्ठं विहरंतं**' पूर्वकोटिकाल देशोनं क्लेशसहितचारित्रोद्यत '**ज्झाणसंवरविहूणं**' ध्यानाख्येन संवरेण विहीन । '**जिणदि**' जयति । क ? '[2]**आहोरत्तमेत्तेण झाणेण संवुडप्पा**' अहोरात्रमात्रेण ध्यानेन संवृतात्मा ॥१८८५॥

एवं कसायजुद्धंमि हवदि खवयस्स आउधं झाणं ।
ज्झाणविहूणो खवओ [3]रंगेव अणाउहो मल्लो ॥१८८६॥

का नाश करता हुआ अन्तिम शुक्ल ध्यानको ध्याता है। सूक्ष्मकाय योग रूप आत्म परिणाम वाला सयोगकेवली तीसरे शुक्ल ध्यानको ध्याता है और अयोगरूप आत्मपरिणाम वाला अयोगकेवली चतुर्थ शुक्ल ध्यानको ध्याता है। यह तीसरे और चतुर्थ शुक्ल ध्यान मे भेद है ॥१८८३॥

विशेषार्थ—महापुराणमें कहा है—तीसरेके पश्चात् योगका निरोध करके आस्रव से रहित अयोगकेवली समुच्छिन्न क्रिय अनिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्ल ध्यानको ध्याता है। एक अन्तर्मुहूर्त काल तक अतिनिर्मल उस ध्यानको करके शेष चार अघातिकर्मोंका विनाशकर मोक्षको प्राप्त होता है। अयोगकेवलीके उपान्त्य समय में बासठ और अन्तिम समय मे तेरह प्रकृतियाँ नष्ट हो जाती हैं। उसके पश्चात् वह शुद्धात्मा ऊर्ध्वगमन स्वभावके कारण एक ही समयमें लोकके अन्त पर्यन्त जाकर सिद्धालयमें विराजमान हो जाता है ॥१८८३॥

गा०—इस प्रकार वह क्षपक एकाग्रमन से सम्यक् ध्यान को ध्याकर उपशान्त कषाय आदि गुण स्थानों की श्रेणि पर आरूढ़ होकर विपुल कर्म निर्जरा करता है ॥१८८४॥

आगे ध्यानके माहात्म्यको कहते हैं—

गा०—एक अन्तर्मुहूर्त मात्र या एक दिन रात मात्र ध्यान रूप संवरसे युक्त मुनि, कुछ कम एक पूर्व कोटि काल तक ध्यानरूप संवरसे रहित तथा संक्लेशसहित चारित्र का पालन करने वाले साधुसे श्रेष्ठ है ॥१८८५॥

१. समण्णिदो –अ० । २. अहोरत्तमित्तेण अन्तोमुहूर्तेन कर्म जयति । अहोरात्रमात्रेण झाणेण संपुडप्पा ध्यानेन संवृतात्मा कर्मकाण्डकोऽपि न जयति –आ० । ३. रणगोवअ –आ० । जुद्धेव णिराउधो होदि –मु० ।

'एवं कसायजुद्धंहि' कषायसप्रहारे ध्यानमायुधं क्षपकस्य भवति। ध्यानहीनः क्षपकः युद्धे निरायुध इव न प्रतिपक्षं प्रहन्तुमलं। कषायविनाशकारित्वं ध्यानस्यानया कथितं ॥१८८६॥

रणभूमीए कवचं व कसायरणे तयं हवे कवचं।
जुद्धे व णिरावरणो झाणेण विणा हवे खवओ ॥१८८७॥

'रणभूमीए' युद्धभूमौ कवचवत्कषाययुद्धे ध्यानं कवचो भवति। एतेन कषायभीतरक्षां करोति ध्यानमित्याख्यात। ध्यानाभावे दोषमाचष्टे। 'जुद्धे व णिरावरणो' युद्धे निरावरण इव भवति ध्यानेन विना क्षपकः ॥१८८७॥

ज्झाणं करेइ खवयस्सोवट्ठंभं खु हीणचेट्ठस्स।
थेरस्स जहा जंतस्स कुणदि जट्ठी उवट्ठंभं ॥१८८८॥

'झाणं करेदि' ध्यान करोति क्षपकस्योपष्टम्भं हीनचेष्टस्य स्थविरस्य गच्छतो यथा करोति यष्टिरुपष्टम्भं ॥१८८८॥

मल्लस्स णेहपाणं व कुणइ खवयस्स दढबलं झाणं।
झाणविहीणो खवओ रंगे व अपोसिओ मल्लो ॥१८८९॥

'मल्लस्स णेहपाणं व' मल्लस्य स्नेहपानमिव क्षपकस्य ध्यानं करोति। ध्यानहीन. क्षपको रङ्गे अपोषितो मल्ल इव न प्रतिपक्ष जयति ॥१८८९॥

वइरं रदणेसु जहा गोसीसं चंदणं व गन्धेसु।
वेरुलियं व मणीणं तह ज्झाणं होइ खवयस्स ॥१८९०॥

गा०-टी०—इस प्रकार कषायोंके साथ युद्ध करनेमें अर्थात् कषायोंका संहार करनेमें ध्यान क्षपकके लिये आयुध होता है। अर्थात् ध्यानके द्वारा कषायोंका विनाश किया जाता है। जैसे विना अस्त्रके युद्धमे शत्रुका घात करना संभव नहीं है, उसी प्रकार ध्यान हीन क्षपक कषायों को नहीं जीत सकता। इससे ध्यानको कषायोंका विनाश करने वाला कहा है ॥१८८६॥

गा०-टी०—जैसे युद्ध भूमिमें कवच होता है वैसे ही कषायोंसे युद्ध करनेमें ध्यान कवचके समान है। इससे कहा है कि ध्यान कषायसे रक्षा करता है। ध्यानके अभावमें दोष कहते हैं। जैसे युद्ध में कवचके विना योद्धा होता है वैसे ही ध्यान के विना क्षपक होता है। अर्थात् युद्धमें बिना कवचके योद्धाकी जो स्थिति है वही स्थिति ध्यानके विना क्षपक की होती है। वह भी उसी की तरह मारा जाता है ॥१८८७॥

गा०—जैसे चलनेमें असमर्थ वृद्ध पुरुषको गमन करते समय लाठी सहायक होती है वैसे ही असमर्थ क्षपकका सहायक ध्यान होता है ॥१८८८॥

गा०—जैसे दुग्धपान मल्ल पुरुषके बलको दृढ़ करता है वैसे ही ध्यान क्षपककी शक्ति को दृढ़ करता है। जैसे अपुष्ट मल्ल अखाड़ेमें हार जाता है वैसे ही ध्यानसे रहित क्षपक कषायोंसे हार जाता है ॥१८८९॥

---

१. कवचं होदि झाणं कसायजुद्धम्मि—मु०।

'वैरं रयणेसु जधा' यथा रत्नेषु वज्रं गन्धद्रव्येषु गोशीर्षं चन्दनं । मणिषु वैडूर्यमिव क्षपकस्य ध्यानं सर्वेषु दर्शनचरित्रतपस्सु सारभूतं ॥१८९०॥

झाणं किलेससावदरक्खा रक्खाव सावदभयम्मि ।
झाणं किलेसवसणे मित्तं मित्तेव वसणम्मि ॥१८९१॥

'झाणं किलेससावदरक्खा' ध्यानं दुःखश्वापदाना रक्षा, श्वापदभये रक्षेव ध्यान क्लेशव्यसने मित्र, व्यसने मित्रमिव ॥१८९१॥

ज्झाणं कसायवादे गब्भघरं मारुदेव गब्भघरं ।
झाणं कसायउण्हे छाही छाहीव उण्हम्मि ॥१८९२॥
झाणं कसायडाहे होदि वरदहो दहोव डाहम्मि ।
झाणं कसायसीदे अग्गी अग्गीव सीदम्मि ॥१८९३॥
झाणं कसायपरचक्कभए बलवाहणड्ढओ राया ।
परचक्कभए बलवाहणड्ढओ होइ जह राया ॥१८९४॥
झाणं कसायरोगेसु होदि वेज्जो तिगिंछदे कुसलो ।
रोगेसु जहा वेज्जो पुरिसस्स तिगिंछओ कुसलो ॥१८९५॥
झाणं विसयछुहाए होइ य छुहाए अण्णं वा ।
झाणं विसयतिसाए उदयं उदयं व तण्हाए ॥१८९६॥

स्पष्टार्थोत्तरगाथा ॥१८९२॥१८९३॥१८९४॥१८९५॥१८९६॥

गा०—जैसे रत्नोंमें हीरा, सुगन्धित द्रव्योमें गोशीर्ष चन्दन और मणियोमें वैडूर्यमणि सारभूत है। वैसे ही क्षपकके दर्शन चारित्र और तपमे ध्यान सारभूत है ॥१८९०॥

गा०—जैसे हिंसक जन्तुओसे भय होने पर उनसे रक्षा बचाव करती है वैसे ही ध्यान दुःखरूपी हिंसक जन्तुओसे रक्षा करता है। तथा जैसे संकट मे मित्र सहायक होता है वैसे ही दुःखरूपी सकटमे ध्यान सहायक होता है ॥१८९१॥

गा०—जैसे गर्भगृह वायुसे रक्षा करता है वैसे ही ध्यान कषायरूपी वायुके लिये गर्भगृह है। जैसे घामसे बचनेके लिये छाया है वैसे ही कषायरूपी घामसे बचावके लिये ध्यान छायाके समान है ॥१८९२॥

गा०—जैसे दाहके लिये उत्तम सरोवर है वैसे ही कषायरूप दाहके लिये ध्यान उत्तम सरोवर है। जैसे शीतसे बचावके लिये आग है वैसे कषायरूपी शीतसे बचावके लिये ध्यान आग के समान है ॥१८८३॥

गा०—जैसे सेना और वाहनोंसे समृद्ध राजा शत्रु सेनाके आक्रमणके भयसे रक्षा करता है वैसे ही कषायरूपी शत्रु सेनाका भय दूर करनेके लिये ध्यान बल वाहनसे समृद्ध राजाके समान है ॥१८९४॥

इय झायंतो खवओ जइया परिहीणवायिओ होइ ।
आराधणाए तइया इमाणि लिंगाणि दंसेई ॥१८९७॥

'**इय झायंतो खवओ**' एवं ध्यानेन प्रवर्तमान क्षपकः । यदा वक्तुमसमर्थो भवति तदा '**आराधणाए**' रत्नत्रयपरिणतेरात्मनो लिङ्गानीमानि दर्शयति ॥१८९७॥

हुंकारंजलिभमुहंगुलीहिं अच्छीहिं वीरमुट्ठीहिं ।
सिरचालणेण य तहा सण्णं दावेदि सो खवओ ॥१८९८॥

'**हुंकारंजलिभमुहंगुलीहिं अच्छीहिं**' हुंकारेण वा अञ्जलिरचनया, भ्रूक्षेपेण, अङ्गुलिपञ्चकदर्शनेन उपदेष्टार प्रति प्रसन्नतया(श्रया) दृष्टया किं समाहितचित्तोऽसीत्युक्ते शिरःकम्पनेन सज्ञां दर्शयति क्षपकः ॥१८९८॥

तो पडिचरया खवयस्स दिंति आराधणाए उवओगं ।
जाणंति सुदरहस्सा कदसण्णा कायखवएण ॥१८९९॥

'**तो पडिचरगा**' तत प्रतिचारकास्तस्य क्षपकस्याराधनायामुपयोगं जानन्ति श्रुतरहस्याः क्षपकेण कृतसंकेता । ज्ञाणन्ति ॥१८९९॥

लेश्याया सबन्ध करोति—

इय समभावमुवगदो तह ज्झायंतो पसत्थझाणं च ।
लेस्साहिं विसुज्झंतो गुणसेढिं सो समारुहदि ॥१९००॥

गा०—जैसे वैद्य पुरुषके रोगों की चिकित्सामे कुशल होता है वैसे ही ध्यान कषायरूपी रोग की चिकित्सा करनेमे कुशलवैद्य है ॥१८९५॥

गा०—जैसे अन्न भूखको दूर करता है वैसे ही विषयोंकी भूख दूर करनेके लिये ध्यान अन्नके समान है। तथा जैसे प्यास लगने पर पानी उसे दूर करता है वैसे ही विषयरूपी प्यासके लिये ध्यान पानीके समान है ॥१८९६॥

गा०—इस प्रकार ध्यानमे संलग्न क्षपक जब बोलनेमें असमर्थ होता है तब मैं रत्नत्रयमें संलग्न हूँ यह बात आगे कहे चिन्होसे प्रकट करता है ॥१८९७॥

गा०—निर्यापकाचार्यके पूछनेपर कि तुम्हारा चित्त सावधान है, वह क्षपक हुंकारसे, हाथों की अंजुलि द्वारा, या भौ के संचालनसे अथवा पाँचों अँगुलियोंकी मुट्ठी बनाकर या सिर हिलाकर प्रसन्न दृष्टिसे संकेत करता है ॥१८९८॥

गा०—तब क्षपकके द्वारा पहलेसे ही सकेत ग्रहण करने वाले और आगमके रहस्यको जानने वाले परिचारक मुनिगण यह जान लेते हैं कि क्षपकका उपयोग आराधनामें है ॥१८९९॥

विशेषार्थ—क्षपक पहले ही कह रखता है या परिचारक पहले ही क्षपकसे कह देते हैं कि बोलनेमें असमर्थ होनेपर मैं अपनी परिणतिको हुकार आदि संकेतोंसे कह दूँगा ॥१८९९॥

आगे क्षपककी लेश्याविशुद्धिका कथन करते हैं—

गा०—इस प्रकार समताभावको प्राप्त वह क्षपक प्रशस्त ध्यान ध्याता है और विशुद्ध

'इय समभावमुवगवो' एवं समचित्ततां गत' प्रशस्तध्यान पवर्तयेत्, लेश्याभिर्विशुद्धगुणश्रेणी-मारोहति ॥१९००॥

जह बाहिरलेस्साओ किण्हादीओ हवंति पुरिसस्स ।
अब्भंतरलेस्साओ तह किण्हादी य पुरिसस्स ॥१९०१॥
किण्हा णीला काओ लेस्साओ तिण्णि अप्पसत्थाओ ।
पजहइ विरायकरणो संवेगमणुत्तरं पत्तो ॥१९०२॥

'**जह बाहिरलेस्साओ**' कृष्णनीलकापोताश्चेति तिस्र' अप्रशस्ता. प्रजहाति वैराग्यभावनावान् ससार-भीरुतां परामुपागतः ॥१९०१-१९०२॥

लेश्यापूर्वक अर्थात् क्रमसे पीत, पद्म और शुक्ल लेश्यारूप परिणमन करता हुआ गुणश्रेणिपर अर्थात् उपशम या क्षपक श्रेणिपर आरोहण करता है ॥१९००॥

गा०—जैसे पुरुषके शरीरमे कृष्ण आदि द्रव्य लेश्या—शरीरका रंग काला गोरा होता है। वैसे ही अभ्यन्तरमे कृष्ण आदि भावलेश्या होती हैं ॥१९०१॥

विशेषार्थ—लेश्याके दो भेद हैं—द्रव्यलेश्या और भावलेश्या। मिथ्यात्व आदिके कारण जीवके जो तीव्रतम आदि भाव होते हैं वह भावलेश्या है। आगममे कहा है कि मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगसे प्राणियोंके जो संस्कार होते है वह भावलेश्या है। लेश्या छह है—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल। इनमेसे प्रारम्भकी तीन लेश्या अशुभ है और शेष तीन शुभ हैं। अशुभ लेश्याओमे तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम रूपसे तथा शुभलेश्याओमे मन्द, मन्दतर और मन्दतमरूपसे हानिवृद्धि होती रहती है। जैसे अशुभ लेश्याओमे कापोत लेश्या तीव्र है, नीललेश्या तीव्रतर है और कृष्णलेश्या तीव्रतम है। इसी तरह शुभलेश्याओमे पीतलेश्या मन्द, पद्मा मन्दतर और शुक्ला मन्दतम है। उदाहरणके रूपमे जो व्यक्ति फलसे भरे वृक्षको जड़से काटकर फल खाना चाहता है उसके कृष्णलेश्या है। जो जडको छोड केवल तना काटकर फल खाना चाहता है उसके नीललेश्या है। जो एक शाखा काटकर फल खाना चाहता है उसके कापोत लेश्या है। जो एक उपशाखा तोडकर फल खाना चाहता है उसके पीतलेश्या है। जो केवल फल ही तोड़कर खाना चाहता है उसके पद्मलेश्या है। और जो जमीनपर गिरे हुए फलोको ही उठाकर खाना चाहता है उसके शुक्ललेश्या होती है। जो रागी, द्वेषी, अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभसे युक्त है, निर्दय है, कलहप्रिय है, मद्य मासके सेवनमे आसक्त है वह कृष्णलेश्या वाला होता है। जो घमण्डी, मायावी, विषयलम्पट, अनेक प्रकारकी परिग्रहमे आसक्त प्राणी है वह नीललेश्यावाला होता है। जो परकी निन्दा और अपनी प्रशंसा करता है, अपनी प्रशंसासे प्रसन्न होता है, फिर हानि लाभको भी नहीं देखता, लडाई होनेपर मरने मारनेको तैयार रहता है वह कापोतलेश्या वाला है। जो सर्वत्र समदृष्टि है कृत्य अकृत्य, हित अहितको जानता है दयादानका प्रेमी है वह पीतलेश्यावाला होता है। जो त्यागशील, क्षमाशील, भद्र और साधुजनोंकी पूजामें तत्पर रहता है वह पद्मलेश्यावाला होता है। जो माया और निदान नही करता, रागद्वेष नही करता वह शुक्ल लेश्यावाला है ॥१९०१॥

तेओ पम्मा सुक्का लेस्साओ तिण्णि वि दु पसत्थाओ ।
पडिवज्जेइ य कमसो संवेगमणुत्तरं पत्तो ॥१९०३॥

'**तेओ पम्मा सुक्का**' तेज पद्मशुक्ललेश्याः प्रतिपद्यते परिपाटया ॥१९०३॥

एदेसिं लेस्साणं विसोधणं पडि उवक्कमो इणमो ।
सव्वेसिं संगाणं विवज्जणं सव्वहा होइ ॥१९०४॥

'**एदेसिं लेस्साणं**' एतासा शुभलेश्याना शुद्धि प्रत्ययमुपक्रमः बाह्याभ्यन्तरसर्वपरिग्रहत्याग ॥१९०४॥

लेस्सासोघी अज्झवसाणविसोधीए होइ जीवस्स ।
अज्झवसाणविसोधी मंदकसायस्स णादव्वा ॥१९०५॥

'**लेस्सासोधी**' लेश्याना शुद्धि । '**अज्झवसाणविसोधीए होदि**' परिणामविशुद्धया भवति । '**अज्झवसाणविसुद्धी**' परिणामविशुद्धिश्च । '**मंदकसायस्स**' मन्दकषायस्य भवतीति ज्ञातव्या ॥१९०५॥

कषायाणा मन्दता कथमित्याशङ्काह—

मंदा हुंति कसाया बाहिरसंगविजडस्स सव्वस्स ।
गिण्हइ कसायबहुलो चेव हु सव्वंपि गंथकलिं ॥१९०६॥

'**मंदा हुंति कसाया**' कषाया मन्दा भवन्ति, कृतबाह्यसंगपरित्यागस्य । कषायबहुल एवाय सर्वो जीवः सर्वं ग्रन्थकलि गृह्णाति ॥१९०६॥

जह इंधणेहिं अग्गी वड्ढइ विज्झाइ इंधणेहिं विणा ।
गंथेहिं तह कसाओ वड्ढइ विज्झाइ तेहिं विणा ॥१९०७॥

वही कहते हैं—

गा०—क्षपक कृष्ण, नील, कापोत, इन तीन अप्रशस्त लेश्याओको त्यागकर वैराग्य भावनासे युक्त होता है और ससारसे अत्यन्त भयभीत रहता है ॥१९०२॥

गा०—तथा पीत, पद्म, शुक्ल, इन तीन प्रशस्त लेश्याओंको क्रमसे स्वीकार करके उत्कृष्ट संवेगभावको धारण करता है ॥१९०३॥

गा०—इन लेश्याओकी विशुद्धिका उपक्रम यह है कि समस्त परिग्रहोका सर्वथा त्याग होता है अर्थात् परिग्रहके त्यागसे लेश्यामे विशुद्धि आती है ॥१९०४॥

गा०—परिणामोकी विशुद्धि होनेसे लेश्याकी विशुद्धि होती है । और जिसकी कषाय मन्द है उसके परिणामोंमे विशुद्धि होती है ॥१९०५॥

गा०—कषायोंकी मन्दता कैसे होती है, यह बतलाते हैं—

जो बाह्य परिग्रहका त्याग करता है उसकी कषाय मन्द होती है । जिसकी कषाय तीव्र होती है वही सब परिग्रहरूप पापको स्वीकार करता है ॥१९०६॥

'जह इंधणेहिं अग्गी' इन्धनैर्यथाग्निर्वर्द्धते तैर्विना प्रशाम्यति । ग्रन्थैस्तथा कषायो वर्द्धते, तैर्विना मन्दो भवति ॥१९०७॥

जह पत्थरो पडंतो खोमेइ दहे पसण्णमवि पंकं ।
खोमेइ पसण्णमवि कसायं जीवस्स तह गंथो ॥१९०८॥

'जह पत्थरो पडंतो' यथा पाषाण पतन् ह्रदे प्रशान्तमपि पङ्क क्षोभयति, तथा जीवस्य कषायं ग्रन्थाः क्षोभयन्ति ॥१९०८॥

अब्भंतरसोधीए गंथे णियमेण बाहिरे चयदि ।
अब्भंतरमइलो चेव बाहिरे गेण्हदि हु गंथे ॥१९०९॥

'अब्भंतरसोधीए' अभ्यन्तरशुद्धया नियमेन बाह्यान्परिग्रहास्त्यजति, अभ्यन्तरमलिन एव बाह्यान् गृह्णाति परिग्रहान् ॥१९०९॥

अब्भंतरसोधीए बाहिरसोधी वि होदि णियमेण ।
अब्भंतरदोसेण हु कुणदि णरो बाहिरे दोसे ॥१९१०॥

'अब्भंतरसोधीए' अभ्यन्तरशुद्धया बाह्यशुद्धिर्नियमेन भवति । अभ्यन्तरदोषेणैव बाह्यान्कायगतान् दोषान् करोति ॥१९१०॥

जध तंडुलस्स कोण्डयसोधी सतुसस्स तीरदि ण कादुं ।
तह जीवस्स ण सक्का लिस्सासोधी ससंगस्स ॥१९११॥

'जह तंदुलस्स' यथा तन्दुलस्य अभ्यन्तरमलशुद्धि कर्तुं न शक्यते बाह्यतुषसहितस्य । तथा जीवस्य न शक्या लेश्याशुद्धि कर्तुं सपरिग्रहस्य ॥१९११॥

इत उत्तर लेश्याश्रयेणाराधनाविकल्पो निरूप्यते—

सुक्काए लेस्साए उक्कस्सं अंसय परिणमित्ता ।
जो मरदि सो हु णियमा उक्कस्साराधओ होई ॥१९१२॥

गा०—जैसे ईंधनसे आग बढती है और ईंधनके अभावमे बुझ जाती है वैसे ही परिग्रहसे कषाय बढ़ती है और परिग्रहके अभावमे मन्द हो जाती है ॥१९०७॥

गा०—जैसे जलमे पत्थर फेकनेसे नीचे बैठी हुई कीचड ऊपर आ जाती है। वैसे ही परिग्रहसे जीवकी दबी हुई कषाय उदयमे आ जाती है ॥१९०८॥

गा०—अन्तरगमे कषायकी मन्दता होनेपर नियमसे बाह्य परिग्रहका त्याग होता है। अभ्यन्तरमे मलिनता होनेपर ही जीव बाह्य परिग्रहोको ग्रहण करता है ॥१९०९॥

गा०—अभ्यन्तरमें विशुद्धि होनेपर बाह्य विशुद्धि नियमसे होती है। अभ्यन्तरमें दोष होनेसे ही मनुष्य शारीरिक दोष करता है ॥१९१०॥

गा०—जैसे बाहरमे तुष (छिलका) रहते हुए चावलकी अभ्यन्तर शुद्धि सभव नही है। वैसे ही परिग्रही जीवके लेश्याकी विशुद्धि सभव नही है ॥१९११॥

'सुक्काए लेस्साए' शुक्ललेश्याया उत्कृष्टांशं परिणतो यो मृतिमुपैति स नियमादुत्कृष्टाराधको भवति ॥१९१२॥

खाइयदंसणचरणं खओवसमियं च णाणमिदि मग्गो ।
तं होइ खीणमोहो आराहित्ता य जो हु अरहंतो ॥१९१३॥
जे सेसा सुक्काए दु अंसया जे य पम्मलेस्साए ।
तल्लेस्सापरिणामो दु मज्झिमाराधणा मरणे ॥१९१४॥

'जे सेसा सुक्काए दु अंसया' उत्कृष्टांशादन्ये ये शुक्ललेश्याया अंशा ये चापि पद्मलेश्याया अंशाः तत्र परिणामो मरणे मध्यमाराधना ॥१९१३॥१९१४॥

तेजाए लेस्साए ये अंसा तेसु जो परिणमित्ता ।
कालं करेइ तस्स हु जहण्णियाराधणा भणिदा ॥१९१५॥

'तेजोए लेस्साए' तेजोलेश्याया ये अंशास्तेषु परिणतो यदि कालं कुर्यात् तस्य जघन्याराधना भवति ॥१९१५॥

जो जाए परिणमित्ता लेस्साए संजुदो कुणइ कालं ।
तल्लेसो उववज्जइ तल्लेसे चेव सो सग्गे ॥१९१६॥

'जो जाए' यो यया लेश्यया परिणतः कालं करोति, स तल्लेश्य एवोपजायते, तल्लेश्यासमन्विते स्वर्गे ॥१९१६॥

अध तेउपउमसुक्कं अदिच्छिदो णाणदंसणसमग्गो ।
आउक्खया दु सुद्धो गच्छदि सुद्धिं चुयकिलेसो ॥१९१७॥

आगे लेश्या के आश्रयसे आराधनाके भेद कहते हैं—

गा०—जो क्षपक शुक्ललेश्याके उत्कृष्ट अंश रूपसे परिणत होकर मरण करता है वह नियमसे उत्कृष्ट आराधक होता है ॥१९१२॥

गा०—क्षायिक सम्यक्त्व, यथाख्यात चारित्र और क्षायोपशमिक ज्ञानकी आराधना करके क्षीणमोह होता है और वह बारहवें गुणस्थानवर्ती क्षीणमोह तदनन्तर अरहंत होता है ॥१९१३॥

गा०—शुक्ललेश्याके शेष मध्यम और जघन्य अंश तथा पद्मलेश्याके उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य अंश रूपसे परिणत होकर मरण करने वाला क्षपक मध्यम आराधक होता है ॥१९१४॥

गा०—तेजोलेश्याके अंशरूपसे परिणत होकर यदि मरण करता है तो वह जघन्य आराधक होता है ॥१९१५॥

गा०—जो क्षपक जिस लेश्यारूपसे परिणत होकर मरण करता है वह उसी लेश्यावाले स्वर्गमे उसी लेश्यावाला ही देव होता है ॥१९१६॥

गा०—जो पीत पद्म और शुक्ललेश्याको भी छोड़कर लेश्यारहित अयोग अवस्थाको प्राप्त होता है वह सम्पूर्ण केवलज्ञान और केवल दर्शनसे युक्त होकर आयुका क्षय होनेपर मोक्ष प्राप्त

'अथ तेउपउमसुक्कं' अथ तेज पद्मशुक्ललेश्या अतिक्रान्त अलेश्यतामुपगत ज्ञानदर्शनसमग्र आयुषः क्षयात् सिद्धि गच्छति कर्मलेपापगमाद्विशुद्धो निरस्ताशेषक्लेश । लेस्सेत्ति ॥१९१७॥

एवं सुभाविदप्पा ज्झाणोवगओ पसत्थलेस्साओ ।
आराधणापडायं हरइ अविग्घेण सो खवओ ॥१९१८॥

'एवं सुभाविदप्पा' एवं सुष्ठु भावितात्मा ध्यानमुपगत प्रशस्तलेश्यापरिणत आराधनापताकां हरत्यविघ्नेन ॥१९१८॥

तेलोक्कसव्वसारं चउगइसंसारदुक्खणासयरं ।
आराहणं पवण्णो सो भयवं मुक्खपडिमुल्लं ॥१९१९॥

'तेलोक्कसव्वसारं' त्रैलोक्ये सर्वस्मिन्सारभूता चतुर्गतिससारदुःखनाशकरणीमाराधना प्रपन्नोऽसौ भगवान् मोक्षमप्रतिमौल्य ॥१९१९॥

एवं जधाक्खादविधिं संपत्ता सुद्धदंसणचरित्ता ।
केई खवंति खवया मोहावरणंतरायाणि ॥१९२०॥

'एवं जधाक्खादविधिं' एव यथाख्यातविधि सप्राप्ता शुद्धदर्शनचारित्रा केचित्क्षपका घातिकर्माणि क्षपयन्ति ॥१९२०॥

केवलकप्पं लोगं संपुण्णं दव्वपज्जयविधीहिं ।
ज्झायंता एयमणा जहंति आराहया देहं ॥१९२१॥

'केवलकप्पं' केवलज्ञानस्य परिच्छेद्यत्वेन योग्य लोक सपूर्णं द्रव्यपर्यायविकल्पैः परिच्छिन्दन्त जहति ते स्वदेह ॥१९२१॥

करता है। वह समस्त कर्मलेपके चले आनेसे विशुद्ध होता है तथा समस्त क्लेशोंसे छूट जाता है ॥१९१७॥

गा०—इस प्रकार वह क्षपक अच्छी तरहसे आत्माकी भावना भाकर प्रशस्त लेश्यापूर्वक ध्यान करके, किसी विघ्न बाधाके बिना आराधना पताकाको धारण करता है ॥१९१८॥

गा०—वह भगवान् तीनो लोकोमें सारभूत तथा चार गतिरूप ससारके दुःखोका नाश करनेवाली आराधनाको प्राप्त करता है जो उस मोक्षका प्रतिमूल्य है अर्थात् आराधनारूपी मूल्य प्रदान करके ही मोक्षको खरीदा जा सकता है ॥१९१९॥

गा०—इस प्रकार कोई-कोई चरमशरीरी क्षपक यथाख्यात चारित्रकी विधिके द्वारा शुद्ध सम्यग्दर्शन और चारित्रको प्राप्त करके मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोंका क्षय करते हैं ॥१९२०॥

गा०—केवलज्ञानके द्वारा जाननेके योग्य सम्पूर्ण लोकको द्रव्य पर्यायोंके भेदोके साथ एकाग्रमनसे जानते हुए आराधक अपना शरीर छोडते हैं ॥१९२१॥

सव्वुक्कसं जोगं जुंजंता दंसणे चरित्ते य ।
कम्मरयविप्पमुक्का हवंति आराधया सिद्धा ॥१९२२॥

'**सव्वुक्कस्सं**' सर्वोत्कृष्ट दर्शनचारित्रयोर्योगं प्रतिपद्यमानाः कर्मरजोभ्यो विप्रयुक्ता आराधकाः सिद्धा भवन्ति ॥१९२२॥

इयमुक्कस्सियमाराधणमणुपलित्तु केवली भविया ।
लोगग्गसिहरवासी हवंति सिद्धा धुयकिलेसा ॥१९२३॥

'**इय उक्कस्सिय**' एवमुत्कृष्टामाराधनामनुपाल्य केवलिनो भूत्वा निरस्तक्लेशा लोकाग्रशिखरवासिनः सिद्धा भवन्ति ॥१९२३॥

अह सावसेसकम्मा मलियकसाया पणट्ठमिच्छत्ता ।
हासरइअरइभयसोगदुगुंछावेयणिम्महणा ॥१९२४॥

'**अह सावसेसकम्मा**' अथ सावशेषकर्माणो मथितकषायाः प्रणष्टमिथ्यात्वा हास्यरत्यरतिभयशोकजुगुप्सा-वेदत्रिकमथना ॥१९२४॥

पंचसमिदा तिगुत्ता सुसंवुडा सव्वसंगउम्मुक्का ।
धीरा अदीणमणसा समसुहदुक्खा असंमूढा ॥१९२५॥

'**पंचसमिदा**' समितिपञ्चकोपेता गुप्तित्रयोपेता सुसंवृता अपाकृतसर्वसंगा धीरा अदीनमनसः समसुख-दुःखा असंमूढा ॥१९२५॥

सव्वसमाधाणेण य चरित्तजोगे अधिट्ठिदा सम्मं ।
धम्मे वा उवजुत्ता ज्झाणे तह पढमसुक्के वा ॥१९२६॥

'**सव्वसमाधाणेण**' सर्वेण समाधानेन चारित्रे सम्यगवस्थिता धर्मध्याने प्रथमशुक्ले वा उपयुक्ताः ॥१९२६॥

गा०—सबसे उत्कृष्ट अर्थात् क्षायिक सम्यग्दर्शन और क्षायिक सम्यक् चारित्रको प्राप्त करके वे आराधक कर्मरूपी रजसे अर्थात् शेष चार अघाति कर्मोंसे छूटकर सिद्ध हो जाते हैं ॥१९२२॥

गा०—इस प्रकार उत्कृष्ट आराधनाका पालन करके केवलज्ञानी होकर सम्पूर्ण क्लेशोंसे छूट जाते हैं और लोकके शिखर पर विराजमान होते हैं ॥१९२३॥

गा०—किन्तु जिनके कर्मबन्धन शेष रहता है वे मिथ्यात्वको नष्ट करके तथा कषायोंका और हास्य रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, तीनों वेदोंका मथन करके, पाँच समिति और तीन गुप्तियोंके द्वारा सम्यक् रूपसे संवर करके समस्त परिग्रहसे रहित होकर धीरतापूर्वक, मनमें दीनताका भाव नही लाते। मोहरहित होकर सुख और दुःखमें समभाव रखते हैं। मन, वचन, कायको समाहित करके चारित्रमे सम्यक्निष्ठ रहते हैं तथा धर्मध्यान या प्रथम शुक्लध्यानमें उपयोग लगाते हैं ॥१९२४-२६॥

इय मज्झिममाराधणमणुपालित्ता सरीरपजहित्ता ।
हुंति अणुत्तरवासी देवा सुविसुद्धलेस्सा य ॥१९२७॥

'इय मज्झिमं' एव मध्यमाराधनामनुपाल्य शरीरं त्यक्त्वा विशुद्धलेश्याधरा अनुत्तरवासिनो देवा भवन्ति ॥१९२७॥

दंसणणाणचरित्ते उक्किट्ठा उत्तमोपधाणा य ।
इरियावहपडिवण्णा हवंति लवसत्तमा देवा ॥१९२८॥

'दंसणणाणचरित्ते' सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेषु उत्कृष्टा उत्तमाभिग्रहा ईर्यापथ प्रपन्ना लवसत्तमा देवा भवन्ति ॥१९२८॥

कप्पोवगा सुरा जं अच्छरसहिया सुहं अणुहवंति ।
तत्तो अणंतगुणिदं सुहं दु लवसत्तमसुराणं ॥१९२९॥

'कप्पोवगा सुरा जं' कल्पोपपन्ना सुरा. अप्सरोभिस्सहिता यत्सुखमनुभवन्ति ततोऽप्यनन्तगुणित लवसत्तमदेवाना ॥१९२९॥

णाणम्मि दंसणम्मि य आउत्ता संजमे जहक्खादे ।
वड्ढिदतवोवधाणा अवहियलेस्सा सददमेव ॥१९३०॥

'णाणम्मि दंसणम्मि य' ज्ञानदर्शनयोर्यथाख्याते च सयमे आयुक्ता वर्द्धिततपोऽभिग्रहा सतत विशुद्धलेश्या क्षपका. ॥१९३०॥

पजहिय सम्मं देहं सददं सव्वगुणावड्ढिदगुणड्ढा ।
देविंदचरमठाणं लहंति आराधया खवया ॥१९३१॥

'पजहिय देहं' विहाय देहं सम्यक्सदा सर्वगुणवर्धितगुणाढ्या देवेन्द्रचरमस्थान लभन्ते ॥१९३१॥

गा०—इस प्रकार मध्यम आराधनाका पालन करके शरीर त्याग कर विशुद्ध लेश्याके धारक अनुत्तरवासी देव होते है ॥१९२७॥

गा०—वे मध्यम आराधनाके पालक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रमे उत्कृष्ट होते हैं। अर्थात् कल्पोपपन्न देवोंमे उत्पन्न कराने वाले रत्नत्रयके आराधकोसे उत्कृष्ट होते है। उनकी तपश्चर्या उत्तम होती है, वे ईर्यापथ आस्रवके धारी होते है अर्थात् कषायरहित कायकी क्रियासे होनेवाला शुभास्रव ही उनके होता है। वे मरकर लवसत्तम अर्थात् ग्रैवेयक या अनुदिश विमानवासी देव होते है ॥१९२८॥

गा०—कल्पवासी देव अपनी देवागनाओंके साथ जिस सुखको भोगते हैं उससे अनन्तगुणा सुख अहमिन्द्रदेव भोगते हैं ॥१९२९॥

गा०—जो क्षपक ज्ञान दर्शन और यथाख्यात चारित्रमे लीन रहते हैं, अपनी तपश्चर्याको निरन्तर बढाते हैं, वे विशुद्ध लेश्यावाले होते है ॥१९३०॥

गा०—वे आराधक क्षपक सम्यक् भावना पूर्वक शरीर त्यागकर अनन्तगुणी अणिमा आदि ऋद्धियोंसे सम्पन्न उपरिम स्वर्गमे स्थान प्राप्त करते हैं ॥१९३१॥

सुयभत्तीए विसुद्धा उग्गतवणियमजोगसंसुद्धा ।
लोगंतिया सुरवरा हवंति आराधया धीरा ॥१९३२॥

जावदिया रिद्धिओ हवंति इंदियगदाणि य सुहाणि ।
ताइं लहंति ते आगमेसिं भद्दा खवा खवया ॥१९३३॥

'जावदिया रिद्धीओ' यावन्त्यः ऋद्धयो भवन्ति यावन्तीन्द्रियसुखानि च भवन्ति तानि सर्वाणि लप्स्यन्ते भद्राशया' क्षपका ॥१९३२–१९३३॥

जे वि हु जहण्णियं तेउलेस्समाराहणं उवणमंति ।
ते वि हु सोधम्माइसु हवंति देवा ण हेट्ठिल्ला ॥१९३४॥

'जे वि हु जहण्णियं' येऽपि जघन्यामाराधनां तेजोलेश्याप्रवृत्तामुपनमन्ति तेऽपि सौधर्मादिषु देवा भवन्ति, नाधोभाविनो देवा ॥१९३४॥

किं जंपिएण बहुणा जो सारो केवलस्स लोगस्स ।
तं अचिरेण लहंते फासित्ताराहणं णिहिलं ॥१९३५॥

'किं जंपिएण बहुणा' किं बहुनोक्तेन यत्सर्वस्यास्य लोकस्य सारभूतं तदचिरेण लभन्ते आराधनां प्रपन्ना. ॥१९३५॥

भोगे अणुत्तरे भुंजिऊण तत्तो चुदा सुमाणुस्से ।
इड्ढिमतुलं चइत्ता चरंति जिणदेसियं धम्मं ॥१९३६॥

'भोगे अणुत्तरे' भोगाननुत्कृष्टान् भुक्त्वा स्वर्गच्युता मनुष्यभवेऽपि प्राप्य सकलामृद्धिं तां च त्यक्त्वा जिनाभिहितं धर्मं चरन्ति ॥१९३६॥

गा०—श्रुतभक्तिसे विशुद्ध, उग्रतप, नियम और आतापन आदि योगसे शुद्ध धीर आराधक लौकान्तिक देव होते हैं ॥१९३२॥

गा०—जितनी ऋद्धियाँ हैं और जितने भी इन्द्रिय सुख हैं उन सबको भद्रपरिणामी क्षपक आगामी कालमें प्राप्त करते हैं ॥१९३३॥

गा०—तेजोलेश्यासे युक्त जो क्षपक जघन्य आराधना करते हैं वे भी सौधर्म आदि स्वर्गोंमें देव होते हैं, नीचेके देव नहीं होते। अर्थात् भवनत्रिकमें जन्म नहीं लेते ॥ १९३४॥

गा०—अधिक कहनेसे क्या ? जो समस्त लोकका सारभूत है उस सबको आराधना करने वाले शीघ्र ही प्राप्त कर लेते हैं ॥१९३५॥

गा०—स्वर्गोंके उत्कृष्ट भोगोंको भोगकर स्वर्गसे च्युत होनेपर मनुष्य भवमें जन्म लेते हैं और वहाँ भी समस्त ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं। फिर उसे त्यागकर जिन भगवान्के द्वारा कहे हुए धर्मका पालन करते हैं ॥१९३६॥

सदिमंतो धिदिमंतो सद्धासंवेगवीरियोवगया ।
जेदा परीसहाणं उवसग्गाणं च अभिभवियं ॥१९३७॥

'**सदिमंतो**' स्मृतिमन्त' धृतिसमन्विताः श्रद्धासंवेगवीर्यसहिता. परीषहाणा विजेतारः उपसर्गाणामभि-भवितारः ॥१९३७॥

इय चरणमधक्खादं पडिवण्णा सुद्धदंसणमुवेदा ।
सोधिंति ज्झाणजुत्ता लेस्साओ संकिलिट्ठाओ ॥१९३८॥

'**इय चरणमधक्खादं**' एवं यथाख्यातचारित्र प्रतिपन्ना शुद्धदर्शनमुपगता ध्यानयुक्ताः संक्लिष्टलेश्या विनाशयन्ति ॥१९३८॥

सुक्कं लेस्समुवगदा सुक्कज्झाणेण खविदसंसारा ।
उम्मुक्ककम्मकवया उविंति सिद्धिं धुदकिलेसा ॥१९३९॥

'**सुक्कं लेस्समुवगदा**' शुक्ललेश्यामुपगता' शुक्लध्यानेन क्षपितससारा उन्मुक्तकर्मकवचा दूरीकृत क्लेशाः सिद्धिमुपयान्ति ॥१९३९॥

एवं संथारगदो विसोधइत्ता वि दंसणचरित्तं ।
परिवडदि पुणो कोई झायंतो अट्टरुद्दाणि ॥१९४०॥

'**एवं संथारगदो**' उक्तेन प्रकारेण सस्तरमुपगतोऽपि कृतदर्शनचारित्रशुद्धिरपि कश्चित्कर्मगौरवादार्त-रौद्रपरिणतः पतति । तत्र दोषमाचष्टे ॥१९४०॥

ज्झायंतो अणगारो अट्टं रुद्दं च चरिमकालम्मि ।
जो जहइ सयं देहं सो ण लहइ सुग्गदिं खवओ ॥१९४१॥

गा०—वे शास्त्रोका अनुचिन्तन करते है, धैर्यशाली होते हैं, श्रद्धा, सवेग और शक्तिसे युक्त होते हैं। परीषहोंको जीतते हैं और उपसर्गोंको निरस्त करते है, उनसे अभिभूत नही होते ॥१९३७॥

गा०—इस प्रकार शुद्ध सम्यग्दर्शन पूर्वक यथाख्यात चारित्रको प्राप्त करके ध्यानमें मग्न होकर संक्लेशयुक्त अशुभ लेश्याओंका विनाश करते हैं ॥१९३८॥

गा०—शुक्ललेश्यासे सम्पन्न होकर शुक्लध्यानके द्वारा संसारका क्षय करते है और कर्मोंके कवचसे मुक्त हो, सब दु.खोंको दूर करके मुक्तिको प्राप्त होते हैं ॥१९३९॥

गा०—इस प्रकार संस्तरपर आरूढ होकर और सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्रको निर्मल करके भी कोई-कोई क्षपक कर्मोंकी गुरुता होनेसे आर्तरौद्र ध्यानपूर्वक रत्नत्रय रूप आराधनासे गिर जाता है ॥१९४०॥

गा०—जो क्षपक साधु मरते समय आर्तरौद्र ध्यानपूर्वक अपने शरीरको छोड़ता है वह सुगति प्राप्त नही करता ॥१९४१॥

'अट्टवसट्टो अवमरदि' मरणकाले आर्तरौद्रयोः परिणतो भूत्वा यः स्वदेहं जहाति नासौ क्षपकः सुगतिं लभते ॥१९४१॥

जदि दा सुभाविदप्पा वि चरिमकालम्मि संकिलेसेण ।
परिवडदि वेदणट्टो खवओ संथारमारूढो ॥१९४२॥

'जदि दा सुभाविदप्पा वि' यदि तावत्सुभावितात्मापि संस्तरमारूढ वेदनार्त. क्षपकः संक्लेशेन हेतुना सन्मार्गात्परिपतति ॥१९४२॥

किं पुण जे ओसण्णा णिच्चं जे वा वि णिच्चपासत्था ।
जे वा सदा कुसीला संसत्ता वा जहाछंदा ॥१९४३॥

'किं पुण' किं पुनर्न परिपतन्ति ये नित्यमवसन्ना ये च नित्यं पार्श्वस्था ये वा सदा कुशीला. संसक्ता वा स्वच्छन्दा ॥१९४३॥

तत्र अवसन्ना निरूप्यन्ते—

[1]गच्छंहि केइ पुरिसा पक्खी इव पंजरंतरणिरुद्धा ।
सारणपंजरचकिदा ओसण्णावा पावेहरंति ॥१९४४॥

यथा कर्दमे क्षुण्ण मार्गाद्धीनोऽवसन्न इत्युच्यते स द्रव्यतोऽवसन्न. । भावावसन्नः अशुद्धचरित्रः सीदति उपकरणे, वसति संस्तरप्रतिलेखने, स्वाध्याये, विहारभूमिशोधने, गोचारशुद्धौ, ईर्यासमित्यादिषु, स्वाध्यायकालावलोकने, स्वाध्यायविसर्गे, गोचारे, च अनुद्यत , आवश्यकेष्वलसः, जनातिरिक्तो वा अनाधिकं करोति कुर्वंश्च यथोक्तमावश्यकं वाक्कायाभ्यां करोति न भावत एवंभूतश्चारित्रेऽवसीदतीत्यवसन्न । पच्चाणं पद्यमपि

गा०—यदि अपनी आत्माकी सम्यक् भावना करने वाले भी संस्तरपर आरूढ़ हो, संक्लेशके कारण मरते समय सन्मार्गसे गिर जाते हैं ॥१९४२॥

गा०—तो जो नित्य अवसन्न, नित्य पार्श्वस्थ, सदा कुशील, ससक्त और स्वच्छन्द साधु हैं उनका कहना ही क्या है ? ॥१९४३॥

गा०-टी०—अवसन्न आदिका स्वरूप कहते हैं—

जैसे कोई पुरुष कीचड़में फँस गया या मार्गमे थक गया तो उसको अवसन्न कहते हैं। वह द्रव्यरूपसे अवसन्न है। उसी प्रकार जिसका चारित्र अशुद्ध होता है वह भाव अवसन्न होता है। वह उपकरणमें, वसतिकामे, संस्तरके शोधनेमें, स्वाध्यायमें, विहार करनेकी भूमिके शोधनेमे, गोचरीकी शुद्धतामें, ईर्यासमिति आदिमे, स्वाध्यायके कालका ध्यान रखनेमें और स्वाध्यायकी समाप्तिमें तत्पर नहीं रहता। छह आवश्यकोंमें आलस्य करता है। या दूसरोंसे करता तो अधिक है किन्तु वचन और कायसे करता है, भावसे नहीं करता। इस प्रकार चारित्रका पालन करते हुए खेदखिन्न होता है इससे उसे अवसन्न कहते हैं।

1. इस गाथा पर किसी प्रति में क्रमांक नहीं दिया है। न इस पर किसी की टीका ही है। सं०

तत्समीपेऽन्येन कश्चिद् गच्छति, यथासौ मार्गपार्श्वस्थः, एवं निरतिचारसंयममार्गं जानन्नपि न तत्र वर्तते, किंतु संयममार्गपार्श्वे तिष्ठति नैकान्तेनासंयतः, न च निरतिचारसंयम [1] सोऽभिधीयते पार्श्वस्थ इति। शय्याधरपिण्डम-भिहितं नित्यं च पिण्डं भुङ्क्ते, पूर्वापरकालयोर्दातुःसस्तवं करोति, उत्पादनैषणादोषदुष्टं वा भुङ्क्ते, नित्यमेकस्यां वसतौवसति, एकस्मिन्नेव संस्तरे शेते, एकस्मिन्नेव क्षेत्रे वसति। गृहिणां गृहाभ्यन्तरे निषद्या करोति, गृहस्थोप-करणैर्व्यवहरति, दु:प्रतिलेखमप्रतिलेखं वा गृह्णाति, सूचीकर्तरिनखच्छेदसंदंशनपट्टिकाक्षुरकर्णशोधनाजिनग्राही, सीवनप्रक्षालनावधूननरञ्जनादिबहुपरिकर्मव्यापृतश्च वा पार्श्वस्थः। क्षारचूर्णं सौवीरलवणसर्पिरित्यादिकं अनागाढकारणेऽपि गृहीत्वा स्थापयन् पार्श्वस्थ। रात्रौ यथेष्टं शेते, सस्तरं च यथाकामं बहुतर करोति। उपकरणबकुशो देहबकुश—दिवसे वा शेते च य पार्श्वस्थः। पदप्रक्षालन [2]म्रक्षणं वा यत्कारण-मन्तरेण करोति, यश्च गणोपजीवी [3]तृणपञ्चकसेवापरश्च पार्श्वस्थ। अयमत्र संक्षेपः—अयोग्य सुखशीलतया यो निषेवते कारणमन्तरेण स सर्वथा पार्श्वस्थः। कुत्सितशील. कुशील.। यद्येव अवसन्नादीनां कुशीलत्वं प्राप्नोति, नैव लोकप्रकटकुत्सितशील कुशील इति विवेकोऽत्र ग्राह्य.। स च कुशीलोऽनेकप्रकार कश्चित्कौ-तुकशील औषधविलेपनविद्याप्रयोगेणैव, सौभाग्यकरणं राजद्वारिककौतुकमादर्शयति य स कौतुककुशील।

जैसे कोई मार्गको देखते हुए भी उस मार्गसे न जाकर अन्य उसके समीपवर्ती मार्गसे जाता है, उसे मार्ग पार्श्वस्थ कहते है। इसी प्रकार जो निरतिचार सयमका मार्ग जानते हुए भी उसमे प्रवृत्ति नही करता किन्तु संयमके पार्श्ववर्ती मार्गमें चलता है, वह न तो एकान्तसे असयमी है और न निरतिचार सयमी है। उसे पार्श्वस्थ कहते हैं। शय्याधरपिण्डका स्वरूप पहले कहा है उस भोजनको नित्य करता है। भोजन करनेसे पहले और भोजन करनेके पश्चात् दाताकी स्तुति करता है। अथवा उत्पादन और एषणा दोषसे दूषित भोजन करता है। नित्य एक ही वसतिकामें रहता है। एक ही संस्तरपर सोता है। एक ही क्षेत्रमे रहता है। गृहस्थोके घरके भीतर बैठता है। गृहस्थोके उपकरणोंका उपयोग करता है। बिना प्रतिलेखनाके वस्तुको ग्रहण करता है या दुष्टता पूर्वक प्रतिलेखना करता है। सुई, कैंची, नख काटनेके लिये नहिनी, छुरा, कानका मैल निकालनेको सीक, चर्म आदि पासमें रखता है। और सीना, धोना, रगना आदि कामोमे लगा रहता है, वह पार्श्वस्थ है। क्षारचूर्ण, सुर्मा, नमक, घी इत्यादि बिना कारण ग्रहण करके पासमे जो रखता है वह पार्श्वस्थ है। जो रातमें मनमाना सोता है, सस्तरा इच्छानुसार लम्बा चौडा बनाता है वह उपकरण बकुश है। जो दिनमे सोता है वह देहबकुश है। ये भी पार्श्वस्थ है। जो बिना कारण पैर धोता है और तेल लगाता है तथा जो गणोपजीव है वह पार्श्वस्थ है। साराश यह है कि सुखशील होनेके कारण जो बिना कारण अयोग्यका सेवन करता है वह सर्वथा पार्श्वस्थ है।

जिसका शील कुत्सित है वह कुशील मुनि है

शङ्का—यदि ऐसा है तो अवसन्न आदि भी कुशील कहलायेगे।

समाधान—नही, क्योकि लोकमे जिसका कुत्सित शील प्रकट है वह कुशील है, यह मे भेद ग्रहण करना चाहिये। वह कुशील अनेक प्रकारका होता है। कोई कौतुक कुशील होता है जो औषध लगानेकी विद्याके प्रयोग द्वारा सौभाग्यके कारण राजद्वारमे कौतुक दिखलाता है।

---

१ म. सविधीयते—अ०। २ प्रतिक्षणं आ०। ३. त्रिण अ०।

कश्चित् भूतिकर्मकुशील. भूतिग्रहणमुपलक्षणं भूत्या, धूल्या, सिद्धार्थकैः, पुष्पैः, फलैरुदकादिभिर्वा मन्त्रितै रक्षा वशीकरणं वा यः करोति स भूतिकुशीलः । उक्तं च—

भूदीयव धूलीयं वा सिद्धत्थय पुप्फफलुदकादीहिं ।
रक्खं वसिगरणं वा करेदि जो भूदिगकुसीलो ॥

कश्चित्प्रसेनिकाकुशीलः, अंगुष्ठप्रसेनिका, अक्षरप्रसेनी, प्रदीपप्रसेनी, शशिप्रसेनी, सूर्यप्रसेनी स्वप्नप्रसेनीत्येवमादिभिर्जनं रञ्जयति य. सोऽभिधीयते प्रसेनिकाकुशील इति । कश्चिन्निमित्तकुशीलः विद्याभिर्मन्त्रैरौषधप्रयोगैर्वा असयत चिकित्सा करोति सोऽप्रसेनिकाकुशीलः । कश्चिन्निमित्तकुशीलः अष्टाङ्गनिमित्तं ज्ञात्वा यो लोकस्यादेशं करोति स निमित्तकुशील । आत्मनो जाति कुलं वा प्रकाश्य यो भिक्षादिकमुत्पादयति स आजीवकुशील. । केनचिदुपद्रुत. परं शरण प्रविशति, अनाथशालां वा प्रविश्य आत्मनश्चिकित्सा करोति स वा आजीवकुशील । विद्यायोगादिभिः परद्रव्यापहरणदम्भप्रदर्शनपर कक्ककुशीलः । इन्द्रजालादिभिर्यो जनं विस्मापयति सोऽभिधीयते कुहनकुशील इति । वृक्षगुल्मादीना पुष्पाणां, फलानां च संभवमुपदर्शयति, गर्भस्थापनादिक च करोति य. स संमूर्छनाकुशीलः । [1]त्रसजानां, कीटादीनां, वृक्षादीना, पुष्पफलादीना, गर्भस्य परिशातन [2]आभिचारिक च यः करोति शाप च प्रयच्छति स प्रपातनकुशीलः ॥ उक्त च—

काओतिकभूदिकम्मे पसिणा पसिणे णिमित्तमाजीवे ।
कक्ककुहन समुच्छण पपादणादीकुसीलो दु ॥ इति ॥

कोई भूतिकर्मकुशील होता है। यहाँ भूति शब्दसे भस्म, धूल, सरसो, पुष्प, फल, अथवा जल आदिसे मंत्र पढ़कर रक्षा या वशीकरण जो करता है वह भूतिकर्म कुशील है। कहा है—

जो भस्म, धूल, सरसों, पुष्प, फल, जल आदिके द्वारा रक्षा या वशीकरण करता है वह भूतिकर्म कुशील है। कोई प्रसेनिकाकुशील होता है जो अगुष्ठप्रसेनिका, अक्षरप्रसेनिका, शशिप्रसेनिका, सूर्यप्रसेनिका, स्वप्नप्रसेनिका आदि विद्याओंके द्वारा लोगोका मनोरजन करता है। कोई अप्रसेनिका कुशील होता है जो विद्या, मंत्र और औषध प्रयोगके द्वारा असंयमी जनोका इलाज करता है। कोई निमित्तकुशील होता है जो अष्टांग निमित्तोंको जानकर लोगोको इष्ट अनिष्ट बतलाता है। जो अपनी जाति, अथवा कुल बतलाकर भिक्षा आदि प्राप्त करता है वह आजीवकुशील है। जो किसीके द्वारा सताये जानेपर दूसरेकी शरणमे जाता है अथवा अनाथशालामे जाकर अपना इलाज कराता है वह भी आजीव कुशील होता है। जो विद्या प्रयोग आदिके द्वारा दूसरोंका द्रव्य हरने और दम्भप्रदर्शनमे तत्पर रहता है वह कक्ककुशील होता है। जो इन्द्रजाल आदिके द्वारा लोगोंको आश्चर्य उत्पन्न करता है वह कुहनकुशील है। जो वृक्ष, झाड़ी, पुष्प और फलोंको उत्पन्न करके बताता है तथा गर्भस्थापना आदि करता है वह सम्मूर्च्छनाकुशील है। जो त्रसजातिके कीट आदिका, वृक्ष आदिका, पुष्प फल आदिका तथा गर्भका विनाश करता है, उनकी हिंसा करता है, शाप देता है वह प्रपातन कुशील है। कहा है—

कौतुक कुशील, भूतिकर्म कुशील, प्रसेनिका कुशील, अप्रसेनिका कुशील, निमित्तकुशील, आजीव कुशील, कक्ककुशील, कुहनकुशील, सम्मूर्च्छनकुशील, प्रपातन कुशील आदि कुशील होते

---

१. त्रसजातीना —आ० । २. अभिसारिक —मु० ।

आदिशब्दपरिगृहीताः कुशीला उच्यन्ते—क्षेत्रं हिरण्यं [1]चतुष्पदं च परिग्रहं ये गृह्णन्ति हरितकन्दफलभोजिनः कृतकारितानुमतपिण्डोपधिवसतिसेवापराः, स्त्रीकथारताः, मैथुनसेवापरायणाः, [2]विवेकास्रवादि [3]अधिकरणोद्यताश्च कुशीलाः । धृष्टः प्रमत्तः विकृतवेषश्च कुशीलः । संसक्तो निरूप्यते—प्रियचारित्रे प्रियचारित्रः अप्रियचारित्रे दृष्टे अप्रियचारित्रः, नटवदनेकरूपग्राही संसक्तः । पञ्चेन्द्रियेषु प्रसक्तः त्रिविधगौरवप्रतिबद्धः, स्त्रीविषये संक्लेशसहितः, गृहस्थजनप्रियश्च संसक्तः । 'अवसण्णो' अवसन्नः । पार्श्वस्थसंसर्गात्स्वयमपि पार्श्वस्थः, कुशीलसंसर्गात्स्वयमपि कुशीलः, यः स्वच्छन्दसंपर्कात्स्वयमपि स्वच्छन्दवृत्तिः । यथाच्छन्दो निरूप्यते—उत्सूत्रमनुपदिष्टं स्वेच्छाविकल्पितं यो निरूपयति सोऽभिधीयते यथाच्छन्द इति । तद्यथा वर्षे पतति जलधारणमसंयमः क्षुरकर्तरिकादिभिः केशापनयनप्रशंसनं आत्मविराधनान्यथा भवतीति भूमिशय्या तृणपुञ्जे वसतः अवस्थितानामाबाधेति, उद्देशिकादिके [4]जनेऽदोषः ग्रामं सकलं पर्यटतो महती जीवनिकायविराधनेति, [5]गृहामत्रेषु भोजनमदोष इति कथनं, पाणिपात्रिकस्य परिशातनदोषो भवतीति निरूपणा, संप्रति यथोक्तकारी न विद्यत इति च भाषणं एवमादिनिरूपणापराः स्वच्छन्दा इत्युच्यन्ते ॥१९४४॥

हैं। गाथामे आये आदि शब्दसे ग्रहण किये कुशीलोको कहते है—जो क्षेत्र, सुवर्ण, चौपाये आदि परिग्रहको स्वीकार करते है, हरे कद, फल खाते हैं, कृत कारित अनुमोदनासे युक्त भोजन, उपधि वसतिकाका सेवन करते हैं, स्त्रीकथामे लीन रहते हैं, मैथुन सेवन करते है, आस्रवके अधिकरणोंमे लगे रहते है वे सब कुशील है। जो धृष्ट, प्रमादी और विकारयुक्त वेष धारण करता हैं वह कुशील है।

अब ससक्तका स्वरूप कहते है। चारित्र प्रेमियोमें चारित्रप्रेमी, और चारित्रसे प्रेम न करनेवालोमें चारित्रके अप्रेमी, इस तरह जो नटकी तरह अनेक रूप धारण करते हैं वे संसक्त मुनि हैं। जो पञ्चेन्द्रियोके विषयोंमे आसक्त होते हैं, ऋद्धिगारव, सातगारव और रसगारवमे लीन होते हैं, स्त्रियोके विषयमें रागरूप परिणाम रखते हैं, और गृहस्थजनोके प्रेमी होते हैं वे संसक्त मुनि हैं। वे पार्श्वस्थके संसर्गसे पार्श्वस्थ, कुशीलके संसर्गसे कुशील और स्वच्छन्दके सम्पर्कसे स्वयं भी स्वच्छन्द होते है।

अब यथाच्छन्दका स्वरूप कहते है—जो बात आगममे नही कही है, उसे अपनी इच्छानुसार जो कहता है वह यथाच्छन्द है। जैसे वर्षामे जलधारण करना अर्थात् वृक्षके नीचे बैठकर ध्यान लगाना असयम है। छुरे कैंची आदिसे केश काटनेकी प्रशंसा करना और कहना कि केशलोच करनेसे आत्माकी विराधना होती है। पृथ्वीपर सोनेसे तृणोमे रहनेवाले जन्तुओंको बाधा होती है। उद्दिष्ट भोजनमें कोई दोष नही है क्योकि भिक्षाके लिये पूरे ग्राममे भ्रमण करनेसे जीव निकायकी महती विराधना होती है। घरके पात्रोमे भोजन करनेमे कोई दोष नही है ऐसा कहना। जो हाथमें भोजन करता है उसे परिशातन दोष लगता है ऐसा कहना। आजकल आगमानुसार आचरण करनेवाले नही हैं ऐसा कहना। इत्यादि कहने वाले मुनि स्वच्छन्द कहे जाते हैं ॥१९४४॥

---

१. च पुष्पं च–अ० । २. विवेकादि –आ० । ३. अकरणो –अ० । ४ के भोजने मु० । ५ गृह मात्रासु भो –अ० आ० ।

अविसुद्धभावदोसा कसायवसया य मंदसंवेगा ।
अच्चासादणसीला मायाबहुला णिदाणकदा ॥१९४५॥

'**अविसुद्धभावदोसा**' भावाः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामाः, तेषां दोषाः शङ्कादयः ते अविशुद्धा अनिराकृता यैस्ते अविशुद्धभावदोषाः । '**कसायवसिगा**' कषायवशवर्तिनः । मन्दसंवेगाः । '**अच्चासादणसीला**' गुणानां गुणिनां चापमानकारिणः । प्रचुरमायानिदानं गताः ॥१९४५॥

सुहसादा किंमज्झा गुणसायी पावसुत्तपडिसेवी ।
विसयासापडिबद्धा गारवगरुया पमाइल्ला ॥१९४६॥

'**सुहसादा**' सुखास्वादनपराः । '**किंमज्झा**' किं मह्यं केनचिदिति सर्वेषु संघकार्येष्वनादृताः । '**गुणसायी**' गुणेषु सम्यग्दर्शनादिषु शीरत इव निरुत्साहाः । '**पावसुत्तपडिसेवी**' आत्मनः परेषां वा अशुभपरिणामस्य मिथ्यात्वासंयमकषायाणां प्रवर्तकं शास्त्रं पापसूत्रं निमित्तं, वैद्यकं, कौटिल्यं, स्त्रीपुरुषलक्षणं, धातुवादः, काव्यनाटकानि, चौरशास्त्रं, शस्त्रलक्षणं, प्रहरणविद्याचित्रकलागान्धर्वगन्धयुक्त्यादिकं एतस्मिन् पापसूत्रे कृतादराभ्यासाः '**विसयासापडिबद्धा**' अभिमतविषयपरिप्राप्त्यर्थां या आशा तस्यां प्रतिबद्धाः, '**तिगारवगुरुका**' गारवत्रयैर्गुरवः । '**पमाइल्ला**' विकथादिपञ्चदशप्रमादसहिताः ॥१९४६॥

समिदीसु य गुत्तीसु य अभाविदा सीलसंजमगुणेसु ।
परतत्तीसु य तत्ता अणाहिदा भावसुद्धीए ॥१९४७॥

'**समिदीसु य**' समितिषु गुप्तिषु च संयमगुणेषु भावनारहिताः परव्यापारेषु प्रवृत्ता भावशुद्धाः वनादृताः ॥१९४७॥

उक्त प्रकारके क्षपक मरते समय सन्मार्गसे क्यों च्युत हो जाते हैं यह सात गाथाओंसे कहते हैं—

गा०–टी०—वे क्षपक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्ररूप परिणामोंके जो शंका आदि दोष हैं उन्हे दूर नहीं करते हैं, कषायोंके वशवर्ती होते हैं, उनका संवेगभाव मन्द होता है, गुणोका और गुणीजनोंका वे अपमान करते हैं, तथा माया और निदानशल्यकी उनमें प्रचुरता होती है ॥१९४५॥

गा०–टी०—वे सुखशील होते हैं, मुझे किसीसे क्या, ऐसा मानकर वे संघके सब कार्योंमें अनादरभाव रखते हैं, सम्यग्दर्शन आदि गुणोंमे उनका उत्साह नहीं होता । अपने और दूसरोंके अशुभ परिणामको तथा मिथ्यात्व, असंयम और कषायको बढ़ानेवाला शास्त्र पापसूत्र है । निमित्त शास्त्र, वैद्यक, कौटिल्यशास्त्र (राजनीति), स्त्री पुरुषके लक्षण बतलानेवाला कामशास्त्र, धातुवाद (भौतिकी), काव्य नाटक, चोरशास्त्र, शस्त्रोंका लक्षण बतलानेवाला शास्त्र, प्रहार करनेकी विद्या, चित्रकला, गांधर्व (नाच गाना), गन्धशास्त्र, युक्तिशास्त्र आदि पापशास्त्रोंमे उनका आदर होता है, उसीका वे अध्ययन करते हैं । इष्ट विषयोंकी आशामें लगे रहते हैं, तीन गारवमें आसक्त होते हैं । विकथा आदि पन्द्रह प्रमादोंमें युक्त होते हैं ॥१९४६॥

गा०—समिति, गुप्ति और शील तथा संयमके गुणोंमे भावनासे रहित होते हैं । लौकिक कार्यों में संलग्न रहते हैं भावोंकी शुद्धिकी ओर ध्यान नहीं देते ॥१९४७॥

गंथअणियत्ततण्हा बहुमोहा सबलसेवणासेवी ।
सद्दरसरूवगंधे फासेसु य मुच्छिदा [1]घडिदा ॥१९४८॥

'गंथाणियत्ततण्हा' अतृप्तपरिग्रहतृष्णा, 'बहुमोहा' अज्ञानबहुलाः। शबलसेवनापराः, शब्दादिषु विषयेषु मूर्छिताः [2]तवघटिता ॥१९४८॥

परलोगणिप्पिवासा इहलोगे चेव जे सुपडिबद्धा ।
सज्झायादीसु य जे अणुट्ठिदा संकिलिट्ठमदी ॥१९४९॥

'परलोयणिप्पिवासा' परलोकनिस्पृहा, ऐहिकेष्वेव कार्येषु प्रतिबद्धाः, स्वाध्यायादिष्वनुद्यता, संक्लिष्टमतय ॥१९४९॥

सव्वेसु य मूलुत्तरगुणेसु तह ते सदा अइचरंता ।
ण लहंति खवोवसमं चरित्तमोहस्स कम्मस्स ॥१९५०॥

मूलोत्तरगुणेषु सदा सातिचारा न लभन्ते चारित्रमोहस्य क्षयोपशम ॥१९५०॥

एवं मूढमदीया अवंतदोसा करेंति जे कालं ।
ते देवदुब्भगत्तं मायामोसेण पावंति ॥१९५१॥

'एवं मूढमदीया' एव मूढबुद्धयो अनपास्तदोषा ये काल कुर्वन्ति ते देवदुर्भगता प्राप्नुवन्ति मायया ॥१९५१॥

किंमज्झ णिरुच्छाहा हवंति जे सव्वसंघकज्जेसु ।
ते देवसमिदिबज्झा कप्पंते हुंति सुरमिच्छा ॥१९५२॥

'किं मज्झणिरुच्छाहा' किं मह्यमिति ये सर्वसघकार्येष्वनादृतास्ते देवसमितिबाह्या कल्पानामन्ते सुरम्लेच्छा भवन्ति ॥१९५२॥

गा०—उनकी परिग्रहकी तृष्णा कभी तृप्त नही होती। अज्ञानमे डूबे रहते है। गृहस्थोंके आरम्भमें फँसे होते हैं, शब्द, रस, रूप, गन्ध और स्पर्शमे ममत्वभाव रखते हैं ॥१९४८॥

गा०—परलोककी चिन्ता नहीं करते। इसी लोक सम्बन्धी कार्यो मे लगे रहते है। स्वाध्याय आदिमे उद्यम नही करते। उनकी मति संक्लेशमय होती है ॥१९४९॥

गा०—सदा मूलगुणों और उत्तरगुणोंमे अतिचार लगाते हैं। इससे उनके चारित्रमोहका क्षयोपशम नही होता ॥१९५०॥

गा०—इस प्रकार दोषोंको दूर न करनेवाले वे मूढबुद्धि जब मरते हैं तो मायाचारके कारण अभागे देव होते हैं ॥१९५१॥

गा०—वे मुनि अवस्थामे 'मुझे इससे क्या' ऐसा मानकर संघके सब कार्योंमें अनादर

---

१. दा वडिया –आ०। २. तपः पतिताः आ०। आस्रवघटि मु०।

कंदप्पभावणाए देवा कंदप्पिया भवा होंति ।
खिब्भिसयभावणाए कालगदा होंति खिब्भिसया ॥१९५३॥
अभिजोगभावणाए कालगदा आभिजोगिया हुंति ।
तह आसुरीए जुत्ता हवंति देवा असुरकाया ॥१९५४।
सम्मोहणाए कालं करित्तु दुंदुगा सुरा हुंति ।
अण्णंपि देवदुग्गइ उवयंति विराधया मरणे ॥१९५५॥

स्पष्टार्थमुत्तरगाथात्रय ॥१९५३॥१९५४॥१९५५॥

इय जे विराधयित्ता मरणे असमाधिणा मरेज्जण्ह ।
तं तेसि बालमरणं होइ फलं तस्स पुव्वुत्तं ॥१९५६॥

'इय जे विराधयित्ता' एव ये रत्नत्रयं विनाश्य मरणकाले असमाधिना मृतिमुपयान्ति तत्तेषां बालमरण भवति । तस्य बालमरणस्य फलं पूर्वमुक्तमेव ॥१९५६॥

जे सम्मत्तं खवया विराधयित्ता पुणो मरेज्जण्हू ।
ते भवणवासिजोदिसभोमेज्जा वा सुरा होंति ॥१९५७॥

'जे सम्मत्त खवगा' ये क्षपका सम्यक्त्वं विनाश्य म्रियन्ते भवनवासिनो ज्योतिष्का व्यन्तरा वा भवन्ति ॥१९५७॥

दंसणणाणविहूणा तदो चुदा दुक्खवेदणुम्मीए ।
संसारमण्डलगदा भमंति भवसागरे मूढा ॥१९५८॥

भाव रखनेके कारण देवोकी समितिसे बहिष्कृत सौधर्मादि कल्पोके अन्तमे बसनेवाले चाण्डाल जातिके देव होते हैं ॥१९५२॥

गा०—कन्दर्प भावनासे मरकर कन्दर्प जातिके देव होते हैं। किल्विषभावनासे मरकर किल्विषक जातिके देव होते हैं ॥१९५३॥

गा०—आभियोग्य भावनासे मरकर आभियोग्य जातिके देव होते हैं। तथा आसुरी भावनासे मरकर असुर जातिके देव होते हैं ॥१९५४॥

गा०—सम्मोहन भावनासे मरकर दुंदुग जातिके देव होते है। अन्य भी विराधना करके मरनेवाले मुनि देवगतिमें हीन देव होते हैं ॥१९५५॥

गा०—इस प्रकार जो क्षपक मरते समय रत्नत्रयको नष्ट करके असमाधिपूर्वक मरते हैं उनका वह मरण बालमरण होता है और उस बालमरणका फल पूर्वमें कहा है ॥१९५६॥

गा०—जो क्षपक सम्यक्त्वको नष्ट करके मरते है वे मरकर भवनवासी, व्यन्तर या ज्योतिषीदेव होते हैं ॥१९५७॥

गा०—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे रहित वे मूढ़देव स्वर्गसे च्युत होकर दुःखकी वेदनारूपी लहरोंसे भरे संसारसमुद्रमें भ्रमण करते हैं ॥१९५८॥

'दंसणणाणविहीणा' सम्यग्दर्शनज्ञानहीनास्तत. स्वर्गाच्च्युता दुःखवेदनोर्मिके भवसागरे मूढा भ्रमन्ति, संसारमण्डलं गता' ॥१९५८॥

जो मिच्छत्तं गंतूण किण्हलेस्सादिपरिणदो मरदि ।
तल्लेस्सो सो जायइ जल्लेस्सो कुणदि सो कालं ॥१९५९॥

'जो मिच्छत्त गंतूण' यः कृष्णलेश्यादिपरिणतो मिथ्यात्व गत्वा म्रियते तल्लेश्यो जायते । परत्र च यल्लेश्यः काल कृतवान् । फलसि ॥१९५९॥

विजहणा निरूप्यते—

एवं कालगदस्स दु सरीरमंतोव्व होज्ज बाहिं वा ।
विज्जावच्चकरा तं सयं विकिंचंति जदणाए ॥१९६०॥

'एवं कालगदस्य' एवं कालगतस्य शरीरमन्तर्बहिर्वावस्थितं वैयावृत्यकरा स्वयमेवापनयन्ति यत्नेन ॥१९६०॥

समणाणं ठिदिकप्पो वासावासे तहेव उडुबंधे ।
पडिलिहिदव्वा णियमा णिसीहिया सव्वसाधूहिं ॥१९६१॥

'समणाण ठिदिकप्पो' श्रमणाना स्थितिकल्पो वर्षावासे ऋतुप्रारम्भे च नियमेन सर्वै साधुभिर्निषीधिका नियमेन प्रतिलेखनीया ॥१९६१॥

तस्या लक्षणमाचष्टे—

एगंता सालोगा णादिविकिट्ठा ण चावि आसण्णा ।
वित्थिण्णा विद्धत्ता णिसीहिया दूरमागाढा ॥१९६२॥

गा०—जो क्षपक मिथ्यादृष्टि होकर कृष्ण आदि लेश्याके साथ मरता है वह जिस लेश्याके साथ मरता है उसी लेश्यावाला होकर जन्म लेता है ॥१५५९॥

गा०—इस प्रकार नगर आदिके मध्यमे या नगरसे बाहर मरणको प्राप्त उस क्षपकके शरीरको वैयावृत्य करनेवाले परिचारक मुनि स्वय ही सावधानतापूर्वक हटा देते है ॥१९६०॥

गा०—वर्षा ऋतुके चार मासोमे एक स्थानपर वास प्रारम्भ करते समय और ऋतुके प्रारम्भमें सब साधुओको नियमसे निषोधिकाकी प्रतिलेखना करना चाहिये, यह साधुओका स्थितिकल्प है ॥१९६१॥

विशेषार्थ—मुमुक्षु साधुगण तो अपने शरीरमें भी निरीह होते हैं वे मृत क्षपकके शरीरको हटानेका प्रयत्न क्यो करते हैं ? ऐसी शका होनेपर आचार्य उत्तर देते है कि पूर्वमे साधुओके जो दस स्थितिकल्पोंका कथन किया है, उसमें एक मास और पज्जोसवण कल्प भी है । उसके अनुसार जब साधु वर्षा योग धारण करते है या ऋतुका प्रारम्भ होता है तब उन्हे निषीधिका दर्शन करना आवश्यक होता है । जहाँ क्षपकके शरीरको स्थापित किया जाता है उस स्थानको निषीधिका कहते हैं । इसलिये निषद्याका दर्शन साधुओका आवश्यक कर्तव्य होनेसे मुमुक्षु साधु निषद्याके निर्माणके लिये स्वयं प्रयत्न करते है ॥१९६१॥

'एगंता सालोगा' एकाता परैः प्रायेणादृश्यमा नातिदूरा नात्यासन्ना विस्तीर्णा विध्वस्ता दूरमवगाढा ।।१९६२।।

[1]अविसुय असुसिर अघसा सा उज्जोवा बहुसमा असिणिद्धा ।
णिज्जंतुगा [2]अरहिदा [3]अविला य तहा अणाबाधा ।।१९६३।।
जा अवरदक्खिणाए व दक्खिणाए व अहव अवराए ।
वसधीदो [4]विरइज्जइ णिसीधिया सा पसत्थत्ति ।।१९६४।।

'जा अवरदक्खिणाए' अपरदक्षिणाशायां, दक्षिणस्या, अपरस्यां वा दिशि वसतितः निषीधिका प्रशस्ता ।।१९६३।।१९६४।।

सव्वसमाधी पढमाए दक्खिणाए दु भत्तमो सुलभं ।
अवराए सुविहारो होदि य से उवधिलाभो य ।।१९६५।।

'सव्वसमाधी पढमाए' सर्वेषा समाधिर्भवति 'पढमाए' अपरदक्षिणदिगवस्थितायां निषीधिकायां, दक्षिणदिगवस्थितायामाहार सुलभ । पश्चिमाया सुखविहार उपकरणलाभश्च ।।१९६५।।

जदि तेसिं वाघादो दट्ठव्वा पुव्वदक्खिणा होइ ।
अवरुत्तरा य पुव्वा उदीचिपुव्वुत्तरा कमसो ।।१९६६।।

'जदि तासि वाघादो' यदि ता निषीधिका न लभ्यन्ते, पूर्वदक्षिणनिषीधिका द्रष्टव्या, अपरोत्तरा वा पूर्वा वा उदीची वा पूर्वोत्तरा वा क्रमेण ।।१९६६।।

निषधाका लक्षण कहते हैं—

गा०—निषीधिका एकान्त स्थानमे होना चाहिये जहाँ दूसरे लोग उसे न देख सकते हो। नगर आदिसे न अति दूर और न अति निकट होनी चाहिये। विस्तीर्ण होनी चाहिये। प्रासुक होनी चाहिये तथा अतिदृढ होनी चाहिये ।।१९६२।।

गा०—वह चीटियोसे रहित होनी चाहिये। अन्दर प्रवेश कराने वाले छिद्रोंसे रहित होनी चाहिये। प्रकाशवाली होनी चाहिये। समभूमि होनी चाहिये। गीली नही होनी चाहिये, जन्तु रहित होनी चाहिये। तिरछे छिद्रवाली नहीं होनी चाहिये तथा बाधारहित होनी चाहिये ।।१९६३।।

गा०—तथा वह निषीधिका क्षपकके स्थानसे पश्चिम-दक्षिण दिशामे या दक्षिण दिशामें या पश्चिम दिशामे हो तो उत्तम होती है ।।१९६४।।

गा०—यदि निषीधिका पश्चिम-दक्षिण दिशामे हो तो सर्व संघको समाधिलाभ होता है। यदि दक्षिण दिशामे हो तो सघको आहार लाभ सुलभ होता है। यदि पश्चिम दिशामें हो तो संघका विहार सुखपूर्वक होता है तथा उपकरणोका लाभ होता है ।।१९६५।।

गा०—यदि उक्त दिशाओंमें निषीधिका निर्माणमे बाधा हो तो क्रमश. पूर्व दक्षिणमे, पश्चिम-उत्तरमें, पूरबमें या उत्तरमें या पूर्वोत्तरमें होना चाहिये ।।१९६६।।

---

१ एता टीकाकारो नेच्छति। अतिसुइ—आ०, अभिसुआ—मु०। २. अहुरिदा मु०। ३. अचला आ०। ४. उवणिज्जइ आ०; वण्णिजदि —मु०।

एदासु फलं कमसो जाणेज्ज तुमंतुमा य कलहो य ।
भेदो य गिलाणं पि य चरिमा पुण कड्ढदे अण्णं ॥१९६७॥

'एदासु' एतासु निषीधिकासु फलं क्रमशो विजानीयात् । **'तुमंतुमा य'** पूर्वदक्षिणस्या स्पर्द्धा अपरोत्तरस्यां कलहः, पूर्वस्यां भेदः उदीच्यां व्याधिः, पूर्वोत्तरस्यां अन्योन्येनापकृष्यते ॥१९६७॥

जं वेलं कालगदो भिक्खू तं वेलमेव णीहरणं ।
जग्गणबंधणछेदणविधी अवेलाए कादव्वा ॥१९६८॥

'जं वेलं कालगदो भिक्खू तं वेलमेव णीहरणं' यस्या वेलाया मृतो भिक्षु तस्या वेलायामेवापनयनं कर्तव्य, अवेलाया मृतश्चेत् जागरणं बन्धन छेदनं वा कर्तव्यं ॥१९६८॥

के जागरण कुर्वन्तीत्याचष्टे—

बाले वुड्ढे सीसे तवस्सिभीरुगिलाणए दुहिदे ।
आयरिए य विकिंचिय धीरा जग्गंति जिदणिद्दा ॥१९६९॥

'बाले वुड्ढे' बालवृद्धान्, शिक्षकान्, तपस्विनः, भीरून्, व्याधितान्, दुःखितानाचार्यांश्च अपाकृत्य धीरा जितनिद्रा जागरणं कुर्वन्ति ॥१९६९॥

के बध्नन्तीत्याचष्टे—

गीदत्था कदकरणा महाबलपरक्कमा महासत्ता ।
बंधंति य छिंदंति य करचरणंगुट्ठयपदेसे ॥१९७०॥

गा०—किन्तु पूर्व-दक्षिण दिशामे होनेसे 'मैं ऐसा हूँ, तुम ऐसे हो', इत्यादि रूप संघर्ष होता है। पश्चिमोत्तर दिशामें होनेसे कलह होता है। पूर्व दिशामे होनेसे संघमे भेद पड़ता है। उत्तर दिशामे होनेसे व्याधि होती है। पूर्वोत्तर दिशामे होनेसे परस्परमें खींचातानी होती है। यह क्रमसे उक्त दिशाओमे निषद्या बनानेका फल है ॥१९६७॥

विशेषार्थ—पं० आशाधर जीने अपनी टीकामे लिखा है कि पूर्वोत्तर दिशामे निषद्या करनेसे दूसरे मुनिकी मृत्यु होती है ॥१९६७॥

गा०—जिस समय साधु मरे उसी समय उसे वहाँसे हटा देना चाहिये। यदि असमयमे मरा हो तो जागरण, बन्धन या छेदन करना चाहिये ॥१९६८॥

जागरण कौन करते हैं यह कहते है—

गा०—बालमुनि, वृद्ध मुनि, शिक्षक मुनि, तपस्वी मुनि, डरपोक मुनि, रोगी मुनि और दुखित हृदय आचार्यों के सिवाय निन्द्रा को जीतनेवाले धीर मुनि जागरण करते हैं ॥१९६९॥

बाँधते कौन हैं, यह कहते हैं—

गा०—जो मुनि गृहीतार्थ होते हैं, जिन्होंने अनेक बार क्षपकोंका कर्म किया है, महाबल-

'गीदत्था' गृहीतार्थाः, कृतकरणा महाबलपराक्रमा महासत्त्वा बध्नन्ति छिन्दन्ति च करचरणं अङ्गुष्ठ-प्रदेशं वा ।।१९७०।।

एवमकरणे को दोष इत्याशङ्कायां दोषमाचष्टे—

जदि वा एस ण कीरेज्ज विधि तो तत्थ देवदा कोई ।
आदाय तं कलेवरमुट्ठिज्ज रमिज्ज बाधेज्ज ।।१९७१।।

'जदि वा एस' यद्येष विधिर्न क्रियते कदाचिद्देवता क्रीडनशीला मृतकमादाय उत्तिष्ठेत् प्रधावेद्रमेत वा बाधयेद्वा तद्दर्शनात् बालादीनां चित्तसंक्षोभः पलायनं मरणं वा भवेत् ।।१९७१।।

[1]उयसयपडिदावण्णं उवण्णगहिदं तु तत्थ उवकरणं ।
सागारियं च दुविहं परिहारियमपरिहरियं वा ।।१९७२।।
जदि विक्खादा भत्तपइण्णा अज्जा व होज्ज कालगदा ।
देउलसागारित्ति व सिवियाकरणं पि तो होज्ज ।।१९७३।।

'जइ विक्खादा भत्तपविण्णा' यदि सर्वजनप्रकटा सल्लेखना आर्यिका वा भवेत् कालगता स्थानरक्षका गृहस्था वा तत्र शिविका कर्तव्या ।।१९७२।।१९७३।।

तेण परं संठाविय संथारगदं च तत्थ बंधित्ता ।
उट्ठंतरक्खणट्ठं गामं तत्तो सिरं किच्चा ।।१९७४।।

तेन पर संस्थाप्य तेन मृतकेन संस्तरबन्धात्ततो मृतकबन्धनं कृत्वा ग्रामाभिमुखं शिरः कृत्वा उत्थान-रक्षणार्थं ।।१९७४।।

शाली, महापराक्रमी, महासत्त्वशाली वे मुनि मृतकके हाथ, पैर या अगूठेको बाँधते या छेदते हैं ।।१९७०।।

ऐसा नही करनेमें दोष कहते है—

गा०—यदि यह विधि न की जाये तो कोई मनो-विनोदी देवता मृतकको उठाकर दौड सकता है, क्रीडा कर सकता है, बाधा पहुँचा सकता है और उसे देखकर बालक आदि का चित्त चचल हो सकता है, वे डरकर भाग सकते हैं और उनका मरण भी हो सकता है ।।१९७१।।

क्षपकके उपचारके लिये उपकरणोंके प्रकार बतलाते हैं—

गा०—कुछ उपकरण तो वसतिकासे सम्बद्ध होते है। कुछ उपकरण गृहस्थ सम्बन्धी होते है। उनमेसे कुछ त्याज्य होते हैं और कुछ त्यागने योग्य नही हैं ।।१९७२।।

अब आर्यिकाओंकी संन्यास विधि कहते हैं—

गा०—यदि भक्त प्रतिज्ञा मरण करने वाली विख्यात आर्यिका हो या कोई गृहस्था हो या स्थान की रक्षिका हो तो उसके लिये शिविका बनाना चाहिये ।।१९७३।।

गा०—शिविका बनानेके पश्चात् उसके शवको शिविकामे रखकर संस्तरके साथ उसे

---

१. एता टीकाकारो नेच्छति ।

[1]पुव्वाभोगिय मग्गेण आसु गच्छंति तं समादाय ।
अट्ठिदमणियत्तंता य पिट्ठदो अणिब्भंता ॥१९७५॥

[2]'पुव्वाभोगियमग्गेण' पूर्वालोकितेन मार्गेण आशु गच्छन्ति तत्समादाय अस्थितं अनिवर्तमाना पृष्टत आलोकन मुक्त्वा ॥१९७५॥

कुसमुट्ठिं घेत्तूण य पुरदो एगेण होइ गंतव्वं ।
अट्ठिदअणियत्तंतेण पिट्ठदो लोयणं मुच्चा ॥१९७६॥

'कुसमुट्ठिं घेत्तूण' कुशमुष्टिं गृहीत्वा पुरस्तादेकेन गन्तव्य, अस्थित अनिवर्तमानेन अपृष्ठावलोकिना ॥१९७६॥

तेण कुसमुट्ठिधाराए अव्वोच्छिण्णाए समणिपादाए ।
संथारो कादव्वो सव्वत्थ समो सगि तत्थ ॥१९७७॥

'तेण कुसमुट्ठिधाराए' तेन पुरस्ताद्गतेन पूर्वनिरूपितनिषीधिकास्थाने कुशमुष्टिधारया अव्युच्छिन्नया समनिपातया सवत्र सम' सस्तर कार्य सकृत्तत्र ॥१९७७॥

जत्थ ण होज्ज तणाइं चुण्णेहिं वि तत्थ केसरेहिं वा ॥
संथरिदव्वा लेहा सव्वत्थ समा अवुच्छिण्णा ॥१९७८॥

'जत्थ ण होज्ज तणाइं' यत्र न लभ्यन्ते कुशतृणानि तत्र चूर्णैर्वा केसरैर्वा सस्तर कार्यं सर्वत्र समोऽव्युच्छिन्न ॥१९७८॥

बाँध देना चाहिये जिससे वह उठ न सके। उसका सिर गाँवकी ओर रहना चाहिये ॥१९७४॥

गा०—उस शिविकाको लेकर पहले देखे हुए मार्गसे शीघ्र जाते हैं। न तो मार्गमें रुकते है और न पीछेकी ओर देखते हैं ॥१९७५॥

गा०—उसके आगे एक मुट्ठीमे कुश लेकर कोई मनुष्य जाना चाहिये। उसको भी न तो मार्ग मे रुकना चाहिये और न पीछे देखना चाहिये ॥१९७६॥

गा०—उस आगे गये पुरुषको पहलेसे देखे गये निषीधिकाके स्थानमे जाकर लगातार मुट्ठीसे एक समान कुश डालते हुए एक सस्तर बनाना चाहिये जो सर्वत्र सम हो ॥१९७७॥

गा०—जहाँ कुश न मिलते हों वहाँ प्रासुक चावल आदिके चूर्णसे अथवा प्रासुक केसरसे सस्तर बनाना चाहिये जो सर्वत्र सम हो ॥१९७८॥

विशेषार्थ—गाथामे 'लेहा' पाठ है उसका अर्थ रेखा होता है। अतः आशाधर जीने उसका यह अर्थ किया है कि चूर्ण या केसरसे मस्तकसे लेकर पैर तक समान रेखा बनाना चाहिये। हमारी समझके अनुसार यह वह क्रिया है जिसे चौक पूरना कहते हैं। जो सर्वत्र शुभ क्रियामे किया जाता है ॥१९७८॥

१-२. पुव्वालोगिय -आ०।

असमत्वे दोषमाचष्टे—

जदि विसमो संथारो उवरिं मज्झे व होज्ज हेट्ठा वा ।
मरणं गिलाणयं वा गणिवसभजदीण णायव्वा ॥१९७९॥

'**जदि विसमो संथारो**' यदि विषमः संस्तर उपरिष्टात् मध्ये अधस्ताद्वा । उपरिवैषम्ये गणिनो मरणं व्याधिर्वा, मध्ये विषमश्चेत् वृषभस्य मरणं व्याधिर्वा, अधस्ताद्विषमत्वे यतीनां मरण व्याधिर्वा ॥१९७९॥

जत्तो दिसाए गामो तत्तो सीसं करित्तु सोवधियं ।
उट्ठंतरक्खणट्ठं वोसरिदव्वं सरीरं तं ॥१९८०॥

'**जत्तो दिसाए गामो**' यस्यां दिशि ग्राम ततः शिरः कृत्वा सपिच्छकं शरीर व्युत्स्रष्टव्य, उत्थानरक्षणार्थं ग्रामादिगमभिमुखतया शिरोरचना ॥१९८०॥

उपकरणस्थापनाया तत्र गुणमाचष्टे—

जो वि विराधिय दंसणमंते कालं करित्तु होज्ज सुरो ।
सो वि विबुज्झदि दट्ठूण सदेहं सोवधिं सज्जो ॥१९८१॥

'**जो वि विराधिय**' योऽपि दर्शन विनाश्यान्ते कालगतस्सुरो भवेत् सोऽपि जानाति सोपकरण स्वदेहं दृष्ट्वा प्रागहं संयत इति ॥१९८१॥

णत्ता भाए रिक्खे जदि कालगदो सिवं तु [1]सव्वेसिं ।
[2]एक्को दु समे खेत्ते दिवड्ढखेत्ते मरंति दुवे ॥१९८२॥

सस्तरेके विषम होनेपर दोष कहते हैं—

गा०—यदि संस्तर ऊपर मध्यमें या नीचे विषम होता है तो ऊपरमें विषम होनेपर आचार्य का मरण या उन्हे रोग होता है। मध्यमे विषम होनेपर एलाचार्यका मरण या उन्हे रोग होता है। और नीचे पैरके पास विषम होनेपर अन्य साधुओंका मरण या उन्हे रोग होता है ॥१९७९॥

विशेषार्थ—आशाधर जी ने लिखा है कि उक्त व्याख्यान टीकाकारोंका है। किन्तु टिप्पणकमे कहा है—ऊपरमें विषम होनेपर गणिका मरण होता है। मध्यमे विषम होनेपर एलाचार्यको रोग होता है और नीचेमें विषम होने पर साधुओको रोग होता है ॥१९७९॥

गा०—जिस दिशामें ग्राम हो, उस ओर सिर करके पीछीके साथ उस शवको रख देना चाहिये। शवके उठनेके भयसे उसका सिर गाँवकी ओर किया जाता है ॥१९८०॥

उपकरण (पीछी) स्थापित करनेके गुण कहते हैं—

गा०—जो सम्यक्त्वकी विराधना करके मरकर देव होता है वह भी पीछीके साथ अपना शरीर (शव) देखकर ही यह जान लेता है कि मै भी पूर्वभवमे संयमी था ॥१५८१॥

गा०—अल्पनक्षत्रमें यदि क्षपकका मरण होता है तो सबका कल्याण होता है। यदि

---

१ सव्वेहिं—अ० आ०। २. एक्को दु सो मरिज्ज वसे दिहदषु क्खित्ते मरिंति दुधो—आ०।

[1]सदभिसभरणा अद्दा सादा असलेस्स जिट्ठ अवरवरा ।
रोहिणिविसाहपुणव्वसु तिउत्तरा मज्झिमा सेसा ॥१९८३॥

'अत्ता भाणे रिक्खे' अल्पनक्षत्रे यदि क्षपकः कालं गतः सर्वेभ्यः शिवं भवति, मध्यमनक्षत्रे यदि मृतः अन्येष्वेको मृतिमुपैति, महानक्षत्रे यदि मृतो द्वयोर्भवति मरणं ॥१९८२–१९८३॥

गणरक्खणत्थं तम्हा तणमयपडिबिंबयं खु कादूण ।
एक्कं तु समे खेत्ते दिवड्ढखेत्ते दुवे देज्ज ॥१९८४॥

'गणरक्खणत्थं' गणरक्षणार्थं तस्मात्तृणमयं प्रतिबिम्बकं कृत्वा मध्यमनक्षत्रे एकं दद्यात् । उत्तमनक्षत्रे प्रतिबिम्बद्वयं ॥१९८४॥

प्रतिबिम्बदानमाचष्टे—

तट्ठाणसावणं चिय तिक्खुत्तो ठविय मडयपासम्मि ।
विदियवियप्पिय भिक्खू कुज्जा तह विदियतदियाणं ॥१९८५॥

'तट्ठाणसावण' मृतकपार्श्वे तत्प्रतिबिम्बं स्थाप्य त्रिकमुच्चैर्घोषयेत्, तस्मिन्स्थाने द्वितीयोऽर्पित इति एकार्पणेऽयं क्रमः । द्वयोः प्रतिबिम्बयोरर्पणे द्वितीयतृतीयौ दत्ताविति त्रिः श्रावयेत् ॥१९८५॥

मध्यम नक्षत्रमें मरण होता है तो शेष साधुओंमेंसे एकका मरण होता है। यदि महानक्षत्रमे मरण होता है तो दो का मरण होता है ॥१९८२॥

गा०—शतभिषा, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा, ज्येष्ठा ये जघन्य नक्षत्र है। रोहिणी, विशाखा, पुनर्वसु, उत्तरा फाल्गुनी, उत्तरा भाद्रपद, उत्तराषाढा ये उत्कृष्ट नक्षत्र है। शेष नक्षत्र मध्यम है ॥१९८३॥

विशेषार्थ—पं० आशाधर जी ने कहा है, अल्प नक्षत्रसे मतलब है जो पन्द्रह मुहूर्त तक रहते हैं। ऐसे शतभिषक्, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा, ज्येष्ठा इन छहमेंसे एक नक्षत्र या उसके अंशमें मरण होनेपर सबका कल्याण होता है। जो नक्षत्र तीस मुहूर्त तक रहते हैं ऐसे अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा, पूर्वफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा, मूल, पूर्वाषाढा, श्रवण, धनिष्ठा, पूर्वभाद्रपद, रेवती, इनमेसे किसी एक नक्षत्र या उसके अशमे मरण होनेपर एक अन्य मुनिकी भी मृत्यु होती है। जो नक्षत्र पैंतालीस मुहूर्त तक रहते है ऐसे उत्तर फाल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तरा भाद्रपदा, पुनर्वसु, रोहिणी, विशाखामेसे किसी एक नक्षत्र या उसके अशमे मरण होनेपर दो अन्य मुनियोंकी भी मृत्यु होती है ॥१९८३॥

गा०—इस लिये संघकी रक्षाके अभिप्रायसे तृणोंका पुतला बनाकर यदि मध्यम नक्षत्रमें मरण हुआ है तो उसके साथ एक पुतला देवे। यदि उत्तम नक्षत्रमें मरण हुआ तो उसके साथ दो पुतले देवें ॥१९८४॥

गा०–टी०—मृतकके पासमे उस पुतलेको स्थापित करके तीन बार उच्च स्वरसे घोषणा करे कि मैंने उस दूसरेके स्थानमे यह दूसरा स्थापित किया है। जिसके स्थानमें यह पुतला स्थापित

---

१. एषा गाथा नास्ति 'आ०' प्रतौ।

असदि तणे चुण्णेहिं च केसरच्छारिट्ठियादिचुण्णेहिं ।
कादव्वोथ ककारो उवरिं हिट्ठा [1]यकारो से ॥१९८६॥

'असदि तणे' प्रतिबिम्बकरणार्थमसति तृणे चूर्णैः पुष्पकेसरैर्वा भस्मना इष्टकाचूर्णैर्वा उपरि ककारं लिखित्वा तस्याधस्तात् [2]तकारं कुर्यात् [3]क्त इति लिखेदित्यर्थः ॥१९८६॥

उवगहिदं उवकरणं हवेज्ज जं तत्थ पाडिहरियं तु ।
पडिबोधित्ता सम्मं अप्पेदव्वं तयं तेसिं ॥१९८७॥

'उवगहिदं उवकरणं' मृतकशयने यद्गृहीतमुपकरणं वस्त्रकाष्ठादिकं गृहस्थयाञ्चां कृत्वा तत्रोपकरेण यत्प्रतिनिवर्तनीय वस्त्रादिकं तत्पाडिहारिकमित्युच्यते । तदर्पयितव्यं तेषां गृहस्थानां सम्यक्प्रतिबोध्य ॥१९८७॥

आराधणपत्तीयं काउसग्गं करेदि तो संघो ।
अधिउत्ताए इच्छागारं खवयस्स वसधीए ॥१९८८॥

'आराधणपत्तीयं' आराधनास्माकमित्येवं यथा स्यादिति संघः कायोत्सर्गं करोति, क्षपकस्य वसतौ अधियुक्तदेवतां प्रति इच्छाकारः कार्यः युष्माकमिच्छया संघोऽत्रासितुमिच्छतीति ॥१९८८॥

सगणत्थे कालगदे खमणमसज्झाइयं च तद्दिवसं ।
ण [4]ज्झाइ परगणत्थे भयणिज्जं खमणकरणंपि ॥१९८९॥

'सगणत्थे कालगदे' आत्मीयगणस्थे यतौ कालं गते उपवासः कार्यः स्वाध्यायश्च न कर्तव्यस्तस्मिन्

किया है वह चिरकाल तक जीवित रहकर तपस्या करे। यह एक पुतला देनेका विधान है। दो पुतले स्थापित करने पर तीन वार घोषणा करे कि मैने दूसरा और तीसरा पुतला स्थापित किया है। ये दोनो जिनके बदलेमे स्थापित किये है वे दोनों साधु चिरकाल तक जीवित रहकर तप करे ॥१९८५॥

गा०—यदि पुतला बनानेके लिये तृण न हो तो ईंट पत्थर आदिके चूर्णसे अथवा, केशर, क्षार वगैरहसे ऊपर ककार लिखकर उसके नीचे तकार लिखे। इस प्रकार 'क्त' अक्षर लिखे ॥१९८६॥

गा०-टी०—मृतककी शय्याके निर्माणके लिये गृहस्थोंसे जो वस्त्र काष्ठ आदि लिया गया हो, उनमेंसे जो लौटा देने योग्य हो उसे पाडिहारिक कहते हैं। उस पाडिहारिकको गृहस्थोंको सम्यक् रीतिसे समझा बुझाकर लौटा देना चाहिये ॥१९८७॥

गा०—हमें भी इसी प्रकार आराधनाकी प्राप्ति हो इस भावनासे संघ एक कायोत्सर्ग करे। तथा क्षपककी वसतिकाकी जो अधिष्ठात्री देवता हो उसके प्रति इच्छाकार करे कि आपकी इच्छासे संघ इस स्थानपर बैठना चाहता है ॥१९८८॥

गा०-टी०—अपने संघके साधुका स्वर्गवास होनेपर उस दिन उपवास करना चाहिये और

१-२. य कारो आ० मु० । ३. त काय इति –आ० मु० । ४. सज्झाइ –मु० ।

दिने। परगणस्थे कालं गते पठन्ति उपवासकरणमपि भाज्यं। अन्ये तु पठन्ति, 'ण सज्झाइ परगणत्थे' न स्वाध्यायः कर्तव्यः परगणस्थे मृते उपवासकरणीयं भाज्यमिति तेषा व्याख्या ॥१९८९॥

एवं पडिट्ठविता पुणो वि तदियदिवसे उवेक्खंति ।
संघस्स सुहविहारं तस्स गदी चेव णादुं जे ॥१९९०॥

'एवं पडिट्ठविता' उक्तेन क्रमेण क्षपकशरीरं प्रतिष्ठाप्य पुनस्तृतीये दिवसे गत्वा पश्यन्ति, संघस्य सुखविहारं तस्य च गतिं ज्ञातुं ॥१९९०॥

जदि दिवसे संचिट्ठदि तमणालद्धं च अक्खदं मडयं ।
तदिवासाणि सुभिक्खं खेमसिवं तम्हि रज्जम्मि ॥१९९१॥

'जदि दिवसे' यावन्तो दिवसाः न वृकादिभिरस्पृष्टमक्षत च तन्मृतक 'तदिवासाणि' तावन्ति वर्षाणि सुभिक्ष क्षेम शिव च तस्मिन् राज्ये ॥१९९१॥

जं वा दिसमुवणीदं सरीरयं खगचदुप्पदगणेहिं ।
खेमं सिवं सुभिक्खं विहरिज्जो तदुदिसं संघो ॥१९९२॥

'जं वा दिसमुवणीदं' या वा दिशमुपनीतं शरीरं पक्षिभिश्चतुष्पदैर्वा ता दिशं संघो विहरेत् क्षेमादिक तत्र ज्ञात्वा ॥१९९२॥

जदि तस्स उत्तमंगं दिस्सदि दंता च उवरिगिरिसिहरे ।
कम्ममलविप्पमुक्को सिद्धिं पत्तोत्ति णादव्वो ॥१९९३॥

'जदि तस्स उत्तमंगं' यदि तस्य शिरो दृश्यते दन्ता वा गिरिशिखरस्योपरि कर्ममलविप्रमुक्त. सिद्धिमसौ प्राप्त इति ज्ञातव्य ॥१९९३॥

स्वाध्याय नही करना चाहिये। दूसरे संघके साधुका मरण होनेपर स्वाध्याय तो नही ही करना चाहिये। उपवास कर भी सकते हैं, नही भी करते। अन्य ऐसा पढ़ते हैं कि दूसरे संघके साधुका मरण होनेपर स्वाध्याय करना चाहिये। उपवास कर भी सकते हैं नही भी करते ॥१९८९॥

गा०—उक्त प्रकारसे क्षपकका शरीर स्थापित करके तीसरे दिन जाकर देखते हैं कि संघका विहार सुखपूर्वक होगा या नही। तथा मृतककी गति अच्छी हुई या बुरी ॥१९९०॥

गा०—जितने दिनो तक वह शव गीदड़ आदिसे सुरक्षित रहता है उतने वर्षों तक उस राज्यमें सुभिक्ष और शान्ति रहती है ॥१९९१॥

गा०—अथवा पक्षी और पशुओके द्वारा वह शरीर जिस दिशामें ले जाया गया हो क्षेम-सुभिक्ष आदि जानकर उसी दिशामे संघको विहार करना चाहिये ॥१९९२॥

गा०—यदि उसका सिर और दांत पर्वतके शिखरके ऊपर दिखाई दे तो वह मुक्तिको प्राप्त हुआ है, ऐसा जानना चाहिये ॥१९९३॥

१. न स्वा —आ० मु०।

वेमाणिओ थलगदो समम्मि जो दिसि य वाणविंतरओ ।
गड्डाए भवणवासी एस गदी से समासेण ॥१९९४॥

'वेमाणिओ थलगदो' वैमानिको देवो जात उत्तमभूमिस्थे उत्तमाङ्गे, समभूमिदेशे यदि दृश्यते ज्योतिष्को व्यन्तरो जातः, गर्ते यदि दृश्यते भवनवासी देवो जातः, एषा गतिस्तस्य संक्षेपेण निरूपिता । विजहणत्ति सूत्रपदं गतं । विजहणा ॥१९९४॥

आराधकस्तवनमुत्तरं ते सूरा भगवंतो—

ते सूरा भयवंतो आइच्चइदूण संघमज्झम्मि ।
आराधणापडाया चउप्पयारा धिदा जेहिं ॥१९९५॥

'ते सूरा भगवंतः आइच्चइदूण' प्रतिज्ञा कृत्वा संघमध्ये चतुष्प्रकाराराधना पताका यैरागृहीता ॥१९९५॥

ते धण्णा ते णाणी लद्धो लाभो य तेहिं सव्वेहिं ।
आराधणा भयवदी पडिवण्णा जेहिं संपुण्णा ॥१९९६॥

'ते धण्णा' पुण्यवन्तः । ते ज्ञानिनः, ते लब्धलाभा, सर्वेभ्यो यैराराधना भगवती सपूर्णा प्रतिपन्ना ॥१९९६॥

किं णाम तेहिं लोगे महाणुभावेहिं हुज्ज ण य पत्तं ।
आराधणा भगवदी सयला आराधिदा जेहिं ॥१९९७॥

'किं णाम तेहिं लोगे' किंनाम तैर्लोके महानुभागैरप्राप्तं यैराराधिता सकला आराधना भगवती ॥१९९७॥

विशेषार्थ—आशाधरजी ने 'कर्ममल विप्रमुक्त' का अर्थ मिथ्यात्व आदि स्तोक कर्मो से मुक्त किया है । तथा लिखा है कि जयनन्दिके टिप्पणमें 'सिद्धि' का अर्थ सवार्थसिद्धि किया है । किन्तु प्राकृतटीकामे सिद्धिका अर्थ निर्वाण किया है ॥१९९३॥

गा०-टी०—यदि मृतकका मस्तक उन्नत भूमिभागमे दिखाई दे तो वह मरकर वैमानिक देव हुआ जानना । यदि सम भूमिभागमें दिखाई दे तो वह ज्योतिष्क देव या व्यन्तर हुआ जानना । यदि गढ़ेमे दिखाई दे तो वह भवनवासी देव हुआ जानना । इस प्रकार यह उसकी गति सक्षेपमें कही है ॥१९९४॥

आगे आराधक क्षपकका स्तवन करते हैं—

गा०—जिन्होंने संघके मध्यमें प्रतिज्ञा करके चार प्रकारकी आराधना रूप पताकाको ग्रहण किया वे शूरवीर और पूज्य हैं ॥१९९५॥

गा०—जिन्होने भगवती आराधनाको सम्पूर्ण किया वे पुण्यशाली और ज्ञानी है और उन्होंने जो प्राप्त करने योग्य था उसे प्राप्त कर लिया ॥१९९६॥

गा०—जिन्होंने सम्पूर्ण भगवती आराधनाका आराधन किया उन महानुभावोंने लोकमे क्या प्राप्त नही किया ॥१९९७॥

निर्यापकस्तवनमुत्तर—

ते वि य महाणुभावा धण्णा जेहिं च तस्स खवयस्स ।
सव्वादरसत्तीए उवविहिदाराधणा सयला ॥१९९८॥

'ते वि य महाणुभावा' तेऽपि च महाभागा धन्या यैस्तथा तस्य क्षपकस्य सर्वादरेण शक्त्या च सकलाराधना उपविहिता ॥१९९८॥

निर्यापकाना फलमाचष्टे—

जो उवविधेदि सव्वादरेण आराधणं खु अण्णस्स ।
संपज्जदि णिविग्घा सयला आराधणा तस्स ॥१९९९॥

'जो उवविधेदि' यो ढौकयति सर्वादरेण अन्यस्याराधना तस्य आराधना सकला निर्विघ्ना संपद्यते ॥१९९९॥

ये क्षपकप्रेक्षणाय यान्ति तानपि स्तौति—

ते वि कदत्था धण्णा य हुति जे पावकम्ममलहरणे ।
ण्हायंति खवयतित्थे सव्वादरभत्तिसंजुत्ता ॥२०००॥

'ते वि कदत्था' तेऽपि कृतार्था धन्याश्च भवन्ति ये क्षपकतीर्थे पापकर्ममलापहरणे सर्वादराभियुक्ता स्नान्ति ॥२०००॥

क्षपकस्य तीर्थतां व्याचष्टे—

गिरिणदियादिपदेसा तित्थाणि तवोधणेहिं जदि उसिदा ।
तित्थं कधं ण हुज्जो तवगुणरासी सयं खवउ ॥२००१॥

आगे निर्यापककी प्रशसा करते है—

गा०—वे महानुभाव भी धन्य हैं जिन्होंने सम्पूर्ण आदर और शक्तिसे उस क्षपककी आराधना सम्पन्न की ॥१९९८॥

निर्यापकोंको प्राप्त होनेवाले फलको कहते हैं—

गा०—जो निर्यापक सम्पूर्ण आदरके साथ अन्यकी आराधना कराता है—उसकी समस्त आराधना निर्विघ्न पूर्ण होती है ॥१९९९॥

जो क्षपकको देखने जाते है उनकी भी प्रशसा करते हैं—

गा०-टी०—क्षपक एक तीर्थ है क्योकि संसारसे पार उतारनेमे निमित्त है। उसमे स्नान करनेसे पापकर्म रूपी मल दूर होता है। अत जो दर्शक समस्त आदर भक्तिके साथ उस महातीर्थमें स्नान करते है वे भी कृतकृत्य होते है तथा वे भी सौभाग्यशाली हैं ॥२०००॥

क्षपकके तीर्थ होनेका समर्थन करते हैं—

गा०—यदि तपस्वियोके द्वारा सेवित पहाड़ नदी आदि प्रदेश तीर्थ होते है तो तपस्यारूप गुणोकी राशि क्षपक स्वयं तीर्थ क्यो नहीं है ॥२००१॥

'गिरिणदियादिपदेसा' गिरिनद्यादिप्रदेशा यदि तपोधनैरुषितानि तीर्थानि तीर्थं स्वयं कथं न भवेत् क्षपकस्तपोगुणराशिः ॥२००१॥

पुव्वरिसीणं पडिमाओ वंदमाणस्स होइ जदि पुण्णं ।
खवयस्स वंदओ किह पुण्णं विउलं ण पाविज्ज ॥२००२॥

'पुव्वरिसीणं पडिमाउ' पूर्वेषां ऋषीणां प्रतिमा वंदमानस्य यदि पुण्यं भवति क्षपके वन्दनोद्यतः कथं विपुल पुण्य न प्राप्नुयात् ॥२००२॥

जो ओलग्गदि आराधयं सदा तिव्वभत्तिसंजुत्तो ।
संपज्जदि णिव्विग्घा तस्स वि आराहणा सयला ॥२००३॥

'जो ओलग्गदि आराधयं' यस्सेवते आराधक सदा तीव्रभक्तिसयुक्त, संपद्यते निर्विघ्ना तस्याप्याराधना सकला ॥२००३॥

सविचारभत्तवोसरणमेवमुववण्णिदं सवित्थारं ।
अविचारभत्तपच्चक्खाणं एत्तो परं वुच्छं ॥२००४॥

'सविचारभत्तवोसरण' सविचारभक्तप्रत्याख्यानमेवमुपवर्णितं सविस्तर अविचारभक्तप्रत्याख्यानं अतः पर प्रवक्ष्यामि ॥२००४॥

तत्थ अविचारभत्तपइण्णा मरणम्मि होइ आगाढो ।
अपरक्कम्मस्स मुणिणो कालम्मि असंपुहुत्तम्मि ॥२००५॥

'तत्थ अविचारभत्तपविण्णा' अविचारभक्तप्रत्याख्यानं सहसोपस्थिते मरणे भवति । अपराक्रमस्य यतेः सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्य काले असति ॥२००५॥

तत्थ पढम णिरुद्धं णिरुद्धतरयं तहा हवे विदियं ।
तदियं परमणिरुद्धं एवं तिविधं अवीचारं ॥२००६॥

'तत्थ पढमं णिरुद्ध' तत्र अवीचारभक्तप्रत्याख्याने प्रथमं निरुद्ध, द्वितीयं निरुद्धतरक, तृतीय परम-निरुद्ध एव त्रिविधमवीचारभक्तप्रत्याख्यान ॥२००६॥

गा०—यदि प्राचीन ऋषियोंकी प्रतिमाओंकी वन्दना करनेवालेको पुण्य होता है तो क्षपक की वन्दना करने वालोंको विपुल पुण्य क्यों नहीं प्राप्त होगा ॥२००२॥

गा०—जो तीव्र भक्तिपूर्वक क्षपककी सेवा करता है उसकी भी सम्पूर्ण आराधना सफल होती है ॥२००३॥

गा०—इस प्रकार विस्तारसे विचारपूर्वक किये गये भक्तप्रत्याख्यानका कथन किया । आगे अविचार भक्तप्रत्याख्यानका कथन करते हैं ॥२००४॥

गा०—जब विचार पूर्वक भक्तप्रत्याख्यान करनेका समय न रहे, और सहसा मरण उपस्थित हो जाये तो कुछ करनेमें असमर्थ मुनि अविचार भक्त प्रत्याख्यान स्वीकार करता है ॥२००५॥

गा०—अविचार भक्तप्रत्याख्यानके तीन भेद हैं—प्रथम निरुद्ध, दूसरा निरुद्धतर और तीसरा परमनिरुद्ध ॥२००६॥

निरुद्धमेवंभूतस्य भवतीत्याचष्टे—

तस्स णिरुद्धं भणिदं रोगादंकेहिं जो समभिभूदो ।
जंघाबलपरिहीणो परगणगमणम्मि ण समत्थो ।।२००७।।

'तस्स णिरुद्धं भणिदं' तस्य निरुद्धमुक्त रोगेण आतङ्केन वा यस्समभिभूत. जङ्घाबलपरिहीनो वा परगणगमनासमर्थो य ।।२००७।।

जावय बलविरियं से सो विहरदि ताव णिप्पडीयारो ।
पच्छा विहरदि पडिजग्गिज्जंतो तेण सगणेण ।।२००८।।

'जावय बलविरियं' यावद्बलवीर्यं चास्ति । **'से'** तस्य । **'सो विहरति'** स तावद्गणे प्रवर्तते निष्प्रतीकार. यदा शक्तिस्तीव्रम्यूना तदा पश्चाद्विहरति तेन स्वगणेन क्रियमाणोपकार ।।२००८।।

इय सण्णिरुद्धमरणं भणियं अणिहारिमं अवीचारं ।
सो चेव जधाजोग्गं पुव्वुत्तविधी हवदि तस्स ।।२००९।।

'इय सण्णिरुद्धमरण भणिदं' एव सन्निरुद्धमरण भणित, जङ्घाबलपरिहीनतया व्याध्यभिभवेन वा स्वस्मिन्गणे निरुद्धो यस्तस्य मरण निरुद्धमरणं । **'अणिहारिमं'** सविचारभक्तप्रत्याख्यानोक्तपरित्यागाभावात्, परित्यागहीन अनियतविहारादिविधिविचारणाभावादवीचार । आत्मीय एव गणे आचार्यस्य समीपे प्रव्रज्यातीचार उक्त्वा निन्दागर्हापरः कृतप्रतिक्रम. कृतप्रायश्चित्तो यावद्वीर्यमस्ति तावन्निष्प्रतीकारो विहरति, यदा हीनसर्वचेष्टस्तदा परैरनुगृह्यमाणो विहरति ।।२००९।।

निरुद्ध किसके होता है, यह कहते हैं—

गा०—जो रोगसे ग्रस्त है, पैरोमें चलनेकी शक्ति न होनेसे दूसरे सघमे जानेमे असमर्थ है उसके निरुद्ध नामक अविचार प्रत्याख्यान होता है ।।२००७।।

गा०—जबतक उसमे शक्ति रहती है तबतक वह अपने संघमे रहते हुए किसीसे परिचर्या नही कराता । पीछे शक्तिहीन होनेपर अपने संघके द्वारा परिचर्या कराता हुआ विहरता है ।।२००८।।

गा०-टी०—पैरोमें चलनेकी शक्ति न होनेसे तथा रोगसे ग्रस्त होनेके कारण जो अपने ही सघमे निरुद्ध है—रुका है उसके मरणको निरुद्धमरण कहते हैं । इस प्रकार निरुद्धमरणका स्वरूप कहा है । सविचार भक्तप्रत्याख्यानमें जिस प्रकार संघ आदिका त्याग किया जाता है वह इसमें संभव न होनेसे यह मरण परित्यागसे रहित है । और इसमें अनियत विहार आदि विधिका विचार न होनेसे यह अवीचार है । अर्थात् अपने ही संघमें आचार्यके समीपमें दीक्षा लेकर उनसे अपने दोष कहकर अपनी निन्दा और गर्हा करता है, प्रतिक्रमण करता है, प्रायश्चित्त लेता है । और जब तक शक्ति रहती है तब तक दूसरेकी सहायताके बिना अपनी आराधना करता है । जब शक्ति अत्यन्त हीन हो जाती है तब दूसरोंसे सहायता लेकर अपनी आराधनाओंका पालन करता है ।।२००९।।

दुविधं तं पि अणीहारिमं पगासं च अप्पगासं च ।
जणणादं च पगासं इदरं च जणेण अण्णादं ॥२०१०॥

'दुविधं तं पि अणीहारिमं' द्विविधं तदपि अणीहारसंज्ञितं भक्तप्रत्याख्यानं प्रकाशरूपमप्रकाशरूपमिति। ज्ञातं प्रकाशरूपमितरदप्रकाशात्मकं ॥२०१०॥

खवयस्स चित्तसारं खित्तं कालं पडुच्च सजणं वा ।
अण्णम्मि य तारिसयम्मि कारणे अप्पगासं तु ॥२०११॥

'खवगस्स चित्तसारं' क्षपकस्य बुद्धि, बलं, क्षेत्रं, कालं, स्वजनं वा प्रतिपद्य अन्यस्मिन्वा तादृशे कारणे जाते अप्रकाशभक्तप्रत्याख्यानं, यदि क्षपकः क्षुदादिपरीषहासहः, वसतिर्वा अविविक्ता, कालो वा अतिरूक्षो, बधवो वा यदि परित्यागविघ्नं कुर्वन्ति न प्रकाशः कार्यः । निरुद्धं गदं ॥२०११॥

निरुद्धतरगं व्याचष्टे—

वालग्गिवग्घमहिसगयरिंछपडिणीय तेण मिच्छेहिं ।
मुच्छाविसूचियादीहिं होज्ज सज्जो हु वावत्ती ॥२०१२॥

'वालग्गिवग्घमहिस' व्यालेनाग्निना, व्याघ्रेण, महिषेण, गजेन, ऋक्षेण, शत्रुणा, स्तेनेन, म्लेच्छेन, मूर्च्छया, विसूचिकादिभिर्वा सद्यो व्यापत्तिर्भवेत् ॥२०१२॥

जाव ण वाया क्खियदि बलं च विरियं च जाव कायम्मि ।
तिव्वाए वेदणाए जाव य चित्तं ण विक्खित्तं ॥२०१३॥

'जाव ण वाया खियदि' यावद्वाग्न विनश्यति बलं वीर्यं च यावदस्ति काये तीव्रया वेदनया यावच्चित्तं न व्याक्षिप्तं भवति तावत् ॥२०१३॥

गा०-टी०—वह अनिहार नामक भक्तप्रत्याख्यान, जिसमें अपना संघ नहीं छोड़ा जाता है, और इसीलिये जिसे स्वगणस्थ भी कहा जाता है, दो प्रकार है—एक प्रकाशरूप और दूसरा अप्रकाशरूप। जो लोगोके द्वारा ज्ञात होता है वह प्रकाशरूप है और जिसकी लोगोंको खबर नहीं होती, वह अप्रकाशरूप है ॥२०१०॥

गा०-टी०—क्षपकके मनोबल, क्षेत्र, काल अथवा स्वजन तथा इस प्रकारके अन्य कारणके होनेपर उसे दृष्टिमें रखकर अप्रकट भक्तप्रत्याख्यान होता है। अर्थात् यदि क्षपक भूख प्यास आदिकी परीषह सहनेमें असमर्थ होता है, या, वसति एकान्तमें नही होती, या ग्रीष्म आदि ऋतु होती हैं, या परिवारके लोग विघ्न कर सकते हैं तो समाधिको प्रकट नहीं किया जाता ॥२०११॥

अब निरुद्ध समाधिकी विधि कहते हैं—

गा०—सर्प, आग, व्याघ्र, भैंसा, हाथी, रीछ, शत्रु, चोर, म्लेच्छ, मूर्छा या विसूचिका आदि रोगसे तत्काल यदि मरण उपस्थित हो ॥२०१२॥

गा०—तो जब तक बोली बन्द न हो, जब तक शरीरमें बल और शक्ति रहे, और जब तक तीव्र वेदनाके कारण चित्त व्याकुल न हो ॥२०१३॥

णच्चा संवट्टिज्जंतमाउगं सिग्घमेव तो भिक्खू ।
गणियादीणं सण्णिहिदाणं आलोचए सम्मं ॥२०१४॥

'**णच्चा संवट्टिज्जंतं आउगं**' ज्ञात्वा संह्रियमाणमायु. शीघ्रमेव ततो भिक्षुराचार्यादीना सन्निहितानामालोचना सम्यक् कुर्यात् रत्नत्रयाराधनायां परिणत । व्युत्सृजेत् वसति, सस्तरमाहारमुपधि शरीरं परिचारकान्, बलवीर्य हानेः परगणगमनासमर्थाः [1]'निरुद्धा' प्रदेशाः प्रकर्षेण निरुद्धतरक इत्युच्यते ॥२०१४॥

एवं णिरुद्धदरयं बिदियं अणिहारिमं अवीचारं ।
सो चेव जधाजोगं पुव्वुत्तविधी हवदि तस्स ॥२०१५॥

स्पष्टार्थगाथा । निरुद्धरं ॥२०१५॥

वालादिएहिं जइया अक्खित्ता होज्ज भिक्खुणो वाया ।
तइया परमणिरुद्धं भणिदं मरणं अवीचारं ॥२०१६॥

'**वालादिएहिं**' व्यालादिभि' पूर्वोक्तै' यदोपद्रुतस्य वाग्विनष्टा तदा परिमनिरुद्धमरण । वाग्निरोधोऽत्र परमशब्देनोच्यते ॥२०१६॥

णच्चा संवट्टिज्जंतमाउगं सिग्घमेव तो भिक्खू ।
अरहंतसिद्धसाहूण अंतिगं सिग्घमालोचे ॥२०१७॥

'**णच्चा संविट्टिज्जंतं आउगं**' ज्ञात्वोपसंह्रियमाणमायु अर्हता सिद्धाना साधूना चान्तिके शीघ्र मालोचनाः कुर्यात् ॥२०१७॥

गा०—साधु, अपनी आयुको शीघ्र ही समाप्त होती हुई जानकर जो निकटवर्ती आचार्य आदि हो, उनके सन्मुख अपने दोषोकी सम्यक्रूपमे आलोचना करे । तथा रत्नत्रयकी आराधनामे तत्पर होता हुआ वसति, संस्तर, आहार, उपधि, शरीर और परिचारकोसे ममत्वका त्याग कर दे । बल और वीर्यके क्षीण होनेसे जिनके प्रदेश अन्य सघमे जानेमे अत्यन्त असमर्थ होते है उन्हे निरुद्धतरक कहते हैं ॥२०१४॥

गा०—इस प्रकार विहार रहित अत्यन्त निरोध रूप अविचार भक्तप्रत्याख्यानके दूसरे भेद निरुद्धतरका कथन किया । पूर्वमे भक्त प्रत्याख्यानकी जो विधि कही है वही विधि यथायोग्य यहाँ भी जानना ॥२०१५॥

गा०—जब पूर्वोक्त सर्प आदिसे डसे जानेके कारण क्षपककी वाणी नष्ट हो जाती है, वह बोल नही सकता तब उसके परम निरुद्ध नामक अविचार भक्तप्रत्याख्यान होता है । यहाँ परम शब्दसे वाणीका रुकना कहा है ॥२०१६॥

गा०—तब वह साधु शीघ्र ही अपनी आयुको समाप्त होती हुई जान अर्हन्तो, सिद्धो और साधुजनोंके पासमें तत्काल आलोचना करे ॥२०१७॥

---

१. द्धा प्रदेश प्रकर्षेण निरुद्ध इति निरुद्धतरक इत्युच्यते —अ० ।

आराधणाविधी जो पुव्वं उववण्णिदो सवित्थारो ।
सो चेव जुज्जमाणो एत्थ विही होदि णादव्वो ॥२०१८॥

'आराधणाविधी' आराधनाया विधेर्यः पूर्वं विस्तारो व्यावर्णितः स एवात्रापि युज्यमानो ज्ञातव्यः ॥२०१८॥

एवं आसुक्कारमरणे वि सिज्झंति केइ धुदकम्मा ।
आराधयित्तु केई देवा वेमाणिया होंति ॥२०१९॥

'एवं आसुक्कारमरणे वि' एव सहसा मरणेऽपि सिध्यन्ति विधुतकर्मसंहतय. । केचिदाराध्य वैमानिका देवा भवन्ति ॥२०१९॥

आराधणाए तत्थ दु कालस्स बहुत्तणं ण हु पमाणं ।
बहवो मुहुत्तमत्ता संसारमहण्णवं तिण्णा ॥२०२०॥

कथमल्पेन कालेन निर्वृतिर्माभ्यैत्याशङ्का न कार्येति वदति—'आराधणाए तत्थ दु', तस्यामाराधनायां कालस्य बहुत्वं न प्रमाण । बहवो मुहूर्तमात्रेणाराध्य संसारमहार्णव तीर्णाः ॥२०२०॥

खणमेत्तेण अणादियमिच्छादिट्ठी वि वड्ढणो राया ।
उसहस्स पादमूले संबुज्झित्ता गदो सिद्धिं ॥२०२१॥

'खणमेत्तेण' क्षणमात्रेणानादिमिथ्यादृष्टिरपि वर्द्धननामधेयो राजा ऋषभस्य पादमूले संबुद्धो गतः सिद्धिं ॥२०२१॥

[1]सोलसतित्थयराणं तित्थुप्पण्णस्स पढमदिवसम्मि ।
सामण्णणाणसिद्धी भिण्णमुहुत्तेण संपण्णा ॥२०२२॥

परमणिगद ॥२०२२॥

गा०—पूर्वमे जो आराधनाकी विधि विस्तार पूर्वक कही है वही यहाँ भी यथायोग्य जानना ॥२०१८॥

गा०—इस प्रकार सहसा मरण होनेपर भी कोई-कोई मुनि कर्मोंको नाश करके मुक्त होते हैं और कोई आराधना करके वैमानिक देव होते हैं ॥२०१९॥

गा०—थोडे ही समयमे मोक्ष कैसे हो सकता है ऐसी आशका नहीं करनी चाहिये; क्योकि आराधनामे कालका बहुतपना प्रमाण नही है । बहुतसे मुनि एक मुहूर्त मात्रमे आराधना करके संसारसमुद्रको पार कर गये हैं ॥२०२०॥

गा०—अनादि मिथ्यादृष्टि भी वर्द्धन नामका राजा भगवान् ऋषभदेवके पादमूलमे बोध को प्राप्त होकर मोक्षको गया ॥२०२१॥

गा०—भगवान् ऋषभदेवसे शान्तिनाथ तीर्थंकर पर्यन्त सोलह तीर्थंकरोंके तीर्थकी उत्पत्ति होनेके प्रथम दिन ही बहुतसे साधु दीक्षा लेकर एक अन्तमुहूर्तमे केवलज्ञानको प्राप्तकर मुक्त हुए ॥२०२२॥

---

१ एतां टीकाकारो नेच्छति ।

एसा भत्तपइण्णा वाससमासेण वण्णिदा विधिणा ।
इत्तो इंगिणिमरणं वाससमासेण वण्णेसिं ॥२०२३॥

'एसा भत्तपविण्णा' एतद्भक्तप्रत्याख्यानं व्यासेन संक्षेपेण च वर्णित । अत ऊर्ध्वं सांन्यासि-कमिंगिणीमरणं व्याससमासाभ्या वर्णयिष्यामि ॥२०२३॥

जो भत्तपदिण्णाए उवक्कमो वण्णिदो सवित्थारो ।
सो चेव जधाजोग्गं उवक्कमो इंगिणीए वि ॥२०२४॥

'जो भत्तपविण्णाए' यो भक्तप्रत्याख्यानस्य उपक्रमो व्यावर्णित सविस्तार स एव यथासभवमुपक्रमो इंगिणीमरणेऽपि ॥२०२४॥

पव्वज्जाए सुद्धो उवसंपज्जित्तु लिंगकप्पं च ।
पवयणमोगाहित्ता विणयसमाधीए विहरित्ता ॥२०२५॥

'पव्वज्जाए सुद्धो' प्रव्रज्याया शुद्धो दीक्षाग्रहणयोग्य इत्यर्थ । एतेन अर्हता निरूपिता । **'उव-संपज्जित्तु'** प्रतिपद्य । **'लिंगकप्पं च'** योग्यं लिङ्ग **'लिंगं'** इत्यनेन सूचितम् । **'पवयणमोगाहित्ता'** श्रुतमवगाह्य एतेन शिक्षा उपन्यस्ता । **'विणयसमाधीए विहरित्ता'** विनयसमाधौ विहृत्य ॥२०२५॥

णिप्पादित्ता सगणं इंगिणिविधिसाधणाए परिणमिया ।
सिदिमारुहित्तु भाविय अप्पाणं सल्लिहित्ताणं ॥२०२६॥

'णिप्पादित्ता सगणं' योग्यं कृत्वा स्वगणं । इंगिणीविधिसाधनाय परिणतो भूत्वा, **'सिदिमारुहित्तु'** परिणामश्रेणिमारुह्य । **'भाविय'** भावना प्रतिपद्य । **'अप्पाणं सल्लिहित्ताणं'** आत्मान सलेख्य ॥२०२६॥

गा०—इस भक्तप्रत्याख्यानका विस्तार और संक्षेपसे विधिपूर्वक कथन किया। आगे इंगिनीमरण का विस्तार और संक्षेपसे वर्णन करेंगे ॥२०२३॥

गा०—जो भक्त प्रत्याख्यानकी विधि विस्तारसे कही है वही विधि इंगिनीमरणकी यथा-योग्य जाननी चाहिये ॥२०२४॥

वही विधि कहते हैं—

गा०—जो दीक्षा ग्रहणके योग्य है वह निर्ग्रन्थ लिंग धारण करके श्रुतका अभ्यास करे तथा विनय और समाधिमें विहार करे ॥२०२५॥

विशेषार्थ—दीक्षा ग्रहण योग्यसे अर्हताका कथन किया है, लिंगसे लिंगकी सूचना की है। और श्रुताभ्याससे शिक्षाका ग्रहण किया है। इस प्रकार भक्तप्रत्याख्यानमें जो कहा था उसीको यहाँ कहा है ॥२०२५॥

गा०—अपने संघको इंगिणीमरणकी विधिकी साधनामें योग्य करके अपने चित्तमें यह निश्चय करे कि मैं इंगिणीमरणको साधना करूँगा। फिर शुभ परिणामोंकी श्रेणि पर आरोहण करके तप आदिकी भावना करे और अपने शरीर और कषायोको कृश करे ॥२०२६॥

परियाइगमालोचिय अणुजाणित्ता दिसं महजणस्स ।
तिविधेण खमावित्ता सबालवुड्ढाउलं गच्छं ॥२०२७॥

'**परियाइगमालोचिय**' क्रमेण रत्नत्रयाचारमालोच्य । '**अणुजाणित्ता**' अनुज्ञाय । '**दिसं**' गणधरं । '**महजणस्स**' महाजनस्य चतुर्विधसंघस्येत्यर्थः । '**तिविधेण खमावित्ता**' त्रिविधेन क्षमां ग्राहयित्वा । सबालवृद्धाकुलं गच्छं ॥२०२७॥

अणुसट्ठिं दादूण य आवज्जीवाय विप्पओगच्छी ।
अब्भदिगजादहासो णीदि गणादो गुणसमग्गो ॥२०२८॥

'**अणुसट्ठिं दादूण य**' शिक्षां दत्वा गणपतेर्गणस्य च । '**आवज्जीवाय विप्पओगच्छी**' यावज्जीवं विप्रयोगार्थी । '**अब्भदिगजादहासो**' कृतार्थोऽस्मीति जातहर्षः । '**णीदि गणादो**' निर्याति यतिगणात् । '**गुणसमग्गो**' संपूर्णगुणः ॥२०२८॥

एवं च णिक्कमित्ता अंतो बाहिं व थंडिले जोगे ।
पुढवीसिलामए वा अप्पाणं णिज्जवे एक्को ॥२०२९॥

'**एवं च णिक्कमित्ता**' एव विनिष्क्रम्य । '**थंडिले जोगे**' समे समुन्नते कठिने जीवरहिततया योग्ये । '**अंतो बाहिं व**' अन्तर्बहिर्वा । '**पुढवीसिलामए वा**' पृथ्वीसंस्तरे शिलामये वा । '**अप्पाणं णिज्जवे एक्को**' आत्मानं निर्वयेद् देहसहायः[1] ॥२०२९॥

पुव्वुत्ताणि तणाणि य जाचित्ता थंडिलम्मि पुव्वुत्ते ।
जदणाए संथरित्ता उत्तरसिरमधव पुव्वसिरं ॥२०३०॥

'**पुव्वुत्ताणि तणाणि य**' पूर्वोक्तानि तृणानि निस्सन्धि निःछिद्रजंतुरहितानि शरीरस्थितिसाधनमात्राणि मृदूनि प्रतिलेखनायोग्यानि ग्रामं नगरं वा प्रविश्य याच्ञया गृहीतानि पूर्वोक्ते स्थण्डिले कोऽसौ सालंकः

गा०—रत्नत्रयमें लगे दोषोंकी क्रमसे आलोचना करे और अपने स्थान पर अन्य आचार्यकी स्थापना करके उन्हें सब बतला दे। तथा चतुर्विध वृद्ध मुनियोंसे भरे अपने गच्छको शिक्षा देकर जीवनपर्यन्तके लिये संघसे अलग होनेकी इच्छा करता हुआ प्रसन्न होता है कि मैं कृतार्थ हुआ और इस प्रकार वह सम्पूर्ण गुणोंसे विशिष्ट होकर मुनिसंघसे चला जाता है ॥२०२७-२८॥

गा०—इस प्रकार संघसे निकलकर गुफा आदिके अन्दर या बाहर जीवरहित तथा समान रूपसे ऊँचे कठिन भूमिप्रदेशमें पृथ्वीरूप संस्तर पर या शिलामय संस्तर पर एकाकी आश्रय लेता है। अपने शरीरके सिवाय उसका अन्य कोई सहायक नहीं होता ॥२०२९॥

गा०-टी०—वह गाँव या नगरमें जाकर तृणोंकी याचना करता है जो तृण छिद्ररहित, जन्तुरहित, कोमल तथा शरीरकी स्थितिके लिये साधन मात्र और प्रतिलेखनाके योग्य होने चाहियें उन तृणोंको वह उक्त भूमि प्रदेश पर प्रतिलेखनापूर्वक सावधानतासे पृथक्-पृथक् करके

---

१. येवसहायः आ० मु० ।

विस्तीर्णो विध्वस्त. असुषिरोऽबिलः निर्जन्तुकस्तस्मिन्स्थण्डिले । 'जवणाए सथरित्ता' यत्नेन संस्तरं कृत्वा । यत्न. ? तृणानां पृथक्करणं संस्तरभूमिप्रतिलेखन, 'उत्तरसिरमथव पुव्वसिरं संथारं संथरित्ता य' पूर्वोत्त-माङ्गमुत्तरोत्तमाङ्गं वा संस्तरं संस्तीर्य शिर:प्रभृति कार्यं पादौ च यत्नेन प्रमार्ज्य ॥२०३०॥

पाचीणाभिमुहो वा उदीचिहुत्तो व तत्थ सो ठिच्चा ।
सीसे कदंजलिपुडो भावेण विसुद्धलेस्सेण ॥२०३१॥

'**पाचीणाभिमुखो वा उदीचिहुत्तो व तत्थ सो ठिच्चा**' प्राङ्मुखो उदङ्मुखो वा भूत्वा तत्र सस्तरे सस्थित्वा । '**सीसे कदंजलिपुडो**' मस्तके न्यस्तकृताञ्जलि. । '**भावेण विसुद्धलेस्सेण**' विशुद्धलेश्यासमन्वितेन भावेन ॥२०३१॥

अरहादिअंतियं सो किच्चा आलोचणं सुपरिसुद्धं ।
दंसणणाणचरित्तं परिसारेदूण णिस्सेसं ॥२०३२॥

'**अरहादिअंतियं**' अर्हदाद्यन्तिकं । '**सो**' पश्चात् आलोचनां कृत्वा **सुपरिसुद्धं** '**दंसणणाणचरित्तं पडिसारेदूण**' दर्शनज्ञानचारित्राणि संस्कृत्य निरवशेष ॥२०३२॥

सव्वं आहारविधिं जावज्जीवाय वोसरित्ताणं ।
वोसरिदूण असेसं अब्भंतरबाहिरे गंथे ॥२०३३॥

सर्वं आहारविधिं सर्वं आहारविकल्प । यावज्जीव परित्यज्य बाह्याभ्यन्तरानशेषान् परिग्रहाश्च त्यक्त्वा ॥२०३३॥

सव्वे विणिज्जिणंतो परीषहे धिदिबलेण संजुत्तो ।
लेस्साए विसुज्झंतो धम्मं ज्झाणं उवणमित्ता ॥२०३४॥

'**सव्वे विणिज्जिणंतो**' सर्वांश्च जयन् परिषहान् धृतिबलसमन्वित लेश्याभिर्विशुद्ध सन् धर्मध्यान प्रतिपद्य ॥२०३४॥

फैला देता है। वह भूमिप्रदेश भी प्रकाश सहित, विस्तीर्ण, छिद्ररहित तथा जन्तुरहित होना चाहिये। उसपर सस्तर ऐसा होना चाहिये जिसमे सिर पूर्वदिशा या उत्तर दिशाकी ओर रहे। तब सिरसे लेकर पैर तक शरीरका सावधानीसे परिमार्जन करके पूरब या उत्तरकी ओर मुख करके उस सस्तर पर बैठता है और हाथोकी अजली बनाकर मस्तकसे लगाता है तथा विशुद्ध लेश्या पूर्वक अर्हन्त आदिके सामने अपने दोषोंकी आलोचना करके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को पूर्ण रूपसे निर्मल करता है ॥२०३०-२०३२॥

गा०—समस्त प्रकारके आहारके विकल्पको जीवनपर्यन्तके लिये त्याग देता है तथा समस्त अभ्यन्तर और बाह्य परिग्रहको त्याग देता है ॥२०३३॥

गा०—धैर्यके बलसे युक्त वह क्षपक सब परीषहोंको जीतता है और लेश्या विशुद्धिसे सम्पन्न हो, धर्मध्यान करता है ॥२०३४॥

ठिच्चा णिसिदित्ता वा तुवट्टिदूण व सकायपडिचरणं ।
सयमेव णिरुवसग्गे कुणदि विहारम्मि सो भयवं ॥२०३५॥
सयमेव अप्पणो सो करेदि आउंटणादि किरियाओ ।
उच्चारादीणि तधा सयमेव विकिंचिदे विधिणा ॥२०३६॥
जाधे पुण उवसग्गा देवा माणुस्सिया व तेरिच्छा ।
ताधे णिप्पडियम्मो ते अधियासेदि [1]विगदभओ ॥२०३७॥
आदितियसुसंघडणो सुभसंठाणो अभिज्जधिदिकवचो ।
जिदकरणो जिदणिद्दो ओघबलो ओघसूरो य ॥२०३८॥

'ठिच्चा' स्थित्वा आसित्वा शयनं वा कृत्वा स्वकायपरिकरं स्वयमेव निरुपसर्गे विहारे करोति । स्वमेवात्मनः करोत्याकुञ्चनादिका क्रिया उच्चारकादिकं च निराकारोऽति प्रतिष्ठापनासमितिसमन्वितः । **'यदि पुण उवसग्गा'** यदा पुनरुपसर्गा दवमनुष्यतिर्यक्कृता भवन्ति तदा निष्प्रतीकारस्तान् सहते विगतभयः । **'आदितियसुसंघडणो'** आद्येषु त्रिषु सहननेषु अन्यतमसंहननः शुभसस्थानोऽभेद्यधृतिकवचो जितकरणो जितनिद्रो महाबलो नितरां शूरः ॥२०३५–२०३८॥

बीभत्थभीमदरिसणविगुव्विदा भूदरक्खसपिसाया ।
खोभिज्जो जदि वि तयं तधवि ण सो संभमं कुणइ ॥२०३९॥

'बीभत्थभीमदंसणविगुव्विदा' बीभत्सभीमदर्शनविक्रिया भूतराक्षसपिशाचा यद्यपि क्षोभं कुर्वन्ति तथाप्यसौ न सभ्रमं करोति ॥२०३९॥

इड्ढिमतुलं विउव्विय किण्णरकिंपुरिसदेवकण्णाओ ।
[1]लोलंति जदिवि तगं तधवि ण सो विम्भयं जाई ॥२४०॥

गा०—वह कायोत्सर्गसे स्थित होकर अथवा पर्यङ्कासन आदिसे बैठकर अथवा एक पार्श्वसे शयन करते हुए धर्मध्यान करता है। तथा उपसर्गरहित दशामें स्वयं ही अपने शरीरकी परिचर्या—हाथ-पैरोंका संकोचन, फैलाना आदि करता है। स्वयं ही प्रतिष्ठापना समितिपूर्वक शौच आदि करता है ॥ यदि देवकृत, मनुष्यकृत या तिर्यञ्चकृत उपसर्ग होता है तो उसका प्रतिकार नहीं करता है और निर्भय होकर उसे सहन करता है ॥ क्योंकि उसके आदिके वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच और नाराच नामक तीन शुभ संहननोमेंसे कोई एक सहनन होता है, समचतुरस्र सस्थान होता है। न भेदने योग्य धैर्यरूपी कवच होता है। वह इन्द्रियों और निद्रा पर विजय प्राप्त करता है। महाबली और शूरवीर होता है ॥२०३५–३८॥

गा०—यदि अत्यन्त भयंकर विक्रियाके द्वारा भूत, राक्षस और पिशाच जातिके व्यन्तरदेव उसे डरावें तो भी वह विचलित नहीं होता ॥२०३९॥

१. लालेंति —मूलारा० ।

'इड्ढिमतुलं विगुव्विय' ऋद्धिमतुलां विकृत्य किन्नरकिंपुरुषादिदेवकन्या यद्यप्युपलालनं कुर्वन्ति तदाप्यसौ न विस्मयं याति ॥२०४०॥

सव्वो पोग्गलकाओ दुक्खत्ताए जदिवि तमुवणमेज्ज ।
तघवि य तस्स ण जायदि ज्झाणस्स विसोत्तिया को वि ॥२०४१॥

'सव्वो पोग्गलकाओ' सर्वं पुद्गलद्रव्यं दुःखतया यदि तमभिहन्ति तथापि तस्य न जायते ध्यानस्यान्यथावृत्ति ॥२०४१॥

सव्वो पोग्गलकाओ सोक्खत्ताए जदि वि तमुवणमेज्ज ।
तध वि हु तस्स ण जायदि ज्झाणस्स विसोत्तिया को वि ॥२०४२॥

स्पष्टोत्तरगाथा ॥२०४२॥

सच्चित्ते साहरिदो तत्थ उवेक्खदि वियत्तसव्वंगो ।
उवसग्गे य पसंते जदणाए थंडिलमुवेदि ॥२०४३॥

'सच्चित्ते साहरिदो' व्याघ्रादिभि सचित्ते निक्षिप्त स तत्रैवोपेक्षते त्यक्तसर्वाङ्ग । उपसर्गे प्रशांते यत्नेन स्थण्डिलमुपैति ॥२०४३॥

एवं उवसग्गविधिं परीसहविधिं च सोधिया संतो ।
मणवयणकायगुत्तो सुणिच्छिदो णिज्जिदकसाओ ॥२०४४॥

'एवं उवसग्गविधिं' एवमुपसर्गान् परिषहांश्च सहमानस्त्रिगुप्त. सुनिश्चितो निर्जितकषाय ॥२०४४॥

इहलोए परलोए जीविदमरणे सुहे य दुक्खे य ।
णिप्पडिवद्धो विरहदि जिददुक्खपरिस्समो धिदिमं ॥२०४५॥

गा०—किन्नर किंपुरुष जातिके व्यन्तर देवोकी देवांगनाएँ अतुल ऋद्धिरूप विक्रियाके द्वारा यदि उसे लुभाती हैं तो भी वह उनके लोभमें नही आता ॥२०४०॥

गा०—यदि तीन लोकवर्ती समस्त पुद्गल द्रव्य दुःखरूप परिणत होकर उसे दुःखी करे तब भी वह ध्यानसे विचलित नही होता ॥२०४१॥

गा०—तथा तीन लोकवर्ती समस्त पुद्गलद्रव्य सुखरूप परिणत होकर उसे सुखी करें तब भी वह ध्यानसे विचलित नही होता ॥२०४२॥

गा०—यदि व्याघ्र आदिके द्वारा वह हरित तृणोंसे भरे हुए प्रदेशमें डाल दिया जाता है तो अपने शरीरका मोहत्याग शान्तभावसे वहीं स्थिर रहता है और उपसर्ग दूर होनेपर सावधानता पूर्वक तृणरहित भूमिप्रदेशमें चला आता है ॥२०४३॥

गा०—इस प्रकार उपसर्गों और परीषहोंको सहन करते हुए वह मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्तिका पालन करता है। तथा स्थिरतापूर्वक कषायोंको जीतता है ॥२०४४॥

गा०—दुःख और परिश्रमपर विजय प्राप्त करने वाला वह धीर वीर क्षपक इस लोक,

'इहलोगे परलोगे' इह परत्र च जीविते मरणे सुखे दुःखे च अप्रतिबन्धो विहरति जितदुःखपरिश्रमः धृतिमान् ॥२०४५॥

वायणपरियट्टणपुच्छणाओ मोत्तूण तधय धम्मथुदिं ।
सुत्तत्थपोरिसीसु वि सरेदि सुत्तत्थमेयमणो ॥२०४६॥

'वायणपरियट्टणपुच्छणाओ' वाचनां, परिवर्तनं, प्रश्नं च मुक्त्वा च तथा धर्मोपदेशं सूत्रस्यार्थस्य वा स्मरत्येकचित्त' ॥२०४६॥

एवं अट्ठवि जामे अनुवट्टो तच्च ज्झादि एयमणो ।
जदि आघच्चा णिद्दा हविज्ज सो तत्थ अपदिण्णो ॥२०४७॥

'एवं अट्ठवि जामे' एवमेवाष्टसु यामेषु निरस्तशयनक्रियो ध्यात्येकचित्त', यद्याहृत्य निद्रा भवेत् तत्र अप्रतिज्ञोऽसौ ॥२०४७॥

सज्झायकालपडिलेहणादिकाओ ण संति किरियाओ ।
जम्हा मसाणमज्झे तस्स य झाणं अपडिसिद्धं ॥२०४८॥

'सज्झायका लपडिलेहणादिकाओ' स्वाध्यायकालप्रतिलेखनादिका क्रिया न सन्ति यस्मात् श्मशानमध्येऽपि तस्य ध्यान न प्रतिषिद्ध ॥२०४८॥

आवासगं च कुणदे उवधोकालम्मि जं जहिं कमदि ।
उवकरणंपि पडिलिहइ उवधोकालम्मि जदणाए ॥२०४९॥

'आवासगं च कुणदे' आवश्यकं च करोति कालद्वयेऽपि यस्मिन्काले प्रवर्तते, उपकरणप्रतिलेखनमपि यत्नेन कालद्वये करोति ॥२०४९॥

परलोक, जीवन, मरण, सुख और दुःखमें रागद्वेष रहित होकर विहरता है अर्थात् न जीवन आदिसे राग करता है और मरण आदिसे द्वेष करता है ॥२०४५॥

गा०—स्वाध्यायके पाँच भेदोमेसे वाचना, आम्नाय, पृच्छना और धर्मोपदेशको त्यागकर वह अस्वाध्यायकालमे भी एकाग्रमनसे सूत्रके अर्थका ही अनुचिन्तन करता है । अर्थात् सतत अनुप्रेक्षारूप स्वाध्यायमें ही लीन रहता है ॥२०४६॥

गा०—इस प्रकार वह दिन रातके आठों पहरोमें निद्राको त्यागकर एकाग्र मनसे ध्यान करता है । यदि कभी बलात् निद्रा आ जाती है तो सो लेता है ॥२०४७॥

गा०—अन्य मुनियोंकी तरह न तो उनका स्वाध्यायकाल ही नियत होता है और न उन्हें प्रतिलेखना आदि क्रिया करना ही आवश्यक होता है । उनके लिये श्मशानमें भी ध्यान करना निषिद्ध नहीं है ॥२०४८॥

गा०—किन्तु दिन रातमे जब जो आवश्यक करनेका विधान है वह अवश्य करते हैं और सावधानता पूर्वक दोनों कालोंमें अपने उपकरणोंकी प्रतिलेखना भी करते हैं ॥२०४९॥

सहसा चुक्करकलिदे णिसीधियादीसु मिच्छकारे सो ।
आसिअणिसीधियाओ णिग्गमणपवेसणे कुणइ ॥२०५०॥

'सहसा चुक्करकलिदे' सहसा स्खलने जाते मिथ्या मया कृतमिति ब्रवीति, निष्क्रमणप्रवेशयो आसिकानिषीधिकाशब्दप्रयोगं करोति ॥२०५०॥

पादे कंटयमादिं अच्छिम्मि रजादियं जदावेज्ज ।
गच्छदि अधाविधिं सो परणीहरणे य [1]तुण्हिक्को ॥२०५१॥

'पादे कंटयमादि' पादयो कटकप्रवेशे नेत्रयो रजःप्रभृतिप्रवेशेऽपि तूष्णीमास्ते, परनिराकरणेऽपि स तूष्णीमास्ते ॥२०५१॥

वेउव्वणमाहारयचारणखीरासवादिलद्धीसु ।
तवसा उप्पण्णासु वि विरागभावेण सेवदि सो ॥२०५२॥

'वेउव्वणमाहारय' विक्रियाऋद्धौ आहारकऋद्धौ चारणऋद्धौ क्षीरास्रवादिलब्धिषु वा तपसोत्पन्नास्वपि विरागतया न किंचित्सेवते स ॥२०५२॥

मोणाभिग्गहणिरदो रोगादंकादिवेदणाहेदु ।
ण कुणदि पडिकारं सो तहेव तण्हाछुहादीणं ॥२०५३॥

'मोणाभिग्गहणिरदो' मौनव्रतोपपन्न रोगातङ्कादिवेदनानिमित्तं प्रतीकार न करोति तथैव तृडादीनामपि ॥२०५३॥

उवएसो पुण आइरियाणं इंगिणिगदो वि छिण्णकधो ।
देवेहिं माणुसेहिं व पुट्ठो धम्मं कधेदित्ति ॥२०५४॥

गा०—यदि उसमे क्वचित् चूक जाते हैं तो 'मेरा दोष मिथ्या हो' 'मैने गलत किया' ऐसा बोलते है। तथा बाहर जाने और भीतर प्रवेश करनेपर 'आसही, निसही' शब्दोका उच्चारण भी करते हैं ॥२०५०॥

गा०—यदि पैरमे काँटा घुस जाता है या आँखमे धूल आदि चली जाती है तो चुप रहते है स्वयं उसे दूर नही करते। यदि दूसरा दूर करता है तब भी चुप ही रहते हैं ॥२०५१॥

गा०—यदि तपके प्रभावसे उन्हे बिक्रिया ऋद्धि, आहारक ऋद्धि या चारण ऋद्धि अथवा क्षीरास्रव आदि ऋद्धियाँ प्रकट होती हैं तो विरागी होनेसे उनका किञ्चित् भी सेवन नही करते ॥२०५२॥

गा०—वह मौनका पालन करनेमे लीन रहते है, रोग आदिसे होनेवाले कष्टको दूर करनेका प्रयत्न नही करते। इसी प्रकार भूख प्यास आदिका भी प्रतीकार नही करते ॥२०५३॥

---

१ तुसिणीओ –मु० ।

'उवएसो पुण आइरियाणं' उपदेशः पुनः आचार्याणां इङ्गिणीगतोऽपि धर्मं कथयति देवैर्मनुष्यैर्वा पृष्टः। कथं कथयति छिन्नकथं प्रवर्तनेन महता ॥२०५४॥

एवमधक्खादविधिं साधित्ता इंगिणीं धुदकिलेसा।
सिज्झंति केइ केई हवंति देवा विमाणेसु ॥२०५५॥

'एवमधक्खादविधिं' एवं यथाख्यातक्रमेण इङ्गिणीं प्रसाध्य निरस्तक्लेशाः केचित्सिध्यन्ति, केचिद्वैमानिकदेवा भवन्ति ॥२०५५॥

एदं इंगिणिमरणं वाससमासेण वण्णिदं विधिणा।
पाओगमरणमित्तो समासदो चेव वण्णेसि ॥२०५६॥

स्पष्टार्था गाथा। इङ्गिणी ॥२०५६॥

पाओवगमणमरणस्स होदि सो चेव उवक्कमो सव्वो।
वुत्तो इंगिणिमरणस्सुवक्कमो जो सवित्थारो ॥२०५७॥

स्पष्टार्थं ॥२०५७॥

णवरिं तणसंथारो पाओवगदस्स होदि पडिसिद्धो।
आदपरपओगेण य पडिसिद्धं सव्वपरियम्मं ॥२०५८॥

'णवरि तणसंथारो' णवरं तृणसंस्तरः प्रायोपगमनगतस्य प्रतिषिद्धः, आत्मपरप्रयोगेण यस्मात्प्रतिषिद्धः सर्वः प्रतीकारः। स्वपरसंपाद्यप्रतीकारापेक्षः भक्तप्रत्याख्यानविधिः, परनिरपेक्षमात्मसंपाद्यप्रतीकारमिङ्गिणीमरणं, सर्वप्रतीकाररहितं प्रायोपगमनमित्यमीषां भेदः ॥२०५८॥

गा०—अन्य आचार्योंका मत है कि इंगिणीमरण करते हुए भी क्षपक देवों या मनुष्योंके द्वारा पूछे जानेपर थोड़ासा धर्मोपदेश भी करता है किन्तु अधिक नहीं करता ॥२०५४॥

गा०—इस तरह ऊपर कहे अनुसार इंगिणीमरणकी साधना करके कोई तो समस्त क्लेशोंसे छूटकर मुक्त हो जाते हैं और कोई मरकर वैमानिकदेव होते हैं ॥२०५५॥

गा०—इस इंगिणीमरणका विस्तार और संक्षेपसे विधिपूर्वक कथन किया। आगे प्रायोपगमनका संक्षेपसे कथन करेंगे ॥२०५६॥

गा०—ऊपर इंगिणीमरणकी जो विस्तारसे विधि कही है वही सब विधि प्रायोपगमन मरणकी होती है ॥२०५७॥

गा०—किन्तु इतना विशेष है कि प्रायोपगमनमें तृणोंके संथरेका—तृणशय्याका निषेध है। क्योंकि उसमें स्वयं अपनेसे और दूसरोंसे भी सब प्रकारका प्रतीकार करना कराना निषिद्ध है ॥२०५८॥

टी०—भक्तप्रत्याख्यानमें तो अपनी सेवा स्वयं भी कर सकता है और दूसरोंसे भी करा सकता है। इंगिणीमें अपनी सेवा स्वयं कर सकता है, दूसरोंसे नहीं करा सकता। किन्तु

---

१. छिन्नकथं प्रवर्तितेन—आ०।

सो सल्लेहिददेहो जम्हा पाओवगमणमुवजादि ।
उच्चारादिविकिंचणमवि णत्थि पओगदो तम्हा ॥२०५९॥

'सो सल्लेहिददेहो' स सम्यक्कृशीकृतशरीरो यस्मात्प्रायोपगमनमुपयाति तस्मादुच्चारादिनिराकरणमपि नास्ति प्रयोगतः ॥२०५९॥

पुढवी आऊतेऊवणप्फदितसेसु जदि वि साहरिदो ।
वोसट्ठ चत्तदेहो अधाउगं पालए तत्थ ॥२०६०॥

'पुढवी आऊतेऊवणप्फदितसेसु जदि वि साहरिदो' पृथिव्यादिषु जीवनिकायेषु यद्यपि केनचिदाकृष्ट-स्तथापि व्युत्सृष्टशरीरसंस्कारस्त्यक्तदेहः स्वमायुः पालयेत् ॥२०६०॥

मज्जणयगंधपुप्फोवयारपडिचारणे वि कीरंते ।
वोसट्ठचत्तदेहो अधाउगं पालए तधवि ॥२०६१॥

'मज्जणयगंधपुप्फोवयारपडिचारणे वि कीरंते' यद्यपि कश्चिदभिषेचयेत् गन्धपुष्पादिभिर्वा संस्तुयात् तथापि व्युत्सृष्टत्यक्तशरीरो न रुष्यति न तुष्यति न निवारयति ॥२०६१॥

वोसट्ठचत्तदेहो दु णिक्खिवेज्जो जहिं जधा अंगं ।
जावज्जीवं तु सयं तहिं तमंगं ण चालेदि ॥२०६२॥

'वोसट्ठचत्तदेहो' व्युत्सृष्टत्यक्तशरीरो निक्षिपेत् कश्चिदन्यस्मिन्यथाङ्गं यावज्जीवं स्वयं तस्मिंस्तदङ्गं न चालयति ॥२०६२॥

एवं णिप्पडियम्मं भणंति पाओवगमणमरहंता ।
णियमा अणिहारं तं सिया य णीहारमुवसग्गे ॥२०६३॥

प्रायोपगमनमें अपनी सेवा न स्वयं करता है और न दूसरोंसे कराता है। यही इन तीनोंमें भेद है ॥२०५८॥

गा०—यत जो अपने शरीरको सम्यक्रूपसे कृश करता है अर्थात् अस्थि चर्ममात्र शेष रहता है वही प्रायोपगमन मरण करता है। अत. मल मूत्रके स्वयं या दूसरेके द्वारा त्याग करानेका प्रश्न ही नही रहता ॥२०५९॥

गा०—यदि कोई उन्हें पृथ्वी, जल, तेज, वनस्पति और त्रस आदि जीवनिकायोंमें फेंक देता है तो शरीरसे ममत्व त्यागकर अपनी आयुके समाप्त होने तक वही पडे रहते हैं ॥२०६०॥

गा०—यदि कोई उनका अभिषेक करे या गन्ध पुष्प आदिसे पूजा करे तब भी शरीरसे ममत्व त्यागकर न रोष करते है, न प्रसन्न होते हैं और न उसे ऐसा करनेसे रोकते है ॥२०६१॥

गा०—शरीरसे ममत्वका त्याग करने वाला वह प्रायोपगमनका धारी क्षपक जिस क्षेत्रमें जिस प्रकारसे शरीरका कोई अंग रखा गया हो, उसको वैसा ही पडा रहने देता है, स्वयं अपने अंगको हिलाता डुलाता नहीं है ॥२०६२॥

गा०—इस प्रकार अरहंतदेव प्रायोपगमनको स्व और परकृत प्रतीकारसे रहित कहते है।

'एवं णिप्पडिकारं' एवं स्वपरकृतप्रतीकाररहितं प्रायोपगमनं भिन्न वदन्ति, निश्चयेन तत्प्रायोपगमन-मनीहारमचलं स्याच्चलमपि उपसर्गे परकृतं चलनमपेक्ष्य ॥२०६३॥

एतदेवोत्तरगाथया स्पष्टयति—

उवसग्गेण वि साहरिदो सो अण्णत्थ कुणदि जं कालं ।
तम्हा वुत्तं णीहारमदो अण्णं अणीहारं ॥२०६४॥

एतदेव स्पष्टयति ॥२०६४॥

पडिमापडिवण्णा वि हु करंति पाओवगमणमण्णेके ।
दीहद्धं विहरंता इंगिणिमरणं च अण्णेके ॥२०६५॥

'पडिमापडिवण्णा वि हु' प्रतिमाप्रतिपन्ना अपि एके प्रायोपगमनं कुर्वन्ति, एके इङ्गिणिमरणं । पाउणं ॥२०६५॥

आगाढे उवसग्गे दुब्भिक्खे सव्वदो वि दुत्तारे ॥
कदजोगि समधियासिय कारणजादेहिं वि मरंति ॥२०६६॥

'आगाढे उवसग्गे' उपसर्गे महति दुर्भिक्षे वा दुस्तरे जाते कृतयोगिनः परीषहसहा कारणजातमाश्रित्य मरणे कृतोत्साहा भवन्ति । तस्यैव वस्तुन उदाहरणानि उत्तरगाथाभिस्सूच्यन्ते ॥२०६६॥

निश्चयसे प्रायोपगमन अचल होता है। किन्तु उपसर्ग अवस्थामें मनुष्यादिके द्वारा चलायमान किये जानेपर चल भी होता है अर्थात् स्वयं शरीरको न हिलानेसे तो अचल हो है किन्तु दूसरेके द्वारा हिलाने पर चल होता है ॥२०६३॥

आगेकी गाथासे इसीको स्पष्ट करते हैं—

गा०—उपसर्ग अवस्थामें एक स्थानसे उठाकर दूसरे स्थानमें डाल दिये जाने पर यदि वह वही मरण करता है तो उसे नीहार कहते हैं, और ऐसा नहीं होनेपर पूर्व स्थानमें ही मरण हो तो वह अनीहार कहाता है ॥२०६४॥

गा०—जिनकी आयुका काल अल्पशेष रहता है वे प्रतिमा योग धारण करके प्रायोपगमन करते है। और कुछ दीर्घकाल तक विहार करते हुए इंगिनीमरण करते है ॥२०६५॥

विशेषार्थ—आशाधर जी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—कुछ तो सल्लेखना न करके ही कायोत्सर्ग पूर्वक प्रायोपगमन करते हैं और कोई चिरकाल तक उपवास करके प्रायोपगमन करते हैं। इसी प्रकार इंगिणी भी जानना। अर्थात् उन्होंने दोनों मरणोंके दो-दो प्रकार कहे हैं। ऊपरके अर्थके अनुसार अल्प आयु वाले प्रायोपगमम करते हैं इसीसे वे अपने शरीरकी सेवा न स्वयं करते हैं न दूसरेसे कराते हैं। दीर्घ आयु शेष रहने वाले इंगिनीमरण करते हैं अतः वे अपने शरीरकी सेवा स्वयं तो करते हैं दूसरेसे नहीं कराते। उन्हें स्वयं मलमूत्रादि का त्याग तो करना होता ही है ॥२०६५॥

गा०—महान् उपसर्ग अथवा भयानक दुर्भिक्ष होनेपर परीषहोंको सहन करनेमें समर्थ मुनि अल्प भी मरणके कारण उपस्थित होनेपर उत्साहपूर्वक मृत्युका आलिंगन करते हैं ॥२०६६॥

कोसलय धम्मसीहो अट्ठं साधेदि गिद्धपुट्ठेण।
णयरम्मि य कोल्लगिरे चंदसिरिं विप्पजहिदूण ॥२०६७॥
पाडलिपुत्ते धूदाहेदुं मामयकदम्मि उवसग्गे।
साधेदि उसभसेणो अट्ठं विक्खाणसं किच्चा ॥२०६८॥
अहिमारएण णिवदिम्मि मारिदे गहिदसमणलिंगेण।
उड्डाहपसमणत्थं सत्थग्गहणं अकासि गणी ॥२०६९॥
सगडालएण वि तधा सत्थग्गहणेण साधिदो अत्थो।
वररुइपओगहेदुं रुट्ठे णंदे महापउमे ॥२०७०॥
एवं पण्डियमरणं सवियप्पं वण्णिदं सवित्थारं।
वुच्छामि बालपंडियमरणं एत्तो समासेण ॥२०७१॥

आगेकी गाथाओंसे इसीके समर्थक उदाहरण देते है—

गा०—अयोध्या नगरीमे धर्मसिंह नामक राजाने अपनी चन्द्रश्री नामक पत्नीको त्यागकर दीक्षा धारण की। और अपने श्वसुरके भयसे कोल्लगिरि नगरमें हाथीके कलेवरमे प्रवेश करके आराधनाकी साधना की ॥२०६७॥

विशेषार्थ—बृ० क० कोशमे इसकी कथाका नम्बर १५४ है।

गा०—पाटलीपुत्र नगरमे ऋषभसेन नामक श्रेष्ठीने अपनी पत्नीको त्यागकर दीक्षा ली। अपनी पुत्रीके स्नेहवश श्वसुरके द्वारा उपसर्ग किये जानेपर ऋषभसेनने श्वास रोककर साधना की ॥२०६८॥

विशेषार्थ—इसकी कथाका क्रमांक १५५ है।

गा०—श्रावस्ती नगरीके राजा जयसेनने बौद्धधर्म त्यागकर जैनधर्म धारण किया था। इससे कुपित होकर अहिमारक नामक बौद्धने उसे उस समय मार डाला जब वह आचार्य यतिवृषभको नमस्कार कर रहा था। तब मुनिने अपना अपवाद दूर करनेके लिये शस्त्रसे अपना घात करते हुए साधना की ॥२०६९॥

विशेषार्थ—इसकी कथाका क्रमाक १५६ है।

गा०—पाटलीपुत्रमें नन्दराजाका मंत्री शकटाल था। उसने महापद्म सूरिसे जिन दीक्षा ग्रहण की। उसके विरोधी वररुचिने राजा महापद्मको रुष्ट करके शकटालको मारनेका प्रयत्न किया तो शकटाल मुनिने पञ्च नमस्कार मंत्रका ध्यान करते हुए छुरीसे अपना पेट फाड़ डाला और इस प्रकार आराधनाकी साधना की ॥२०७०॥

विशेषार्थ—इसकी कथाका नम्बर १५७ है।

गा०—इस प्रकार भेद सहित पण्डितमरणका विस्तारसे कथन किया। आगे संक्षेपसे बाल-

---

१. वैघाणसं अ० । णिव्वाणस आ० ।

पंडितमरणं । एवं पण्डितमरणं अविकल्पं सविकल्पं व्याख्यातं; अधुनापि बालपण्डितमरणमित ऊर्ध्वं संक्षेपेण ॥२०६७–२०७१॥

देसेक्कदेसविरदो सम्मादिट्ठी मरिज्ज जो जीवो ।
तं होदि बालपंडिदमरणं जिणसासणे दिट्ठं ॥२०७२॥

'देसिक्कदेसविरदो' सर्वासंयमप्रत्याख्यानस्यासमर्थः हिंसादेकदेशाद्विरतः स्थूलभूतप्राणातिपातादि-पञ्चकाद्देशविरत इत्युच्यते । एकदेशविरतो नाम देशविरमणेऽपि एकदेशाद्व्यावृत्तः सम्यग्दृष्टिर्यो म्रियते तस्य तद्बालपण्डितमरणं ॥२०७२॥

एतदेव स्पष्टयति—

पंच य अणुव्वदाइं सत्तयसिक्खाउ देसजदिधम्मो ।
सव्वेण य देसेण य तेण जुदो होदि देसजदी ॥२०७३॥

'पंच य अणुव्वयाइं' पञ्चाणुव्रतानि शिक्षाव्रतानि वा सप्त प्रकाराणि देशयतेर्धर्मः । तेन समस्तेन धर्मेण युत स्वशक्त्या वा तदेकदेशेन युतोऽपि देशयतिरेव । द्वादशविधगृहिधर्मप्रत्यायनपराणि सूत्राण्युत्तराणि प्रसिद्धार्थानि ॥२०७३॥

पाणवधमुसावादादत्तादाणपरदारगमणेहिं ।
अपरिमिदिच्छादो वि अ अणुव्वयाइं विरमणाइं ॥२०७४॥
जं च दिसावेरमणं अणत्थदंडेहिं जं च वेरमणं ।
देसावगासियं पि य गुणव्वयाइं भवे ताइं ॥२०७५॥

पण्डितमरणका कथन करेंगे ॥२०७१॥

गा०–टी०—जो समस्त असंयमका त्याग करनेमें असमर्थ है स्थूल हिंसा, स्थूल झूठ, स्थूल चोरी, स्थूल कुशील और स्थूल परिग्रह आदि पाँच पापोंका त्याग करता है उसे देशविरत कहते हैं। और जो देशविरतिके भी एक देशसे विरत होता है अर्थात् अपनी शक्तिके अनुसार हिंसादिका त्याग करता है ऐसा सम्यग्दृष्टि एक देशविरत कहा जाता है। इस प्रकार जो समस्त या एकदेश गृहस्थ धर्मका पालक श्रावक होता है उसके मरणको जिनागममें बालपंडितमरण कहा है ॥२०७२॥

उसीको स्पष्ट करते है—

गा०—पांच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत ये देशसंयमी श्रावकका धर्म है। जो उस सम्पूर्ण श्रावक धर्मका पालक है अथवा अपनी शक्तिके अनुसार उसके एक देशका पालक है वह भी देशसंयमी ही है ॥२०७३॥

आगे बारह प्रकारके गृहीधर्मको कहते हैं जो प्रसिद्ध हैं—

गा०—हिंसा, असत्य, बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण, पर स्त्री गमन और इच्छाका अपरिमाण इनसे विरतिरूप पांच अणुव्रत हैं ॥२०७४॥

गा०—दिग्विरति, अनर्थदण्डविरति, देशावकाशिक ये तीन गुणव्रत हैं ॥२०७५॥

भोगाणं परिसंखा सामाइयमतिहिसंविभाओ य ।
पोसहविधि य सव्वो चदुरो सिक्खाउ वुत्ताओ ॥२०७६॥
आसुक्कारे मरणे अव्वोच्छिण्णाए जीविदासाए ।
णादीहि वा अमुक्को पच्छिममल्लेहणमकासी ॥२०७७॥

'आसुक्कारे मरणे' सहसा मरणे अच्छिन्नायां जीविताशायां बन्धुभिर्वा न मुक्तः पश्चिमसल्लेखनाम-कृत्वा कृतालोचनो निःशल्यः स्वगृह एव संस्तरमारुह्य देशविरतस्य मृतिर्बालपण्डितमित्युच्यते ॥२०७६–७७॥

आलोचिदणिस्सल्लो सघरे चेवारुहितु संथारं ।
जदि मरदि देसविरदो तं वुत्तं बालपंडिदयं ॥२०७८॥
जो भत्तपदिण्णाए उवक्कमो वित्थरेण णिद्दिट्ठो ।
सो चेव बालपंडिदमरणे णेओ जहाजोग्गो ॥२०७९॥
वेमाणिएसु कप्पोवगेसु णियमेण तस्स उववादो ।
णियमा सिज्झदि उक्कस्सएण वा सत्तमम्मि भवे ॥२०८०॥
इय बालपंडियं होदि मरणमरहंतसासणे दिट्ठं ।
एत्तो पंडिदपंडिदमरणं वोच्छं समासेण ॥२०८१॥

स्पष्टार्था त्रयो गाथा । बालपंडिदं ॥२०७८–२०८१॥

गा०—भोगपरिमाण, सामायिक, अतिथिसंविभाग और प्रोषधोपवास ये चार शिक्षाव्रत कहे हैं ॥२०७६॥

गा०—सहसा मरण उपस्थित होनेपर, जीवनकी आशा रहनेपर, अथवा परिजनोंके द्वारा मुक्त न किये जानेपर अन्तिम सल्लेखना धारण न करके, अपने दोषोंकी आलोचना पूर्वक शल्य रहित होकर अपने घरमे ही संस्तरपर स्थित होकर देशविरत श्रावकके मरणको बालपण्डित मरण कहते हैं ॥२०७७॥

गा०—विधिपूर्वक आलोचना करके, माया मिथ्यात्व और निदान शल्यसे मुक्त होकर अपने घरमें संस्तरपर आरूढ़ होकर यदि श्रावक देशविरत मरता है तो उसे बालपण्डित मरण कहा है ॥२०७८॥

गा०—भक्तप्रत्याख्यानमें जो विधि विस्तारसे कही है वही सब विधि बालपण्डितमरणमें यथायोग्य जानना ॥२०७९॥

गा०—वह श्रावक मरकर नियमसे सौधर्मादि कल्पोपपन्न वैमानिक देवोंमें उत्पन्न होता है और नियमसे अधिक से अधिक सात भवोंमें मुक्त होता है ॥२०८०॥

गा०—इस प्रकारके मरणको अरहन्त भगवान्‌के धर्ममें बालपण्डित कहा है । आगे संक्षेपसे पण्डित पण्डितमरणको कहते हैं ॥२०८१॥

साहू अहुत्तचारी वट्टंतो अप्पमत्तकालम्मि ।
ज्झाणं उवेदि धम्मं पविट्ठुकामो खवगसेढिं ॥२०८२॥

'साहू अहुत्तचारी' शास्त्रोक्तेन मार्गेण प्रवर्तमानस्साधुरप्रमत्तगुणस्थानकाले धर्म्यं ध्यानमुपैति क्षपकश्रेणिं प्रवेष्टुकाम. ॥२०८२॥

ध्यानपरिकरं बाह्यं प्रतिपादयति—

सुचिए समे विचित्ते देसे णिज्जंतुए अणुण्णाए ।
उज्जुअआयददेहो अचलं बंधेत्तु पलिअंकं ॥२०८३॥

'सुचिए समे' शुचौ समे एकान्तदेशे निर्जन्तुके अनुज्ञाते तत्स्वामिभिः ऋज्वायतदेह पल्यङ्कमचलं बद्ध्वा ॥२०८३॥

वीरासणमादीयं आसणसमपादमादियं ठाणं ।
सम्मं अधिट्ठिदो वा सिज्जमुत्ताणसयणादि ॥२०८४॥

'वीरासणादिगं' वीरासनादिकमासनं बद्ध्वा समपादादिना स्थितो वा अथवा उत्तानशयनादिना वा वृत्तः ॥२०८४॥

पुव्वभणिदेण विधिणा ज्झादि ज्झाणं विसुद्धलेस्साओ ।
पवयणसमिण्णमदी मोहस्स खयं करेमाणो ॥२०८५॥

'पुव्वभणिदेण विधिणा' पूर्वोक्तेन क्रमेण ध्याने प्रवर्तते विशुद्धलेश्यः । प्रवचनार्थमनुप्रविष्टमतिः मोहनीयं क्षय नेतुमुद्यत ॥२०८५॥

संजोयणाकसाए खवेदि झाणेण तेण सो पढमं ।
मिच्छत्तं सम्मिस्सं कमेण सम्मत्तमवि य तदो ॥२०८६॥

'संजोयणाकसाए' अनन्तानुबन्धिन क्रोधमानमायालोभान् क्षपयति ध्यानेन, तेनासौ प्रथमं मिथ्यात्वं,

---

गा०—शास्त्रोक्त मार्गसे प्रवृत्ति करता हुआ साधु क्षपक श्रेणिपर आरूढ़ होनेकी इच्छासे अप्रमत्त गुणस्थानमें धर्मध्यान करता है ॥२०८२॥

ध्यानकी बाह्य सामग्री कहते हैं—

गा०—पवित्र और जन्तुरहित एकान्त प्रदेशमें, उस स्थानके स्वामीकी आज्ञा प्राप्त करके, समभूमिभागमें शरीरको सीधा रखते हुए पल्यंकासन बाँधकर अथवा वीरासन आदि लगाकर, अथवा दोनों पैरोंको समरूपसे रखते हुए खड़े होकर अथवा ऊपरको मुखकर शयन करते हुए या एक करवटसे लेटकर पूर्वमें कही विधिके अनुसार विशुद्ध लेश्यापूर्वक मोहनीय कर्मका क्षय करनेमें तत्पर होता हुआ ध्यान करता है तथा चतुर्दश पूर्वोंका अर्थ श्रवण करनेसे उसकी बुद्धि निर्मल होती है अर्थात् उसके श्रुतज्ञानावरणका प्रबल क्षयोपशम होता है ॥२०८३–२०८५॥

गा०—प्रथम ही वह उस ध्यानके द्वारा अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभका क्षय

सम्यङ्मिथ्यात्वं, सम्यक्त्वं च क्रमेण एवं प्रकृतिसप्तकं विनाश्य क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा क्षपकश्रेण्यधिरोहणाभिमुखोऽधःप्रवृत्तकरणं अप्रमत्तस्थाने प्रतिपद्य ॥२०८६॥

अध खवयसेढिमधिगम्म कुणइ साधू अपुव्वकरणं सो ।
होइ तमपुव्वकरणं कयाइ अप्पत्तपुव्वंति ॥२०८७॥

'अथ खवगसेढिमधिगम्म' अथ क्षपकश्रेणीमधिगम्य करोति साधुरपूर्वकरणमसौ । किं तदपूर्वकरणमित्याशङ्कायामुच्यते । 'होदि तमपुव्वकरणं' भवति तदपूर्वकरणं, 'कदाइ अप्पत्तपुव्वंति' कदाचिदप्राप्तपूर्वमिति ॥२०८७॥

अणिवित्तिकरणणामं णवम गुणठाणयं च अधिगम्म ।
णिद्दाणिद्दा पयलापयला तध थीणगिद्धिं च ॥२०८८॥

'अणियट्टिकरणणामं णवमं गुणठाणमधिगम्म' अनिवृत्तिगुणस्थानमुपगम्य 'णिद्दाणिद्दा पयलापयला' निद्रानिद्रां प्रचलाप्रचलां स्त्यानगृद्धिं च ॥२०८८॥

णिरयगदियाणुपुव्विं णिरयगदिं थावरं च सुहुमं च ।
साधारणादवुज्जोवतिरयगदिं आणुपुव्वीए ॥२०८९॥

'णिरयगदियाणुपुव्विं' नरकगत्यानुपूर्विं, नरकगतिं, स्थावरं, सूक्ष्मं, साधारणं, आतपं, उद्योतं तिर्यग्गत्यानुपूर्विं ॥२०८९॥

करता है फिर मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतियोंका क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर क्षपक श्रेणिके अभिमुख होनेके लिये अप्रमत्त गुणस्थानमे अधः प्रवृत्तकरण करता है ॥२०८६॥

टी०—अनन्त संसारका कारण होनेसे मिथ्यात्वको अनन्त कहते हैं। उसके साथ बन्धनेसे अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि चार यहाँ संयोजना शब्दसे लिये गये हैं। मिथ्या पदार्थों के अभिनिवेशमें जो निमित्त होता है वह मिथ्यात्व नामक दर्शन मोहनीय है। जिस मिथ्यात्वका स्वरस अर्धशुद्ध हो जाता है उसे सम्यक् मिथ्यात्व कहते हैं। और जिस मिथ्यात्वका शुभ परिणामके द्वारा स्वरस क्षीण हो जाता है उसे सम्यक्त्व दर्शन मोहनीय कहते है। इसके उदय रहते हुए भी तत्त्वार्थका श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन होता है। किन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन इन सातोंके अभावमे ही होता है। और क्षायिक सम्यग्दृष्टी ही क्षपक श्रेणिपर आरोहण करता है ॥२०८६॥

गा०—क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर वह क्षपक श्रेणिपर आरोहण करके प्रथम अपूर्वकरण करता है। उसे अपूर्वकरण इसलिये कहते हैं कि उसने इस प्रकारके परिणाम कभी भी नीचेके गुणस्थानोंमें प्राप्त नहीं किये थे ॥२०८७॥

गा०—उसके पश्चात् वह साधु अनिवृत्ति करण नामक नवम गुणस्थानको प्राप्त करके निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि, नरकगत्यानुपूर्वी, नरकगति, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण,

इगविगतिगचदुरिंदियणामाइं तध तिरिक्खगदिणामं ।
खवयित्ता मज्झिल्ले खवेदि सो अट्ठवि कसाए ॥२०९०॥

'इगविग' एकद्वित्रिचतुरिंद्रियजातीः, तिर्यग्गतिं, अप्रत्याख्यानचतुष्कं, प्रत्याख्यानचतुष्कं च क्षपयति ॥२०९०॥

तत्तो णपुंसमित्थीवेदं हासादिछक्कपुंवेदं ।
कोधं माणं मायं लोभं च खवेदि सो कमसो ॥२०९१॥

'तत्त. णपुंसं' ततो नपुंसकं वेदं, स्त्रीवेदं, हास्यादिषट्कं, पुंवेदं, संज्वलनक्रोधमानमाया क्षपयति । पश्चाल्लोभसंज्वलनं ॥२०९१॥

अध लोभसुहुमकिट्टिं वेदंतो सुहुमसंपरायत्तं ।
पावदि पावदि य तधा तण्णामं संजमं सुद्धं ॥२०९२॥

'अध लोभसुहुमकिट्टिं' अथ पश्चाद्बादरकृष्टेरुत्तरकालं लोभसूक्ष्मकृष्टिं वेदयमानः । 'सुहुमसंपरायत्तं पावदि' सूक्ष्मसांपरायता प्राप्नोति । 'पावदि य तधा' प्राप्नोति च तथा तन्नामकं संयमं शुद्धं सूक्ष्मसांपरायतां अधिगच्छति ॥२०९२॥

तो सो खीणकसाओ जायदि खीणासु लोभकिट्टीसु ।
एय[1]त्तवितक्कावीचारं तो ज्झादि सो ज्झाणं ॥२०९३॥

आतप, उद्योत, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रिय जाति, दो इन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, तिर्यग्गति, इन सोलह कर्मप्रकृतियोंका क्षय करके मध्यकी आठ कषाय अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभका क्षय करता है ॥२०८८-२०९०॥

गा०—फिर क्रमसे उसी नवम गुणस्थानमें नपुंसक वेद, स्त्रीवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय जुगुप्सा, पुरुषवेद और संज्वलन, क्रोध मान मायाका क्षय करता है। अन्तमें संज्वलन लोभका क्षय करता है ॥२०९१॥

विशेषार्थ—क्षयका क्रम इस प्रकार है—हास्यादि छह नोकषायोंको पुरुषवेदमें क्षेपण करके नष्ट करता है। पुरुषवेदको क्रोध संज्वलनमें क्षेपण करके क्षय करता है। इसी प्रकार क्रोध संज्वलनको मान संज्वलनमें मानसंज्वलनको माया संज्वलनमें और माया संज्वलनको लोभसंज्वलनमें क्षेपण करके क्षय करता है। अन्तमें बादर कृष्टिके द्वारा लोभसंज्वलन को कृश करके सूक्ष्म लोभ संज्वलन कषाय शेष रहती है ॥२०९१॥

गा०—बादर कृष्टिके पश्चात् सूक्ष्मकृष्टिरूप लोभका वेदन करता हुआ दसवें सूक्ष्म-साम्पराय नामक गुणस्थानको प्राप्त करता है और वहाँ उसी सूक्ष्मसाम्पराय नामक संयमको प्राप्त करता है ॥२०९२॥

---

१. एयत्तं सवियक्कं अविचारं सो वरिं झादि-अ० आ० ।

'तो सो खीणकसाओ जायदि' ततः सूक्ष्मसंपरायत्वादनंतरं **'खीणकसाओ जायदि'** क्षीणकषायो जायते । **'खीणासु लोभकिट्टीसु'** संज्वलनलोभसूक्ष्मकृष्टिषु क्षीणासु । 'तो' ततः **'एयत्तवियक्कावीचारज्झाणं सो झादि'** एकत्ववितर्कावीचारं ध्यानं ध्याति ॥२०९३॥

झाणेण य तेण अधक्खादेण य संजमेण घादेदि ।
सेसा घादिकम्माणि [1]समं अवरंजणाणि तदो ॥२०९४॥

'झाणेण य तेण' तेन ध्यानेन । 'तो' तेनैकत्ववितर्कावीचारेण यथाख्यातेन चारित्रेण शेषघातिकर्माणि समकालमेव क्षपयति । **'अवरंजणाणि'** जीवस्यान्यथाभावकारणानि ॥२०९४॥

मत्थयसूचीए जधा हदाए कसिणो हदो भवदि तालो ।
कम्माणि तधा गच्छंति खयं मोहे हदे कसिणे ॥२०९५॥

'मत्थयसूचीए जधा हदाए' मस्तकसूच्यां यथा हृतायां । **'कसिणो तालो हदो भवति'** कृत्स्नस्तालद्रुमो हतो भवति । **'कम्माणि तधा'** कर्माण्यपि तथैव **'खयं गच्छंति'** क्षयमुपयाति । **'मोहे हदे कसिणे'** मोहे हते कृत्स्ने ॥२०९५॥

णिद्दापचलाय दुवे दुचरिमसमयम्मि तस्स खीयंत ।
सेसाणि घादिकम्माणि चरिमसमयम्मि खीयंति ॥२०९६॥

'णिद्दा पचला य दुवे' निद्राप्रचला च द्वे तस्य क्षीणकषायस्य उपान्त्यसमये नश्यत । **'सेसाणि घादिकम्माणि'** अवशिष्टानि घातिकर्माणि त्रीणि तस्य चरमसमये नश्यंति, पंच ज्ञानावरणानि, चत्वारि दर्शनावरणानि, पंचांतरायाश्च ॥२०९६॥

तत्तो णंतरसमए उप्पज्जदि सव्वपज्जयणिबंधं ।
केवलणाणं सुद्धं तध केवलदंसणं चेव ॥२०९७॥

गा०—सूक्ष्म लोभकृष्टिका क्षय होनेपर सूक्ष्म साम्परायके पश्चात् क्षीण कषाय नामक बारहवें गुणस्थानवर्ती होता है । वहाँ वह एकत्व वितर्क विचार नामक ध्यानको ध्याता है ॥२०९३॥

गा०—उस ध्यान तथा यथाख्यात चारित्रके द्वारा वह जीवके अन्यथाभावमें कारण शेष घातिकर्मोंका एक साथ क्षय करता है ॥२०९४॥

गा०—जैसे ताड़के वृक्षकी मस्तक सूची, ऊपरका शाखाभार टूट जानेपर समस्त ताड़वृक्ष ही नष्ट हो जाता है वैसे ही समस्त मोहनीय कर्मके नष्ट होनेपर कर्म नष्ट हो जाते हैं ॥२०९५॥

गा०—उस क्षीणकषाय गुणस्थानके उपान्त्य समयमें निद्रा प्रचला नष्ट होती है । और शेष घातिकर्म-पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाच अन्तराय अन्तिम समयमें नष्ट होते है ॥२०९६॥

---

१. समयमव-मु०, मूलारा० ।

ततो ज्ञानदर्शनावरणांतरायक्षयात् अनंतरसमये उत्पद्यते केवलज्ञानं सर्वपर्यायनिबद्धं, सर्वेषां द्रव्याणां त्रिकालगोचरा ये पर्याया विशेषरूपाणि तत्र प्रतिबद्धं परिच्छेदकत्वेन ज्ञानस्यातिशयो वस्तुगतविशेषरूप परिच्छेदो नाम सामान्यरूपस्य सुगमत्वादित्याख्यातं भवति । केवलं इंद्रियसहायानपेक्षत्वात् केवलमसहायं ज्ञानं रागादिमलाभावात् शुद्धं तथा केवलदर्शनं च ॥२०९७॥

अव्वाघादमसंदिद्धमुत्तमं सव्वदो असंकुडिदं ।
एयं सयलमणंतं अणियत्तं केवलं णाणं ॥२०९८॥

'अव्वाघादं' न विद्यते प्रत्ययांतरेण व्याघातो बाधास्येत्यव्याघातं । निश्चयात्मकत्वादसंदिग्धं । सर्वेभ्यो ज्ञानेभ्य उत्तमं प्रधानं श्रुतादिभिरिदं केवलं साध्यत इति । 'असंकुडिदं' न मत्यादिवदल्पविषयमिति । 'एक्कं' एकस्मिन्नात्मनि स्वयमेव प्रवर्तत इति । 'सकलं' संपूर्णमात्मनःस्वरूपमिति । मत्यादीनि यथाऽसंपूर्णानि न तथेदं । 'अणंतं अनंतप्रमाणावच्छेद्यं । 'अणियत्तं' न विद्यते निवृत्तिर्विनाशोऽस्येत्यनिवृत्त केवलज्ञानं ॥२०९८॥

चित्तपडं व विचित्तं तिकालसहिदं तदो जगमिणं सो ।
सव्वं जुगवं पस्सदि सव्वमलोगं च सव्वत्तो ॥२०९९॥

'चित्तपडं व विचित्तं' चित्रपटवद्विचित्रं विचित्रद्रव्यपर्यायरूपेण प्रत्यवभासनात् । 'तिकाल सहिदं' कालत्रयसहित 'जगमिदं', ततः तेन केवलज्ञानेन सर्वं युगपत्पश्यत्यलोकं कृत्स्नं 'सर्वतः' समंतात् ॥२०९९॥

वीरियमणंतरायं होइ अणंतं तधेव तस्स तदा ।
कप्पातीदस्स महामुणिस्स विग्घम्मि खीणम्मि ॥२१००॥

गा०-टी०—ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायका क्षय होनेके अनन्तर समयमें शुद्ध केवलज्ञान और शुद्ध केवल दर्शन उत्पन्न होता है। वह केवल ज्ञान सब द्रव्योंकी त्रिकालगोचर सब पर्यायोंको जानता है। वस्तुगत विशेषरूपको जानना ही ज्ञानका अतिशय है सामान्यरूपको जानना तो सुगम है। इसीसे केवल ज्ञानको सर्वपर्यायनिबद्ध कहा है। केवलका अर्थ है असहाय। केवल ज्ञान इन्द्रियोंकी सहायतासे रहित है इसीसे उसका नाम केवल है। तथा रागादिमलसे रहित होनेसे शुद्ध है। व्याघातसे रहित है क्योंकि कोई अन्य ज्ञान उसमें बाधा नहीं डाल सकता। निश्चयात्मक होनेसे सन्देह रहित है। श्रुत आदि अन्य सब ज्ञानोंमें प्रधान होनेसे उत्तम है। सब द्रव्य और पर्यायोंमें प्रवर्तमान होनेसे मतिज्ञान आदिकी तरह उसका विषय अल्प नही है। तथा एक आत्मामे स्वयं ही होनेसे एक है। सम्पूर्ण आत्मस्वरूप होनेसे सकल है। जैसे मति आदि ज्ञान असम्पूर्ण है उस तरह वह सम्पूर्ण नहीं है। अनन्त प्रमाण वाला होनेसे अनन्त है। अविनाशी है, उसका कभी विनाश नहीं होता। विचित्र द्रव्य पर्यायरूपसे प्रतिभासमान होनेसे चित्रपटकी तरह विचित्र-नानारूप है। उस केवलज्ञानसे वह तीन काल सहित इस समस्त जगतको और सर्व अलोकको एक साथ जानता है ॥२०९७-२०९९॥

गा०—छद्मस्थ अवस्थासे रहित उस महामुनिके अन्तराय कर्मका विनाश होनेपर अन्तराय

---

१. सव्वण्हू —अ० ।

'**ब.ंरियमणंतरायं होदि**' निर्विघ्न वीर्यं भवति । क्षायोपशमिकस्य हि वीर्यस्य पुन. वीर्यांतरायोदये सति विघ्नो भवति, न तथा सस्य निरवशेषक्षये । '**अणंतं**' । '**कप्पातीदस्स**' छद्मस्थकल्पनां अतीतस्य महामुनेर्विघ्ने विनष्टे ॥२१००॥

तो सो वेदयमाणो विहरइ सेसाणि ताव कम्माणि ।
जावसमत्ती वेदिज्जमा[1]णस्साउगस्स भवे ॥२१०१॥

'**तो सो वेदयमाणो**' केवलज्ञानादिपरिप्राप्त्यनंतरकालं वेदयमानो विहरति, '**सेसाणि ताव कम्माणि**' अवशिष्टानि तावत्कर्माणि । '**जावसमत्ती**' यावत्परिसमाप्ति । '**वेदिज्जमाणस्स आउगस्स भवे**' अनुभूयमानस्य मनुष्यायुषो भवेत् ॥२१०१॥

दंसणणाणसमग्गो विरहदि उच्चावयं तु परियायं ।
जोगणिरोधं पारभदि कम्मणिल्लेवणट्ठाए ॥२१०२॥

'**दंसणणाणसमग्गो**' क्षायिकेन ज्ञानेन दर्शनेन च समग्रो, विहृत्य '**उच्चावयं परीयायं**' उच्चावच पर्यायं, चारित्रमभिवर्द्धयन् योगनिरोध प्रारभते, कर्मणामघातिनामपहरणार्थः ॥२१०२॥

उक्कस्सएण छम्मासाउगसेसम्मि केवली जादा ।
वच्चंति समुग्घादं सेसा भज्जा समुग्घादे ॥२१०३॥

'**उक्कस्सगेण**' उत्कर्षेण षण्मासावशेषे आयुषि जाते केवलिनो जातास्ते समुद्घातमुपयाति । शेषा समुद्घाते भाज्या. ॥२१०३॥

रहित अनन्तवीर्य होता है। अर्थात् क्षयोपशमिक वीर्यमे तो वीर्यान्तरायका उदय होनेपर विघ्न आ जाता है। किन्तु समस्त वीर्यान्तरायका क्षय होनेपर प्रकट हुए अनन्त वीर्यमें कोई विघ्न नही आता ॥२१००॥

गा०—केवल ज्ञानकी प्राप्तिके अनन्तर जबतक शेष कर्मोंकी तथा अनुभूयमान मनुष्यायुकी समाप्ति नहीं होती तब तक वह केवल ज्ञानी विहार करता है ॥२१०१॥

गा०—क्षायिक ज्ञान और क्षायिक दर्शनसे परिपूर्ण वह केवल ज्ञानी चारित्रको बढ़ाता हुआ उत्कृष्ट कुछ कम एक पूर्वकोटि तक और जघन्य अन्तर्मुहूर्त मात्र काल तक विहार करता है। फिर अघातिकर्मो को नष्ट करनेके लिये सत्यवचन योग, अनुभयवचन योग, सत्यमनोयोग अनुभय मनोयोग, औदारिक काययोग, औदारिक मिश्र काययोग तथा कार्मण काययोगका निग्रह प्रारम्भ करता है ॥२१०२॥

गा०—उत्कर्षसे छह मास आयु शेष रहनेपर जो केवल ज्ञानी होते हैं वे अवश्य समुद्घात—जीवके प्रदेशोका शरीरसे बाहर दण्ड आदिके आकार रूपसे निकलना—करते हैं। शेष समुद्घात करते भी हैं और नहीं भी करते, उनके लिये कोई नियम नही है ॥२१०३॥

---

1. माण आउस्स कम्मस्स, —अ० आ० ।

जेसिं आउसमाइं णामगोदाइं वेदणीयं च ।
ते अकदसमुग्घादा जिणा उवणमंति सेलेसिं ॥२१०४॥

'जेसिं आउसमाइं' येषामपि आयुःसमानि शेषाण्यघातिकर्माणि तेऽकृतसमुद्घाता एव शैलेश्यं प्रतिपद्यंते ॥२१०४॥

[1]जेसिं हवंति विसमाणि णामगोदाउवेदणीयाणि ।
ते दु कदसमुग्घादा जिणा उवणमंति सेलेसिं ॥२१०५॥
ठिदिसंतकम्मसमकरणत्थं सव्वेसि तेसि कम्माणं ।
अंतोमुहुत्त सेसे जंति समुग्घादमाउम्मि ॥२१०६॥

'ठिदिसंतकम्म' सत्कर्मणां स्थितिं समीकर्तुं चतुर्णां अंतर्मुहूर्तविशेषे आयुषि समुद्घातं यांति ॥२१०५–२१०६॥

ओल्लं संतं वत्थं विरल्लिदं जह लहु विणिव्वादि ।
संवेढियं तु ण तधा तधेव कम्मं पि णादव्वं ॥२१०७॥

'ओल्लं संतं' आर्द्रं सद्यथा वस्त्रं विप्रकीर्णं लघु शुष्यति न तथा संवेष्टितं एवमेव कर्मापि ज्ञातव्यम् ॥२१०७॥

ठिदिबंधस्स सिणेहो हेदू खीयदि य सो समुहदस्स ।
सडदि य खीणसिणेहं सेसं अप्पट्ठिदी होदि ॥२१०८॥

'ठिदिबंधस्स' स्थितिबन्धस्य स्नेहो हेतुर्विनश्यति । समुद्घातं गते 'सडदि' च क्षीणस्नेहं शेषं कर्माल्पस्थितिकं भवति ॥२१०८॥

गा०—जिनके नामकर्म, गोत्रकर्म, वेदनीयकर्मकी स्थिति आयुकर्मके समान होती है वे सयोगकेवली जिन समुद्घात किये बिना शैलेशी अवस्थाको प्राप्त होते हैं ॥२१०४॥

गा०—किन्तु जिनकी आयुकी स्थिति कम होती है और नामगोत्र और वेदनीय कर्मों की स्थिति अधिक होती है वे सयोगकेवली जिन समुद्घात करके ही शैलेशी अवस्थाको प्राप्त होते हैं अर्थात् अयोगकेवली होते है ॥२१०५॥

गा०—अन्तमुहूर्त आयु शेष रहनेपर चारों कर्मों की स्थिति समान करनेके लिये समुद्घात करते हैं ॥२१०६॥

गा०—जैसे गीला वस्त्र फैला देनेपर वह शीघ्र सूख जाता है उतनी शीघ्र इकट्ठा रखा हुआ नही सूखता । कर्मों की भी वैसी ही दशा जानना । आत्म प्रदेशोंके फैलावसे सम्बद्ध कर्मरज-की स्थिति बिना भोगे घट जाती है ॥२१०७॥

गा०—समुद्घात करनेपर स्थितिबन्धका कारण जो स्नेहगुण है वह नष्ट हो जाता है। और स्नेहगुणके क्षीण होनेपर शेष कर्मों की स्थिति घट जाती है ॥२१०८॥

---

१. एतां टीकाकारो नेच्छति ।

चदुहिं समएहिं दंड-कवाड-पदरजगपूरणाणि तदा ।
कमसो करेदि तह चेव णियत्तेदि चदुहिं समएहिं ॥२१०९॥

'**चदुहिं**' चतुर्भिस्समयैर्दण्डादिकं कृत्वा क्रमशो निवर्तते चतुर्भिरेव समयैः ॥२१०९॥

काऊणाउसमाइं णामागोदाणि वेदणीयं च ।
सेलेसिमब्भुवेंतो जोगणिरोधं तदो कुणदि ॥२११०॥

'**काऊण**' नामगोत्रवेदनीयानां आयुषा साम्यं कृत्वा मुक्तिमभ्युपनयन् योगनिरोधं करोति ॥२११०॥

योगनिरोधक्रममाचष्टे—

बादरवाचिगजोगं बादरकायेण बादरमणं च ।
बादरकायंपि तधा रुंभदि सुहुमेण काएण ॥२१११॥

बादरौ वाङ्मनोयोगौ बादरकायेन रुणद्धि । बादरकाययोगं सूक्ष्मेण काययोगेन ॥२१११॥

तध चेव सुहुममणवचिजोगं सुहुमेण कायजोगेण ।
रुंभित्तु जिणो चिट्ठदि[1] सो सुहुमकायजोगेण ॥२११२॥

'**तध चेव**' तथैव सूक्ष्मवाङ्मनोयोगौ सूक्ष्मकाययोगेन रुणद्धि ॥२११२॥

सुहुमाए लेस्साए सुहमकिरियबंधगो तगो ताधे ।
काइयजोगे सुहुमम्मि सुहुमकिरियं जिणो झादि ॥२११३॥

गा०-टी०—सयोगकेवली जिन चार समयोमें दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्धात करके क्रमसे चार ही समयोमे उसका सकोच करता है अर्थात् प्रथम समयमे दण्डाकार, दूसरे समयमे कपाटके आकार, तीसरे समयमे प्रतर रूप और चतुर्थ समयमे समस्त लोकमे व्याप्त हो जाते हैं। पांचवे समयमे पुनः प्रतररूप, छठे समयमे कपाटरूप, सातवें समयमें दण्डाकार आठवे समयमे मूल शरीरकार आत्म प्रदेश हो जाते हैं ॥२१०९॥

गा०—इस प्रकार नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों की स्थिति आयुके समान करके मुक्तिकी ओर बढ़नेवाले सयोगकेवली जिन योगोंका निरोध करते हैं ॥२११०॥

योगनिरोधका क्रम कहते हैं—

गा०—स्थूल काययोगमे स्थित होकर बादर वचनयोग और बादर मनोयोगको रोकते है और सूक्ष्म काययोगमे स्थित होकर स्थूल काययोगको रोकते हैं ॥२१११॥

गा०—उसी प्रकार सूक्ष्मकाययोगके द्वारा सूक्ष्म मनोयोग और सूक्ष्म वचनयोगको रोककर सयोगकेवली जिन सूक्ष्म काययोगमें स्थित होते है ॥२११२॥

---

१. दि सुहुमेण कायजोगेण —आ० । दि सो सुहुमे काइए जोगे —मु० ।

सूक्ष्मया लेश्यया सूक्ष्मक्रियया बन्धकस्तदासौ सूक्ष्मक्रियं ध्यानं ध्यायति ॥२११३॥

सुहुमकिरिएण झाणेण णिरुद्धे सुहुमकायजोगे वि ।
सेलेसी होदि तदो अबंधगो णिच्चलपदेसो ॥२११४॥

'सुहुमकिरियेण' तेन ध्यानेन निरुद्धे सूक्ष्मकाययोगे निश्चलप्रदेशोऽबन्धको भवति । बंधनिमित्तानामभावात् ॥२११४॥

माणुसगदितज्जादिं पज्जत्तादिज्जसुभगजसकित्तिं ।
अण्णदरवेदणीयं तसबादरमुच्चगोदं च ॥२११५॥

'माणुसगदिं' मनुष्यगति पञ्चेन्द्रियजाति, पर्याप्तिमादेयसुभगं, यशस्कीर्तिमन्यतरवेदनीय, त्रसबादरं, उच्चैर्गोत्रं च वेदयते ॥२११५॥

मणुसाउगं च वेदेदि अजोगी होदूण चेव तक्कालं ।
तित्थयरणामसहिदो[1] ताओ वेदेदि तित्थयरो ॥२११६॥

मनुष्यायुश्च वेदयते अयोगी भूत्वा तीर्थकरनामसहितास्तीर्थंकरो वेदयते ॥२११६॥

देहतियबंधपरिमोक्खत्थं तो केवली अजोगी सो ।
उवयादि समुच्छिण्णकिरियं तु झाणं अपडिवादी ॥२११७॥

देहतिय देहत्रिबन्धपरिमोक्षार्थं समुच्छिन्नक्रियानिवृत्तिध्यानं ध्याति ॥२११७॥

सो तेण पंचमत्ताकालेण खवेदि चरिमज्झाणेण ।
अणुदिण्णाओ दुचरिमसमये सव्वाओ पयडीओ ॥२११८॥

गा०—सूक्ष्म लेश्याके द्वारा सूक्ष्मकाययोगसे वह सातावेदनीय कर्मका बन्ध करता है तथा सूक्ष्मक्रिय नामक तीसरे शुक्लध्यानको ध्याता है ॥२११३॥

गा०—उस सूक्ष्मक्रिय नामक शुक्लध्यानके द्वारा सूक्ष्म काययोगका निरोध करके वह शीलोंका स्वामी होता है तथा आत्माके प्रदेशोंके निश्चल हो जानेसे उन्हे कर्मबन्धन नहीं होता, क्योंकि कर्मबन्धके निमित्तोंका अभाव है ॥२११४॥

गा०—उस समय अयोगकेवली होकर वह मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रिय जाति, पर्याप्ति, आदेय, सुभग, यशःकीर्ति, साता या असातावेदनीय, त्रस, बादर, उच्चगोत्र और मनुष्यायु इन ग्यारह कर्म प्रकृतियोके उदयका भोग करते हैं । और यदि तीर्थंकर होते है तो तीर्थंकर सहित बारह प्रकृतियोंका अनुभवन करते हैं ॥२११५-१६॥

गा०—उसके पश्चात् अयोगकेवली परम औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीन शरीरोंके बन्धनसे छूटनेके लिये समुच्छिन्नक्रिय अप्रतिपाती नामक चतुर्थ शुक्लध्यानको ध्याते हैं इसका दूसरा नाम व्युपरतक्रिया निवर्ती है ॥२११७॥

१.—दो जातो ओ वेदि तित्थयरो—आ०, अ० ।

'सो तेण' स तेन पञ्चमात्राकालेनानेन ध्यानेन क्षपयति द्विचरमसमये अनुदीर्णाः सर्वाः प्रकृतीः ॥२११८॥

चरिमसमयम्मि तो सो खवेदि वेदिज्जमाणपयडीओ।
बारस तित्थयरजिणो एक्कारस सेस सव्वण्हू ॥२११९॥

'चरिमसमयम्मि' अंत्ये समये क्षपयति वेद्यमानाः प्रकृतीर्द्वादश तीर्थङ्करजिनः। शेषसर्वज्ञः एकादश। 'णामक्खएण' नाम्नो विनाशेन तैजसशरीरबन्धो नश्यति। आयुषः क्षयेण औदारिकबन्धनाशः ॥२११९॥

णामक्खएण तेजोसरीरबंधो वि [1]हीयदे तस्स।
आउक्खएण ओरालियस्स बंधो वि [2]हीयदि से ॥२१२०॥
तं सो बंधणमुक्को उड्ढं जीवो पओगदो जादि।
जह एरण्डयबीयं बंधणमुक्कं समुप्पददि ॥२१२१॥

स्पष्टोत्तरगाथाद्वयं ॥२१२०-२१२१॥

संग[3]विजहणेण य लहुदयाए उड्ढं पयादि सो जीवो।
जध आलाउ अलेओ उप्पददि जले णिबुड्डो वि ॥२१२२॥

'सगजहणेण' संगत्यागाल्लघुतयोर्ध्वं प्रयाति जलनिमग्ननिर्लेपालाबुवत् ॥२१२२॥

झाणेण य तह अप्पा पओगदो जेण जादि सो उड्ढं।
वेगेण पूरिदो जह ठाइदुकामो वि य ण ठादि ॥२१२३॥

'झाणेण य' ध्यानेनात्मा प्रयुक्तो यात्यूर्ध्वं वेगेन पूरितो यथा न तिष्ठति स्थातुकामोपि ॥२१२३॥

गा०-टी०—इस ध्यानका काल 'अ इ उ ऋ लृ' इन पांच मात्राओंके उच्चारणमें जितना काल लगता है उतना है। इतने कालवाले उस अन्तिम ध्यानके द्वारा अयोगकेवली गुणस्थानके उपान्त्य समयमे बिना उदीरणाके सब ७२ कर्म प्रकृतियोंको खपाते हैं, उनका क्षयकर देते हैं, और अन्तिम समयमे तीर्थंकर केवली बारह प्रकृतियोंका क्षय करते हैं तथा सामान्य केवली ग्यारह प्रकृतियोंका क्षय करते हैं ॥२११८-१९॥

गा०—उनके नामकर्मका क्षय होनेसे तैजस शरीर बन्धका भी क्षय हो जाता है। और आयुकर्मका क्षय होनेसे औदारिक शरीर बन्धका क्षय हो जाता है ॥२१२०॥

गा०—इस प्रकार बन्धनसे मुक्त हुआ वह जीव वेगसे ऊपरको जाता है जैसे बन्धनसे मुक्त हुआ एरण्डका बीज ऊपरको जाता है ॥२१२१॥

गा०—समस्त कर्म नोकर्मरूप भारसे मुक्त होनेके कारण हल्का हो जानेसे वह जीव ऊपर को जाता है। जैसे मिट्टीके लेपसे रहित तूम्बी जलमें डूबनेपर भी ऊपर ही आती है ॥२१२२॥

गा०—जैसे वेगसे पूर्ण व्यक्ति ठहरना चाहते हुए भी नहीं ठहर पाता है वैसे ही ध्यानके

१. खीयदे मु०। २ खीयदि –मु०। ३. संगस्स विजहणेण –आ०।

जह वा अग्गिस्स सिहा सहावदो चेव होदि उड्ढगदी ।
जीवस्स तह सभावो उड्ढगमणमप्पवसियस्स ॥२१२४॥

स्पष्टोत्तरगाथा ॥२१२४॥

तो सो अविग्गहाए गदीए समए अणंतरे चेव ।
पावदि जयस्स सिहरं खिप्पं कालेण य फुसंतो ॥२१२५॥

'तो सो अविग्गहाए' ततोऽसावविग्रहया गत्या अनंतरसमय एव जगतश्शिखरं प्राप्नोति ॥२१२५॥

एवं इहइं पजहिय देहतिगं सिद्धखेत्तमुवगम्म ।
सव्वपरियायमुक्को सिज्झदि जीवो सभावत्थो ॥२१२६॥

'एवं इहइं' एवमिह देहत्रिकं विहाय सिद्धक्षेत्रमुपगम्य सर्वप्रचारविमुक्तः सिध्यति जीवः स्वभावस्थः ॥२१२६॥

तस्याश्च स्थानमाचष्टे—

ईसिप्पब्भाराए उवरिं अत्थदि सो जोयणम्मि सीदाए ।
धुवमचलमजरठाणं लोगसिहरमस्सिदो सिद्धो ॥॥२१२७॥

'ईसिप्पब्भाराए' ईषत्प्राग्भाराया उपरि न्यूनयोजने ध्रुवमचलं स्थानं लोकशिखरमास्थितः सिद्धः ॥२१२७॥

प्रयोगसे आत्मा ऊपरको जाता है ॥२१२३॥

गा०—अथवा जैसे आगकी लपट स्वभावसे ही ऊपरको जाती है वैसे ही कर्मरहित स्वाधीन आत्माका स्वभाव ऊर्ध्वगमन है ॥२१२४॥

गा०—कर्मो का क्षय होते ही वह मुक्त जीव एक समयवाली मोड़े रहित गतिसे सात राजुप्रमाण आकाशके प्रदेशोंका स्पर्श न करते हुए अर्थात् अत्यन्त तीव्रवेगसे लोकके शिखरपर विराजमान हो जाता है ॥२१२५॥

गा०—इस प्रकार इसी लोकमें तैजस, कार्मण और औदारिक शरीरोंको त्यागकर सब प्रकारके प्रचारसे मुक्त हुआ जीव, सिद्धिक्षेत्रमें जाकर अपने टंकोत्कीर्ण ज्ञायक भाव स्वभावमें स्थित होकर मुक्त हो जाता है ॥२१२६॥

गा०—उस सिद्धिक्षेत्रके नीचे स्थित आठवीं पृथिवीको कहते हैं—ईषत्प्राग्भार नामकी आठवीं पृथ्वीके कुछ ऊपर एक योजन पर लोकका शिखर स्थित है जो ध्रुव, अचल और अजर है। उसपर सिद्ध जीव तिष्ठता है ॥२१२७॥

विशेषार्थ—आठवीं पृथिवीका नाम ईषत्प्राग्भार है। मध्यमें उसका बाहुल्य आठ योजन है। दोनों ओर क्रमसे हीन होता गया है। अन्तमें अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण अत्यन्त सूक्ष्म बाहुल्य रह जाता है। इस तरह ऊपरको उठे हुए विशाल गोल श्वेत छत्रके समान उसका आकार है। उसका विस्तार पैंतालीस लाख योजन है। उसके ऊपर तीन वातवलय हैं। उनमेंसे तीन

धम्माभावेण दु लोगग्गे पडिहम्मदे अलोगेण ।
गदिमुवकुणदि हु धम्मो जीवाणं पोग्गलाणं च ॥ २१२८॥

'धम्माभावेण दु' धर्मास्तिकायस्याभावे लोकाग्रे प्रतिहन्यते अलोकेन, यतो जीवपुद्गलानां गतेरुपकारको धर्मः स चोपरि नास्ति ॥२१२८॥

[1]जं जस्स दु संठाणं चरिमसरीरस्स जोगजहणम्मि ।
तं संठाणं तस्स दु जीवघणो होइ सिद्धस्स ॥२१२९॥
दसविधपाणाभावो कम्माभावेण होइ अच्चंतं ।
अच्चंतिगो य सुहदुक्खाभावो विगददेहस्स ॥२१३०॥

दशविधानां प्राणानामत्यंताभावेन भवति आत्यंतिकश्च सुखदुःखाभाव. ॥२१२९–२१३०॥

जं णत्थि बंधहेदुं देहग्गहणं ण तस्स[2] तेण पुणो ।
कम्मकलुसो हु जीवो कम्मकदं देहमादियदि ॥२१३१॥

'जं णत्थि बंधहेदुं' यस्मान्नास्ति बंधकारणं तेन न मुक्तस्य देहग्रहणं, कर्मकलुषीकृतो हि जीवः कर्मकृतदेहमादत्ते ॥२१३१॥

कज्जाभावेण पुणो अच्चंतं णत्थि फंदणं तस्स ।
ण पओगदो वि फंदणमदेहिणो अत्थि सिद्धस्स ॥२१३२॥

कोस विस्तार वाले दो वातवलयोंके ऊपर एक हजार पांच सौ पिचहत्तर धनुष विस्तार वाला तीसरा तनुवातवलय है। उसके पांच सौ पच्चीस धनुष मोटे अन्तिम भाग में सिद्ध भगवान विराजते हैं ॥२१२७॥

गा०—धर्मद्रव्य लोकके अग्रभाग तक ही है। अतः मुक्तजीव लोकाग्रसे आगे अलोकमें नहीं जाता, क्योंकि धर्मद्रव्य गति करते हुए जीवों और पुद्गलोंकी गतिमें उपकार करता है ॥२१२८॥

गा०—मन वचन काययोगोंका त्याग करते समय अयोगी गुणस्थानमें जैसा अन्तिम शरीरका आकार रहता है; उस आकाररूप जीवके प्रदेशोंका, घनरूप सिद्धोंका आकार होता है ॥२१२९॥

गा०—सिद्ध भगवानके कर्मोंका अभाव होनेसे दस प्रकारके प्राणोंका सर्वथा अभाव है। तथा शरीरका अभाव होनेसे इन्द्रिय जनित सुखदुःखका अभाव है ॥२१३०॥

गा०—मुक्तजीवके कर्मबन्धका कारण नहीं है। अतः वह पुनः शरीर धारण नहीं करता। क्योंकि कर्मों से बद्ध जीव ही कर्मकृत शरीरको धारण करता है ॥२१३१॥

गा०—सिद्ध जीवोंको कुछ करना शेष न होनेसे उनमें हलन चलनका अत्यन्त अभाव है।

---

1. एतां टीकाकारो नेच्छति । 2. स होदि पुणो —अ०, आ० ।

'कायाभावेण पुणो' कायाभावेन चलनं नास्ति तस्य न च परप्रयोगचलनमपि चलनकारणदेहस्य सिद्धस्य ॥२१३२॥

कालमणंतमधम्मोपग्गहिदो ठादि गयणमोगाढो ।
सो[1] उवकारो इट्ठो ठिदिसभावो ण जीवाणं ॥२१३३॥

'कालमणंतं' अनन्तकालं अधर्मास्तिकायोपगृहीतः गगनमनुप्रविष्टः तिष्ठति । 'उवकारो इट्ठो' अधर्मास्तिकायेन संपाद्यउपकारः अवस्थानलक्षण इष्टो यस्मान्न जीवस्य स्थितिस्वभावश्चैतन्यादिवत् ॥२१३३॥

तेलोक्कमत्थयत्थो तो सो सिद्धो जगं णिरवसेसं ।
सव्वेहिं पज्जएहिं य संपुण्णं सव्वदव्वेहिं ॥२१३४॥

'तेलोक्कमत्थयत्थो' त्रैलोक्यमस्तकस्थः ततोऽसौ जगन्निरवशेषं सर्वैःपर्यायैस्सर्वैर्द्रव्यैस्संपूर्णं ॥२१३४॥

पस्सदि जाणदि य तहा तिण्णि वि काले सपज्जए सव्वे ।
तह वा लोगमसेसं पस्सदि भयवं विगदमोहो ॥२१३५॥

'पस्सदि जाणदि' पश्यति जानाति च कालत्रये पर्यायसहितानशेषांस्तथा चालोकमशेषं पश्यति भगवान् विगतमोह. ॥२१३५॥

भावे सगविसयत्थे सूरो जुगवं जहा पयासेइ ।
सव्वं वि तधा जुगवं केवलणाणं पयासेदि ॥२१३६॥

'भावे सगविसयत्थे' आत्मगोचरस्थान् भावान् सूर्यो युगपद्यथा प्रकाशयति तथा सर्वमपि ज्ञेयं युगपत्केवलज्ञानं प्रकाशयति ॥२१३६॥

गदरागदोसमोहो विभओ विमओ णिरुस्सओ विरओ ।
बुधजणपरिगीदगुणो णमंसणिज्जो तिलोगस्स ॥२१३७॥

और वे शरीर रहित हैं । अतः वायु आदिके प्रयोगसे भी उनमें हलन चलन नहीं होता ॥२१३२॥

गा०—सिद्ध जीव जो अनन्तकाल तक आकाशके प्रदेशोंको अवगाहित करके ठहरा रहता है सो यह अवस्थान रूप उपकार अधर्मास्तिकायका माना गया है; क्योंकि जैसे जीवका स्वभाव चैतन्य आदि है उस प्रकार जीवका स्वभाव स्थिति नहीं है ॥२१३३॥

गा०—तीनों लोकोंके मस्तकपर विराजमान वह सिद्ध परमेष्ठी समस्त द्रव्यों और समस्त पर्यायोंसे सम्पूर्ण जगतको जानते देखते हैं । तथा वे मोहरहित भगवान् पर्यायोंसे सहित तीनों कालोंको और समस्त अलोकको जानते हैं ॥२१३४-३५॥

जैसे सूर्य अपने विषयगोचर सब पदार्थोंको एक साथ प्रकाशित करता है वैसे ही केवल ज्ञान सब पदार्थोंको एक साथ प्रकाशित करता है ॥२१३६॥

---

1. उवकारो इट्ठो जं ठि —अ० आ० ।

'ववरागदोसमोहो' दूरीकृतरागद्वेषमोहः, 'विभओ' विगतभयः 'विमओ' विगतमदः, क्वचिदप्यनुत्सुका, निरस्तकर्मरजःपटल , बुधजनपरिगीतगुण. विष्टपत्रयेण नमस्करणीयः ॥२१३७॥

णिव्वावइत्तु संसारमहग्गिं परमणिव्वुदिजलेण ।
णिव्वादि सभावत्थो गदजाइजरामरणरोगो ॥२१३८॥

'णिव्वावइत्तु' क्षयमुपनीय संसारमहाग्निं परमनिर्वृतिजलेन तृप्यति स्वरूपस्थो विनष्टजाति-जरामरणरोगः ॥२१३८॥

जावं तु किंचि लोए सारीरं माणसं च सुहदुक्खं ।
तं सव्वं णिज्जिण्णं असेसदो तस्स सिद्धस्स ॥२१३९॥

'जावं तु किंचि लोए' यावत् किंचिल्लोके शारीरं मानसं वा यत्सुखं दुःखं च तत्सर्वं निर्जीर्णं निरव-शेषं । प्रकारकात्स्न्र्यनिरासार्थमशेषग्रहणं ॥२१३९॥

जं णत्थि सव्वबाधाओ तस्स सव्वं च जाणइ जदो से ।
जं च गदज्झवसाणो परमसुही तेण सो सिद्धो ॥२१४०॥

'जं णत्थि सव्वबाधाओ' यन्न सन्ति सर्वबाधाः, सर्वं च यतो जानाति, यच्चापगताध्यवसानः, तेनासौ सिद्धः परमसुखी भवति ॥२१४०॥

परमिड्ढिपत्ताणं मणुगाणं णत्थि तं सुहं लोए ।
अव्वाबाधमणोवमपरमसुहं तस्स सिद्धस्स ॥२१४१॥

'परमिड्ढिपत्ताणं' परमामृद्धि चक्रलाञ्छनतादिकां प्राप्तानामपि मनुजाना नास्ति तत्सुख लोके यदनु-पमं तस्य सिद्धस्य सुखमव्याबाधम् ॥२१४१॥

गा०—जिन्होने रागद्वेष मोहको दूरकर दिया है, जो भय रहित, मदरहित, उत्कण्ठा रहित और कर्मरूप धूलिपटलसे रहित है तथा ज्ञानीजन जिनका गुणगान करते हैं वे सिद्ध भगवान तीनो लोकोके द्वारा वन्दनीय हैं ॥२१३७॥

गा०—परम निर्वृतिरूप जलसे संसाररूपी महान् अग्निको बुझाकर तथा जन्म-जरा-मरण रोगोंको नष्ट करके अपने स्वरूपमे स्थित मुक्तात्मा निर्वाणको प्राप्त करते हैं ॥२१३८॥

गा०—संसारमे जितना भी शारीरिक और मानसिक सुखदु.ख है वह सब पूर्णरूपसे उस सिद्ध परमेष्ठीके नष्ट हो चुका है ॥२१३९॥

गा०—क्योंकि सिद्ध परमेष्ठीके समस्त बाधाएँ नहीं है, और वह समस्त वस्तुओंको जानते हैं तथा अध्यवसान-विकल्पवासनासे रहित हैं । अत. वे परमसुखी है ॥२१४०॥

गा०—उन सिद्धोंके जो बाधा रहित अनुपम परम सुख है वह सुख इस लोकमें परमऋद्धि चक्रवर्तित्व आदिको प्राप्त मनुष्योंके भी नही है ॥२१४१॥

देविंदचक्कवट्टी इंदियसोक्खं च जं अणुहवंति ।
सद्दरसरूवगंधप्फरिसप्पयमुत्तमं लोए ॥२१४२॥

'देविंदचक्कवट्टी' देवेंद्राश्चक्रवर्तिनश्च यदिंद्रियसुखमनुभवंति शब्दरसरूपगंधस्पर्शात्मकं लोके प्रधानं ॥२१४२॥

अव्वाबाधं च सुहं सिद्धा जं अणुहवंति लोगग्गे ।
तस्स हु अणंतभागो इंदियसोक्खं तयं होज्ज ॥२१४३॥

'अव्वाबाधं सुहं' अव्याबाधात्मकं सुखं यत्सिद्धा लोकाग्रेऽनुभवंति तस्यानंतभागो भवति तदिंद्रियसुखं पूर्वव्यावर्णितम् ॥२१४३॥

जं सव्वे देवगणा अच्छरसहिया सुहं अणुहवंति ।
तत्तो वि अणंतगुणं अव्वाबाहं सुहं तस्स ॥२१४४॥

'जं सव्वे देवगणा' यत्सुखमनुभवंति साप्सरोगणाः सर्वे देवास्ततोऽप्यनंतगुणं तस्य सिद्धस्या-याबाधसुखम् ॥२१४४॥

तीसु वि कालेसु सुहाणि जाणि माणुसतिरिक्खदेवाणं ।
सव्वाणि ताणि ण समाणि तस्स खणमित्तसोक्खेण ॥२१४५॥

'तीसु वि कालेसु' त्रिष्वपि कालेषु यानि मानवानां, तिरश्चां, देवानां च सुखानि सर्वाणि तानि न समानि सिद्धस्य क्षणमात्रेण सुखेन ॥२१४५॥

ताणि हु रागविवागाणि दुक्खपुव्वाणि चेव सोक्खाणि ।
ण हु अत्थि रागमब्भहत्थिदूण किं चि वि सुहं णाम ॥२१४६॥

'ताणि रागविपाकाणि' तानि रागविपाकानि रागस्य दुःखहेतोर्जनकानि, एतेन दुःखानुबंधित्वं

गा०—इस लोकमें देवेन्द्र और चक्रवर्ती शब्द रस रूप गन्ध और स्पर्श जन्य जिस उत्तम इन्द्रिय सुखको भोगते है, तथा लोकके अग्रभागमे स्थित सिद्ध जिस बाधा रहित सुखको भोगते हैं उसके सामने वह इन्द्रिय सुख उसका अनन्तवाँ भाग भी नही है ॥२१४२-४३॥

गा०—अप्सराओंके साथ सब देवगण जिस सुखको भोगते हैं उससे भी अनन्तगुण बाधा रहित सुख सिद्धोंको होता है ॥२१४४॥

गा०—सब मनुष्यो तिर्यञ्चों और देवोंको तीनों कालोंमें जितना सुख होता है वह सब सुख सिद्धोंके एक क्षणमात्रमें होनेवाले सुखके भी बराबर नहीं है ॥२१४५॥

गा०—मनुष्यादिके होनेवाला सुख रागका जनक है और राग दुःखका कारण है अतः

---

१. मवदुज्झिऊण –अ० आ० । अबहुत्थिदूण –मूलारा० ।

नामेंद्रियसुखानां दोषोऽभिहित । दुःखपूर्वाणि न हि क्षुधादिदुःखमंतरेण अशनादिकं प्रीतिं जनयति । न चास्ति रागमनपाकृत्य सुखं नाम किंचित् ॥२१४६॥

इन्द्रियसुखस्वरूपमभिधाय अनिंद्रियसुखं व्यावर्णयति—

अणुवममम्मेयमक्खयममलमजरमरुजमभयमभवं च ।
एयंतियमच्चंतियमव्वाबाधं सुहमजेयं ॥२१४७॥

'अणुवममेयं' तत्समानस्य तदधिकस्याभावात् सुखस्य तदनुपमं, छद्मस्थज्ञानैर्मातुमशक्यत्वादमेयं, प्रतिपक्षभूतस्य दुःखस्याभावादक्षयं, रागादिमलाभावादमलं, जरारहितत्वादजरं, रोगाभावादरुजं, भयाभावादभय, भवाभावादभव, ऐकातिक दुःखस्य सहायस्याभावादैकांतिकमसहायं अव्याबाधरूपं तत्सुखं ॥२१४७॥

विसएहिं से ण कज्जं जं णत्थि छुदादियाओ बाधाओ ।
रागादिया य उवभोगहेदुगा णत्थि जं तस्स ॥२१४८॥

'विसएहिं से ण कज्जं' शब्दादिभिर्विषयैः न कार्यं यत. सिद्धस्य न संति क्षुधादिका बाधा., रागादयश्च विषयोपभोगहेतवो न संति यस्मात्तस्य ॥२१४८॥

एदेण चेव भणिदो भासणचंकमणचिंतणादीणं ।
चेट्ठाणं सिद्धम्मि अभावो हदसव्वकरणम्मि ॥२१४९॥

'एदेण चेव भणिदो' एतेनैवोक्त. भाषण-चंक्रमण-चिंतनादीना चेष्टानामभाव. सिद्धे हृतसर्वक्रिये ॥२१४९॥

इन्द्रियसुख दुःखको लानेवाला है तथा दुःखपूर्वक होता है। अर्थात् पहले दुःख होता है तब वह सुख होता है क्योंकि भूख प्यास आदिका दुःख हुए बिना भोजनादि प्रिय नही लगते। रागभावके बिना ससारमे किञ्चित् भी सुख नही है ॥२१४६॥

इन्द्रिय सुखका स्वरूप कहकर अतीन्द्रिय सुखको कहते हैं—

गा०-टी०—उसके समान या उससे अधिक सुखका अभाव होनेसे अतीन्द्रिय सुख अनुपम है। छद्मस्थ जीवोके ज्ञानके द्वारा उसका माप करना अशक्य होनेसे अमेय है। उसके विरोधी दुःखका अभाव होनेसे वह अक्षय है—उसका कभी नाश नहीं होता। उसमें रागादिमलका अभाव होनेसे वह अमल है। उसमे जरा रोगका भय न होनेसे वह अजर है। रोगका अभाव होनेसे अरुज है। भयका अभाव होनेसे अभय है। पुनर्भव न होनेसे अभव है। उसके साथमें दुःख न होनेसे ऐकान्तिक है। अनन्तकाल तक रहनेसे आत्यन्तिक है—ऐसा वह अव्याबाधरूप सुख होता है ॥२१४७॥

गा०—सिद्धोंमें शब्दादि विषयोंसे कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि सिद्धोंको भूख प्यास आदि की बाधा नही होती तथा विषयोंके उपभोगके कारण राग आदि भी नहीं है ॥२१४८॥

गा०—इसीसे सब प्रकारकी क्रियाओंसे रहित सिद्धोंमें बोलना, चलना-फिरना तथा विचारना आदि भी नहीं है ॥२१४९॥

इय सो खाइयसम्मत्तसिद्धदावीरियदिट्ठिणाणेहिं ।
अच्चंतिगेहिं जुत्तो अव्वाबाहेण य सुहेण ॥२१५०॥

'इय सो खाइय' एवमसौ क्षायिकेण सम्यक्त्वेन सिद्धतया वीर्येण अनंतज्ञानाद्यनंतदर्शनेन चात्यन्तिकेन युक्तोऽव्याबाधेन सुखेन ॥२१५०॥

अकसायत्तमवेदत्तमकारकदा विदेहदा चेव ।
अचलत्तमलेवत्तं च हुंति अच्चंतियाइं से ॥२१५१॥

'अकसायत्तं' अकषायत्वं, अवेदत्वमकारकता विदेहता अचलत्वमलेपत्वं च आत्यंतिकं तस्य भवति। क्रोधादिनिमित्तानां कर्मणां प्राक्तनानां विनाशादभिनवानां चाऽभावादकषायत्वमात्यन्तिकं एवमेवावेदत्वं। साध्यस्यापरस्याभावादकारकत्वं। प्राक्तनस्य शरीरस्य विलीनत्वाद्देहान्तरकारिणः कर्मणोऽभावाद्विदेहतया अवस्थान्तरप्राप्तिनिमित्तांतराभावादचलत्वं। कर्मनिमित्तपरिणामाभावात् प्राक्तनानां च कर्मणां विनाशादलेपत्वमप्यात्यन्तिकम् ॥२१५१॥

जम्मणमरणजलोघं दुक्खपरिकिलेससोगवीचीयं ।
इय संसारसमुद्दं तरंति चदुरंगणावाए ॥२१५२॥

'जम्मणमरणजलोघं' जन्ममरणजलौघं दुःखसंक्लेशशोकवीचिकं संसारसमुद्रं सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्रतपस्संज्ञितचतुरङ्गनावा तरन्ति ॥२१५२॥

एवं पण्डिदपण्डिदमरणेण करंति सव्वदुक्खाणं ।
अंतं णिरंतराया णिव्वाणमणुत्तरं पत्ता ॥२१५३॥

गा०—इस प्रकार वह सिद्ध परमेष्ठी क्षायिक सम्यक्त्व, सिद्धत्व, अनन्तवीर्य, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अव्याबाध सुखसे युक्त होते हैं। ये सब आत्यन्तिक होते हैं, इनका कभी विनाश नहीं होता ॥२१५०॥

गा०-टी०—क्रोध आदिमें निमित्त पूर्व कर्मोंका विनाश होनेसे और नवीन कर्मोंका अभाव होनेसे सिद्धोंमें आत्यन्तिक अकषायत्व है। इसी प्रकार आत्यन्तिक अवेदत्व है। उनके लिये कोई करने योग्य कार्य शेष न रहनेसे अकारकत्व भी सदा रहता है। पूर्व शरीरका विनाश होनेसे और नवीन शरीरको उत्पन्न करनेवाले कर्मका अभाव होनेसे सिद्धोंमें सदा विदेहता है। अन्य अवस्थाको प्राप्त होनेमें निमित्तका अभाव होनेसे सदा अचल हैं। उनके कर्मके निमित्तसे होनेवाले परिणामोंका अभाव होनेसे तथा पूर्वके कर्मोंका विनाश होनेसे वे सदा लेपरहित होते हैं ॥२१५१॥

गा०—जिसमें जन्म मरणरूपी जलका समूह भरा है, दुःख संक्लेश और शोकरूपी लहरें उठा करती हैं; उस संसाररूपी समुद्रको सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तपरूपी नावसे पार करते हैं ॥२१५२॥

'एवं पण्डितपण्डितमरणेण' एवमुक्तेन क्रमेण पण्डितपण्डितमरणेन सर्वदुःखानामन्तं कुर्वन्ति । निरन्तराया निर्विघ्ना निर्वाणमनुत्तरं प्राप्ताश्च । एतेन पण्डित-पण्डितमरण व्याख्यातं । 'पंडितपंडितमरणं गदं' ॥२१५३॥

एवं आराधित्ता उक्कस्साराहणं चदुक्खंधं ।
कम्मरयविप्पमुक्का तेणेव भवेण सिज्झंति ॥२०५४॥

'एवं आराधित्ता' एवमाराध्य । 'उक्कस्साराधण' उत्कृष्टाराधनां । 'चदुक्खंधं' समीचीनदर्शनज्ञानचरणतपोभिधान चतुष्कत्वं । 'कम्मरजविप्पमुक्का' कर्मरजोविप्रमुक्तास्तेनैव भवेन सिध्यन्ति ॥२१५४॥

आराधयित्तु धीरा मज्झिममाराहणं चदुक्खंधं ।
कम्मरयविप्पमुक्का तदिएण भवेण सिज्झंति ॥२१५५॥
आराधयित्तु धीरा जहण्णमाराहणं चदुक्खंधं ।
कम्मरयविप्पमुक्का सत्तमजम्मेण सिज्झंति ॥२१५६॥

'आराधयित्तु धीरा' आराध्य धीरा जघन्यामाराधना चतुष्कका कर्मरजोविप्रमुक्ता सप्तमेन जन्मना सिध्यन्ति ॥२१५५-२१५६॥

एवं एसा आराधणा सभेदा समासदो वुत्ता ।
आराधणाणिबद्धं सव्वंपि हु होदि सुदणाणं ॥२१५७॥

'एवं एसा' एवमेषा आराधना सप्रभेदा समासतो निरूपिता । आराधनायामस्या निबद्धं सर्वमपि श्रुतज्ञान भवति ॥२१५७॥

आराधणं असेसं वण्णेदुं होज्ज को पुण समत्थो ।
सुदकेवली वि आराधणं असेसं ण वण्णिज्ज ॥२१५८॥

गा०—इस प्रकार वे क्षपक पण्डितपण्डितमरणसे सब दुःखोंका अन्त करते हैं और बिना बाधाके उत्कृष्ट निर्वाणको प्राप्त करते हैं ॥२१५३॥

गा०—इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तपरूप चार प्रकारकी उत्कृष्ट आराधनाकी आराधना करके कर्मरूपी धूलिसे छूटकर उसी भवसे मुक्ति प्राप्त करते हैं ॥२१५४॥

गा०—उक्त चार भेदरूप मध्यम आराधनाकी आराधना करके धीर पुरुष कर्मरूपी धूलिसे छूटकर तीसरे भवमें मुक्ति प्राप्त करते हैं ॥२१५५॥

गा०—उक्त चार भेदरूप जघन्य आराधनाकी आराधना करके धीर पुरुष कर्मरूपी धूलिसे छूटकर सातवें भवमें मुक्ति प्राप्त करते हैं ॥२१५६॥

गा०—इस प्रकार इस भेदसहित आराधनाका संक्षेपसे कथन किया । इस आराधनामें जो कुछ कहा गया है वह सब श्रुतज्ञान है ॥२१५७॥

आराधणं असेसं निरवशेषामाराधनां वर्णयितुं कस्समर्थो भवेत्, श्रुतकेवल्यपि निरवशेष न वर्णयेत् ॥२१५८॥

अज्जजिणणंदिगणि-सव्वगुत्तगणि-अज्जमित्तणंदीणं ।
अवगमिय पादमूले सम्मं सुत्तं च अत्थं च ॥२१५९॥

'अज्जजिणणंदि' आचार्यजिननंदिगणिनः, सर्वगुप्तगणिनः, आचार्यमित्रनंदिनश्च पादमूले सम्यगर्थं श्रुत वावगम्य ॥२१५९॥

पुव्वायरियणिबद्धा उवजीवित्ता इमा ससत्तीए ।
आराधणा सिवज्जेण पाणिदलभोइणा रइदा ॥२१६०॥

'पुव्वायरिय' पूर्वाचार्यकृतामिव उपजीव्य इयं आराधना स्वशक्त्या शिवाचार्येण रचिता पाणितलभोजिना ॥२१६०॥

छदुमत्थदाए एत्थ दु जं बद्धं होज्ज पवयणविरुद्धं ।
सोधेंतु सुगीदत्था पवयणवच्छलदाए दु ॥२१६१॥

'छदुमत्थदाए' छद्मस्थतया यदत्र प्रवचननिबद्धमबद्धं (विरुद्धं) भवेत् तत्सुगृहीतार्था शोधयंतु प्रवचनवत्सलतया ॥२१६१॥

आराधणा भगवदी एवं भत्तीए वण्णिदा संती ।
संघस्स शिवजस्स य समाधिवरमुत्तमं देउ ॥२१६२॥

'आराधणा भगवदी' आराधना भगवती एव भक्त्या कीर्तिता सर्व्वगुप्तगणिन' संघस्य शिवाचार्यस्य च विपुलां सकलजनप्रार्थनीया अव्याबाधसुखा सिद्धिं प्रयच्छतु ॥२१६२॥

गा०—मेरे समान कौन अल्पश्रुतज्ञानी सम्पूर्ण आराधनाका वर्णन करनेमें समर्थ हो सकता है। श्रुतकेवली भी सम्पूर्ण आराधनाको नहीं कह सकते। अर्थात् भगवान सर्वज्ञ ही आराधनाका सर्वस्व वर्णन कर सकते हैं ॥२१५८॥

गा०—आर्य जिननन्दिगुणि, सर्वगुप्त गणि, और आर्य मित्रनन्दीके पादमूलमें सम्यक्रूपसे श्रुत और उसके अर्थको जानकर पूर्वाचार्यके द्वारा रची गई आराधनाको आधार बनाकर हस्तपुटमें आहार करनेवाले मुझ शिवाचार्यने अपनी शक्तिसे इस आराधना ग्रन्थको रचा ॥२१५९-६०॥

गा०—छद्मस्थ अर्थात् अल्पज्ञानी होनेसे इसमें जो कुछ आगमके विरुद्ध लिखा गया हो; उसे आगमके अर्थको सम्यक्रूपसे ग्रहण किये हुए ज्ञानीजन सुधारनेकी कृपा करें ॥२१६१॥

गा०—इस प्रकार भक्तिपूर्वक वर्णनकी हुई भगवती आराधना सर्वगुप्त गणीके संघको तथा रचयिता शिवार्यको समस्त जनोंसे प्रार्थनीय अव्याबाध सुखरूप सिद्धिको प्रदान करें अर्थात् उसके प्रसादसे हम सबको शुक्लध्यानकी प्राप्ति हो ॥२१६२॥

असुरसुरमणुयकिण्णररविससिकिंपुरिसमहियवरचरणो ।
दिसउ मम बोहिलाहं जिणवरवीरो तिहुवणिंदो ॥२१६३॥
खमदमणियमधराणं धुदरयसुहदुक्खविप्पजुत्ताणं ।
णाणुज्जोदियसल्लेहणम्मि सुणमो जिणवराणं ॥२१६४॥

गा०—जिनके पूजनीय चरणोंको असुर, सुर, मनुष्य, किन्नर, सूर्य, चन्द्र, और किम्पुरुष जातिके व्यन्तर पूजते हैं वे तीनों लोकोंके स्वामी वीर जिनेन्द्र मुझे बोधिलाभ प्रदान करें ॥२१६३॥

गा०—जिन्होंने स्वयं क्षमा, इन्द्रियदमन और नियमोंको धारण करके कर्ममलको नष्ट किया, तथा सांसारिक सुख दुःखसे रहित हुए और अपने ज्ञानके द्वारा सल्लेखनाको प्रकाशित किया उन जिन देवोंको नमस्कार हो ॥२१६४॥

भगवती आराधना समाप्त हुई ।

श्रीमदपराजितसूरेष्टीकाकृतः प्रशस्तिः

नमः सकलतत्त्वार्थप्रकाशनमहौजसे ।
भव्यचक्रमहाचूडारत्नाय सुखदायिने ॥१॥
श्रुतायाज्ञानतमसः प्रोद्यद्भूर्मांशवे तथा ।
केवलज्ञानसाम्राज्यभाजे भव्यैकबंधवे ॥२॥

चन्द्रनन्दिमहाकर्मप्रकृत्याचार्यप्रशिष्येण आरातीयसूरिचूलामणिना नागनन्दिगणिपादपद्मोपसेवाजातमतिलवेन बलदेवसूरिशिष्येण जिनशासनोद्धरणधीरेण लब्धयशःप्रसरेण अपराजितसूरिणा [1]श्रीनन्दिगणिनावचोदितेन रचिता आराधनाटीका श्रीविजयोदयानाम्ना समाप्ता ।

टीकाकार अपराजित सूरिकी प्रशस्ति

जो समस्त तत्त्वार्थको प्रकाशित करनेके लिये महान् प्रकाशरूप है, भव्य समुदायके लिये महान् शिरोमणि है, जिसे वे सिरपर धारण करते हैं, सुखको देनेवाला है, अज्ञानरूपी अन्धकारके लिये उगती हुई प्रकाश किरण है, जिसके द्वारा केवल ज्ञानरूपी साम्राज्य प्राप्त होता है तथा जो भव्य जीवोका एकमात्र बन्धु है उस श्रुतको नमस्कार हो ।

जो चन्द्रनन्दि नामक महाकर्म प्रकृति आचार्यके प्रशिष्य हैं, आरातीय आचार्योंके चूडामणि हैं, नागनन्दि गणिके चरण कमलोंकी सेवाके प्रसादसे जिन्हें ज्ञानका लेश प्राप्त हुआ, जो बलदेव सूरिके शिष्य हैं और जिन शासनका उद्धार करनेमे धीरवीर हैं, जिनका यश सर्वत्र फैला है; उन अपराजित सूरिने श्रीनन्दिगणिको प्रेरणासे श्री विजयोदया नामक आराधना टीका रची ।

---

१. श्री नागनन्दि –मु० ।

गाथानुक्रमणिका

द

ध

■

विजयोदया में आगत पद्यों और वाक्यों की अनुक्रमणी

त

द

न

प

पारिभाषिक शब्दानुक्रमणी

●

अशुद्धि-शुद्धि पत्रक

पृ०	पं०	अशुद्धि	शुद्धि	पृ०	पं०	अशुद्धि	शुद्धि
२	१०	रस प्रकष	रस प्रकर्षः	४४९	८	जत्थ	जस्स
७	४	चर्चितमि	चर्चितमिति	४५०	१०	तेल्लकायादसीहिं	तेल्लकसायादीहिं
१०	२	चरित्तंमि	चरित्तंमि	४६८	२	शीलं	सीलं
१४	१३	ज्ञानभे	ज्ञानभेदे	४९६	१४	तस्मान्दि	तस्मादि
४७	१०	वस्तुस्वरूपाव-	वस्तुस्वरूपानव	५०२	१	कक्कस्म	कक्कस
५९	११	गिद्धतुट्ठ	गिद्धपुट्ठ	५३७	११	दिट्ठपि	दिट्ठंपि ण
७२	६	आकशं	आकाशं	५६५	१	इंदियकसय	इंदियकसाय
१६७	४	इच्चेवमानि	इच्चेवमादि	६०६	७	पडते	पडंते
१६७	८	पूयावयण	पूयावयणं	६२८	१२	स्वनन्निवि	स्वनन्निव
१७१	४	आयारजीव	आयारजीद	६३३	९	अज्झपरदी	अज्झप्परदी
२५५	१४	लाघव	लाघवं	६४७	७	मरु	तुरु
२९८	३	वासत्थ	पासत्थ	६७१	१३	आइद्ध	आबद्ध
३००	१०	संतो	संता	६९९	१	कडुवं	कडुगं
३०४	१	वरस्स	परस्स	७१६	९	पातयाप्येनं	पातयाम्येनं
३१३	१७	सल्ल उद्धारदु	सल्लं उद्धरिदु	७२३	१५	जंते	जं ते
३२६	८	उपसःर्गस	उपसर्ग स	७३८	११	पुणरिव	पुणरवि
३६०	२	किलामिदंगो	गिलामिदंगो	७४१	१	णिमिसेण	णिमेसण
३७७	११	महसपण्णो	महसंपण्णो	७८३	१२	कोह्	कोह
३९२	८	आवेण	ओवेण	८६९	७	मयवंतो	भयवंता
४०२	१०	किरियम्म	किरियम्मं				

●